3

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ग्रन्थावली

सम्पादक

ओमप्रकाश सिंह
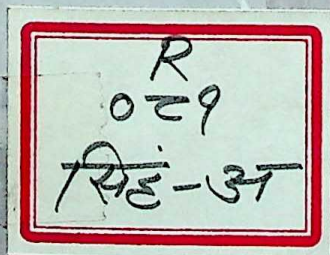
आ. रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य के पहले व्यवस्थित समालोचक के रूप में समादृत हैं। उन्होंने पहली बार हिन्दी साहित्य-शास्त्र को ठोस आधार प्रदान किया है। आ. शुक्ल के लेखन की शुरुआत नाटक, कविता, कहानी, निबन्ध और अनुवाद से हुई थी। हिन्दी शब्दसागर के सहायक सम्पादक के रूप में सफल कोशकार का परिचय भी उन्होंने अपने प्रारम्भिक साहित्यिक जीवन में ही दे दिया था। हिन्दी के अलावा आ. शुक्ल ने अंगरेजी में भी कुछ लेख, समीक्षाएँ आदि लिखी थीं। यह जरूर है कि आलोचक और साहित्य के इतिहासकार के रूप में उनकी जितनी चर्चा हुई, उतनी अन्य रूपों में नहीं। इसका परिणाम यह हुआ कि हम समीक्षक और साहित्य के इतिहासकार आ. रामचन्द्र शुक्ल से तो परिचित हुए पर कवि, जीवनीकार, अनुवादक रामचन्द्र शुक्ल से या तो अपरिचित रहे या परिचय भी हुआ तो दूर-दूर से।

आ. शुक्ल ने लिखा बहुत पर उनके लेखन का एक बड़ा भाग साहित्य जगत के सामने न आ सका। उनके अनेक लेख पत्र-पत्रिकाओं की फाइलों में दबे रह गए थे और कुछ तो प्रकाशित भी न हो सके थे। आ. शुक्ल की हस्तलिखित सामग्री के गायब हो जाने की बात आज भी उनके साहित्यिक उत्तराधिकारी करते हैं। यदि आ. शुक्ल का सम्पूर्ण लेखन सामने होता तो न इतने विवाद उठते और न ही उन पर तरह-तरह के आरोप लगते। आज के अनेक विवादों और आरोपों का जवाब उनके अप्रकाशित और असंकलित लेखन में मौजूद था पर वह लोगों के सामने न था।

आ. शुक्ल ग्रन्थावली की योजना कई बार बनी पर ग्रन्थावली छप न सकी। नागरी प्रचारिणी सभा ने तो अपने यहाँ से प्रकाशित उनकी पुस्तकों को ग्रन्थावली का कोई न कोई भाग बना दिया था। इसी तरह सम्पूर्ण निबन्धों के प्रकाशन की बात हुई थी, शुक्ल परिवार से मैटर भी आया पर संग्रह न आया। ऐसे समय में आ. रामचन्द्र शुक्ल की ग्रन्थावली का प्रकाशन एक महत्त्वपूर्ण काम है।

आठ भागों की इस ग्रन्थावली में आ. रामचन्द्र शुक्ल का सम्पूर्ण प्रकाशित-अप्रकाशित लेखन समाहित है। ग्रन्थावली के प्रकाशन से आ. शुक्ल पर फिर से बातचीत शुरू होगी। इससे अनेक विद्वानों की राय भी बदलेगी, इसमें दो मत नहीं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ग्रन्थावली-3

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ग्रन्थावली-3

निबन्ध साहित्य

सिद्धान्त पक्ष

व्यवहार पक्ष

सम्पादक

ओमप्रकाश सिंह

प्रकाशन संस्थान

नयी दिल्ली-110002

साहित्य शास्त्र सिद्धान्त और व्यवहार

इस भाग में

ग्रन्थावली के इस खंड में साहित्य समीक्षा से सन्दर्भित आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक निबन्ध दिए गए हैं। आ. शुक्ल का पहला निबन्ध संग्रह 'विचार-वीथी' 1930 ई. में अग्रवाल प्रेस, बनारस कैंट से छपा था। 'विचार-वीथी' शीर्षक के साथ आगे कोष्ठक में लिखा हुआ है—'विचार-वीथी' मनोविकार सम्बन्धी लेखों के साथ ही 'कविता क्या है', 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' तथा 'तुलसी का भक्तिमार्ग' लेखों का संग्रह। इस संग्रह में शुक्लजी के आरम्भिक तेरह निबन्ध संकलित हैं। इस संग्रह के बाद आ. शुक्ल के निबन्धों का अगला संग्रह 'चिन्तामणि' नाम से 1939 ई. में इंडियन प्रेस, प्रयाग से छपा। 'चिन्तामणि' नाम की भी एक कथा है। शुक्लजी को यह नाम आचार्य केशवप्रसाद मिश्र ने सुझाया था। चिन्तामणि भाग-1 में कुल 17 निबन्ध हैं, तेरह निबन्ध विचार-वीथी के और चार नए। नए निबन्ध हैं—'मानस की धर्मभूमि, काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था, साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद तथा रसात्मक बोध के विविध रूप।' इस तरह से चिन्तामणि भाग-1 में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षा के निबन्धों को शुक्लजी ने सायास रखा था। इस संग्रह के साथ उन्होंने एक छोटी सी भूमिका 'निवेदन' शीर्षक से जोड़ दी थी। इस भूमिका का ऐतिहासिक महत्त्व है। आगे इसे ज्यों का त्यों दिया गया है।

'चिन्तामणि' भाग-1 के बाद इसी नाम से आ. शुक्ल के तीन और निबन्ध संग्रह सम्पादित किए गए हैं। चिन्तामणि भाग-2 का सम्पादन आ. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने किया है। इसमें कुल तीन निबन्ध हैं। चिन्तामणि भाग-3 का सम्पादन प्रो. नामवर सिंह ने किया है। इस भाग में कुल इक्कीस निबन्ध, भूमिकाएँ और भाषण हैं। चिन्तामणि भाग-4 का सम्पादन कुसुम चतुर्वेदी और ओमप्रकाश सिंह ने किया है। इस भाग में कुल 47 रचनाएँ हैं, जिनमें निबन्धों के अतिरिक्त शुक्लजी द्वारा लिखी गई टिप्पणियों, रिपोर्टों, पुस्तक-भूमिकाओं, व्यक्ति-परिचयों और सम्मतियों को भी शामिल कर लिया गया है। इस तरह से मोटे तौर पर देखें तो आ. शुक्ल का निबन्ध साहित्य काफी विस्तृत है। केवल इतना ही नहीं, आ. शुक्ल के अनेक हिन्दी-अंगरेजी निबन्ध अभी भी

जीर्ण-शीर्ण पत्र-पत्रिकाओं की फाइलों में पड़े थे। कुछ निबन्ध ऐसे भी थे जो कहीं छपे नहीं थे।

सोचा तो यह गया था कि आ. शुक्ल के निबन्ध साहित्य को चिन्तामणि शीर्षक से ही संकलित किया जाएगा, पर कई कारणों से यह सम्भव न हो सका। उनके सम्पूर्ण निबन्ध साहित्य को यहाँ विषयवार बाँट दिया गया है। इस खंड में आ. शुक्ल के साहित्यशास्त्र से सम्बन्धित सैद्धान्तिक और व्यावहारिक निबन्धों को रखा गया है। सैद्धान्तिक निबन्धों में आ. शुक्ल के उन भाषणों को भी रख लिया गया है जो मूलतः साहित्यशास्त्र के सिद्धान्त या व्यवहार पक्ष से ही सन्दर्भित हैं। 'कविता क्या है' एक ऐसा निबन्ध है जिसे शुक्लजी जीवन भर लिखते रहे, उसमें संशोधन-परिवर्धन करते रहे। इस निबन्ध के तीन पाठ मिलते हैं—कविता क्या है, सरस्वती 1909, कविता क्या है, हिन्दी निबन्धमाला भाग 2, ना. प्र. सभा काशी 1922 और कविता क्या है विचार-वीथी 1930। इस निबन्ध के तीनों पाठों को यहाँ एक साथ रखा गया है।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका में 'मनोविकारों का विकाश' शीर्षक से आ. शुक्ल ने एक लेखमाला प्रारम्भ की थी, जो जुलाई 1912 से शुरू होकर मार्च 1919 तक चली थी। 'लोभ और प्रेम' शीर्षक निबन्ध नागरीप्रचारिणी पत्रिका के फरवरी 1919 के अंक से शुरू हुआ था और मार्च 1919 के अंक में समाप्त हुआ था। जुलाई और सितम्बर 1912 की नागरीप्रचारिणी पत्रिका में 'मनोविकारों का विकाश' शीर्षक देकर शुक्लजी ने क्रोध और भय को पहले अंक में रखा था और दूसरे अंक में घृणा पर विचार किया था। चिन्तामणि भाग-1 में 'भाव या मनोविकार' शीर्षक देकर 'उत्साह' से शुरू कर क्रोध तक उन्होंने नौ भावों या मनोविकारों पर लिखा है। नागरीप्रचारिणी पत्रिका में उन्होंने शीर्षक दिया—'मनोविकारों का विकाश' और जिन मनोविकारों पर शुरू में विचार किया, वे हैं—क्रोध, भय और घृणा। यहाँ जिन पर पहले विचार किया गया था वे 'चिन्तामणि' में जाकर आखिरी हो गए और उनका पर्याप्त विस्तार भी हो गया। इस तरह से देखें तो 'मनोविकारों का विकाश' लेखमाला के जिन निबन्धों को शुक्लजी ने पर्याप्त संशोधित परिवर्धित किया, उनकी एक श्रेणी हो गई और 'भाव या मनोविकार' शीर्षक से लिखे गए चिन्तामणि भाग-1 के निबन्धों की दूसरी श्रेणी। 'लोभ और प्रेम' को बदलकर 'लोभ और प्रीति' कर देना कोई बड़ा परिवर्तन न कहा जाएगा। इसी तर्क के आधार पर 'मनोविकारों के विकाश' लेखमाला के शुरूआती तीन उपशीर्षकों (क्रोध, भय और घृणा) को एक साथ रखा गया है और चिन्तामणि भाग-1 में संकलित भाव या मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों को एक साथ। इस प्रकार शुक्लजी के एतद्विषयक विचार हमें एक स्थान पर प्राप्त हो जाते हैं और चिन्तन के विकास की श्रृंखला भी जुड़ जाती है।

शुक्लजी ने साहित्यशास्त्र के व्यवहार पक्ष पर जो कुछ लिखा है वह और भी दिलचस्प है। जायसी, सूर और तुलसी पर उन्होंने जो विस्तृत विचार किया है उसे पुस्तकाकार रूप में ग्रन्थावली के भाग-1 में रखा गया है। व्यावहारिक समीक्षा का दूसरा

स्रोत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' है। यहाँ हमारा आशय इन दोनों स्रोतों से नहीं है। व्यावहारिक समीक्षा से सम्बन्धित उनके चार निबन्ध भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पर हैं। एक निबन्ध तुलसीदास पर और एक निबन्ध 'रामचरितमानस' पर है। 'नूरजहाँ' और 'स्वर्णकलश' के माध्यम से गुरुभक्त सिंह 'भक्त' और अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की रचनाओं पर उन्होंने विचार किया है। 'क्रोचे' शीर्षक निबन्ध उनके अंगरेजी निबन्ध का हिन्दी अनुवाद है।

यह अंगरेजी निबन्ध हस्तलिखित और अधूरा है।

इस भाग का प्रारम्भ दो ऐसे निबन्धों से हुआ है जिनका हिन्दी अनुवाद शुक्लजी ने अंगरेजी से किया था। शुक्लजी के समीक्षक-व्यक्तित्व के निर्माण में इन निबन्धों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

इस भाग के सभी निबन्धों को मूलस्रोत से मिलाकर यह कोशिश की गई है कि इनमें त्रुटियाँ न रहने पाएँ। इति।

अक्टूबर 2006 **—ओमप्रकाश सिंह**

निवेदन*

इस पुस्तक में मेरी अन्तर्यात्रा में पड़ने वाले कुछ प्रदेश हैं। यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को साथ लेकर। अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहाँ कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थलों पर पहुँची है, वहाँ हृदय थोड़ा-बहुत रमता अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है। इस प्रकार यात्रा के श्रम का परिहार होता रहा है। बुद्धि पथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ न कुछ पाता रहा है।

बस इतना ही निवेदन करके इस बात का निर्णय मैं विज्ञ पाठकों पर ही छोड़ता हूँ कि ये निबन्ध विषय-प्रधान हैं या व्यक्ति-प्रधान।

काशी
2-2-1939

—रामचन्द्र शुक्ल

* चिन्तामणि भाग-1 की भूमिका

विषय सूची

सिद्धान्त पक्ष

व्यवहार पक्ष

सिद्धान्त पक्ष

साहित्य

बहुधा यह प्रश्न होता है कि साहित्य क्या है? विद्या के वैज्ञानिक विभागों के नाम लेते ही हमें यथार्थ धर्म का ज्ञान हो जाता है। हम लोग जानते हैं कि न्याय क्या है, ज्योतिष क्या है, सांख्य क्या है; किन्तु यह हम सुगमता के साथ नहीं कह सकते कि साहित्य से किस वस्तु से अभिप्राय है। हम यहाँ पर यह दिखलावेंगे कि साहित्य का यथार्थ धर्म क्या है और विज्ञान से उसका कहाँ तक सम्बन्ध है। क्या साहित्य से पुस्तक मात्र का बोध होता है? कभी नहीं। क्योंकि, तब, उसके अन्तर्गत विज्ञान, ज्योतिष, न्याय और विद्या के और भी अन्य विभाग आ जाएँगे। कभी हम लोग वेदव्यास की गीता को अध्यात्म के अन्तर्गत और कभी साहित्य के अन्तर्गत मान लेते हैं; किन्तु कोई मनुष्य, यदि वह उन्मत्त न हो, ज्योतिष या यूक्लिड (Euclid) के रेखा-गणित को साहित्य के नाम से नहीं पुकारेगा। क्या वाक्य रचना ही का नाम साहित्य है? अथवा साहित्य सुन्दर गढ़ी हुई स्टाइल में लिखने को कहते हैं? या यह लिखने की एक कृत्रिम और उपार्जित प्रणाली है?

बहुत से विचारवान पुरुष इन्हीं पूर्वोक्त बातों को साहित्य का लक्षण मान उससे घृणा करते हैं। उनके मत में साहित्य और कुछ नहीं, शब्दों की क्रीड़ा मात्र है।

साहित्य केवल लेखन-प्रणाली ही का नाम है; वाचालता का नहीं। भिन्नता उसकी प्रणाली में, उसके सर्वांग-पूर्ण और दिगन्तव्यापी होने में है। जो बात कही जाती है वह बोलने वाले के पास से बहुत दूर नहीं जा सकती; वायु में उसका नाश हो जाता है। जब शब्दों को, सारगर्भित और उन्नत भावों को प्रगट करने के लिए, प्रयोग करना होता है; जब उन्हें सृष्टि के अन्त तक स्थायी रखना आवश्यक होता है; और जब उनके द्वारा भावी सन्तति का उपकार वांछित होता है, तब उन्हें लिखना पड़ता है, अर्थात् साहित्य के रूप में ढालना पड़ता है। किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि यह हाथ की किसी प्रकार की कारीगरी है; नहीं—यह गुण वाणी ही का है। यह कानों को सम्बोधन करता है, न कि नेत्रों को। इसको हम वाणी की शक्ति कहते हैं। जब हम लिखने लगते हैं तब ऐसे शब्दों का हम प्रयोग करते हैं जैसे 'बोलना', 'पुकारना' इत्यादि। हम इस पर अधिक ज़ोर देते हैं, क्योंकि

इससे यह देखा जाता है कि वाणी, अर्थात् साहित्य, एक व्यक्ति की निज की क्रिया है। यह कई मनुष्यों के संयोग से अथवा किसी यन्त्र की सहायता से उत्पन्न हुई कोई वस्तु नहीं है। किन्तु सदा इसकी स्फूर्ति एक साथ एक ही व्यक्ति में होती है। एक ही ध्वनि के दो पृथक् व्यक्ति कर्ता नहीं हो सकते और एक ही कथा को दो मनुष्य एक साथ नहीं कह सकते; अर्थात् वाणी एक समय में एक ही मनुष्य की हो सकती है और वह उसी की कल्पना और उसी का अनुभव है। किसी एक विशेष प्रकार की कल्पना एक मनुष्य-विशेष की निज की और स्वाभाविक सम्पत्ति है, यद्यपि सम्भव है कि और लोग भी वैसी ही या उससे मिलती जुलती कल्पना रखते हों। यह कल्पना मनुष्य में वैसी ही निराली है जैसे उसकी बोली और क्रियाएँ उसमें निराली हैं, और जैसे उसका चेहरा और उसका ढंग उसमें निराला है। सारांश यह कि साहित्य 'विचार' का बोधक है न कि 'पदार्थ' का।

यह बात विद्या के उस विभाग की परीक्षा करने से स्प्ष्ट हो जायगी जो विज्ञान से सम्बन्ध रखता है, अर्थात् जो ऐसी वस्तुओं का बोध कराता है जो किसी व्यक्ति-विशेष में नहीं, वरन् जो, यदि जो इस सम्पूर्ण संसार मे कोई मनुष्य उसको जानने वा उनके विषय में चर्चा करने को भी न होता, तो भी वे स्थित रहतीं और यद्यपि शब्द उनको प्रगट करने के लिए प्रयोग किए जाते हैं, तथापि ऐसे शब्द केवल एक प्रकार के संकेत या चिह्न-स्वरूप हैं—भाषा नहीं। चाहे कितना ही अधिक हम उनका व्यवहार करें और कितने ही प्रकार से उन्हें लिखकर स्थायी बनायें, तिस पर भी उनसे हम किसी प्रकार का साहित्य नहीं निकाल सकते और न उन्हें उस नाम से पुकार ही सकते हैं। रेखा-गणित की शकलें इसी प्रकार की हैं। वे स्वयं-स्थित हैं; उनका होना हम लोगों को उनके समझने पर अवलम्बित नहीं और न हम लोगों की इच्छा पर; वे पदार्थो के स्वभाव से सम्बद्ध हैं और ऐसे नियमों के अधीन हैं जो हम लोगों से अलग हैं। वे शब्द जिनमें वे शकलें प्रगट की गयी हैं, भाषा या साहित्य नहीं, वरन् संकेत मात्र हैं। रेखा-गणित की शकलें बीज-गणित के अंकों में दिखलाई जा सकती हैं। यह बात प्रमाणसिद्ध है। जो बात गणित के विषय में घटती है वही और और वैज्ञानिक विषयों मे भी पाई जाती है। शब्दों की सहायता वे केवल पहियों की भाँति लेते हैं, जो उन्हें खींचकर साहित्य-प्रदेश से बाहर ले जाते हैं। अध्यात्म, धर्मशास्त्र, अर्थ-विद्या और रसायन इत्यादि साहित्य के अन्तर्गत नहीं आ सकते, क्योंकि वे तीक्ष्ण वैज्ञानिक परीक्षा को सहन करने योग्य हैं।

इसी से अरस्तू के ग्रन्थ पहले देखने में तो साहित्य-विषयक जान पड़ते हैं; किन्तु उनमें से बहुतेरे लक्षण का विचार करने पर विज्ञान के निकट पहुँच जाते हैं, यद्यपि वे वस्तुएँ जिनका वह वर्णन करता है सर्वदा सारवान और प्रत्यक्ष नहीं है; परन्तु उन्हें वह इस ढंग से प्रगट करता है, मानो वे उसके हृदय की कल्पना और विचार नहीं हैं, अर्थात् उन्हें वह वैज्ञानिक रीति से प्रगट करता है। बहुत से ऐतिहासिक

लेखक भी अपने ग्रन्थों पर अपने मानसिक भाव, चित्त की प्रवृत्ति और पक्षपात इत्यादि का ऐसा रंग चढ़ा देते हैं कि उनमें साहित्य की सी झलक आ जाती है। सारांश यह है कि विज्ञान पदार्थ, या 'तत्त्व' का बोधक है और साहित्य 'कल्पना' और 'विचार का; विज्ञान ब्रह्मांड-व्याप्त है और साहित्य का स्थान किसी एक व्यक्ति में। विज्ञान शब्दों को संकेत की भाँति काम में लाता है; किन्तु साहित्य में भाषा का सबसे प्रशस्त प्रयोग है और अलंकार, मुहाविरा, वाक्य-रचना, माधुर्य और सरसता तथा अन्यान्य लक्षण उसमें सम्मिलित हैं। साहित्य भिन्न भिन्न लोगों का भिन्न भिन्न प्रकार से भाषा को काम में लाना है। यह बात बहुत-से ग्रन्थों को देखने से विदित होती है। भाषा स्वयं अपना मूल किसी जाति-विशेष में रखती है। उसके रहन-सहन का बड़ा भारी प्रभाव उस पर पड़ता है; कभी कभी तो यहाँ तक कि किसी मुहाविरे या वाक्य-विशेष की उत्पत्ति हम लोग किसी व्यक्ति-विशेष से बतलाते हैं; हम उसका इतिहास तक जानते हैं।

किसी भाषा के शब्दों के भाव और रूप, और उसको बोलनेवाली जाति के स्वभाव और आशय, में जो सम्बन्ध है वह प्रत्यक्ष है। बहुतेरे लोग भाषा का उसी प्रकार प्रयोग करते हैं जैसा कि वे होता हुआ देखते हैं। प्रतिभाशाली पुरुष उसका प्रयोग तो करता है, किन्तु उसे अपने आशय के अधीन रखता है और उसे एक निराले ढंग पर ले चलता है। कल्पना-समूह, विचार माला, अनुभव और उत्साह इत्यादि जो उसके चित्त में उत्पन्न होते हैं, उन्हीं को वह अपनी भाषा में व्यक्त करता है। उसकी भाषा वैसी ही बहु-रूपिणी है जैसी उसकी आन्तरिक क्रियाएँ हैं; क्रियाएँ वास्तव में उसकी छाया के सदृश हैं। जैसे उसकी कल्पना उसकी निज की है; उसके विचार उसके निज के हैं; वैसे ही उसकी भाषा या स्टाइल भी उसकी निज की है।

'विचार' और 'वाणी' एक दूसरे से पृथक नहीं किए जा सकते। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—''गिरा अर्थ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न''। वे एक ही वस्तु के दो विभाग हैं। 'विचार' और 'कल्पना' भाषा द्वारा प्रगट किये जाते हैं। यही साहित्य है। पदार्थ साहित्य नहीं, पदार्थों का शब्द-रूपी संकेत भी साहित्य नहीं और केवल शब्द भी साहित्य नहीं—'विचार' का नाम साहित्य है। ये विचार भाषा द्वारा प्रगट किये जाते हैं। मनुष्य की बुद्धि को पशुओं की बुद्धि से जिस अंश में विशेषता है उसको ग्रीक भाषा में Logos कहते हैं। Logos का तात्पर्य 'बुद्धि' और 'वांणी' से है। यह नहीं जान पड़ता कि इनमें से कौन अर्थ यथार्थ है; मेरी जान तो उसमें दोनों बातें सम्मिलित हैं; क्योंकि वे एक दूसरे से पृथक् नहीं कही जा सकतीं; वे यथार्थ में एक ही हैं। जिस प्रकार अग्नि से प्रकाश का जुदा होना असम्भव है उसी प्रकार 'वाणी' या भाषा के बिना 'विचार' का होना असम्भव है। समालोचकों को इस विषय पर बहुत विचार कर सम्मति स्थिर करनी चाहिए। बहुतों का मत है कि सुन्दर रचना अर्थात साहित्य किसी वस्तु पर ऊपर से कलई कर देना है; अथवा एक प्रकार के आभूषणों से विभूषित करना है, जिसका

साधन केवल ऐसे ही मनुष्य करते हैं जिन्हें ऐसी तुच्छ बातों में रुचि होती है और उसके लिए समय मिलता है। वे समझते हैं कि विचारों का कर्त्ता एक पुरुष हो सकता है और वाणी या भाषा का दूसरा। जैसे कोई मनुष्य जो लिखना पढ़ना नहीं जानता है, एक पत्र-लेखक के पास जाता है और अपने चित्त का भाव उस पर किसी प्रकार प्रगट करता है। कभी वह किसी धनी आदमी से उपकार चाहता है, कभी किसी पदाधिकारी से किसी त्रुटि का संशोधन चाहता है, कभी किसी रमणी से प्रेम की अभिलाषा रखता है, इत्यादि। और वह पत्र-लेखक उस मनुष्य के भावों को ग्रहण करके उसे ऐसे ऐसे शब्द ढूँढ़कर देता है जिनकी आवश्यकता होती है। यह बात वह उसी भाँति करता है जैसे बिसाती ने उसे काग़ज़, क़लम इत्यादि लिखने की सामग्री दी थी। सो 'विचार' और 'शब्द' किसी किसी की समझ में दो पृथक् वस्तु हैं; इसी से उनकी क्रियाएँ भी विभक्त हैं। (बहुत से देशों में इसी का नाम सुन्दर रचना है) वे साहित्य-रचना को एक प्रकार का व्यवसाय और चातुरी मानते हैं। वे उसको ऐसा ही समझते हैं जैसे भोजन के समय सोने के पात्र और गुलदस्ते इत्यादि, जो भोजन को तो अधिक स्वादिष्ट नहीं बना देते, किन्तु आनन्द को बढ़ाते हैं।

परन्तु क्या यह कोई कह सकता है कि वाल्मीकि, वेदव्यास, कालिदास और भवभूति इत्यादि की रचना वाक्य-रचना ही के निमित्त थी; उन विचारों को प्रगट करने के लिए न थी जो उनके चित्त में थे। यह कहना तो प्रचलित पद्धति के कभी अनुकूल न होगा। बल्कि यों कहा जा सकता है कि लेखक के चित्त में कल्पना अथवा विचार एक प्रकार की धारा है जो वाणी के द्वारा वेग के साथ बह निकलती है। 'कल्पना' और 'विचार' उसके अन्तःकरण के निवासी हैं जो शब्दों के रूप में परिवर्तित होकर, जैसे भाप जल के रूप में परिवर्तित हो जाता है, उसके मुख से निकल पड़ते हैं और उसके चित्त को एक तरह से हल्का कर देते हैं। उसके चित्त की अवस्था और प्रवृत्ति, उसका आन्तरिक स्वभाव सौंदर्य, तथा उसके विवेचन की सूक्ष्मता और शक्ति इत्यादि उसकी भाषा में प्रतिबिम्बित हो जाते हैं। केवल शब्द ही नहीं बल्कि उसके छन्द, अनुप्रास, समास इत्यादि भी उसके चित्त के उद्वेग से उत्पन्न होते हैं। ये सब बातें जन्म से होती हैं, उनका अस्तित्व और उनकी पूर्णता उसके गुण के उतने स्मारक नहीं हैं जितने उसकी शक्ति के। यह बात गद्य और पद्य दोनों प्रकार की रचना में समान रूप से पाई जाती है। कादम्बरी की शब्द-योजना का अपूर्व माधुर्य और, साथ ही साथ, उसका उन भावों के अनुकूल होना जिन्हें कवि ने प्रगट किया है, कौन नहीं स्वीकार करेगा?

जब विचार और कल्पना कवि की निज की वस्तु हैं तो कोई आश्चर्य नहीं जो उसका स्टाइल अर्थात् लिखने का तर्ज़ और उसकी भाषा भी केवल उसके विषय ही का प्रतिबिम्ब न हो, बल्कि उसके हृदय का भी प्रतिबिम्ब हो। भाषा की प्रगल्भता, रचना की सरसता और शब्दों के चुनाव और प्रयोग में स्वच्छन्दता, जो प्रायः गद्य के लेखकों में कृत्रिम जान पड़ती हैं, स्वाभाविक उन्नत बुद्धि और उन्नत प्रणाली

के सिवा और कुछ नहीं हैं। विशाल बुद्धि की कार्य-प्रणाली भी विशाल होती है। कवि की भाषा न केवल उसके उन्नत विचार ही प्रगट करती है, वरन् स्वयं उसको भी। चाहे कवि बहुत थोड़े शब्द काम में लावे; किन्तु वह अपनी साधारण कल्पनाओं को भी उपजाऊ बनाता है। उनमें से नए नए अंकुर निकालता है, और अपने पदों की गति को बढ़ाता हुआ तथा अपनी वाग्वीणा के प्रत्येक स्वरों को खींचकर एक करता हुआ अपनी शक्ति और पूर्णता का अनुभव कराता है। एक तीव्र समालोचक शायद इसको शब्दों की भरमार कहे, किन्तु वास्तव में यह हृदय की सम्पन्नता है।

कालिदास ने भी इस प्रकार के अनेक उदाहरण अपने काव्यों में दिए हैं जो सब ऐसे सुन्दर हैं कि उनमें से किसी एक को उद्धृत करने के लिए चुनना कठिन है; यथा—

पितुरनन्तर मुत्तरकोसलान्
समधिगम्य समाधिजितेन्द्रियः।
दशरथः प्रशशास महारथो
यमवतामवताञ्च धूरि स्थितः॥

इसीलिए संस्कृत कवि 'शब्द-शिल्पकार'* कहे जाते हैं। मैं यहाँ पर यह कहना चाहता हूं कि यह लेखन-प्रणाली पूर्वकथित नियमों के सर्वथा अनुसार है। उन नियमों के अवलम्बी लेखकों में किसी प्रकार की कृत्रिमता वा भाव-रंकता नहीं पाई जाती। संस्कृत साहित्य की रचना निस्सन्देह बहुत गम्भीर और विस्तृत है। उसमें बहुत सा समय, परिश्रम और विचार व्यय हुए हैं। मैं यह मानता हूं कि उसमें कहीं कहीं भद्दापन है। बहुत से प्राचीन और नवीन कवि ऐसे हैं जो वास्तव में लम्बे लम्बे सामासिक पदों की रचना ही में अपनी साहित्य-रचना का उद्देश्य और अन्त मानने के दोषी हैं; वे विचारों और भावों को तिलांजलि देकर शब्दों ही पर टूट पड़े हैं। उनका पक्ष मैं नहीं ले सकता। इस प्रकार के कई कवि हमारे यहां हो गए हैं। दंडी की गद्य-रचना यद्यपि बहुत ही पांडित्य-पूर्ण है, परन्तु किसी किसी स्थान पर उसकी प्रणाली, भाव और अवसर से अनावश्यक रूप से आगे बढ़ गयी है।

इन पिछली बातों के मानने पर भी मैं यह नहीं स्वीकार कर सकता कि प्रतिभा को परिश्रम की आवश्यकता ही नहीं। प्रतिभा अभ्यास से उन्नति ही नहीं कर सकती, उसमें भूल-चूक होने की सम्भावना ही नहीं, और जो एक बार चित्त के उद्वेग में निकला और लिखा गया वह किसी दूसरे अवसर पर पूर्ण और संशोधित नहीं किया जा सकता। चित्रकार या शिल्पकार की ओर देखिए। जिस वस्तु को उसे प्रगट करना होता है उसकी वह पहले अपने चित्त में कल्पना कर लेता है। क्या यह कोई कह सकता है

---

* संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान सर मोनियर विलियम्स ने निज सम्पादित 'नलोपाख्यान' की भूमिका में संस्कृत-साहित्य की आलोचना करते हुए कहा है "Here the words are not used as vehicle of ideas but ideas are made subservient to him."

कि अपने विषय का वह अध्ययन नहीं करता? क्या वह पहले हलकी रेखाएँ नहीं खींच लेता है? क्या कोई कहेगा कि शकुन्तला के पत्र-लेखन का आधुनिक रूप कल्पना को कुछ समय तक धैर्य के साथ काम में लाने से नहीं सिद्ध हुआ है? तो फिर जो बात चित्रकारी, शिल्पविद्या और संगीत के विषय में पाई जाती है वही साहित्य-रचना में भी चारितार्थ क्यों न हो? भाषा क्यों न उसी प्रकार उपयोग में लाई जाय जैसे बढ़ई की लकड़ी? शब्द क्यों न उसी प्रकार काम में लाये जायँ जैसे रंग? शेक्सपियर कहता है–

"The poet's eye in fine frenfy rolling
Doth glance from heaven to earth, from earth to heaven
And as imagination bodies forth
The forms of things unknown, the poets pen
turns them to shapes and gives to airy nothing
A local habitation and a name."

अर्थात् "कवि की मतवाली दृष्टि लहराती हुई स्वर्ग से पृथ्वी और पृथ्वी से स्वर्ग तक जाती है; और जैसे जैसे कल्पना अज्ञात-पूर्व वस्तुओं का स्वरूप सामने उपस्थित करती है, उसकी लेखनी उन्हें आकार में लाती है और अदृष्ट और असार वस्तुओं को लोक में नाम और स्थान देती है।"

यह क्या कोई आश्चर्य की बात है जो उसकी लेखनी किसी समय भूल में पड़ जाय, कहीं विश्राम ले, काटे और फिर से लिखे? यह वह तब तक करेगी जब तक उसे यह निश्चय न हो जायगा कि उन भावों या कल्पनाओं को, जो उसके हृदय-नेत्र के सम्मुख हैं, यथावत् प्रदर्शित करने में वह कृतकार्य हो गई। इसके प्रमाण बहुत से कवि और ग्रन्थकार हो गए हैं। एडिसन (Addison) के समान स्वच्छंद लेखक के विषय में भी किंवदन्ती है—चाहे वह सत्य हो वा असत्य—कि एक बार उसे कुछ राजकीय पत्रों के प्रकाशित करने में इस कारण देर हो गई कि उसे लेख को कई बार पढ़-पढ़कर ठीक करने की आदत पड़ गई थी। ऐसे ग्रंथकार अपने हृदयस्थित नमूने को सामने रखकर काम करते थे और ऐसे ऐसे शब्दों को निकालने के लिए यत्न और परिश्रम करते थे जिनसे वह ठीक ठीक उतारा जा सके। वरजिल (Virgil) ने अपनी एनीड (Eneid) को, यद्यपि उसकी रचना बहुत ही मनोहर है, जला देना चाहा था, क्योंकि उसने उसे सर्वांग सुन्दर बनाने के लिए और अधिक परिश्रम आवश्यक समझा।

इन बातों से मेरा अभिप्राय उस दूषित लेखन प्रणाली को माननीय ठहराने का नहीं है, जिसके अवलम्बी लेखकगण विषय और भाव की ओर कुछ न ध्यान करके उपयुक्त या अनुपयुक्त शब्द रूपी भड़कीले रंग भरते चले जाते हैं। मैं उसी को स्वाभाविक चित्रकार मानता हूँ जिसके नेत्रों के सामने प्रचुर और सुन्दर कल्पनाएँ उपस्थित हों और जिसका उद्देश्य केवल उसी को (अधिक को नहीं) यथावत रूप से प्रदर्शित कर देने का रहता है जिसे वह कल्पित करता है, या जिसका वह अनुभव करता है।

इस चित्रकार और शिल्पकार के उदाहरण द्वारा हम और और बातों का भी निर्णय कर सकते हैं। मैं अब तक साहित्य-रचना में 'विचार' और 'भाषा' का सम्बन्ध दिखलाता आया हूँ। मैं यह भी दिखला चुका हूँ कि यह अनुमान, कि भाषा एक बाहरी वस्तु है और कल्पना से भिन्न, मनुष्य की इच्छानुसार, काम में लाई जा सकती है—कहाँ तक सत्य है। अब एक दूसरी बात का विचार करना है। एक भाषा का किसी अन्य भाषा में सुगमतापूर्वक अनुवादित हो जाना साहित्य-रचना के उत्तम होने की परख नहीं है। जिन लोगों का ऐसा भ्रम है वे समझते हैं कि एक भाषा ठीक दूसरी भाषा के सदृश है; और जो जो भाव, जो जो कल्पनाओं की तरंगें, तथा जो जो अलंकार और शब्द-सौन्दर्य एक भाषा में हैं वहीं दूसरे में भी हैं। हाँ, विज्ञान-विषयक बातों को प्रगट करने के लिए संसार की सब सभ्य भाषाएँ किसी एक वैज्ञानिक विभाग के लिए उनसे अधिक उपयुक्त होती हैं जिनमें वैज्ञानिक तत्त्वों के प्रतिपादन के लिए नये शब्द गढ़ने पड़ते हैं या किसी अन्य भाषा से लेने पड़ते हैं।

जब कुल भाषाएँ वैज्ञानकि तत्त्वों को संकेत रूप से प्रदर्शित करने में एक ही प्रकार से उपयुक्त नहीं हैं, तब कब सम्भव है कि संसार की सब भाषाएँ समान प्रभावशालिनी, समान सरस और किसी सम्पन्न अन्तःकरण की जातीय रुचिर कल्पनाओं की समान व्यंजक हों। एक बड़ा ग्रंथकार अपनी मातृभाषा को चुन लेता है; उसका अध्ययन करता है; उसको पढ़ता है और उपयुक्त बनाता है; और तब अपनी कल्पनाओं के समुदाय को उस अपनी प्राप्त की हुई और बनाई हुई भाषा की नलियों द्वारा बहाता है। अब यह कैसे हो सकता है कि यह सृष्टि जो उसकी निज की है, भूमंडल की किसी दूसरी भाषा में परिवर्तित कर दी जा सके। कुछ लोग समझते हैं कि ग्रंथकार वही श्रेष्ठ है जिसकी रचना किसी दूसरी भाषा में अनुवादित हो सके, अर्थात् एक ग्रंथकार का भाव एक भाषा में उसी रुचिरता के साथ समझा जाय जैसा कि दूसरी में। इस सिद्धान्त से तो पहाड़े संसार की सब साहित्य-रचना से उत्कृष्ट ठहरते हैं; क्योंकि अनुवाद करने से उनका कोई भाग नष्ट नहीं होता और वे किसी एक भाषा की सम्पत्ति नहीं कहे जा सकते। मैं तो यह समझता हूँ कि कल्पनाएँ जितनी ही अद्भुत और नवीन होंगी, उतना ही उनको शब्दों में लाना कठिन होगा; उनका किसी एक भाषा में प्रादुर्भाव होना ही उनके किसी अन्य भाषा में कहे जाने की सम्भावना को कम कर देता है। जंगली जातियों की भाषाओं में मुश्किल से कोई उत्तम कल्पना या बुद्धि-विषयक बात प्रगट की जा सकती है। हाटेंटाट (Hotentot) वायसक्विमस (Esqimaux) लोगों की भाषा से क्या कालिदास, भवभूति और शेक्सपियर की प्रतिभा भी नापी जा सकती है?

अब फिर हम अपने शिल्पकार और चित्रकार के उदाहरण की ओर झुकते हैं। जो बात चित्रकार अपने पटल पर प्रगट कर सकता है, कारीगर उसे पत्थर पर नहीं कर सकता। एक व्यक्ति जितना ही अधिक किसी कला विशेष के नियमों और शैलियों के अनुसार अपने गुण को ले चलेगा, इतना ही कम वह उसको किसी

दूसरी कला की ओर लगा सकेगा। हर एक कला-कौशल का धर्म जुदा जुदा होता है, जो आप एक के द्वारा कर सकते हैं, दूसरे के द्वारा नहीं कर सकते; जो आप चित्रकारी में प्रगट कर सकते हैं पच्चीकारी में नहीं; जो वस्तु आप स्फटिक पर प्रदर्शित कर सकते हैं; वह हाथी दाँत पर नहीं। ठीक यही बात भिन्न भिन्न भाषाओं के विषय में भी चरितार्थ होती है। हम संस्कृत साहित्य को उस कारण क्यों दूषित मान लें कि उसका अनुवाद अँगरेजी में नहीं हो सकता? वह मनोहरता जो उसमें है, अँगरेजी के लिए नहीं बनाई गई। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, भाषा किसी जाति विशेष की सम्पत्ति है जिसका रहन-सहन और स्वभाव उसमें चित्रित रहता है और जो उसी जाति की आवश्यकताओं को पूर्ण करनें के लिए बनाई गई हैं।

अब हम अपनी तीसरी बात की जाँच के लिए उद्यत होते हैं। वह धर्म सम्बन्धी तथा वेद और स्मृति इत्यादि पुस्तकों की रचना की बात है। अब तक हम इस परीक्षा में तत्पर थे कि स्टाइल या वाक्यरचना एक बाहरी और कृत्रिम वस्तु है। इससे उसका किसी दूसरी भाषा में अनुवादित होना कठिन होता है। अब हम इसका विचार करते हैं कि वेद आदि धार्मिक ग्रंथ इस प्रकार की अलंकृत रचना से सर्वथा मुक्त हैं कि नहीं! क्या आप समझते हैं कि उनमें कहीं शब्द वैचित्र्य, अलंकार, और सरसता नहीं है? इस वेदान्त वाक्य ही को लीजिए-

आत्मानं रथिनं बिद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथि बिद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियणि ह्यानाहुर्विशयांस्तेषू गोचरान्।
सोध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमम्पदम्॥

क्या यह समझने में कठिन नहीं है? क्या इसमें रूपक अलंकार नहीं है? मैं तो कहता हूँ कि जितना अंश ऐसे ग्रंथों का अलंकृत रचना इत्यादि लक्षणों से रहित है, और जो शुद्ध सीधी सादी भाषा में पवित्र पदार्थों का बोध करता है, वह विज्ञान के अन्तर्गत है, साहित्य के नहीं।

ऊपर जो बातें कही गईं उन सबका अब मैं सारांश प्रकाशित करता हूँ, कि साहित्य क्या है? इस प्रश्न का उत्तर यह दिया जा चुका है कि वह 'विचारों' का शब्दों में अवतीर्ण होना है। और विचारों से तात्पर्य कल्पना, अनुभव, विवेचना तथा और अन्यान्य मन की क्रियाओं से है। साहित्य उन श्रेष्ठ मनुष्यों की शिक्षा और वार्ता है जिन्हें अपनी जाति के प्रतिनिधि रूप में बोलने का अधिकार प्राप्त है और जिनके शब्दों में उनके स्वदेशीय बन्धुगण अपने अपने भावों का प्रतिबिम्ब देखते हैं और अपने अनुभव के सारांश का पता लगाते हैं।

उत्तम ग्रंथकार वह नहीं है जो, गद्य या पद्य में, सुन्दर भड़कीले भड़कीले शब्दों से गुँथा हुआ कोई पद बना सके; उत्कृष्ट कवि वही है जिसे कुछ कहना होता है और जो यह जानता है कि उसे किस प्रकार कहना चाहिए। मैं उसके लिए सूक्ष्म और गहरे विचार, ज्ञान की अधिकता, न्याय और तर्क, तथा मानुषी प्रकृति

का अध्ययन इत्यादि आवश्यक नहीं बतलाना चाहता हूं। उसकी ईश्वर-प्रदत्त-प्रतिभा ही प्रगट करने की शक्ति है। वह दो वस्तुओं का स्वामी है। 'विचार' और 'शब्द' ये दो नाम में तो एक दूसरे से भिन्न हैं; किन्तु पृथक् नहीं किए जा सकते। वह उद्वेग से साथ लिखता है, क्योंकि वह तीव्र अनुभव करता है; जोर के साथ लिखता है क्योंकि वह प्रत्यक्ष देखता है, उसकी दृष्टि स्वच्छ है, इस कारण उसकी रचना में कहीं गड़बड़ नहीं हो तो कल्पनाएँ उसके हृदय से उठती हैं और उसके मुख से सुन्दर सुन्दर शब्दों का रूप धारण करके निकलती हैं। जब उसके चित्त पर कोई प्रभाव पड़ता है तब उसकी सारी काल्पनिक सृष्टि कम्पायमान हो जाती है। शुद्ध कल्पना के प्रगट करने को वह शुद्ध और तदनुकूल शब्द रखता है। एक भी शब्द अधिक किंवा कम नहीं। यदि वह संक्षेप में कोई बात कहता है तो इसलिए कि वहाँ थोड़े ही शब्दों की आवश्यकता रहती है। जहाँ अधिक शब्द रखकर वह अपनी रचना को विस्तृत करता है वहाँ भी हर एक शब्द अपना अपना लक्ष्य रखता है, और सब मिलकर उसकी वाणी की प्रौढ़गति को सहायता पहुँचाते हैं, न कि उसको अपने बोझ से दबाते हैं। वह उसको प्रगट करता है जिसका अनुभव सब करते हैं; किन्तु प्रगट नहीं कर सकते। उसकी बातें उसके देश के लोगों में कहावत के रूप में प्रचलित हो जाती हैं और उसके वाक्य लोगों की नित्य प्रति की बोलचाल में व्यवहृत होने लगते हैं।

हम लोगों में कालिदास और अँगरेज़ी में शेक्सपियर इसी प्रकार के कवियों में हैं। भाषाओं में विभिन्नता के कारण उनका संबंध किसी एक ही से हो जाता है, किन्तु जो बात वे प्रगट करते हैं वह सम्पूर्ण मनुष्य-जाति से संबंध रखती है।

यदि वाणी की शक्ति ईश्वर का सबसे उत्तम प्रसाद है; यदि भाषा की उत्पत्ति बहुत से विद्वानों द्वारा ईश्वर से मानी गई है; यदि शब्दों द्वारा अन्तःकरण के गुप्त रहस्य प्रगट किए जाते हैं; चित्त की वेदना को शान्ति दी जाती है; हृदय में बैठा हुआ शोक बाहर निकाल दिया जाता है; दया उत्पन्न की जाती है और बुद्धि चिरस्थायी बनाई जाती है; यदि बड़े ग्रंथकारों द्वारा बहुत से मनुष्य मिलकर एक बनाए जाते हैं; जातीय लक्षण स्थापित होता है; भूत और भविष्य तथा पूर्व पश्चिम एक दूसरे के सम्मुख उपस्थित किये जाते हैं; और यदि ऐसे लोग मनुष्य जाति में अवतार स्वरूप माने जाते हैं—तो साहित्य की अवहेलना करना और उसके अध्ययन से मुख मोड़ना कितनी बड़ी भारी कृतघ्नता है! हम लोगों को यह दृढ़ विश्वास रखना चाहिए कि जितना ही हम इसमें, चाहे जिस भाषा द्वारा हो, अधिकार प्राप्त करेंगे और उसके रस का आस्वादन करेंगे, उतना ही हम दूसरों को लाभ पहुँचाने में समर्थ होंगे—चाहे वे कम हों या अधिक, धनी हों या दरिद्र; क्योंकि वे सब हमारी लेखनी के प्रभाव-मंडल के भीतर आ जायँगे।

(सरस्वती, मई 1904)

[चिन्तामणि भाग-3]

कल्पना का आनन्द

पहिला प्रकरण

हमारी दृष्टि हमारी इन्द्रियों में सबसे अधिक पूर्ण और आनन्ददायिनी है। चित्त को अधिकांश प्रकार के भावों से यह पूर्ण करती है, दूर से दूर की वस्तुओं से बातचीत करती है और अपने नियत आनन्द के अनुभव से बिना थके और संतुष्ट हुए सबसे अधिक काल तक अपनी क्रिया में तत्पर रहती है। इसमें संदेह नहीं कि हमारी स्पर्शेन्द्रिय हमें पदार्थों के विस्तार, रूप तथा रंग के सिवाय और अन्यान्य भावों का, जिनका प्रवेश नेत्रपथ से होता है, बोध करा सकती है; किन्तु साथ ही पदार्थों की संख्या, दूरी और उनके पिंड के विषय में उसकी क्रिया बहुत ही संकुचित और परिमित है। हमारी दृष्टि उन सब अभावों को पूरा करने के लिए बनाई गई है। हमारा अवलोकन एक प्रकार का अधिक कोमल और प्रसृत स्पर्श है, जो अगणित वस्तु-समुदाय को अपने अंतर्गत करता है, वृहद् से वृहद् रूपों का बोध कराता है और संसार के सबसे दूर स्थित भागों को हमारी पहुँच के भीतर लाता है।

यही इन्द्रिय है, जो कल्पना को सामग्री प्रदान करती है, इसलिए कल्पना के आनन्द से (जिसका प्रयोग इस निबंध में कई जगह किया जायगा) मेरा अभिप्राय उस आनन्द से है, जो दृश्य पदार्थों से प्राप्त होता है, चाहे वे पदार्थ ही हम लोगों के सम्मुख हों अथवा उनका रूप हम चित्र, प्रतिमा वा वर्णनों द्वारा अपने मन में लावें। निस्सन्देह हमारे चित्त में एक भी प्रतिरूप ऐसा न निकलेगा जो नेत्रों के द्वार से न गया हो; किन्तु हम लोगों को उन स्वरूपों को, जो एक बार प्राप्त हुए, धारण करने, और घटा बढ़ाकर ऐसे रूपों में लाने की शक्ति है, जो कल्पना को सबसे अधिक प्रिय होते हैं। इसी शक्ति के प्रभाव से मनुष्य घोर कारागार में रहकर भी ऐसे ऐसे दृश्यों की बहार ले सकता है, जो इस सम्पूर्ण भूमण्डल पर नहीं पाए जा सकते।

पाठकों को स्मरण रखना होगा कि कल्पना के आनन्द से मेरा अभिप्राय केवल उस आनन्द से है, जो दृष्टि द्वारा उत्पन्न होता है। मैं इस आनन्द को दो भागों मे विभक्त करूँगा। पहिले तो मैं उस प्रथम श्रेणी के आनन्द के विषय में कहूँगा,

जो सर्वथा ऐसे पदार्थों ही से उत्पन्न होता है, जो हमारे नेत्रों के सामने है; तदन्तर उस द्वितीय श्रेणी के आनन्द के विषय में, जो दृश्य पदार्थों के केवल ध्यान मात्र से उत्पन्न होता है, जब कि वे पदार्थ हम लोगों की आँख के सामने नहीं रहते, वरन् हमारी स्मृति में लाए जाते हैं, अथवा कल्पना द्वारा रमणीय रूपों में निर्मित किए जाते हैं।

कल्पना का आनन्द अपने पूर्ण रूप में न तो ऐसा भद्दा ही है जैसा इन्द्रियों का; और न ऐसा संस्कृत ही है, जैसा विचार या विवेचन का। इस अंतिम प्रकार (विचार) के आनन्द का साधन निस्सन्देह उत्तम है, क्योंकि उसकी स्थिति मनुष्य के किसी नवीन-प्राप्त-ज्ञान व आत्मा की उन्नति पर रहती है। किन्तु यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि कल्पना का आन्नद भी वैसा ही बड़ा और हृदयग्राही है, एक सुन्दर दृश्य चित्त का उतना ही रंजन करता है, जितना एक तत्त्व का उद्‌घाटन; और वाल्मीकि के एक सर्ग ने गौतम के न्याय सूत्रों की अपेक्षा अधिक पाठकों का मनोरंजन किया है। इसके अतिरिक्त कल्पना के आन्नद की इस अंश में विशेषता है कि यह अधिक प्रत्यक्ष होता है और अधिक सुगमता-पूर्वक प्राप्त किया जाता है। आँखों का खोलना है कि दृश्य प्रवेश कर जाता है। नाना रंग अपने-आप, देखने वाले के बहुत ही अल्प विचारों द्वारा, कल्पना पटल पर अंकित हो जाते हैं। हम लोग जब किसी वस्तु की ओर देखते हैं तो उसके अंग-संयोग से मोहित हो जाते हैं और तुरंत उसके सौंदर्य को, बिना इसकी जिज्ञासा किए कि उस सौंदर्य का कारण क्या है, स्वीकार कर लेते हैं।

एक सहृदय मनुष्य ऐसे-ऐसे आनन्दों का अनुभव करता है, जो गँवार लोग स्वप्न में भी नहीं पा सकते। वह एक चित्र से वार्तालाप कर सकता है, प्रतिमा से अपना जी बहला सकता है, वर्णनों में एक गुप्त-सुख प्राप्त करता है और हरे-भरे खेतों और मैदानों को केवल देखने में ही उससे अधिक संतुष्ट होता है, जितना उनका स्वामी उन पर अधिकार रखने में। जितनी वस्तु वह देखता है, उनमें उसे एक प्रकार की सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है और प्रकृति के सबसे बेढंगे और उजाड़ भाग भी उसके आनन्द में सहायता पहुँचाते हैं। वह संसार को एक दूसरे ही रूप में देखता है, और उसमें बहुत सी सुन्दर वस्तुओं का पता लगाता है, जो जन-साधारण की दृष्टि से छिपी रहती है!

बहुत कम ऐसे लोग निकलेंगे जो, निरुद्यम (काहिल) रहकर भी पाप शून्य हों, या जो ऐसे आनन्द के लोलुप हों, जो पाप न हो। उद्यम के पथ से जहाँ एक पग भी वे भटके, तहाँ बुराई वा मूर्खता में जा फँसते हैं, इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह अपने दोष-रहित आनन्द की सीमाओं, को, जहाँ तक संभव हो, बढाता रहे, जिसमें वह समय पड़ने पर निर्भयतापूर्वक उसका आश्रय ले सके और उससे इस प्रकार का सुख प्राप्त करे, जैसा एक बुद्धिमान पुरुष को उचित है। इस प्रकार

का आनन्द कल्पना ही का है, जो न तो विचार की ऐसी ही प्रवत्ति ही की आवश्यकता रखता है, जो हमारे और कार्यों में दरकार होती है, और न चित्त को ऐसी काहिली और बेपरवाही में पड़ने देता है, जो इन्द्रियों के आनन्द में लीन होने से उत्पन्न होती हैं। यह शक्तियों को एक प्रकार का बहुत ही मधुर परिश्रम देता है, जो बिना किसी कष्ट और कठिनता के, उनको निरुद्यमता वा आलस्य से उठाकर सचेत करता है।

यहाँ पर हमें यह भी कह देना चाहिए कि कल्पना का आनन्द, विचार वा विवेचना के आनन्द से, जिसमें मस्तिष्क को बड़ा कठिन परिश्रम पड़ता है, अधिक स्वास्थयकर है। सुन्दर दृश्य, चाहे वे प्रकृति में हों, चाहे चित्र वा काव्य में, शरीर और मन, दोनों पर बहुत उत्तम प्रभाव डालते हैं, और न कि केवल कल्पना ही को शुद्ध और कान्तिमयी करते हैं, वरन शोक और विषाद का भी नाश करते हैं और मनुष्य को नस-नस में सुख और शांति का संचार करते हैं। इसी कारण बेकन (Bacon) ने अपने 'स्वास्थ्य' शीर्षक निबंध में अपने पाठकों को सुन्दर काव्य अथवा दृश्य के अवलोकन की सम्मति देना उपयुक्त विचारा। जहाँ पर उसने जटिल और पेचीले विषयों की ओर मन देने का निषेध किया है, वहीं पर ऐसी पुस्तकों के अध्ययन की भी सम्मति दी है, जो चित्त को सुंदर और रमणीय वस्तुओं से पूर्ण करती है, जैसे इतिहास, आख्यान और प्राकृतिक वर्णन इत्यादि।

मैंने भूमिका की भाँति कल्पना के उस आनन्द का, जो इस समय हमारे इस निबंध का आलोच्य विषय है, लक्षण निर्धारित कर दिया और बहुत विचार करके इस आनन्द को प्राप्त करने की सम्मति अपने पाठकों को दी। मैं अब दूसरे प्रकरण में उन विविध मूलों की परीक्षा करूँगा, जिनसे ये आनन्द उत्पन्न होते हैं।

दूसरा प्रकरण

प्रथम श्रेणी का आनन्द

मैं पहिले कल्पना के उस प्रथम श्रेणी के आनन्द पर विचार करूँगा—जो पदार्थों के वास्तविक अवलोकन और निरीक्षण से प्राप्त होता है। मेरी समझ में यह आनन्द किसी ऐसी वस्तु के देखने से उत्पन्न होता है, जो बड़ी असाधारण और सुन्दर होती है। इसमें संदेह नहीं और संभव है कि कोई बात ऐसी भयानक अथवा घृणित देख पड़े कि किसी पदार्थ से उत्पन्न भय वा घृणा उस आनन्द से बढ़ जाय, जो उसकी बड़ाई, असाधारणता और सौंदर्य से प्राप्त होता है, किन्तु उस घृणा में भी, जो उत्पन्न होगी, आनन्द का ऐसा मिश्रण रहेगा कि हमें जान पड़ेगा, जैसे इन्हीं तीनों उपर्युक्त गुणों में से किसी एक गुण की मात्रा अधिक हो गई है।

बड़ाई—बड़ाई से मेरा तात्पर्य किसी एक पदार्थ के पिंड से नहीं है, किन्तु

समस्त दृश्य को एक अकेला खंड मानकर उसकी बड़ाई से है। जैसे एक खुले हुए बराबर मैदान का दृश्य, विस्तृत ऊसर रेगिस्तान, विपुल पर्वत राशि, ऊँची-ऊँची चट्टानें और समुद्र का अपार जल विस्तार इत्यादि। इनको देखकर हम इनके सौंदर्य के असाधारणत्व से आकर्षित नहीं होते, वरन् उस बोंगे चमत्कार से, जो प्रकृति की इन विशाल रचनाओं में पाया जाता है। हमारी कल्पना ऐसी वस्तुओं से पूर्ण होना तथा ऐसे पदार्थों को ग्रहण करना चाहती है जो उसमें समा न सकें। ऐसे विस्तृत और असीम दृश्यों से हम लोग एक आनन्दमय आश्चर्य में डूब जाते हैं और हमारी आत्मा उनका ध्यान करके एक प्रकार की मनोरंजक निस्तब्धता का अनुभव करती है। मनुष्य का चित्त सवभावतः ऐसी वस्तुओं से घृणा करता है, जो उस पर किसी प्रकार की रुकावट डालती हैं। जबकि दृष्टि किसी संकीर्ण स्थान में बँधी रहती और चारों ओर पहाड़ी और ऊँची नीची दीवारों से घिरी रहती है, उस समय वह अपने को कारागार में समझती है। इसके प्रतिकूल, एक विस्तीर्ण क्षितिज स्वाधीनता का स्वरूप है, जहाँ पर उसको बहुत दूर तक विचरने, निसर्ग के आधिक्य से चमत्कृत होने तथा उन अनेक प्रकार के पदार्थों में जो उसके सामने पड़ते हैं, लीन होने के लिए पूरा स्थान मिलता है। ऐसे विस्तृत और असीम दृश्य हमारी कल्पना को वैसे ही आनन्ददायक है, जैसे नित्य और अनन्त विषयक विवेचना, बुद्धि या विचार को। किन्तु यदि इस विशालता के साथ असाधारणत्व और सौंदर्य का भी संयोग हो जाता है—जैसे ज्वार भाटे के सहित समुद्र में, सुन्दर तारों से विभूषित आकाश में तथा नदी, वन और पहाड़ों में विभक्त एक विस्तीर्ण भूमि में,-तो हमारा आनन्द और भी बढ़ जाता है; क्योंकि तब वह एक से अधिक सिद्धान्तों के अनुसार उत्पन्न होता है।

प्रत्येक वस्तु, जो नवीन वा असाधारण होती है, इस कारण कल्पना में आनन्द उपजाती है कि आत्मा को वह रमणीय आश्चर्य से पूर्ण करती है, उसके कौतूहल को सन्तुष्ट करती है, और उसको एक ऐसा भाव प्रदान करती है जो पहिले उसको प्राप्त न था। यथार्थ में हम लोग एक ही प्रकार के पदार्थों से इतने परिचित हो जाते हैं और उन्हीं वस्तुओं को बार-बार देखते-देखते इतने ऊब जाते हैं कि जो कुछ उनमें नयापन वा असाधारणत्व होता है, वह मानवजीवन के परिवर्तन करने में और अपनी अद्भुतता से चित्त को आकर्षित करने में बहुत कम योग देने लगता है। अस्तु।

असाधारण—यही (नवीनता वा असाधारणता) हमारे आनन्द को वाजः करती रहती है, यही भयानक वस्तुओं को भी मनोहरता प्रदान करती है और यही प्रकृति के कार्यों की अपूर्णता को भी हमारे लिए आनन्द-दायिनी बनाती है। यही हममें भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं के लिए रुचि उत्पन्न करती है, जिससे हमारा चित्त प्रत्येक क्षण किसी नई वस्तु की ओर जाता रहता है और हमारे ध्यान को किसी

पदार्थ विशेष पर अधिक काल तक स्थिर रहकर अपनी मिट्टी नहीं खराब करती। यही उन वस्तुओं की भी, जो बड़ी और सुन्दर होती हैं, शोभा वृद्धि करती है और उन्हें हमारे चित्त को दूना आनन्द प्राप्त करने में समर्थ करती हैं। उदाहरणार्थ, जैसे बगीचे, खेत और चरागाह, यों तो सब ऋतुओं में देखने में सुखद होते हैं, किन्तु ऐसे मनोरंजक कभी नहीं होते, जैसे वसन्त ऋतु के आरम्भ में, जब कि वे संपूर्ण नये और ताजे रहते हैं और हमारे नेत्र भी उनसे बहुत परिचित और अभ्यस्त नहीं रहते। इसी कारण से कोई वस्तु स्थल को इतना सुहावना नहीं बनाती है, जितना नदी, दर्रा और झरने, जहाँ पर कि दृश्य सदैव बदलता रहता और प्रत्येक क्षण दृष्टि को ऐसी वस्तु से रज्जित करता रहता है, जो नई होती है। हम लोग पहाड़ियों और घाटियों को देखने से बहुत शीघ्र ऊब जाते हैं, जहाँ पर प्रत्येक वस्तु एक ही स्थान पर एक ही अवस्था में स्थिर रहती है; किन्तु ऐसे पदार्थों के अवलोकन से हमारा चित्त प्रफुल्लित और उत्तेजित होता है, जो सर्वदा चलायमान रहते हैं और देखनेवाले की आँख के सामने से होकर गमन करते रहते हैं।

सुन्दरता–किन्तु कोई वस्तु चित्त में इतनी नहीं धँसती, जितनी सुन्दरता, जो कि तुरंत एक गुप्त सुख और आनन्द को कल्पना में फैला देती है और जो वस्तु विशाल और असाधारण होती हैं, उनको संपूर्णता प्रदान करती है। इसको देखते ही चित्त आन्तरिक प्रसन्नता से पूर्ण हो जाता है और उसकी समस्त क्रियाएँ आनन्दमय हो जाती हैं। सच पूछिए तो किसी एक पदार्थ में दूसरे की अपेक्षा विशेष कोई वास्तविक सुन्दरता वा कुरूपता नहीं होती; क्योंकि संभव है कि हम लोग ऐसे स्वभाव के बनाए जाते कि जो वस्तु हमें अब घृणित जान पड़ती है, वही तब रुचिकर प्रतीत होती! किन्तु अनुभव द्वारा हम देखते हैं कि पदार्थों में कुछ ऐसे परिवर्तन होते हैं, जिनको चित्त, बिना किसी विचार के, देखने के साथ ही सुन्दर वा कुरूप कह देता है। ऐसे ही हम देखते हैं कि प्रत्येक प्रकार का जीव सुन्दरता का अपना पृथक्-पृथक् लक्षण रखता है और उनमें से प्रत्येक अपने ही वर्ग की सुन्दरता से सबसे अधिक आकर्षित होता है। यह बात एक ही रंग और आकारवाले पक्षियों के बीच प्रत्यक्ष देखी जाती है जहाँ पर नर अपने ही वर्ग की मादा के साथ आनन्द पाता है, और दूसरे वर्ग के पक्षियों में कोई बात सुन्दरता की नहीं देखता।

एक दूसरे प्रकार की सुंदरता है, जो हम प्रकृति तथा शिल्प के निर्माणों में देखते हैं। यह कल्पना पर उस शक्ति के साथ तो प्रभाव नहीं डालती, जैसा अपने वर्ग की सुन्दरता, किन्तु तिस पर भी यह हममें आन्तरिक प्रसन्नता तथा उन वस्तुओं और स्थानों से, जिनमें हम उसको देखते हैं, एक प्रकार का प्रेम उपजाती है। यह सुन्दरता रंगों के विभेद और चमत्कार में, खंडों की योजना और उनके प्रमाण में, पदार्थों के संविधान और गठन में अथवा इन सबके उपयुक्त मिश्रण में होती है। इन कई प्रकार के सौंदर्यों में रंग ही नेत्र को सबसे अधिक आनन्ददायक होता

है। प्रकृति में हम कोई भी ऐसा चमत्कृत और मनोहर दृश्य नहीं देखते, जैसा कि सूर्य के उदय और अस्त के समय आकाशमंडल में; जब कि प्रकाश के रंग बिरंग के छींटे भिन्न-भिन्न आकार और स्थिति के बादलों पर दिखलाई पड़ते हैं। इसी से कवि लोग, जो कि सर्वदा कल्पना ही को संबोधन करते हैं; बहुधा और वस्तुओं की अपेक्षा रंग ही से अपनी उपमाएँ अधिक लेते हैं।

जिस प्रकार कल्पना प्रत्येक ऐसी वस्तु को देख, जो बड़ी असाधारण और सुन्दर होती है; प्रफुल्लित होती है और जितना ही इन सब गुणों को एक ही वस्तु में एकत्र पाती है, उतना ही और अधिक आनन्दित होती है, उसी प्रकार यदि बीच में कोई दूसरी इन्द्रिय (आँख के सिवाय) भी सहायता दे देती है तो उसको एक नया सुख प्राप्त होने लगता है। जैसे कोई लगातार नाद—जैसे पक्षियों का कलरव, पानी गिरने का शब्द इत्यादि-प्रत्येक क्षण देखनेवाले के चित्त को उत्तेजित करता है और उस स्थल की सुन्दरता को और, जो उसके सामने है, उसको और भी अधिक आकर्षित कर देता है; वैसे, यदि उस स्थान पर भीनी-भीनी सुगंध भी आने लगती है तो वह कल्पना के आनन्द को और भी अधिक बढ़ा देती और सम्मुख-स्थित दृश्य की हरियाली और उसके रंगों को और भी रोचक बना देती है; क्योंकि दोनों इन्द्रियों (चक्षु और घ्राण) के अनुभव एक दूसरे का अनुमोदन करते और एक साथ उत्पन्न होने से चित्त में पृथक्-पृथक् प्रविष्ट होने की अपेक्षा अधिक आनन्द देते हैं; उसी प्रकार जैसे किसी चित्र के बहुत से रंग, जब उनका व्यवहार उत्तमता-पूर्वक किया जाता है, एक दूसरे के विकास करते और अपनी स्थिति के कारण और भी शोभा प्राप्त करते हैं।

तीसरा प्रकरण

यद्यपि हमने पिछले प्रकरण में यह विचार स्थिर किया कि किस प्रकार प्रत्येक वस्तु जो बड़ी, नवीन, वा सुन्दर होती है कल्पना को आनन्दित करती है तथापि हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हम लोगों के लिए इस आनन्द का कोई वास्तविक कारण बतलाना असंभव है क्योंकि न तो हम भावना ही के स्वभाव के विषय में कुछ जानते हैं और न मनुष्य की आत्मा ही के तत्त्व के विषय में, जो कि हमें उस बात के अनुसंधान में सहायता पहुँचाता कि एक में कौन सी बात दूसरी की रुचि के अनुकूल अथवा प्रतिकूल होती है। इसलिए इस ज्ञान के बिना जो कुछ हम कर सकते हैं, वह इतना ही है कि आत्मा की उन क्रियाओं पर विचार करें; जो सबसे अधिक प्रिय होती हैं और जो बातें चित्त को प्रसन्न और अप्रसन्न करने वाली होती हैं, उनको एक-दूसरे से पृथक् करें, बिना उन मूल कारणों का अन्वेषण किए हुए, जिनसे यह प्रसन्नता उत्पन्न होती है।

अन्तिम कारण (आदि नहीं) हम लोगों की विचार-दृष्टि को अधिक प्रत्यक्ष

होते हैं, क्योंकि एक ही कार्य के अंतर्गत वे कई एक होते हैं। ये यद्यपि उतने संतोषदायक नहीं होते, पर दूसरे (मूल) से अधिक काम के होते हैं, क्योंकि यह हमें सृष्टिकर्ता की बुद्धि और दया की प्रशंसा करने का अधिक अवसर देते हैं।

किसी बड़ी वस्तु के देखने से जो हमें आनन्द होता है, उसका एक अंतिम कारण यह भी हो सकता है कि जगदीश्वर ने मनुष्य की आत्मा को ऐसा बनाया है कि उस सच्चिदानन्द के अतिरिक्त और कोई वस्तु उसके चरम और वास्तविक आनन्द का कारण नहीं हो सकती। हमारे आनन्द का अधिकांश उसी सर्वव्यापक के अस्तित्व का ध्यान करने में है, जिसमें वह हमारी आत्मा में ऐसे ध्यान के लिए रुचि उत्पन्न करे; इसीलिए उसने उसको स्वभावतः ऐसी वस्तुओं के चिंतन में आनन्द दिया है, जो विशाल और असीम होती है। हमारी प्रशंसा, जो कि हमारे चित्त की एक बहुत आनन्ददायिनी क्रिया है, तुरन्त ऐसी वस्तु के ध्यान से जागृत हो जाती है, जो कल्पना में बहुत सा स्थान छेंकती है, अतः जब हम उस परमेश्वर के महत्त्व का ध्यान करते हैं, जिसके लिए न तो काल और स्थान का कोई बन्धन है और न जिसको जीवधारियों की प्रौढ़ से प्रौढ़ शक्तियाँ अनुमान कर सकती हैं, तो यही प्रशंसा बढ़ते-बढ़ते प्रगाढ़ आश्चर्य और भक्ति के रूप में परिणत हो जाती है।

परमेश्वर ने उन वस्तुओं के ध्यान में, जो नवीन वा असाधारण होती है, इस कारण आनन्द रख दिया है, जिसमें वह हमें ज्ञान प्राप्ति के लिए उत्तेजित करे और अपनी सृष्टि की अद्भुत-अद्भुत वस्तुओं को ढूँढ़ने में हमें लगाये; क्योंकि हर एक नई बात में एक ऐसा आनन्द भरा रहता है, जो उस कष्ट का, जो उसको प्राप्त करने के हेतु उठाना पड़ता है, पुरस्कार स्वरूप हो जाता है और इस प्रकार नई-नई वस्तुओं के अन्वेषण का कारण होता है।

उसने उन वस्तुओं को, जो हमारे वर्ग में सुन्दर होती हैं, इस कारण आनन्ददायिनी बनाया है, जिससे समस्त जीवधारी अपने-अपने वर्ग की वृद्धि करने में तत्पर हों और संसार को निवासियों से पूर्ण करें, क्योंकि यह बात ध्यान देने योग्य है कि यदि प्राकृतिक नियम के विरुद्ध कोई राक्षस उत्पन्न हो जाता है (जो दुष्ट संयोग से होता है) तो वह अपने अनुरूप जीव उत्पन्न करने और एक नए प्रकार की सृष्टि चलाने में सर्वथा असमर्थ होता है। सो यदि समस्त जीव अपने ही वर्ग के सौंदर्य से आकर्षित न हों तो उत्पत्ति का अन्त हो जाय और पृथ्वी मानवशून्य हो जाय।

अन्त में उसने, और-और वस्तुओं में जो सुन्दरता होती है, उसको आनन्द-कारक बनाया है, अथवा यों कहिए कि इतने अधिक पदार्थों को हमारी दृष्टि में सुन्दर करके दिखलाया है, जिसमें वह अपनी सृष्टि को विशेष सुहावनी और रमणीय बनाए। उसमें हमारे चारों ओर की प्रायः समस्त वस्तुओं की कल्पना में रुचिकर भावना उत्पन्न कने की शक्ति ही है, इसलिए हम लोगों के लिए यह असम्भव है कि

उसके कार्यों को बेपरवाही अथवा अश्रद्धा से देखें और बिना आन्तरिक सुख और प्रमोद के अनेक प्रकार की सुन्दर वस्तुओं का अवलोकन करें। यदि हम पदार्थों को उनके यथार्थ रूप और गति में देखें तो नेत्रों के लिए यह एक अत्यंत तुच्छ दृश्य होगा; और ये पदार्थ हमारे चित्त में जो ऐसे ऐसे भाव उत्पन्न करते हैं, जो उनके अंग में स्थित किसी वस्तु से सर्वथा भिन्न होते हैं (जैसे प्रकाश और रंग) इसका हम और क्या कारण दे सकते हैं। सिवाय इसके कि सृष्टि को आभूषणों से विभूषित करने और कल्पना के निकट उसको अधिक रोचक बनाने के लिए ही ऐसा होता है। हम अपने चारों ओर सुन्दर दृश्य और छाया देखते हैं, हम पृथ्वी और आकाश में काल्पनिक चमत्कार देखते हैं, और संपूर्ण सृष्टि पर इस अलौकिक सौन्दर्य, धारा का प्रवाह देखते हैं, किन्तु प्रकृति के कैसे भद्दे और उजाड़ दृश्य से हमारे नेत्रों का सत्कार किया जायगा, यदि उसके समस्त रंग लोप हो जायँ और आलोक और छाया के नाना भेद जाते रहें। जैसे हमारी आत्मा इस समय आनन्दमय स्वप्न में डूबी और चकित सी है और हम चारों ओर इस प्रकार घूमते हैं, जैसे किसी तिलस्मी कहानी का नायक, जो सुन्दर-सुन्दर वन, नदी और हरे भरे मैदान देखता है और साथ ही पक्षियों का कलरव और झरनों का मधु कलकल सुनता है, कि इतने; ही में सहसा जादू के उस पर से हट जाने से वह स्वप्नवत् दृश्य खंडित हो जाता है और अपने को ऊसर भूमि अथवा निर्जन रेगिस्तान में खड़ा पाता है। संभव है कि आत्मा शरीर से वियोग होने के उपरांत प्रथम इसी प्रकार की किसी अवस्था में रहती हो और द्रव्यों को ऐसे ही रूप में देखती हो, किन्तु रंग का ध्यान कल्पना में ऐसा सुहावना और प्रिय है कि यह भी संभव है कि आत्मा उससे रहित न की जाती हो, वरन् जैसे इस समय सूक्ष्मपदार्थ (Etser) के चक्षुरिन्द्रिय पर नाना आघातों से यह ध्यान उत्पन्न होता है, वैसे ही तब और किसी सामयिक कारणों द्वारा यह उत्तेजित किया जाता हो।

मैंने यहाँ पर यह मान लिया है कि पाठक उस बड़े आविष्कार से जानकार हैं, जो इस समय विज्ञान के समस्त अन्वेषियों द्वारा स्वीकृत किया गया है, अर्थात् प्रकाश और रंग जैसे कल्पना को बोध होते हैं, केवल चित्त में एक प्रकार की भावना मात्र हैं, वे पदार्थों में स्थित कोई गुण नहीं हैं। यह बात बहुत से आधुनिक तत्त्वज्ञों द्वारा सिद्ध की गई है और वास्तव में इस विद्या के अत्यंत चमत्कारक रहस्यों में से है।

चौथा प्रकरण

यदि हम प्रकृति और शिल्प के निर्माणों के मनुष्य की कल्पना को सुख देने के गुण पर विचार करें तो हम दूसरे को पहिले की अपेक्षा अधिक हीन पावेंगे, क्योंकि यद्यपि वे कभी-कभी वैसे ही सुन्दर और अद्भुत देख पड़ते हैं, किन्तु उनमें वह

विस्तार और आधिक्य नहीं होता, जो देखनेवाले के चित्त को इतना अधिक रुचिकर होता है। शिल्प की रचना वैसी ही बारीक और कोमल हो सकती है, जैसी प्रकृति की; किन्तु बनावट में वह वैसी विशाल और प्रभावशाली नहीं हो सकती। प्रकृति की बेपरवाही के और बेढंगे कामों में शिल्प की बारीकी और काट छाँट की अपेक्षा कोई बात अधिक महत्त्व और निपुणता की पाई जाती है। किसी एक बड़े हर्म्य और उद्यान की शोभा का विस्तार एक बहुत ही संकीर्ण स्थान के बीच होता है; ध्यान उस पर से शीघ्रता से दौड़ जाता है और संतुष्ट होने के लिए किसी और वस्तु की आवश्यकता रखता है; किन्तु प्रकृति के विस्तीर्ण क्षेत्रों में दृष्टि बिना किसी बंधन के नीचे ऊपर भ्रमण करती है और बिना किसी नियमित संख्या और सीमा के न जाने कितने प्रकार के स्वरूपों का आनन्द लेती है। इसी कारण से हम देखते हैं कि कविजन सदैव ग्रामीण-जीवन को पसन्द करते हैं, जहाँ पर प्रकृति अपनी पूर्णता को प्राप्त रहती है और ऐसे ऐसे दृश्य प्रदान करती है, जो कल्पना को सबसे अधिक आह्लाद-कारक होते हैं।

परन्तु यद्यपि बहुत से नैसर्गिक बेढंगे दृश्य बनावटी दृश्यों से अधिक मनोरंजक होते हैं, तथापि प्रकृति के कार्यों को उसी हिसाब से और भी अधिक आनन्ददायक पाते हैं, जितना ही वे मनुष्य की कारीगरी से समानता रखते हैं; क्योंकि तब हमारी प्रसन्नता सिद्धान्तों से उत्पन्न होती है—अर्थात् एक तो पदार्थों ही की रुचिरता से और दूसरे उनके अन्य पदार्थों के सादृश्य से। हम पदार्थों की सुन्दरता को परस्पर मिलान करने से उतने ही प्रसन्न होते हैं, जितना उनको अवलोकन करने से; और उनमें से जिसको चाहते हैं, उसको अपने चित्त में मूल अथवा छाया मानकर धारण करते हैं। इसी से हम किसी ऐसे स्थान को देख, जो भले प्रकार अलंकृत होता है और खेतों, हरे-भरे मैदानों, वन और नदियों में विभक्त होता है, प्रसन्न होते हैं। स्फटिक (संगमरमर) की खान के दरारों में पेड़, नगर और बादलों के दृश्य, जो कभी-कभी निर्मित मिलते हैं, चट्टानों और विवरों में उभड़े हुए चित्र विचित्र स्वरूप, तथा वे समस्त वस्तुएँ, जिनमें ऐसे भेद और क्रम होते हैं, जो मनुष्य की कारीगरी से मिलते जुलते हैं और जिनको हम दैवी रचना कहते हैं, हमारे चित्त को आनन्द से पूर्ण करते हैं।

यदि प्रकृति की रचना की शोभा, जितनी ही वह शिल्प से समानता रखती है, उतनी ही अधिक बढ़ जाती है, तो यह निश्चय है कि शिल्प के निर्माण प्रकृति के निर्माणों से समानता रखने से और भी अधिक प्रतिष्ठा लाभ करते हैं, क्योंकि यहाँ पर न कि, केवल सादृश्य ही आनन्दप्रद है, वरन् मूल विशेष पूर्ण रहता है। सबसे उत्तम दृश्य जो मैंने आज तक देखा, वह एक परदे पर, जिसमें एक बड़ी नदी और एक उपवन का दृश्य एक साथ खींचा गया था। उसमें नदी के जल की ऊँची नीची तरंगें उपयुक्त और चमकीले रंगों में दिखाई गई थीं; एक ओर से

एक नाव धीरे-धीरे पानी पर चल रही थी, किनारे पर उपवन के पेड़ों की हरी-हरी पत्तियाँ हवा लगने से हिल रही थीं, जिनकी छाया नदी के जल में जाकर पड़ती थी; एक ओर हरिनों का एक झुंड भी कूदता हुआ दिखाया गया था। मैं स्वीकार करता हूँ कि ऐसे दृश्य की नवीनता कल्पना की प्रसन्नता का एक कारण हो सकती है, किन्तु यथार्थ में इसका मुख्य कारण उसकी प्रकृति से समानता है; क्योंकि यहाँ पर, और चित्रों की भाँति हम केवल रंग और आकार ही नहीं दरसाया हुआ पाते हैं, वरन् उन पदार्थों की गति भी, जो चित्रित किए गए हैं।

हम पहिले कह चुके हैं कि प्रकृति में शिल्प की विचित्रता की अपेक्षा कोई बात अधिक प्रभावशालिनी और भव्य होती है। अतएव जब हम किसी अंश में इसका अनुकरण देखते हैं तो वह हमको उसकी अपेक्षा अधिक शुद्ध और ऊँचे प्रकार का आनन्द देता है, जो हम शिल्प के बारीक और सुडौल स्वरूपों से प्राप्त करते हैं। यही कारण है, जिससे इंग्लैंड के बगीचे ऐसे मनोरंजक नहीं होते, जैसे फ्रांस और इटली के; जहाँ पर हम भूमि का बहुत सा भाग उद्यान और जंगल के रमणीय मिश्रण से आच्छादित पाते हैं, जो कि सर्वत्र एक कृत्रिम बेढंगेपन का दृश्य सामने उपस्थित करता है और उस सफाई और सजावट की अपेक्षा अधिक मनोहर होता है जो इंग्लैंड में देखी जाती है। निस्सन्देह देश के ऐसे भागों में, जहाँ बस्ती बहुत घनी और खेती की उपज बहुत अधिक है—उसका परिणाम सर्वसाधारण के लिए बुरा और व्यवसायी लोगों के कम लाभ का होगा कि इतनी भूमि खेती और चरागाह से निकालकर अलग करें; किन्तु ऐसा क्यों न किया जाय कि जगह-जगह पर पेड़ लगाकर समस्त भूमि एक प्रकार का उद्यान बना डाली जाय, जिसमें उसके स्वामी को उतना ही लाभ पहुँचेगा, जितना आनन्द एक दलदल (लाल) जिसमें बेंत उगे हों, और एक पहाड़, जो देवदार के वृक्षों से आच्छादित हो, खाली ठूँठे रहने की अपेक्षा, न कि केवल अधिक सुन्दर ही हैं, वरन् आयवर्द्धक। अनाज के खेत बहुत सुहावने लगते हैं, पर यदि कहीं उनके बीच की मेंड़ों पर थोड़ा और ध्यान दिया जाय और चरागाहों की स्वाभाविक बूटेकारी मनुष्य की कारीगरी द्वारा कुछ और प्रवर्द्धित कर दी जाय और उनके चारों ओर ऐसे फूल-पौधों की टट्टियाँ कई पंक्तियों में लगा दी जायँ, जो उस भूमि में उत्पन्न हो सकते हैं, तो मनुष्य अपनी ही सम्मति का एक मनोहर और रमणीय स्थल बना सकता है।

भ्रमणकार, जिन्होंने चीन देश के विषय में लिखा है, कहते हैं कि उस देश के निवासी यूरोपियनों की बगीचा लगाने की प्रणाली पर हँसते हैं, जिसमें कि सीधी-सीधी लकीरों का प्रयोग होता है, क्योंकि वे कहते हैं कि कोई भी मनुष्य पेड़ों को सीधी बराबर पंक्तियों में रख सकता है; वे अपना गुण उपरोक्त प्रकार के ही कामों में दिखाते हैं, और इसलिए वे उस शैली को, जिस पर वे चलते हैं, सदा छिपाए रहते हैं। जान पड़ता है कि वे अपनी भाषा में कोई ऐसा शब्द रखते

हैं, जिससे वे बगीचे की उस सुंदरता को प्रगट करते हैं, जो देखते ही तत्काल कल्पना को लुभा लेती है, यद्यपि वे यह नहीं जानते कि वास्तव में वह कौन सी वस्तु है, जो इतना मनोहर प्रभाव डालती है। अँगरेजी माली इसके विपरीत, प्रकृति का अनुकरण करने के स्थान पर, जहाँ तक संभव होता है, उससे दूर ही रहते हैं। वहाँ के वृक्ष गावदुम, वृत्ताकार और त्रिभुजाकार बनाए जाते हैं। प्रत्येक पौधे और झाड़ी पर हम कैंची का चिह्न लगा हुआ पाते हैं। मैं नहीं जानता कि मेरी यह सम्मति विलक्षण हो, पर मैं तो एक वृक्ष को अपनी डालियों और पत्तियों के पूर्ण विकाश और विस्तार में देखना, उसकी अपेक्षा, जब कि वह काट छाँटकर रेखागणित की शक्ल बना दिया जाता है, अधिक पसंद करता हूँ और समझता हूँ कि फूलों का एक साधारण उपवन मालियों के गोलम्बरों और कियारियों की सजावट से कहीं बढ़कर सुन्दर दिखलाई पड़ता है।

पाँचवाँ प्रकरण

मैंने पहिले यह दिखलाया कि प्रकृति की रचना का कल्पना पर कैसा प्रभाव पड़ता है; तदुपरान्त साधारणतः प्रकृति और शिल्प दोनों के निर्माणों पर भी विचार किया कि किस प्रकार ऐसे दृश्यों को उपस्थित करने में, जो देखनेवाले के चित्त को सबसे अधिक प्रसन्न करते हैं, वे एक दूसरे की सहायता करते हैं। अब मैं यहाँ पर उस कला-विशेष पर कुछ विचार करूँगा, जो तत्काल ही कल्पना में उस प्रथम श्रेणी के आनन्द को उत्पन्न कर देती है, जो हमारे इस लेख का विषय है। यह कला भवन निर्माण करने की है, जिसकी आलोचना मैं पूर्वकथित विचारों ही की दृष्टि से करूँगा; बिना उन नियमों और सूत्रों का उल्लेख किए हुए, जिनको इस कला के बड़े-बड़े आचार्यों ने स्वरचित इस विषय के अनेक ग्रंथों में बड़ी लम्बी चौड़ी व्याख्या के साथ निर्धारित किया है।

किसी इमारत की बड़ाई या तो उसके विस्तार किंवा शरीर के संबंध में होती है, अथवा उसकी रचना-प्रणाली के संबंध में। पहिली बात में तो हम प्राचीनों को—विशेष पूर्वीय जातियों को—आधुनिक लोगों की अपेक्षा कहीं बढ़ा चढ़ा पाते हैं।

बाबेल की लाट की बात जाने दीजिए, जिसके विषय में एक प्राचीन ग्रंथकार लिखता है कि उसके समय में उसकी नींव दिखाई देती थी, जो कि चौड़े-चौड़े पहाड़ों की भाँति प्रतीत होती थी। आप ऐसे निशान निर्माणों की ओर देखिए, जैसे वैबलिन की दीवार। वहाँ की छत पर के उद्यान और ज्यूपिटर वेल्स का बृहन्मदिर जो एक मील ऊँचा था, अर्थात् प्रत्येक मरातिम एक एक फर्लांग की ऊँचाई का था, जिन सबके ऊपर वैबलिन का मान मंदिर था। मुझे यहाँ उस भारी चट्टान का भी उल्लेख कर देना चाहिए, जो संपूर्ण काटकर मेप्पेरामेस रानी की प्रतिमा के रूप में बना डाली गई थी, और उसके आस-पास की चट्टानों का भी, जो आधीन राजाओं के

रूप में खड़ी थी, तथा उस आश्चर्यमय कृत्रिम ताल का भी, जो समस्त इफरात के जल को तब तक धारण किए रहा, जब तक कि उस नदी के जल के बहाने के निमित्त नई नहरें नहीं बनाई गईं। मैं जानता हूँ कि बहुत से लोग ऐसे हैं, जो शिल्प के ऐसे अद्भुत कार्यों को कहानी समझते हैं, किन्तु मुझे तो इस प्रकार के संदेह का कोई कारण नहीं देख पड़ता, सिवाय इसके कि हम लोगों के बीच इस समय ऐसे कोई उदाहरण नहीं हैं। उस काल में पृथ्वी के उन भागों में इमारत बनाने में बहुत सी सुगमताएँ भी, जो तब से आज तक कभी कहीं प्राप्त नहीं हुईं। पृथ्वी फलदार वृक्षों से भरी पूरी थी, लोग बहुधा भेड़ इत्यादि पालकर निर्वाह करते थे, जिसमें कि खेती की अपेक्षा कम मनुष्यों की आवश्यकता होती थी। मनुष्यों के एक बड़े समूह को काम में लगाए रखने के लिए तब बहुत से व्यवसाय और व्यापार नहीं थे; विचारशील पुरुषों को लीन होने के लिए तब कला और विज्ञान के नाना विभाग नहीं थे; और उन सबसे बढ़कर तो बात यह थी कि राजा सर्वथा स्वाधीन था; इसलिए जब वह लड़ाई पर जाता था तो वह अपनी सारी प्रजा को अपने साथ ले लेता था। सो...मिस तीस लाख आदमियों के साथ ले रण-क्षेत्र में गई, पर तिस पर भी अपने शत्रुओं की संख्या से उसने हार खाई। अतएव कोई आश्चर्य की बात नहीं कि जब शान्ति स्थापित हुई और उसने अपना ध्यान इमारतों की ओर झुकाया तो ऐसे-ऐसे अद्भुत और विशाल भवन, जिनमें असंख्य मजदूर लगते थे, बनाकर खड़े कर दिए गए। इसके अतिरिक्त वहाँ का जलवायु ऐसा था कि घनघोर जाड़ा और कुहिरा; जिसके कारण पाश्चात्य मजदूरों को वर्ष में छः महीने बैठे रहना पड़ता है, कोई विघ्न नहीं करते थे। मैं जलवायु की सुगमताओं में उस बात का उल्लेख किया चाहता हूँ, जो पृथ्वी के विषय में इतिहासकारों ने लिखा है कि उसमें से एक प्रकार का स्वाभाविक गारा पसीज कर निकलता था, जो कि वही है, जिसका वावेल के निर्माण में व्यवहार होता बाइबिल में वर्णित है—'वे गारे के स्थान पर लसीली मिट्टी काम में लाते थे।"

मिश्र देश में अब तक हम इन प्राचीनों के स्तूप पाते हैं, जो उन वर्णनों के सर्वथा अनुकूल हैं, जो उनके विषय में किए गए हैं। कोई भी यात्री, जो वहाँ गया होगा, उसने उस बड़ी भूलभुलैयाँ के अवशेषों को देखा होगा, जिसका विस्तार एक पूरे प्रांत भर का था और जिसके विविध भागों के अंतर्गत कोई 100 मंदिर थे।

चीन की दीवार, उन पूर्वीय गौरव और महत्त्व के चिह्नों में से है, जो भूगोल के नक्शे में भी प्रत्यक्ष रहते हैं; यद्यपि उसका वर्णन एक गप्प समझा जाता, यदि वह दीवार अब तक न खड़ी होती।

उन बड़ी-बड़ी इमारतों के लिए, जिन्होंने संसार के बहुतेरे देशों को मंडित किया है, हम मनुष्य की भक्ति के अनुगृहीत हैं। इसी भक्ति ने मनुष्यों को मंदिर

इत्यादि बनाने में संलग्न किया, न कि केवल इसलिए कि बड़े-बड़े विशाल भवन बनाकर वे देवता को उसमें निवास करने के लिए आह्वान करें वरन् इसलिए भी कि ऐसे विशाल निर्माण चित्त को उन्नत और बड़े विचारों को समावेश होने के लिए प्रशस्त करें, और उसको देवता से साक्षात्कार के योग्य बनावें। क्योंकि प्रत्येक वस्तु, जो वृहत् होती है, देखनेवाले के चित्त पर भय और भक्ति का संचार कर देती है और आत्मा की स्वाभाविक बड़ाई का ध्यान दिलाती है।

अब मैं आगे इमारतों की रचना-प्रणाली की बड़ाई के विषय में विचार करूँगा, जो कि कल्पना पर इतना प्रभाव डालती है कि एक छोटी-सी इमारत, जिसमें यह बड़ाई प्रगट होती है, अपने से बीस गुनी बड़ी इमारत की अपेक्षा, जिसकी प्रणाली तुच्छ और साधारण होती है, अधिक सुंदर भावों से चित्त को पूर्ण करती है। जैसे कोई मनुष्य उस प्रताप सूचक भाव को देख, जो कि लेसियस की बनाई हुई सिकन्दर की मूर्ति में छलकता था—यद्यपि वह मनुष्य की डील से ऊँची न थी- जितना चकित होता, कदाचित् उतना (Athos) पहाड़ को देखकर नहीं, यदि वह समस्त काटकर जैसा कि फ़िदियस ने प्रस्ताव किया था, उस समय बिजली के स्वरूप में बना डाला जाता, जिसके एक हाथ में नदी और दूसरे हाथ में नगर होता।

कोई मनुष्य अपने चित्त की अवस्था पर तो विचार करे, जब वह रोम के पेंथियान (Pantheon at Rome) के पहिले फाटक पर पहुँचता है तो किस प्रकार की विशाल और चमत्कारिणी वस्तुओं से उसकी कल्पना पूर्ण हो जाती है, और साथ ही यह भी देखें कि उसकी अपेक्षा कितना कम प्रभाव एक गाथिक (Gothic Cathedral) गिरजे के भीतरी दृश्य का चित्त पर होता है, चाहे वह पहिले से पाँच गुना बड़ा हो। इसका कारण एक ही रचना-प्रणाली की बड़ाई और दूसरे की उसकी तुच्छता ही है– और कुछ नहीं।

इस विषय पर मैंने एक फरासीसी ग्रंथकार की आलोचना देखी है, जिससे मैं बहुत प्रसन्न हुआ। मैं अपने पाठकों के लिए उसको ग्रंथकार ही के शब्दों में यहाँ पर उद्धृत करता हूँ। वह कहता है—"मैं यह बात देखता हूँ, जो मुझे बड़ी अद्‌भुत प्रतीत होती है। वह यह है कि सतह (पृष्ठ) के समान विस्तार में एक प्रणाली तो विशाल और मनोहारिणी देख पड़ती है और दूसरी क्षुद्र और हीन। इसका कारण सूक्ष्म और असाधारण है। मेरी जान तो इमारतों में यह प्रणाली की मनोहरता लाने के लिए हमें इस प्रकार चलना चाहिए कि पिंड के प्रधान अंग बहुत कम भागों में विभक्त हों और वे बड़े हों; और उनकी रचना स्पष्ट और गंभीर हो तथा नेत्रों को कोई बात तुच्छ और लघु न दिखाई दे।" इसी प्रकार की कारीगरी कल्पना पर सबसे अधिक शक्ति के साथ प्रभाव डालती है; और यही प्रणाली सुंदर और विशद देख पड़ती है; इसके प्रतिकूल जहाँ छोटी छोटी महीन बेल बूटियों की अधिकता रहती है, जो कि दृष्टि के कोणों को इतनी अधिक परस्पर गुछी हुई किरणों में छितरा

देती है कि समस्त लीपपोत मालूम होता है, वहाँ कल्पना पर एक बहुत हीन और क्षुद्र प्रभाव पड़ता है।

इमारत के समस्त स्वरूपों में कोई ऐसे प्रभावशाली नहीं होते जैसे नतोदर (Concave) और उन्नतोदर (Converse); और हम प्राचीन और अर्वाचीन यूरोप की तथा चीन इत्यादि पूर्वीय देशों की उन समस्त इमारतों का अधिक भाग, जो ठाटबाट के हेतु निर्माण की गई हैं, गोल खम्भों और मिहराबदार छतों से बना हुआ पाते हैं। इसका कारण तो मैं यह समझता हूँ कि इन आकारों में (गोल तथा मिहराबदार) हम और दूसरे आकारों की अपेक्षा अंग का अधिक भाग देख पाते हैं। इसमें संदेह नहीं कि और भी ऐसे आकार हैं, जिनमें आँख 2/3 भाग तक सतह (पृष्ठ) को देख सकती है; किन्तु ऐसे आकारों में दृष्टि को बहुत से कोनों पर विभक्त होना पड़ता है, इससे एक ध्यान नहीं बँधने पाता, वरन् एक ही प्रकार के कई भाव उत्पन्न होते हैं। किसी गुम्बज (शिवालय इत्यादि के) को बाहर से देखिए तो उसका आधा भाग आपकी दृष्टि के अंतर्गत आ जायगा; फिर उसी गुम्बज को भीतर से देखिए तो एक ही बार में उसका सारा दृश्य आपके सामने उपस्थित हो जायगा; उसका सारा भीतरी झुकाव (नवांश) तुरन्त आँख पर आकर पड़ेगा; आपकी दृष्टि केन्द्र हो जायगी, जो कि परिधि की समस्त रेखाओं को खींचकर एकत्र कर लेगी। एक सम चतुर्भुज खम्भे में आँख बहुधा एक बार में सतह का चौथाई भाग ही देख पाती है; और एक चौखूँटी पटी हुई छतवाली कोठरी में दृष्टि को प्रथम इसके कि वह समस्त भीतरी सतह से जानकार हो जाय, सब बाहुओं पर ऊँचे-नीचे भटकना पड़ता है। इसी कारण से आकाश का दृश्य, जो एक मिहराब के भीतर से होकर आता है, उसकी अपेक्षा चित्त को कहीं अधिक आकर्षित करता है, जो चतुर्भज वा और दूसरे आकारों के बीच में देखा जाता है। इन्द्रधनुष का आकार उनके गौरव का उतना ही कारण होता है जितना, रंग और उसके सौंदर्य का, जैसा कि सिराक के पुत्र ने कहा है—''इन्द्रधनुष की ओर देखो और उसकी प्रशंसा करो, जिसने उसे बनाया है; यह अपने चमत्कार में बहुत ही सुन्दर है, यह आकाश को एक सुंदर वृत्त से नापता है और उस सर्वशक्तिमान के हाथों ने उसे झुकाया है।''

मैं इमारतों की उस बड़ाई के विषय में, जो चित्त पर प्रभाव डालती हैं, कह चुका। इसके अनन्तर मैं इस कला में जो बात नई और सुंदर होती है और उसके देखने से जो आनन्द मिलता है, उसके विषय में भी कुछ कहता, किन्तु मैं देखता हूँ कि प्रत्येक मनुष्य स्वभावतः इमारत के इन दोनों गुणों के विषय में उससे अधिक मर्मज्ञ होता है, जितना कि उस बड़ाई के विषय में; जिसका मैंने वर्णन किया; इस कारण मैं पाठकों को और कष्ट नहीं दिया चाहता। मेरे लिए अब इतना ही कहना बस है कि इन समस्त कलाओं (भवन निर्माण) में और कोई दूसरी बात नहीं है, जो कल्पना को आनंदित करती है; यह वही,-बड़ाई, असाधारणता और सौंदर्य है।

छठवाँ प्रकरण

मैंने कल्पना के आनन्द का पहिले ही दो विभाग किया; एक तो वह, जो ऐसे पदार्थों से उत्पन्न होता है, जो यथार्थ में हमारे नेत्रों के सन्मुख है; और दूसरा वह, जो ऐसे पदार्थों से उद्भूत होता है, जिनको हमारी आँखों ने एक बार देखा और जो हमारे चित्त में फिर से या तो सर्वथा उसी की क्रिया से अथवा किसी और बाहरी वस्तु, जैसे प्रतिभा और वर्णन, द्वारा लाए जाते हैं। पहिले विभाग पर तो मेरा विचार हो चुका; अब मैं दूसरे पर हाथ लगाता हूँ जिसको मैंने पहिचान के लिए कल्पना को द्वितीय श्रेणी का आनन्द कहा है। जब मैं कहता हूँ कि वर्णन और प्रतिमा इत्यादि से जो भाव हमें प्राप्त होते हैं, वे वे ही हैं, जो एक बार कभी हमारी दृष्टि के सन्मुख आ चुके हैं, तो इससे यह न समझना चाहिए कि हमने उसी स्थान, उसी कार्य और उसी व्यक्ति को, जो वर्णित वा निर्मित है, देखा है। इतना ही बहुत है कि हमने ऐसे स्थान, ऐसे व्यक्ति और ऐसे कर्मों को देखा है, जो उनसे मिलते-जुलते वा समानता रखते हैं, जो प्रदर्शित हैं। क्योंकि कल्पना में यह शक्ति है कि जो-जो भावनाएँ विशेष उसको एक बार प्राप्त हुईं, उनको अपनी रुचि के अनुकूल घटावे, बढ़ावे वा परावर्तित करे।

पदार्थों के रूप दरसाने में प्रतिमाकारी ही सबसे अधिक स्वाभाविक होती है और पदार्थों में सबसे अधिक समानता दिखलाती है। एक साधारण बात से इसकी परीक्षा कीजिए। एक जन्म से अंधे मनुष्य के हाथ में एक पत्थर की प्रतिमा दे दीजिए; वह अपनी उँगलियों को फेरकर कांटी के चिह्न और चढ़ाव उतार का पता लगा लेगा और बड़ी सुगमता से विचार कर लेगा कि किस प्रकार एक मनुष्य अथवा पशु का स्वरूप प्रदर्शित किया गया है। पर यदि वह अपना हाथ एक चित्र पर फेरे, जहाँ कि समस्त चिकना और बराबर रहता है तो वह कभी नहीं विचार कर सकता कि किस प्रकार मनुष्य के अंग के उभाड़ और उसकी गहराई एक साधारण पटल पर, जो कहीं ऊँचा नीचा नहीं है, दरसाई गई है। वर्णन चित्र से भी अधिक उन वस्तुओं से दूर रहता है, जिनको वह प्रदर्शित करता है। क्योंकि एक चित्र अपने मूल से बहुत अधिक मेल खाता है; पर अक्षर और मात्राओं में यह गुण नहीं होता, रंग समस्त भाषा बोलते हैं, किन्तु शब्द किसी जाति विशेष ही द्वारा समझे जाते हैं। इसी कारण से हम कहते हैं कि यद्यपि मनुष्यों की आवश्यकता ने उन्हें पहिले वाणी की खोज में तत्पर किया, पर लिखने का आविष्कार चित्रकारी के पीछे हुआ है। कहा जाता है कि स्पेनवाले पहिले पहिल जब अमेरिका पहुँचे, उस समय मेक्सिको (Mexico) के राजा के पास जो संदेश भेजा जाता था, वह चित्र द्वारा; उसके देश के समाचार पेंसिल के आकार बनाकर भेजे जाते थे, जो कि लिखने की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक रीति थी-यद्यपि तदपेक्षा बहुत ही अपूर्ण; क्योंकि वचन के छोटे-छोटे जोड़ों का आकार बनाना बहुत ही कठिन है और सम्बन्ध की विभक्तियाँ और संयोजक के चिह्नों

का चित्र बनाना कोई साधारण काम नहीं है। इसी प्रकार दृश्य पदार्थों को ऐसी ध्वनि में, जो सर्वथा भावशून्य हैं (अर्थात् जो केवल ध्वनि मात्र है वर्णात्मक शब्द नहीं) प्रदर्शित करने का यत्न--जैसे बाँसुरी के सुर में किसी पदार्थ का वर्णन करना इससे भी विलक्षण होगा। यद्यपि यह सत्य है कि ध्वनि के कृत्रिम चढ़ाव उतार में इस प्रकार के भाव अस्पष्ट और अपूर्ण रूप में चित्र में उत्पन्न हो जाते हैं। और हम देखते हैं कि गान विद्या के ज्ञाता लोग सुननेवालों को संग्राम के उद्वेग में कर देते हैं, उनके चित्र को शोक और उदासीनता से पूर्ण कर मृत्यु का रूप सन्मुख उपस्थित कर देते हैं, तथा उनको नन्दन कानन का मनोरंजक स्वप्न दिखाने लगते हैं। इन सब उदाहरणों में, कल्पना का यह द्वितीय श्रेणी का आनन्द चित्त की उस क्रिया से उद्भुत होता है, जो कि मूल पदार्थों से उत्पन्न भावों से मिलान करती है और जो कि हम उन पदार्थों की प्रतिमा, उनके चित्र तथा वर्णनों से प्राप्त करते हैं। हम लोगों के लिए इसका वास्तविक कारण बतलाना कि क्यों चित्त की इस क्रिया के साथ इतना आनन्द लगा रहता है, असम्भव है; जैसा कि मैं पहिले कह चुका हूँ, किन्तु हम अकेले सिद्धान्त के अनुसार अनेक प्रकार के आनन्द उत्पन्न होते देखते हैं, क्योंकि चित्त की यही क्रिया हम लोगों में न कि केवल चित्रकारी, प्रतिमाकरी तथा वर्णनों ही की ओर अभिरुचि दिलाती है, वरन् भाड़ों की कला और उनकी क्रियाओं में हमें आनन्द अनुभव कराती है। इसी प्रकार से विविध भाँति की विनोद और दिल्लगी की उक्तियाँ हमारे चित्त का रंजन करती हैं, जिनमें कि जैसा कि मैं पहिले कह चुका हूँ, भावों का परस्पर मिलान होता है। और हमारा यह कहना भी अत्युक्ति न होगी कि इसी के प्रभाव से बहुत-सी बेसिर पैर की मिथ्या बातें भी हमारे चित्त को प्रसन्न करती हैं। उदाहणारार्थ-जैसे अक्षरों का उलटफेर, स्वरों का मेल, जैसा अन्त्यानुप्रास और प्रतिध्वनि में, अथवा शब्दों का परस्पर सादृश्य, जैसा यमक और श्लेष में; तथा समस्त पर किंवा कविता का दूसरे पदार्थों के अनुरूप होना—जैसा अन्योक्ति और व्यंग्य में। चित्त की इस क्रिया में इतना आनन्द उत्पन्न करने का अंतिम कारण कदाचित् हम लोगों का सत्य की खोज के लिए उत्तेजित करना है; क्योंकि एक वस्तु की दूसरी वस्तु से पहिचान कराना तथा अपने विचारों से कौन-सा विचार यथार्थ है, इसका पता लगाना, उनको आपस में मिलान करने और प्रकृति के नाना पदार्थों के सादृश्य और विभेद पर ध्यान देने ही पर निर्भर है।

किन्तु मैं यहाँ पर कल्पना के उसी आनन्द के विषय में विचार करूँगा, जो शब्दों द्वारा उत्पन्न किए हुए भावों से प्राप्त होता है। क्योंकि बहुत सी बातें, जो वर्णनों के विषय में पाई जाती हैं वे ही प्रायः चित्रकारी और प्रतिमाकरी में भी समभाव से घटित होती हैं।

शब्दों में, यदि उनका व्यवहार उत्तमता से किया जाय, इतनी बड़ी शक्ति होती है कि कभी कभी पदार्थों का वर्णन स्वयं उन पदार्थों की अपेक्षा अधिक सुन्दर

भावों से चित्त को पूर्ण करता है। वर्णनों (शाब्दिक) द्वारा पाठकगण दृश्यों को कल्पना पर जितना अधिक चटकीले रंगों में खिंचा हुआ हुआ तथा उनका जितना सजीव चित्र निर्मित किया हुआ पाते हैं, उतना उनके यथार्थ अवलोकन द्वारा नहीं। इस बात में कभी कभी कवि प्रकृति से भी बढ़ जाता है। यद्यपि, इसमें संदेह नहीं कि वह अपना दृश्य उसी (प्रकृति) से लेता है, तथापि वह उसको अधिक चटकीला करता है और उसकी शोभा को बढ़ाता है, तथा समस्त खंड को ऐसा सजीव बना देता है कि वे स्वरूप जो पदार्थों से प्राप्त होते हैं, उनकी अपेक्षा धुँधले और अस्पष्ट जान पड़ने लगते हैं, जो उनके वर्णनों में दरसाए जाते हैं। कारण इसका कदाचित् यह है कि पदार्थों को देखने से उनका उतना ही भाग कल्पना पर चित्रित होता है, जितना हमारे नेत्रों के सामने रहता है; परन्तु उनके वर्णन में कवि अपनी इच्छानुसार उनका जितना विस्तृत दृश्य चाहता है, दिखलाता है और उनके ऐसे-ऐसे भागों का हमारे लिए पता लगाता है, जिन पर, जब पहिले हमने उन पदार्थों को देखा था, या तो हमने ध्यान ही नहीं दिया, या जो हमारी दृष्टि के बाहर थे। जब हम किसी वस्तु की ओर देखते हैं, तब उसके विषय में जो भाव उत्पन्न होता है, वह दो या तीन छोटे छोटे सामान्य भावों से मिलकर ही बना रहता है; किन्तु जब कवि उसी को दरसाता है, तब या तो वह हमें उसके विषय में एक अधिक प्रवर्द्धित भाव प्रदान करता है, अथवा हमारे चित्त में केवल ऐसे ही भावों को उत्पन्न करता है, जो कल्पना पर सबसे अधिक प्रभाव डालते हैं।

इस बात का विचार करना भी समय का सदुपयोग ही होगा कि क्यों ऐसा होता है कि बहुतेरे पाठक, जो एक ही भाषा के जाननेवाले होते हैं और उन शब्दों का अर्थ समझते हैं, जिनको वे पढ़ते हैं, एक ही वर्णन के विषय में भिन्न-भिन्न रुचि रखते हैं। हम देखते हैं कि एक ही पद को कोई तो पढ़कर आकर्षित हो जाता है और कोई उसी को बेपरवाही के साथ झट से पढ़ जाता है, एक तो उसी में एक उत्तम स्वाभाविक चित्र खींचा हुआ पाता है और दूसरा उसमें किसी प्रकार की अनुरूपता और यथार्थता नहीं देखता। इस भिन्न भिन्न रुचि का कारण या तो एक की अपेक्षा दूसरे की कल्पना की पूर्णता है, अथवा एक ही शब्द से प्रत्येक पाठक का भिन्न-भिन्न भाव ग्रहण करना। क्योंकि किसी वर्णन की उत्तमता के समझने तथा उसके विषय में विचार करने के लिए ऐसा मनुष्य होना चाहिए, जो जन्म से उत्तम कल्पनावाला हो और जिसने भाषा के शब्दों की शक्ति और उनके प्रभाव को भली भाँति तौला हो; जिसमें कि वह यह समझ सके कि कौन-कौन से शब्द किन-किन भावों के प्रगट करने के लिए उपयुक्त हैं और दूसरे शब्दों के संयोग से उन शब्दों में कितनी अधिक सुन्दरता और शक्ति आ जायगी। उन आकारों के धारण करने के लिए, जो बाहरी पदार्थों से प्राप्त होते हैं, कल्पना को तीव्र होना चाहिए; और यह जानने के लिए कि कैसे कैसे वाक्य उन्हें उत्तमता-पूर्वक पटावृत्त और विभूषित करने के

लिए सबसे अधिक उपयुक्त हैं, विचार को स्वच्छ होना चाहिए। वह मनुष्य, जिसमें इन सब बातों का अभाव है, चाहे वह किसी वर्णन का आभास मात्र समझ ले, किन्तु उसकी सुन्दरता को वह स्पष्ट रूप से नहीं समझ सकता, उसी प्रकार, जैसे एक क्षीण दृष्टिवाला मनुष्य अपने सामने के किसी स्थल का धुँधला और अस्पष्ट दृश्य तो देख सकता है, किन्तु उसके समस्त भागों का आनन्द नहीं ले सकता और न उसके नाना रंगों को अपने पूर्ण विकाश और चमत्कार में देख सकता है।

सातवाँ प्रकरण

प्रायः देखने में आता है कि उन बहुत सी वस्तुओं में से, जिनको हमने पहिले कभी देखा है, यदि एक भी वस्तु ध्यान में आ जाती है तो समस्त दृश्य का दृश्य सामने उपस्थित हो जाता है और ऐसे ऐसे भाव जागृत हो जाते हैं जो पहिले कल्पना में निद्रित थे। जैसे कोई सुगंध अथवा रंग विशेष चट हमारे चित्त में बगीचों और खेतों का ध्यान दिला देता है जहाँ पर हमने पहिले उसको देखा था; और जो जो स्वरूप उसके आसपास थे उनको भी वह लाकर सामने खड़ा कर देता है। हमारी कल्पना केवल एक संकेत मात्र पा जाती है और चट हमको नगरों और उपवनों, मैदानों और जंगलों में पहुँचा देती है। यह भी देखा जाता है कि जब हमारा चित्त उन दृश्यों को जिन्हें एक बार हम देख चुके हैं ध्यान करता है तो जो जो बातें उनमें हमें सुन्दर देख पड़ी थीं वे ध्यान करने पर और भी अधिक सुन्दर प्रतीत होती हैं, स्मृति मूल पदार्थों की रमणीयता को और बढ़ा देती है। एक कार्टिशियन (Cartesion) तत्त्ववेत्ता इन दोनों बातों का कारण निम्नलिखित शब्दों में बतलाएगा।

वे विविध भाव जिनको हम बगीचों वा नैसर्गिक दृश्यों से प्राप्त करते हैं; चित्त में एक साथ प्रविष्ट होते हैं और उनकी जुदा जुदा लकीरें मस्तिष्क में लग जाती हैं जोकि एक दूसरे से बहुत पास पास रहती हैं, अतः जब कभी कल्पना में इनमें से एक भाव भी उत्पन्न हो जाता है और अपनी निज की लकीर में एक उत्तेजक रस का प्रवाह प्रेषित कर देता है, तो यह उत्तेजक रस अपनी गति के आवेग में न कि केवल उसी लकीर विशेष में से होकर बहता है जिसमें कि वह परिचलित किया गया वरन् उनमें से भी बहुतों में से जो उसके आसपास रहती हैं। इसी युक्ति से वह और भी कुछ भावों को जागृत कर देता है जो कि पुनः एक नए सिरे से उत्तेजक रस को प्रेषित करते हैं और उसी प्रकार यह रस उनकी निकटवर्ती लकीरों को भी खोल देता है, यहाँ तक कि अन्त में समस्त भावों का समूह उपट आता है और वह सारा बगीचा किंवा नैसर्गिक दृश्य कल्पना में उद्भूत हो जाता है। चूँकि उस आनन्द ने जो हमने इन स्थानों से प्राप्त किया था उस घृणा को दबा दिया था जोकि हमें उनसे उत्पन्न हुई थी इस कारण से आनन्दकारक भावों की रेखाएँ

बहुत चौड़ी अंकित हुईं और इसके विपरीत घृणित भावों की रेखाएँ इतनी संकीर्ण कि वे बहुत शीघ्र मुँद गईं और इस उत्तेजक रस को ग्रहण करने में असमर्थ हो गईं।

इस बात की जिज्ञासा करना तो व्यर्थ है कि यह पदार्थों की कल्पना करने की शक्ति वस्तुतः किसी मनुष्य की दूसरे की अपेक्षा अधिक आत्मिक-सम्पन्नता से उत्पन्न होती है अथवा मस्तिष्क की बारीकी से। परन्तु, यह तो निश्चय है कि एक उत्कृष्ट ग्रन्थकार में यह शक्ति अपने पूर्ण रस और विकाश में जन्म से होनी चाहिए जिसमें कि वह बाहरी पदार्थों से सुन्दर और सजीव भाव प्राप्त कर सके, उनको देर तक धारण कर सके और समय पर उनको ऐसे स्वरूपों में सजा सके जो पढ़नेवाले के चित्त को सबसे अधिक चुटीले होते हैं। कवि को अपनी कल्पना को सुधारने में उतना ही परिश्रम करना चाहिए जितना दार्शनिक को अपनी विचारशक्ति की अभिवृद्धि करने में। उसको प्राकृतिक कार्यों की ओर रुचि प्राप्त करनी चाहिए और तरह-तरह के ग्रामीण दृश्यों से भली-भाँति परिचित हो जाना चाहिए।

जब वह इस प्रकार ग्रामीण स्वरूपों से परिचित हो गया और अपनी कवित्त्व शक्ति को और भी विस्तृत करना चाहता है तब उसको राज दरबार के ठाट-बाट और सजावट से जानकार होना चाहिए। शिल्प की रचनाओं में भी जो बात सुन्दर और विशाल होती है उसका भी ज्ञान अच्छी तरह सम्पादन कर लेना चाहिए चाहे वह चित्र में हो अथवा प्रतिमा में, चाहे वर्तमान समय की बड़ी-बड़ी इमारतों में हो अथवा उनके अवशेषों में जो प्राचीन समय में विद्यमान थीं। ये सब बातें मनुष्य के हृदय को खोलने में तथा कल्पना को विस्तीर्ण करने में सहायता पहुँचाती हैं; और इनका प्रभाव सब प्रकार की लिखावट पर पड़ता है, यदि ग्रंथकार इस बात को जानता है कि उनका व्यवहार किस ढंग पर करना चाहिए। कदाचित् यह कहने की आवश्यकता न होगी कि बड़े-बड़े काव्यों में भी यही बड़ाई, असाधारणता वा सुन्दरता है जो चित्त को चमत्कृत करती है।

आठवाँ प्रकरण

कल्पना की यह द्वितीय श्रेणी का आनन्द उसकी अपेक्षा अधिक विस्तृत और व्यापक है जो नेत्रों के अवलोकन से प्राप्त होता है; क्योंकि एक उपयुक्त वर्णन में न कि केवल वही वस्तु जो कड़ी, असाधारण वा सुन्दर होती है वरन् वह भी जो हमारी रुचि के प्रतिकूल होती है, हमारे चित्त को प्रसन्न करती है। यहाँ पर हमारा आनन्द एक दूसरे ही सिद्धान्त पर रहता है; अर्थात् चित्त की उसी क्रिया से यह उत्पन्न होता है जो उन भावों को जो शब्दों से उत्पन्न होते हैं उन भावों से मिलान करती है जो वर्णित पदार्थों से प्राप्त होते हैं; और क्यों चित्त की यह क्रिया इतना आनन्द

देती है इसका विचार हम पहिले कर चुके हैं। अतएव इसी कारण से यदि उपयुक्त शब्दों में उसका स्वरूप दरसाया जाय तो ग्राम के गोबड़ौर का (यद्यपि उसको देखने से एक प्रकार की अरुचि होगी) वर्णन भी कल्पना को आनन्द-दायक होता है। यद्यपि वास्तव में तो इसे कल्पना का आनन्द न कहके विचार वा विवेचना का आनन्द कहना चाहिए क्योंकि हम उस स्वरूप से जो वर्णन में दरसाया जाता है उतना प्रसन्न नहीं होते हैं जितना उस वर्णन के उस स्वरूप को प्रगट करने की योग्यता से।

परंतु यदि ऐसी वस्तु का वर्णन जो छोटी, साधारण वा कुरूप होती है कल्पना को रुचिकर होता है तो जो वस्तु बड़ी असाधारण वा सुन्दर होती है उसका वर्णन तो और भी अधिक हृदयग्राही होगा; क्योंकि तब हम दरसाए हुए पदार्थ को केवल मूल से मिलान करने ही से नहीं प्रसन्न होंगे वरन् स्वयं मूल के स्वरूप से भी आनन्दित होंगे। बहुतेरे पाठक मैं समझता हूँ कि मिल्टन के नर्क के वर्णन को पढ़कर उतना मोहित न होते होंगे जितना स्वर्ग के। यद्यपि अपने-अपने ढंग के दोनों ही बहुत उपयुक्त हैं, किन्तु एक में भयानक अग्नि और दुर्गन्धि की कल्पना उतनी सुहावनी नहीं है जितनी दूसरे में फूलों के उपवन, और हरे-भरे कक्ष।

एक बात और है जिससे वर्णन सबसे अधिक रोचक हो जाता है; वह यह कि जब वह ऐसी-ऐसी बातों को दरसाता है जो पढ़नेवाले के चित्त में कोई उत्तेजना उत्पन्न करती हैं और उसके मनोवेगों पर शक्ति के साथ प्रभाव डालती हैं। क्योंकि इससे हम तुरंत चंचल हो जाते हैं जिससे आनन्द और भी व्याप्त हो जाता है और कई प्रकार से हमें लीन करता है। जैसे चित्रकारी में, किसी के चेहरे के चित्र की ओर जो यथातथ्य उतरा हो देखने से हम प्रसन्न होते हैं; किन्तु यदि वह किसी ऐसे चेहरे का चित्र है जो सुन्दर है तो हमारी प्रसन्नता और भी बढ़ जाती है। और यदि कहीं उस सौन्दर्य में उदासीनता और शोक का भाव भी मिश्रित कर दिया जाता है तब तो हमारे आनन्द का कहीं ठिकाना नहीं रहता। चित्त के दो प्रबल वेग जिनको गंभीर प्रकार की कविता उभाड़ने का यत्न करती है वे भय और दया हैं। यहाँ पर लोगों को आश्चर्य होगा कि यह कैसे होता है कि वे मनोवेग जो और दूसरे अवसरों पर तो दुःखदायक होते हैं किन्तु जब उपर्युक्त वर्णनों द्वारा वे उत्तेजित किए जाते हैं तो बहुत ही मनोरंजक होते हैं। यह तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि ऐसे-ऐसे प्रकरणों को पढ़कर हम आनन्दित हों जो आशा, आह्लाद, प्रशंसा, प्रेम तथा इसी प्रकार के और वेग उत्पन्न करते हैं; क्योंकि वे मनोवेग चाहे जिस अवसर पर उत्पन्न होंगे, हमें बिना आन्तरिक प्रसन्नता प्रदान किए न रहेंगे। परंतु यह कैसे होता है, कि किसी वर्णन द्वारा भयभीत अथवा हताश किए जाने से हम प्रसन्न होते हैं, जबकि उसी शोक और भय के दूसरे अवसरों पर उत्पन्न होने से हम इतने विह्वल हो जाते हैं?

यदि हम इस आनन्द की भली प्रकार परीक्षा करें तो हम देखेंगे कि यह वास्तव में किसी ऐसी वस्तु के वर्णन से नहीं उत्पन्न होता है जो भयानक होती है वरन् हमारे उसे पढ़ते समय अपने विषय में विचार करने से। जब हम ऐसी भयानक वस्तुओं को देखते हैं तो यह विचार करके कुछ कम प्रसन्न नहीं होते कि हमें उनका कोई भय नहीं है। हम उन्हें भयानक तो समझते हैं किन्तु उसके साथ ही हानि पहुँचाने में असमर्थ; इसलिए जितना ही अधिक वे अपना भयानक रूप दिखलाती हैं उतना ही हम उनसे अपने को रक्षित समझकर और भी प्रसन्न होते हैं। सारांश यह है कि हम किसी वर्णन की भयानक बातों को उसी कौतूहल के साथ देखते हैं जैसे एक मरे हुए राक्षस वा दैत्य को।

यही कारण है कि हम व्यतीत आपदाओं को विचार करके भी प्रसन्न होते हैं या किसी भारी चट्टान को दूर से देखकर हर्षित होते हैं जिसको यदि अपने सिर के ऊपर लटकती हुई हम देखें तो एक दूसरे ही प्रकार के भय से हमारा चित्त पूर्ण हो जाय।

इसी प्रकार जब हम पीड़ा, क्लेश, मृत्यु तथा इसी प्रकार की और दारुण घटनाओं के विषय में पढ़ते हैं तो हमारा आनन्द उस शोक से नहीं उत्पन्न होता है जो ऐसे दुःखमय वर्णनों से हमें प्राप्त होता है वरन् हमारे भीतर ही भीतर अपनी अवस्था को उस क्लेशित व्यक्ति की अवस्था से मिलान करने से। ऐसे वर्णन हमें अपनी अवस्था का यथार्थ मूल्य समझना तथा अपने सौभाग्य की सराहना करना, जिससे हम इस प्रकार की आपदाओं से बचे हैं, सिखलाते हैं। यह एक ऐसे प्रकार का आनन्द है जो हम उस समय नहीं प्राप्त कर सकते जब हम यथार्थ में किसी मनुष्य को उसी पीड़ा से क्लेशित देखते हैं जो वर्णन में दरसाई गई है, क्योंकि तब वह वस्तु हमारी इन्द्रियों के बहुत ही निकट हो जाती है और हमें इतना अखर जाती है कि अपने विषय में विचार करने को समय और अवकाश ही नहीं मिलता। हमारा ध्यान पीड़ित व्यक्ति के क्लेश और दुःख की ओर इतना झुका रहता है कि उसे हम अपने सुख की ओर नहीं फेर सकते। परन्तु, इसके प्रतिकूल हम उन आपदाओं को जो इतिहास अथवा काल में पढ़ते हैं या तो व्यतीत समझते हैं अथवा कल्पित; इससे हमारे चित्त में अपनी अवस्था का ध्यान इस प्रकार दबे पाँव प्रवेश करता है कि हमें जान नहीं पड़ता और पीड़ित पुरुष के क्लेश से जो दुःख होता है उसको दबा देता है।

परन्तु मनुष्य का चित्त पदार्थों में कोई बात उससे और पूर्ण चाहता है जितना उनमें देखता है और प्रकृति में कोई ऐसा दृश्य नहीं देखता जो उसके आनन्द की सबसे उच्च अभिलाषाओं को सन्तुष्ट कर सके—अथवा यों कहिए कि कल्पना उससे कहीं अधिक बड़ी, असाधारण और सुन्दर वस्तुओं का अनुमान कर सकती है जिन्हें हम अपनी आँखों से देखते हैं, और कोई न कोई त्रुटि इन आँख से देखी हुई वस्तुओं

में वह बोध कराती है। इसी से यह कवि का कर्त्तव्य है कि कल्पना का उसी की रुचि के अनुकूल अनुरंजन करे, अर्थात् जहाँ पर वह किसी सत्य और वास्तविक वस्तु का वर्णन करता है वहाँ पर प्रकृति को पूर्ण और दुरुस्त करे और जहाँ वह किसी कल्पित वस्तु का वर्णन करता है वहाँ प्रकृति की अपेक्षा अधिक सौंदर्यों को बटोर कर एकत्रित करे।

उसके लिए प्रकृति की धीमी चाल के अनुसार एक से दूसरी ऋतु में जाना तथा फूलों और पौधों के विषय में उसके सामयिक नियमों का पालन करना कोई आवश्यक नहीं है। वह अपने वर्णन में वसंत और शिशिर की शोभा एक साथ दिखला सकता हे और उसको रोचक बनाने के लिए समस्त वर्ष की शोभा से थोड़ी थोड़ी सहायता ले सकता है। उसके पारिजात, गुलाब और कदंब एक साथ फूल सकते हैं। उसकी (कवि की) भूमि किसी वर्ग विशेष के पौधों ही के लिए नहीं बनी है, आम और अखरोट समान रूप में उसमें मिल सकते हैं; अर्थात् प्रत्येक देश की जलवायु के पौधों के लिए उसकी भूमि उपयुक्त होती है : नारंगियों का वन वहाँ खड़ा मिल सकता है; हर एक झाड़ी फूलों से लदी हुई देखी जा सकती है, और यदि वह कवि मसालों का उपवन भी वहाँ होना उचित समझता है तो वह तुरंत उन्हें पैदा होने भर के लिए उष्णता ला सकता है। यदि ये सब मिलकर भी रोचक दृश्य नहीं उपस्थित कर सकते तो वह नए प्रकार के फूलों की सृष्टि करता है जो उनकी अपेक्षा अधिक मधुर सुगंधवाले तथा चटकीले रंगवाले होते हैं जो प्रकृति के उपवनों में पाए जाते हैं। उसके विहंगों का कलरव इतना मधुर और हृदयग्राही हो सकता है और उसके वन इतने निबिड़ और सघन हो सकते हैं जितना वह चाहे। दृश्य छोटा हो वा बड़ा उसके लिए दोनों बराबर हैं : वह अपने झरनों को आधा मील की ऊँचाई से वैसी ही सुगमता से गिरा सकता है जैसी बीस गज की ऊँचाई से; वायु को वह जिस ओर चाहे बहा सकता है; और नदी की धारा को वह ऐसे ऐसे घुमावों के साथ बहा सकता है जो कल्पना को सबसे अधिक आनन्ददायक होते हैं। सारांश यह कि प्रकृति का गढ़ना उसके हाथ में रहता है, उसको वह जैसी शोभा चाहता है वैसी प्रदान कर सकता है; किन्तु उसको वह अत्यन्त ही न सुधार डाले और उससे बढ़ जाने के निमित्त यत्न करने में कहीं बे सिर पैर की व्यर्थ बातों में न फँस जाय।

नौवाँ प्रकरण

एक लिखने की रीति है जिसमें कवि प्रकृति की ओर बिलकुल नहीं दृष्टिपात करता और अपने पाठकों के चित्र को ऐसे-ऐसे पात्रों के कर्मों और स्वभाव से पूर्ण कर देता है जिनका सिवाय उसकी रचना में और कहीं अस्तित्व नहीं। अप्सरा, डाइन, भूत प्रेत, और मृत पुरुषों की आत्मा इत्यादि इसी प्रकार की हैं। ऐसी रचनाओं में

जो सर्वथा कवि की कल्पना ही पर निर्भर रहती हैं यह सबसे कठिन है क्योंकि इसमें उसके चलने के लिए कोई नमूना नहीं रहता उसको बिलकुल अपनी ही गढ़ंत पर काम करना होता है।

इस प्रकार की रचना के लिए चित्त की एक बहुत ही विलक्षण प्रवृत्ति की आवश्यकता है; और किसी ऐसे कवि का इसमें कृतकार्य होना असंभव है जिसके भाव निराले न हों और जिसकी कल्पना स्वभाव ही से उपजाऊ और संशयी न हो। इसके अतिरिक्त उसको किस्से कहानियों, पुराने-पुराने व्याख्यानों तथा बूढ़े लोगों की जनश्रुति इत्यादि में भली प्रकार प्रवीण होना चाहिए, जिसमें वह हम लोगों की स्वाभाविक रुचि के अनुसार अपने को ले चले, और जिन भावों को बचपन में हमने ग्रहण किया था उनका अनुमोदन करे; क्योंकि अन्यथा यह भूतों और डाइनों को अपने ही वर्ग के लोगों के समान बोलावेगा, न कि उन दूसरी ही श्रेणी के जीवों की तरह जिनके वार्तालाप का अभिप्राय तथा जिनकी विचार करने की प्रणाली मनुष्यों से भिन्न होती है।

मैं मि. वेज़ की भाँति यह नहीं कहता कि कोई बंधन नहीं है कि भूत प्रेत अर्थसूचक ही बात बोलें; परन्तु इतना तो अवश्य कहूँगा कि उनके अर्थ कुछ विलक्षण और असम्बद्ध होने चाहिए जिसमें वे बोलनेवाले के स्वरूप और अवस्था के अनुकूल हों।

इस प्रकार के वर्णन पढ़नेवाले के चित्त में एक प्रकार का आनन्दकारक त्रास उत्पन्न करते हैं और उसकी कल्पना को उन पात्रों की विलक्षणता और नवीनता से रंजित करते हैं जो उनमें दरसाए गए हैं। ये हमारी स्मृति में उन कहानियों को लाते हैं जिन्हें हमने लड़कपन में सुना था; और उन अन्तरस्थित भय और आशंकाओं का अनुमोदन करते हैं जो मनुष्य के चित्त में स्वाभाविक हैं। हम लोग दूसरे देश के लोगों की भिन्न चाल-ढाल और रहन-सहन देखकर प्रसन्न होते हैं। कितने और अधिक हम प्रसन्न होंगे यदि मानो एक नई सृष्टि में ही हम पहुँचा दिए जायँ और वहाँ दूसरे ही प्रकार के जीवों के आकार और व्यवहार देखें। शुष्क-हृदय तथा तर्कप्रिय मनुष्य इस प्रकार की कविता का यह कहकर विरोध करते हैं कि उसके वर्णन इतने संभव नहीं होते की किसी प्रकार का प्रभाव कल्पना पर डालें। किन्तु इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि हमें निश्चय है कि इस जगत् में हम लोगों के अतिरिक्त और भी बुद्धि सम्पन्न जीव हैं तथा और भी इस प्रकार की आत्माएँ हैं जो मनुष्य की आत्मा से भिन्न नियमों से प्रतिबद्ध हैं। इसलिए जब हम इनमें से किसी को स्वाभाविक रीति पर दरसाया हुआ पाते हैं तो उसे सर्वथा असंभव और निर्मूल नहीं समझ लेते वरन् बहुतेरे लोग तो पहिले ही से उनके विषय में ऐसी सम्मति रखते हैं जो चट उन्हें ऐसी बातों पर विश्वास लाने को बाध्य कर देती है। हम लोगों ने, और कुछ नहीं तो उनके पक्ष में इतने मनोहर वर्णन सुने

हैं कि हम असत्यता की ओर देखने की परवाह ही नहीं करते हैं और बड़े मन से ऐसे रोचक प्रलापों में अपने को लीन होने देते हैं।

अत्यन्त प्राचीन काल के लोगों में कविता की यह प्रथा प्रचलित न थी, क्योंकि, यथार्थ में, इसके सारे भाग की उत्पत्ति माध्यमिक काल के अंधकार और भ्रम से है जबकि मनुष्यों के दिल बहलाव के लिए तथा उनको डराकर अपने मत पर दृढ़ करने के लिए धर्म की आड़ में जाल रचे जाते थे। संसार में विद्या और विज्ञान का प्रकाश फैलने के पहिले लोग प्रकृति को बहुत ही पूज्य तथा भय की दृष्टि से देखते थे और यंत्र मंत्र भूत प्रेत आदि की आशंकाओं से चकित होना बहुत पसन्द करते थे। कोई भी गाँव देश ऐसा न था जहाँ एक भूत न हो; श्मशानों पर सर्वत्र भूतों का डेरा रहता था; प्रत्येक ताल के किनारे चुड़ैलों की मंडली बैठती थी; एक भी ग्रामीण ऐसा न था जिसने एक भूत न देखा हो।

यूरोप के कवियों में अँगरेज कवि ही प्रायः इसमें अधिक कुशल होते हैं, चाहे इस कारण कि उनमें इस प्रकार की कहानियाँ बहुत हैं अथवा उस देश की प्रतिभा इस प्रकार की रचना के लिए विशेष उपयुक्त है क्योंकि अँगरेज लोग स्वभाव से कल्पना प्रिय होते हैं।

अँगरेज कवियों में शेक्सपियर ही इस प्रकार की रचना में सबसे बढ़ा चढ़ा है। वह कल्पना की उस प्रचुरता के प्रभाव से जो उसमें इतने पूर्ण रूप से थी अपने पाठकों के चित्त और कोमल ओर संशयी भाग को द्रवीभूत कर सका और ऐसे-ऐसे स्थलों पर कृतकार्य होने में समर्थ हुआ जहाँ उसकी प्रतिभा की शक्ति के अतिरिक्त और आश्रय और आधार न था। उसके भूत प्रेत और परियों की वार्ताओं में कोई बात ऐसी बीहड़ पर साथ ही ऐसी गंभीर है कि हम उनको बिना स्वाभाविक समझे नहीं रह सकते यद्यपि हमारे पास उनकी परीक्षा के लिए कोई साधन नहीं है। यह भी हम स्वीकार करेंगे कि यदि इस प्रकार के जीवों की सृष्टि जगत् में है तो यह बहुत संभव है कि वे इसी प्रकार की बोली बोलते होंगे और ऐसे ही कर्म करते होंगे जैसा उसने दरसाया है।

एक प्रकार के और कल्पित जीव हैं जो हमें कवियों की रचना में कभी कभी मिलते हैं, अर्थात् जब रचयिता किसी मनोवेग, पाप, सत्य, धर्म इत्यादि दृग्गोचर स्वरूप में प्रदर्शित करता है और उनको अपने काव्य के पात्र बनाता है। प्रबोध चन्द्रोदय नाटक में आशा, आलस्य, रोग इत्यादि सब मनुष्यों के रूप में प्रगट हुए हैं। इन सब प्रकारों की रचना बहुत ही मनोहारिणी और ओजस्विनी होती है। मैं स्थानाभाव से इन कल्पित पात्रों का उल्लेख मात्र यहाँ कर सकता हूँ। इस भाँति हम देखते हैं कि कितने रूपों में कविता कल्पना को सम्बोधन करती है; क्योंकि इसके कार्य का क्षेत्र न कि केवल सम्पूर्ण प्रकृति ही का मंडल है वरन् यह अपनी एक नई सृष्टि निर्माण करती है, ऐसे ऐसे व्यक्तियों का दर्शन कराती है जो इस

भूमण्डल पर नहीं पाए जाते, और यहाँ तक कि आत्मा की विविध क्रियाओं को उसके सद्भावों और विकारों को गोचर आकार और स्वभाव में दिखला देती है।

मैं अब अपने अगले दो प्रकरणों में यह विचार करूँगा कि किस प्रकार काव्य के अतिरिक्त और दूसरे प्रकार की लिखावट कल्पना को आनन्दित करने में योग्यता रखती है और फिर वहीं से इस निबंध की समाप्ति करूँगा।

दसवाँ प्रकरण

जैसे कि काव्य तथा काल्पनिक साहित्य के रचयितागण अपनी बहुत सी सामग्रियों को बाहरी पदार्थों से लेते हैं और उनको अपने मनोनुकूल एक साथ संयोजित करते हैं वैसे ही लेखकों का एक और समुदाय है जो प्रकृति का अनुगामी होने के लिए उनकी अपेक्षा अधिक विवश है और अपना सारा दृश्य उसी से लेता है। इतिहासकार, वैज्ञानिक, भ्रमणकार, भूगोलकार तथा वे सब जो भूस्थित वास्तविक पदार्थों का वर्णन करते हैं इसी समुदाय के अंतर्गत हैं।

इतिहासकार का यह प्रधान गुण है कि वह उपयुक्त शब्दों में अपनी सेना का सुमन्त्रित होना और संग्राम में तत्पर होना वर्णन करे; हम लोगों की आँख के सामने बड़े लोगों के द्वेष, गर्व और छल को दरसावे और इतिहास की बहुत सी घटनाओं में क्रम क्रम से हमें ले चले। घटनाओं का धीरे धीरे यथाक्रम उद्भूत होना और हम पर इसी रीति से प्रगट होना कि हमको पहिले से उनका कुछ ज्ञान न होने पावे हमें बहुत प्रिय है; जिसमें कि हम एक प्रकार के मनोरंजक संदेह में पड़े रहें और हमें अनुमान बाँधने का तथा वर्णन किए हुए दोनों पक्षों में से किसी एक पक्ष को अवलम्बन करने का समय मिले। यह मैं स्वीकार करता हूँ कि इससे इतिहासकार का जितना गुण प्रकट होता है उतना यथार्थवाद नहीं, किन्तु मैं तो उसका उल्लेख उतने ही अंश में करना चाहता हूँ जितना कल्पना को प्रफुल्लित करने में समर्थ है। इन बातों में लिवी (Livy) अपने आगे और पीछे के सब इतिहासकारों से बढ़ा चढ़ा है। वह प्रत्येक वस्तु का ऐसा सजीव वर्णन करता है कि उसका समस्त इतिहास एक सुन्दर चित्र प्रतीत होता है, और हर एक कथा के ऐसे चुटीले वृत्तान्तों की ओर झुकता है कि उसका पढ़नेवाला एक प्रकार का निरीक्षक हो जाता है और उन समस्त मनोवेगों का अनुभव करने लगता है जो वर्णन के विविध भागों से संबंध रखते हैं।

किन्तु इस श्रेणी के लेखकों में कल्पना को इतना कोई सन्तुष्ट और प्रशस्त नहीं करते हैं जितना नए विज्ञान की पुस्तकों के प्रणेतागण; चाहे हम उनके पृथ्वी तथा आकाश विषयक सिद्धान्तों का और यन्त्रों द्वारा उनके नाना आविष्कारों का विचार करें अथवा प्रकृति विषयक उनके और अनुमानों पर ध्यान दें। हम हर एक हरी पत्ती की लाखों ऐसे जीवों से गुथी हुई देखकर कुछ कम प्रसन्न नहीं होते हैं

जिनको कि खाली आँख कभी नहीं देख सकती। धातु, पौधों तथा तारों के विषय में जो पुस्तकें होती हैं उनमें कोई बात कल्पना और बुद्धि दोनों के बहुत ही रोचक होती है। किन्तु जब हम एक बेर समस्त पृथ्वी की ओर तथा उन सब उपग्रहों की ओर जो उसके निकटवर्ती हैं दृष्टि डालते हैं तो हम इतने लोकों को अन्तरिक्ष में एक दूसरे के समानान्तर लगते हुए तथा अपनी अपनी कक्षाओं पर ऐसे अद्भुत चमत्कार और वेग के साथ परिक्रमण करते हुए देखकर एक मनोरंजक आश्चर्य से पूर्ण हो जाते हैं। यदि इनके उपरान्त हम (Ether) सूक्ष्म पदार्थ के अपार क्षेत्रों का विचार करते हैं जो ऊँचाई में शनैश्चर से लेकर स्थिरीकृत ग्रहों तक (Fixed stars) पहुँच गए हैं और इधर-उधर इतने विस्तार में फैले हुए हैं जिसका पारावार नहीं तो हमारी कल्पना-शक्ति ऐसे विपुल दृश्य से भर उठती है जिसके समावेश के लिए उसको बहुत ही फैलना पड़ता है। किन्तु यदि हम और आगे बढ़ते हैं और विचार करते हैं कि स्थिरीकृत यह आग के अपार समुद्र हैं और प्रत्येक के साथ भिन्न भिन्न वर्ग के उपग्रह हैं; और फिर नए नए आकाश और नए नए प्रकाश का पता लगाते हैं जो इथर (Ether) के अगाध समुद्र में इस प्रकर मग्न पड़े हैं कि बड़े से बड़े दूरवीक्षण यंत्रों द्वारा भी नहीं देखे जा सकते तो हम सूर्यों और लोकों की भूलभुलैया में फँस जाते हैं और प्रकृति के चमत्कार और विस्तार से स्तम्भित हो जाते हैं।

कल्पना को कोई बात इतनी प्रिय नहीं है जितना पदार्थों के परस्पर विस्तार-संबंध को विचार करके क्रम क्रम से प्रवर्द्धित होना, जब वह मनुष्य के शरीर को संपूर्ण पृथ्वी के पिंड से मिलान करती है; पृथ्वी को उस वृत्त से जो उसके चारों ओर वह बनाती है, उस वृत्त को स्थिरीकृत ग्रहों के मंडल से, स्थिरीकृत ग्रहों के मंडल को संपूर्ण सृष्टि से और समस्त सृष्टि को उस अपार शून्य-स्थान से जो उसके चारों ओर फैला हुआ है; अथवा जब कल्पना नीचे की ओर जाती है और मनुष्य के शरीर को किसी मटर से भी सौ गुने छोटे जानवर से मिलान करती है, फिर उस जीव के विशेष विशेष अवयवों से, तदनन्तर उन पुरजों से जो उन अवयवों में क्रिया उत्पन्न करते हैं; तदुपरान्त उस शक्ति से जो उन पुरजों को चलाती हैं और पुनः इन समस्त भागों की उस समय की सूक्ष्मता से जब कि वे पूरी बाढ़ को नहीं पहुँचे रहते हैं और यदि इन सबके पीछे इस शक्ति के क्षुद्रातिक्षुद्र अंश को हम लेते हैं और उसके द्वारा एक संसार निर्मित होने की संभावना पर विचार करते हैं जिसमें कि उतने ही विस्तार में पृथ्वी और आकाश, तारे और उपग्रह तथा सब तरह के जीव परस्पर उसी संबंध के साथ सन्निविष्ट रहेंगे जैसा कि हमारे इस संसार में, तो इस प्रकार का विचार अपनी सूक्ष्मता के कारण उन लोगों को उपहास-जनक जान पड़ता है जिन्होंने अपना ध्यान इस ओर नहीं फेरा है यद्यपि उसकी स्थिति दृढ़ प्रमाणों के आधार पर है। यहीं तक नहीं, हम इस विचार को और भी आगे

ले जा सकते हैं और इस क्षुद्र जगह के छोटे से छोटे कण में भी तत्त्व के ऐसे अतुल भंडार का पता लगा सकते हैं जिससे एक दूसरा ब्रह्मांड तक निर्मित हो सकता है।

इस विषय को मैंने विस्तार के साथ वर्णन किया है क्योंकि मैं समझता हूँ कि इसके कल्पना की यथार्थ पहुँच और उसकी त्रुटि को बोध हो जायगा और विदित हो जायगा कि किस प्रकार उसका प्रवेश बहुत ही थोड़े स्थान के बीच है और किस प्रकार किसी ऐसी वस्तु को ग्रहण करने के लिए जो अत्यंत छोटी वा अत्यंत बड़ी होती है जब वह यत्न करती है तो चट रोक दी जाती है। यदि कोई मनुष्य किसी ऐसे जीव के शरीर पिंड को जो सरसों से बीस गुना छोटा है, एक ऐसे जीव से मिलान करे जो सरसों से सौ गुना छोटा है, अथवा अपने ध्यान में पृथ्वी के सहस्र व्यासों की लम्बाई को उसी के दस लाख व्यासों की लम्बाई से मिलान करे तो उसे तुरंत जान पड़ेगा कि ऐसी ऐसी असाधारण मात्रा की सूक्ष्मता और विशालता का अन्दाज करने के लिए उसके चित्त में कोई पृथक् पृथक् माप नहीं है। हमारी बुद्धि अलबत्ते हमारे चारों ओर अनुसंधान का मार्ग खोल देती है; किन्तु कल्पना को वह बहुत शीघ्र अदृश्य हो जाता है। कल्पना अपने में एक तरह का रन्ध्र बोध करने लगती है जिसको कि वह किसी और विशेष गोचरपिण्ड की सामग्री से भरना चाहती है। हम इस शक्ति को न तो सिकोड़ कर सूक्ष्मता के अन्त तक ले जा सकते हैं और न फैलाकर विशालता के सिरे पर पहुँचा सकते हैं। जब हम पृथ्वी की परिधि का ध्यान करते हैं तो वह वस्तु हमारी शक्ति की पहुँच से अत्यंत बड़ी हो जाती है और जब हम एक परमाणु का अनुमान करने के लिए यत्न करते हैं तब वह हमारे लिए कुछ भी नहीं रह जाती।

संभव है कि यह त्रुटि स्वयं आत्मा में न हो, वरन् जब वह शरीर के सहयोग से काम करती है तब उसमें यह दोष आ जाता हो। कदाचित् मस्तिष्क में इतने तरह के चिह्नों के लिए स्थान ही न हो अथवा चेतना शक्ति उनको इस ढंग पर निर्मित करने में असमर्थ हो कि वे इतनी बड़ी अथवा इतनी छोटी भावानाओं को उत्तेजित कर सकें। जो कुछ हो, हम यह मान सकते हैं कि दूसरे उच्च श्रेणी के जीव हमसे इस बात में बहुत बढ़े चढ़े हैं; और संभव है कि मनुष्य की आत्मा आगामी काल में (शरीर से पृथक् होने पर) जैसे और सब बातों में वैसे ही इस शक्ति में भी पूर्णता प्राप्त करेगी; यहाँ तक कि कल्पना विचार के साथ साथ चलने और विस्तार के समस्त जुदे जुदे परिमाण और क्रम के लिए पृथक् पृथक् भाव रखने में सक्षम होगी।

ग्यारहवाँ प्रकरण

कल्पना का आनन्द ऐसे ही ग्रंथकारों के ऊपर अवलम्बित नहीं है जो भौतिक पदार्थों

में कुशल होते हैं वरन् बहुधा नीति, समालोचना तथा द्रव्यों से निकाले हुए और और निरूपण के गंभीर कर्त्ताओं में भी हम इस आनन्द को पाते हैं। ये लोग यद्यपि प्रकृति के दृग्गोचर भागों का स्पष्टतया वर्णन नहीं करते हैं तथापि वे प्रायः अपने उदाहरण, रूपक और अपनी उपमाएँ उनसे लेते हैं। इस प्रकार के दृष्टान्तों से बुद्धि में स्थित कोई तत्त्व मानो कल्पना में प्रतिबिम्बित हो जाता है; हम किसी विचार में रंग और आकार देखने लगते हैं और भावों को भौतिक द्रव्यों पर झलकाया हुआ पाते हैं। जब कल्पना बुद्धि की बातों को अवतरण करने और मानसिक सांसारिक भावों को खींचकर भौतिक संसार में लाने में लगी रहती है उस समय चित्त बहुत प्रसन्न होता है और उसकी दो शक्तियाँ एक साथ ही परितुष्ट होती हैं।

किसी ग्रंथकार का गुण मनोरंजक दृष्टान्तों के चुनाव में प्रगट होता है जो कि प्रायः प्रकृति वा शिल्प के विशाल और सुन्दर निर्माणों से लिए जाते हैं; क्योंकि यद्यपि जो बात नई वा असाधारण होती है, कल्पना को प्रसन्न करती है पर दृष्टान्त का मुख्य उद्देश्य किसी ग्रंथकार के वाक्यों का स्पष्टीकरण है इसलिए इसको सर्वथा ऐसे ही पदार्थों से लेना चाहिए जो उन वाक्यों की अपेक्षा जिन्हें स्पष्ट करना है, अधिक परिचित और जाने हुए हों।

रूपक यदि उत्तमतापूर्वक चुने जाते हैं तो किसी प्रसंग के बीच बीच में प्रकाश की ज्योति की भाँति हो जाते हैं जो कि अपने आसपास की सारी वस्तुओं को स्पष्ट और सुन्दर कर देती हैं। एक उत्कृष्ट उपमा यदि कौशल के साथ रक्खी जाती है तो अपने चारों ओर चमत्कार फैला देती है और संपूर्ण पद को कान्तिमय कर देती है। ये विविध प्रकार के दृष्टांत (रूपक, उपमा इत्यादि) केवल दिखाने की भिन्न भिन्न प्रणालियाँ हैं; जिसमें ये कल्पना को आनन्दित कर सकें इसलिए सादृश्य या तो बहुत ही ठीक अथवा बहुत सुन्दर और रोचक होना चाहिए; जैसे कि हम किसी ऐसे चित्र की ओर देखना पसंद करते हैं जिसमें अनुरूपता ठीक अथवा चेष्टा और भाव सुन्दर होता है। परंतु हम बहुधा बड़े बड़े लेखकों को भी इस बात में दोषी पाते हैं; बड़े बड़े पंडित लोग अपने दृष्टान्त और उदाहरण प्रायः उन शास्त्रों से लेते हैं जिनमें वे सबसे अधिक दक्ष होते हैं, अतएव उनके पांडित्य का समावेश लोग उनके सर्वथा भिन्न विषयों के प्रतिपादन में पाते हैं। मैंने 'प्रेम' पर एक बड़ा प्रबंध पढ़ा है जिसको सिवाय एक गहिरे रासायनिक के और कोई नहीं समझ सकता, और बहुत से धर्मोपदेश सुने हैं जिनको दार्शनिकों की मंडली के बीच सुनना चाहिए। इसके विपरीत, कामकाजी लोग ऐसे दृष्टान्तों का आश्रय लेते हैं जो अत्यंत ही परिचित और क्षुद्र होते हैं। ये लोग या तो पाठकों को शतरंज या गेंद के खेल की ओर ले जाते हैं अथवा तरह-तरह के व्यवसाय की ओर ले जाते हैं अथवा तरह तरह के व्यवसाय और व्यापार की धुन में एक दूकान से दूसरी दूकान पर ले जाकर खड़ा करते हैं। यह ठीक है कि इन दोनों प्रकार की बातों में भी न जाने कितने

तरह के सुन्दर दृष्टान्त मिल सकते हैं पर सबसे हृदयग्राही प्रकृति के कामों में ही पाए जाते हैं जो कि समस्त शक्तियों को प्रत्यक्ष होते हैं और उनसे बढ़ के आनन्द-दायक होते हैं जो कि कला और विज्ञान में पाए जाते हैं।

कल्पना पर प्रभाव डालने का यही गुण है जो उत्तम बुद्धि को भी अलंकृत करता है और एक मनुष्य की रचना को दूसरे मनुष्य की रचना से विशेष रोचक बनाता है। यों तों प्रायः सब तरह की लिखावट को यह उज्ज्वल करता है पर कविता का तो यह जीव और सर्वस्व है। जिस काव्य में यह गुण भली प्रकार झलकाया गया है उसको यह युगान्तरों से रक्षित रखता आया है, चाहे उसमें सिवाय इसके और कोई बात प्रशंसा की न हो; और जिसमें सब शोभा विद्यमान रहती है पर इसकी हीनता रहती है वह रचना शुष्क और नीरस जान पड़ती है। इसमें कोई बात सृष्टि की सी होती है; यह एक प्रकार का अस्तित्व प्रदान करता है और पाठकों के सामने ऐसे बहुत से पदार्थों को लाता है जो इस जगत् में नहीं पाए जाते। यह प्रकृति में बहुत सी बातें बढ़ाता है और परमेश्वर के कार्यों के बहुत से भेद दिखलाता है। संक्षेपतः यह सृष्टि के उत्तम दृश्यों को भी विभूषित और कान्तिमय कर सकता है, अथवा चित्त को उनसे अधिक चमत्कारक कौतुक और आभास दिखला सकता है जो उसके किसी भाग में पाए जा सकते हैं।

हम उन आनन्दों के बहुत से मूलों का पता लगा चुके जो कल्पना को संतुष्ट करते हैं; अब यहाँ पर कदाचित् उन विपरीत वस्तुओं को अलग करके दिखलाना कठिन न होगा जो उसको अरुचि और भय से पूर्ण कर देती है, क्योंकि कल्पना उतना ही क्लेश अनुभव कर सकती है जितना आनन्द। जबकि मस्तिष्क पर किसी दुर्घटना का आघात पहुँचता है, वा चित्त रोग और दुःस्वप्नों से विचलित हो जाता है तब कल्पना उन्मादकारक और उदासीन भावों से उपप्लुत हो जाती है। और अपने ही निर्मित सहस्रों भीषण आकारों से स्वयं भयभीत होती है।

प्रकृति में कोई दृश्य ऐसा क्लेशकर नहीं है जैसा एक व्यग्र मनुष्य का जब कि उसकी कल्पना व्यथित और उसकी सारी आत्मा व्यस्त और आकुल रहती है। बाबलिन भी अपनी उजाड़ अवस्था में ऐसा करुणोत्पादक नहीं है। पर इस दुखदायी प्रसंग को मैं छोड़े देता हूँ। मैं अब उपसंहार की भाँति केवल यही विचार करूँगा कि यह शक्ति परमात्मा को मनुष्य की आत्मा के ऊपर कितना अधिकार देती है और हम एक कल्पना ही से सीमा तक का सुख और दुःख प्राप्त कर सकते हैं।

हम पहिले ही देख चुके हैं कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य की कल्पना के ऊपर कितना प्रभाव रखता है और किस सुगमता के साथ वह उसके भीतर तरह तरह के स्वरूप ले जाता है। विचार तो कीजिए कि कितनी बड़ी शक्ति उस जगदीश्वर में स्थित होगी, जो कल्पना पर प्रभाव डालने की सब रीतियों को जानता है, जो उसमें जिन जिन भावों को चाहे संचार कर सकता है और उन भावों में जिस मात्रा

तक का भय वा आनन्द चाहे भर सकता है। वह विना शब्दों की सहायता ही के चित्त में स्वरूप उद्दीपित कर सकता है और विना पिंड वा बाहरी पदार्थों के ही ऐसे दृश्य हमारे सामने ला सकता है, जो नेत्रों को प्रत्यक्ष जान पड़ते हैं। वह कल्पना को ऐसी सुन्दर और चमत्कारिणी भावनाओं से मोहित कर सकता है, अथवा उसको ऐसे ऐसे कराल भूतों और प्रेतों से सता सकता है कि हम मृत्यु की बाट जोहने और जीवन को एक बोझ समझने लगते हैं। सारांश यह है कि वह कल्पना को इतना आनन्दित वा क्लेशित कर सकता है, जितना किसी एक जीव के निमित्त स्वर्ग वा नर्क बना देने के लिए दरकार होता है।

(एडिसन के 'Plesures of Imagination' का अनुवाद, नागरीप्रचारिणी पत्रिका, सन् 1905)

[चिन्तामणि भाग-3]

कविता क्या है

कविता से मनुष्य-भाव की रक्षा होती है। सृष्टि के पदार्थ या व्यापार-विशेष को कविता इस तरह व्यक्त करती है मानो वे पदार्थ या व्यापार-विशेष नेत्रों के सामने नाचने लगते हैं। वे मूर्तिमान दिखायी देने लगते हैं। उनकी उत्तमता या अनुत्तमता का विवेचन करने में बुद्धि से काम लेने की ज़रूरत ही नहीं पड़ती। कविता की प्रेरणा से मनोवेगों* के प्रवाह जोर से बहने लगते हैं। तात्पर्य यह कि कविता मनोवेगों को उत्तेजित करने का एक उत्तम साधन है। यदि क्रोध, करुणा, दया, प्रेम आदि मनोभाव मनुष्य के अन्तःकरण से निकल जाएं तो वह कुछ भी नहीं कर सकता। कविता हमारे मनोभावों को उच्छ्वसित करके हमारे जीवन में एक नया जीव डाल देती हैं। हम सृष्टि के सौन्दर्य को देखकर मोहित होने लगते हैं। कोई अनुचित या निष्ठुर काम हमें असह्य होने लगता है। हमें जान पड़ता है कि हमारा जीवन कई गुना अधिक होकर समस्त संसार में व्याप्त हो गया है।

कार्य्य में प्रवृत्ति

कविता की प्रेरणा से कार्य्य में प्रवृत्ति बढ़ जाती है। केवल विवेचना के बल से हम किसी कार्य्य में बहुत कम प्रवृत्त होते हैं। केवल इस बात को जानकर ही हम किसी काम के करने या न करने के लिए प्रायः तैयार नहीं होते कि वह काम अच्छा है या बुरा, लाभदायक है या हानिकारक। जब उसकी या उसके परिणाम की कोई ऐसी बात हमारे सामने उपस्थित हो जाती है जो हमें आह्लाद, क्रोध और करुणा आदि से विचलित कर देती है तभी हम उस काम को करने या न करने के लिए प्रस्तुत होते है। केवल बुद्धि हमें काम करने के लिए उत्तेजित नहीं करती। काम करने के लिए मन ही हमको उत्साहित करता है। अतः कार्य्य-प्रवृत्ति के लिए मन में वेग का आना आवश्यक है। यदि किसी से कहा जाय कि अमुक देश तुम्हारा

---

* इन्हीं मनोवेगों का नाम अलंकारशास्त्र में रस रक्खा गया है।

इतना रुपया प्रतिवर्ष उठा ले जाता है; इसी से तुम्हारे यहाँ अकाल और दारिद्र्य बना रहता है; तो सम्भव है कि उसपर कुछ प्रभाव न पड़े। पर यदि दारिद्रय और अकाल का भीषण दृश्य दिखाया जाय, पेट की ज्वाला से जले हुए प्राणियों के अस्थिपंजर सामने पेश किये जायँ, और भूख से तड़पते हुए बालक के पास बैठी हुई माता का आर्त्तस्वर सुनाया जाय तो वह मनुष्य क्रोध और करुणा से विह्वल हो उठेगा और इन बातों को दूर करने का यदि उपाय नहीं तो संकल्प अवश्य करेगा। पहले प्रकार की बात कहना राजनीतिज्ञ का काम है और पिछले प्रकार का दृश्य दिखाना, कवि का कर्त्तव्य है। मानव-हृदय पर दोनों में से किसका अधिकार अधिक हो सकता है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं।

मनोरंजन और स्वभाव-संशोधन

कविता के द्वारा हम संसार के सुख, दुःख, आनन्द और क्लेश आदि यथार्थ रूप से अनुभव कर सकते हैं। किसी लोभी और कंजूस दुकानदार को देखिए जिसने लोभ के वशीभूत होकर क्रोध, दया, भक्ति, आत्माभिमान आदि मनोविकारों को दबा दिया है और संसार के सब सुखों से मुँह मोड़ लिया है। अथवा किसी महाक्रूर राजकर्मचारी के पास जाइए जिसका हृदय पत्थर के समान जड़ और कठोर हो गया है, जिसे दूसरे के दुःख और क्लेश का अनुभव स्वप्न में भी नहीं होता। ऐसा करने से आपके मन में यह प्रश्न अवश्य उठेगा कि क्या इनकी भी कोई दवा है। ऐसे हृदयों को द्रवीभूत करके उन्हें अपने स्वाभाविक धर्म पर लाने का सामर्थ्य काव्य ही में है। कविता ही उस दुकानदार की प्रवृत्ति भौतिक और आध्यात्मिक सृष्टि के सौन्दर्य्य की ओर ले जाएगी; कविता ही उसका ध्यान औरों की आवश्यकता की ओर आकर्षित करेगी और उनकी पूर्ति करने की इच्छा उत्पन्न करेगी; कविता ही उसे उचित अवसर पर क्रोध, दया, भक्ति, आत्माभिमान आदि सिखावेगी। इसी प्रकार उस राजकर्मचारी के सामने कविता ही उसके कार्य्यों का प्रतिबिम्ब खींचकर रक्खेगी और उनकी जघन्यता और भयंकरता का आभास दिखलावेगी; तथा दैवी किंवा अन्य मनुष्यों द्वारा पहुँचाई हुई पीड़ा और क्लेश के सूक्ष्म से सूक्ष्म अंश को दिखलाकर उसे दया दिखाने की शिक्षा देगी।

प्रायः लोग कहा करते हैं कि कविता का अन्तिम उद्देश्य मनोरंजन है। पर मेरी समझ में मनोरंजन उसका अन्तिम उद्देश्य नहीं है। कविता पढ़ते समय मनोरंजन अवश्य होता है, पर इसके सिवा कुछ और भी होता है। मनोरंजन करना कविता का प्रधान गुण है। इससे मनुष्य का चित्त एकाग्र हो जाता है; इधर उधर जाने नहीं पाता। यही कारण है कि नीति और धर्म-सम्बन्धी उपदेश चित्त पर वैसा असर नहीं करते जैसाकि किसी काव्य या उपन्यास से निकली हुई शिक्षा असर करती है। केवल यही कहकर कि 'परोपकार करो', 'सदैव सच बोलो', 'चोरी करना महापाप

है' हम यह आशा कदापि नहीं कर सकते कि कोई उपकारी मनुष्य परोपकारी हो जायगा, झूठा सच्चा हो जायगा, और चोर चोरी करना छोड़ देगा। क्योंकि पहिले तो मनुष्य का चित्त ऐसी शिक्षा ग्रहण करने के लिए उद्यत ही नहीं होता, दूसरे मानव-जीवन पर उसका कोई प्रभाव अंकित हुआ न देखकर वह उनकी कुछ परवाह नहीं करता। पर कविता अपनी मनोरंजक शक्ति के द्वारा पढ़ने या सुननेवाले का चित्त उचटने नहीं देती, उसके हृदय आदि अत्यन्त कोमल स्थानों का स्पर्श करती है, और सृष्टि में उक्त कर्मों के स्थान और सम्बन्ध की सूचना देकर मानव जीवन पर उनके प्रभाव और परिणाम को विस्तृत रूप से अंकित करके दिखलाती है। इन्द्रासन खाली कराने का वचन देकर, हूर और गिलमां का लालच दिखाकर, यमराज का स्मरण दिलाकर और दोजख की जलती हुई आग की धमकी देकर हम बहुधा किसी मनुष्य को सदाचारी और कर्त्तव्य-परायण नहीं बना सकते। बात यह है कि इस तरह का लालच या धमकी ऐसी है जिससे मनुष्य परिचित नहीं और जो इतनी दूर की है कि उसकी परवाह करना मानव-प्रकृति के विरूद्ध है। सदाचार में एक अलौकिक सौन्दर्य्य और माधुर्य्य होता है। अतः लोगों को सदाचार की ओर आकर्षित करने का प्रकृत उपाय यही है कि उनको उसका सौन्दर्य्य और माधुर्य दिखाकर लुभाया जाय, जिससे वे बिना आगा पीछा सोचे मोहित होकर उसकी ओर ढल पड़ें।

मन को हमारे आचार्य्यों ने ग्यारहवीं इन्द्रिय माना है। उसका रंजन करना और उसे सुख पहुँचाना ही यदि कविता का धर्म माना जाय तो कविता भी केवल विलास की सामग्री हुई। परन्तु क्या हम कह सकते हैं कि वाल्मीकि का आदि-काव्य, तुलसीदास का रामचरितमानस, या सूरदास का सूरसागर विलास की सामग्री है? यदि इन ग्रन्थों से मनोरंजन होगा तो चरित्र-संशोधन भी अवश्य ही होगा। खेद के साथ कहना पड़ता है कि हिन्दी भाषा के अनेक कवियों ने शृगांर रस की उन्मादकारिणी उक्तियों से साहित्य को इतना भर दिया है कि कविता भी विलास की एक सामग्री समझी जाने लगी है। पीछे से तो ग्रीष्मोपचार आदि के नुस्खे भी कवि लोग तैयार करने लगे। ऐसी शृंगारिक कविता को कोई विलास की सामग्री कह बैठे तो उसका क्या दोष? सारांश यह कि कविता का काम मनोरंजन ही नहीं कुछ और भी है।

चरित्र-चित्रण द्वारा जितनी सुगमता से शिक्षा दी जा सकती है उतनी सुगमता से किसी और उपाय द्वारा नहीं। आदि-काव्य रामायण में जब हम भगवान रामचन्द्र के प्रतिज्ञा-पालन, सत्यव्रताचरण और पितृभक्ति आदि की छटा देखते हैं; भरत के सर्वोच्च स्वार्थत्याग और सर्वांगपूर्ण सात्विक चरित का अलौकिक तेज देखते हैं; तब हमारा हृदय श्रद्धा, भक्ति और आश्चर्य से स्तम्भित हो जाता है। इसके विरुद्ध जब हम रावण की दुष्टता और उद्दंडता का चित्र देखते हैं तब समझते हैं कि दुष्टता क्या चीज है और उसका प्रभाव और परिणाम सृष्टि में क्या है। अब देखिए कविता

द्वारा कितना उपकार होता है। उसका काम भक्ति, श्रद्धा, दया, करुणा, क्रोध और प्रेम आदि मनोवेगों को तीव्र और परिमार्जित करना तथा सृष्टि की वस्तुओं और व्यापारों से उनका उचित और उपयुक्त सम्बन्ध स्थिर करना है।

उच्च आदर्श

कविता मनुष्य के हृदय को उन्नत करती है और ऐसे ऐसे उत्कृष्ट और अलौकिक पदार्थों का परिचय कराती है जिनके द्वारा यह लोक देवलोक और मनुष्य देवता हो सकता है।

कविता की आवश्यकता

कविता इतनी प्रयोजनीय वस्तु है कि संसार की सभ्य और असभ्य सभी जातियों में पाई जाती है। चाहे इतिहास न हो, विज्ञान न हो, दर्शन न हो, पर कविता अवश्य ही होगी। इसका क्या कारण है ? बात यह है कि संसार के अनेक कृत्रिम व्यापारों में फँसे रहने से मनुष्य की मनुष्यता जाती रहने का डर रहता है। अतएव मानुषी प्रकृति को जागृत रखने के लिए ईश्वर ने कविता रूपी औषधि बनाई है। कविता यही प्रयत्न करती है कि प्रकृति से मनुष्य की दृष्टि फिरने न पावे। जानवरों को इनकी ज़रूरत नहीं। हमने किसी उपन्यास में पढ़ा है कि एक चिड़चिड़ा बनिया अपनी सुशीला और परम रूपवती पुत्रवधू को अकारण निकालने पर उद्यत हुआ। जब उसके पुत्र ने अपनी स्त्री की ओर से कुछ कहा तब वह चिढ़कर बोला, "चल चल! भोली सूरत पर मरा जाता है" आह! यह कैसा अमानुषिक बर्ताव है! सांसारिक बन्धनों में फँसकर मनुष्य का हृदय कभी-कभी इतना कठोर और कुंठित हो जाता है कि उसकी चेतनता उसका मानुषभाव-कम हो जाता है। न उसे किसी का रूप-माधुर्य्य देखकर उस पर उपकार करने की इच्छा होती है; न उसे किसी दीन दुखिया की पीड़ा देखकर करुणा आती है; न उसे अपमानसूचक बात सुनकर क्रोध आता है। ऐसे लोगों से यदि किसी लोमहर्षण अत्याचार की बात कही जाय तो, मनुष्य के स्वाभाविक धर्मानुसार, वे क्रोध या घृणा प्रकट करने के स्थान पर रूखाई के साथ यही कहेंगे "जाने दो; हमसे क्या मतलब; चलो अपना काम देखो।" याद रखिए, यह महा भयानक मानसिक रोग है। इससे मनुष्य जीते-जी मृतवत् हो जाता है। कविता इसी मरज की दवा है।

सृष्टि-सौन्दर्य्य

कविता सृष्टि-सौन्दर्य्य का अनुभव कराती है और मनुष्य को सुन्दर वस्तुओं में अनुरक्त करती है। जो कविता रमणी के रूप-माधुर्य्य से हमें आह्लादित करती है वही उसके अन्तःकरण की सुन्दरता और कोमलता आदि की मनोहारिणी छाया दिखा कर मुग्ध

भी करती है। जिस बंकिम की लेखनी ने गढ़ के ऊपर बैठी हुई राजकुमारी तिलोत्तमा के अंग प्रत्यंग की शोभा को अंकित किया है उसी ने आयशा के अन्तःकरण की अपूर्व सात्त्विकी ज्योति दिखा कर पाठकों को चमत्कृत किया है। भौतिक सौन्दर्य्य के अवलोकन से हमारी आत्मा को जिस प्रकार सन्तोष होता है उसी प्रकार मानसिक सौन्दर्य्य से भी। जिस प्रकार वन, पर्वत, नदी, झरना आदि से हम प्रफुल्लित होते हैं उसी प्रकार मानवी अन्तःकरण में प्रेम, दया, करुणा, भक्ति आदि मनोवेगों के अनुभव से हम आनन्दित होते हैं। और यदि इन दोनों पार्थिव और अपार्थिव सौन्दर्य्य का कहीं संयोग देख पड़े तो फिर क्या कहना है। यदि किसी अत्यन्त सुन्दर पुरुष या अत्यन्त रूपवती स्त्री के रूप मात्र का वर्णन करके हम छोड़ दें तो चित्र अपूर्ण होगा; किन्तु यदि हम साथ ही उसके हृदय को दृढ़ता और सत्यप्रियता अथवा कोमलता और स्नेह-शीलता आदि की भी झलक दिखावें तो उस वर्णन में सजीवता आ जायगी। महाकवियों ने प्रायः इन दोनों सौन्दर्य्यों का मेल कराया है जो किसी को अस्वाभाविक प्रतीत होता है। किन्तु संसार में प्रायः देखा जाता है कि रूपवान् जन सुशील और कोमल होते हैं और रूपहीन जन क्रूर और दुःशील। इसके सिवा मनुष्य के आन्तरिक भावों का प्रतिबिम्ब भी चेहरे पर पड़कर उसे रुचिर या अरुचिर बना देता है। पार्थिव सौन्दर्य्य का अनुभव करके हम मानसिक अर्थात् अपार्थिव सौन्दर्य्य की ओर आकर्षित होते हैं। अतएव पार्थिव सौन्दर्य्य को दिखलाना कवि का प्रधान कर्म्म है।

कविता का दुरुपयोग

जो लोग स्वार्थवश व्यर्थ की प्रशंसा और खुशामद करके वाणी का दुरुपयोग करते हैं वे सरस्वती का गला घोंटते हैं। ऐसी तुच्छ वृत्ति वालों को कविता न करना चाहिए। कविता उच्चाशय, उदार और निःस्वार्थ हृदय की उपज है। सत्कवि मनुष्य मात्र के हृदय में सौन्दर्य्य का प्रवाह बहाने वाला है। उसकी दृष्टि में राजा और रंक सब समान हैं। वह उन्हें मनुष्य के सिवा और कुछ नहीं समझता। जिस प्रकार महल में रहने वाले बादशाह के वास्तविक सद्गुणों की वह प्रशंसा करता है उसी प्रकार झोंपड़े में रहने वाले किसान के सद्गुणों की भी। श्रीमानों के शुभागमन की कविता लिखना, और बात बात पर उन्हें बधाई देना सत्कवि का काम नहीं। हाँ जिसने निःस्वार्थ होकर और कष्ट सहकर देश और समाज की सेवा की है, दूसरों का हित-साधन किया है, धर्म का पालन किया है, ऐसे परोपकारी महात्मा का गुणगान करना उसका कर्त्तव्य है।

कविता की भाषा

मनुष्य स्वभाव ही से प्राचीन पुरुषों और वस्तुओं को श्रद्धा की दृष्टि से देखता है। पुराने शब्द हम लोगों को मालूम ही रहते हैं। इसी से कविता में कुछ न कुछ पुराने

शब्द आ ही जाते हैं। उनका थोड़ा बहुत बना रहना अच्छा भी है। वे आधुनिक और पुरातन कविता के बीच सम्बन्ध-सूत्र का काम देते हैं। हिन्दी में 'राजते हैं', 'गहते हैं', 'लहते हैं', 'सरसाते हैं' आदि प्रयोगों का खड़ी बोली तक की कविता में बना रहना कोई अचम्भे की बात नहीं। अँगरेजी-कविता में भी ऐसे शब्दों का अभाव नहीं जिनका व्यवहार बहुत पुराने जमाने से कविता में होता आया है।'Main', 'Swain' आदि शब्द ऐसे ही हैं। अँगरेजी-कविता समझने के लिए इनसे परिचित होना पड़ता है। पर ऐसे शब्द बहुत थोड़े आने चाहिए; वे भी ऐसे जो भद्दे और गँवारू न हों। खड़ी बोली में संयुक्त क्रियाएँ बहुत लम्बी होती हैं; जैसे–"लाभ करते है", "प्रकाश करते हैं" आदि। कविता में इनके स्थान पर "लहते हैं", "प्रकाशते हैं," कर देने से कोई हानि नहीं, पर यह बात इस तरह के सभी शब्दों के लिए ठीक नहीं हो सकती।

कविता में कही गई बात हृत्पटल पर अधिक स्थायी होती है। अतः कविता में प्रत्यक्ष और स्वभावसिद्ध व्यापार-सूचक शब्दों की संख्या अधिक रहती है। समय बीता जाता है, कहने की अपेक्षा, समय भागा जाता है, कहना अधिक काव्य-सम्मत है। किसी काम से हाथ खींचना, किसी का रुपया खा जाना, कोई बात पी जाना, दिन ढलना या डूबना, मन मारना, मन छूना, शोभा बरसना आदि ऐसे ही कवि-समय-सिद्ध वाक्य हैं जो बोल-चाल में आ गए हैं। नीचे कुछ पद्य उदाहरण-स्वरूप दिए जाते हैं–

(क) धन्य भूमि वन पंथ पहारा।
जहँ जँह नाथ **पाँव तुम धारा॥** **–तुलसीदास**

(ख) मनहूँ उमगि अँग अँग छवि **छलकै॥** **–तुलसीदास, गीतावली**

(ग) चूनरि चारु **चुई सी परै** चटकीली हरी अँगिया ललचावे।

(घ) वीथिन में ब्रज में नवेलिन में बेलिन में बनन में बागन में **बगरोवसंत** है।
–पद्माकर

(ङ) रंग रंग रागन पै, संग ही परागन पै, वृन्दावन बागन पै वसत **बरसो** परै।

बहुत से ऐसे शब्द हैं जिनसे एक ही का नहीं किन्तु कई क्रियाओं का एक ही साथ बोध होता है। ऐसे शब्दों को हम जटिल शब्द कह सकते हैं। ऐसे शब्द वैज्ञानिक विषयों में अधिक आते हैं। उनमें से कुछ शब्द तो एक विलक्षण ही अर्थ देते हैं और पारिभाषिक कहलाते हैं। विज्ञानवेत्ता को किसी बात की सत्यता या असत्यता के निर्णय की जल्दी रहती है। इससे वह कई बातों को एक मानकर अपना काम चलाता है; प्रत्येक काम को पृथक् पृथक् दृष्टि से नहीं देखता। यही कारण है जो वह ऐसे शब्द अधिक व्यवहार करता है जिनसे कई क्रियाओं से घटित एक ही भाव निकलता है। परन्तु कविता प्राकृतिक व्यापारों को कल्पना द्वारा प्रत्यक्ष कराती है–मानव हृदय पर अंकित करती है। अतएव पूर्वोक्त प्रकार के शब्द अधिक

लाने से कविता के प्रसाद गुण की हानि होती है और व्यक्त किये गये भाव हृदय पर अच्छी तरह अंकित नहीं होते। बात यह है कि मानवी कल्पना इतनी प्रशस्त नहीं कि एक दो बार में कई व्यापार उसके द्वारा हृदय पर स्पष्ट रीति से खचित हो सकें। यदि कोई ऐसा शब्द प्रयोग में लाया गया जो कई संयुक्त व्यापारों का बोधक है तो सम्भव है, कल्पना-शक्ति किसी एक व्यापार को भी न ग्रहण कर सके; अथवा तदन्तर्गत कोई ऐसा व्यापार प्रगट करे जो मानवी प्रवृत्ति का उद्दीपक न हो। तात्पर्य्य यह है कि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग, तथा ऐसे शब्दों का समावेश जो कई संयुक्त व्यापारों की सूचना देते हैं, कविता में वांछित नहीं।

किसी ने 'प्रेम फ़ौजदारी' नाम की शृंगार-रस-विशिष्ट एक छोटी-सी कविता अदालती कार्रवाइयों पर घटा कर लिखी है और उसे 'एकतरफा डिगरी' आदि क़ानूनी शब्दों से भर दिया है। यह उचित नहीं। कविता का उद्देश्य इसके विपरीत व्यवहार से सिद्ध होता है। जब कोई कवि किसी दार्शनिक सिद्धान्त को अधिक प्रभावोत्पादक बना कर उसे लोगों के चित्त पर अंकित करना चाहता है तब वह जटिल और पारिभाषिक शब्दों को निकाल कर उसे अधिक प्रत्यक्ष और मर्मस्पर्शी रूप देता है। भर्तृहरि और गोस्वामी तुलसीदास आदि इस बात में बहुत निपुण थे। भर्तृहरि का एक श्लोक लीजिए—

तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं स्वादु सुरभि
क्षुधार्त्तः संछालीन्कवलयति शाकादिवलितान्
प्रदीप्ते रागाग्नौ सुदृढ़तरमाश्लिष्यति वधू
प्रतीकारौ व्याधैः सुखमिति विपर्यस्यति जनः॥

भावार्थ—प्यासे होने पर स्वादिष्ट और सुगन्धित जल-पान, भूखे होने पर शाकादि के साथ चावलों का भोजन, और हृदय में अनुरागाग्नि के प्रज्वलित होने पर प्रियात्मा का आलिंगन करने वाले मनुष्य विलक्षण मूर्ख हैं। क्योंकि प्यास आदि व्याधियों की शान्ति के लिए जल-पान आदि प्रतीकारों ही को वे सुख समझते हैं। वे नहीं जानते कि उनका यह उपचार बिलकुल ही उलटा है।

देखिए, यहाँ पर कवि ने कैसी विलक्षण उक्ति के द्वारा मनुष्य की सुख-दुःख विषयक बुद्धि की भ्रामिकता दिखलाई है।

अँगरेजी में भी पोप कवि इस विषय में बहुत सिद्धहस्त था। नीचे उसका एक साधारण सिद्धान्त लिखा जाता है—

"भविष्यत् में क्या होने वाला है, इस बात की अनभिज्ञता इसलिए दी गई है जिसमें सब लोग, आने वाले अनिष्ट की शंका से, उस अनिष्ट घटना के पूर्ववर्त्ती दिनों के सुख को भी न खो बैठें।"

इसी बात को पोप कवि इस तरह कहता है—

The lamb thyariot dooms to bleed to day
Had he thy reason would he skip and play ?
Pleased to the last he crops the flow'ry food
And licks the hand just raised to shed his blood.
The blindness to the future kindly given. —Essay on man.

भावार्थ–उस भेड़ के बच्चे को, जिसका तू आज रक्त बहाना चाहता है, यदि तेरा ही सा ज्ञान होता तो क्या वह उछलता कूदता फिरता? अन्त तक वह आनन्दपूर्वक चारा खाता है और उस हाथ का चाटता है जो उसका रक्त बहाने के लिए उठाया गया है।...भविष्यत् का अज्ञान हमें (ईश्वर) ने बड़ी कृपा करके दिया है।

'अनिष्ट' शब्द बहुत व्यापक और संदिग्ध है; अतः कवि मृत्यु ही को सबसे अधिक अनिष्ट वस्तु समझता है। मृत्यु की आशंका से प्राणिमात्र का विचलित होना स्वाभाविक है। कवि दिखलाता है कि परम अज्ञानी पशु भी मृत्यु सिर पर नाचते रहते भी सुखी रहता है। यहाँ तक कि वह प्रहारकर्त्ता के हाथ को चाटता जाता है। यह एक अद्भुत और मर्मस्पर्शी दृश्य है। पूर्वोक्त सिद्धान्त को यहाँ काव्य का रूप प्राप्त हुआ है।

एक और साधारण सा उदाहरण लीजिए। "तुमने उससे विवाह किया" यह एक बहुत ही साधारण वाक्य है। पर "तुमने उसका हाथ पकड़ा" यह एक विशेष अर्थ-गर्भित और काव्योचित वाक्य है। 'विवाह' शब्द के अन्तर्गत बहुत से विधान हैं जिन सब पर कोई एक दफ़े दृष्टि नहीं डाल सकता। अतः उससे कोई बात स्पष्ट रूप से कल्पना में नहीं आती। इस कारण उन विधानों में से सबसे प्रधान और स्वाभाविक बात जो हाथ पकड़ना है उसे चुनकर कवि अपने अर्थ को मनुष्य के हृत्पटल पर रेखांकित करता है।

श्रुति सुखदता

कविता की बोली और साधारण बोली में बड़ा अन्तर है। "शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे" और "नीरसतरुरिह विलसति पुरतः" वाली बात हमारी पंडित मंडली में बहुत दिन से चली आती है। भाव-सौन्दर्य और नाद-सौन्दर्य दोनों के संयोग से कविता की सृष्टि होती है। श्रुति-कटु मानकर कुछ अक्षरों का परित्याग, वृत्त-विधान और अन्त्यानुप्रास का बन्धन, इसी नाद-सौन्दर्य के निबाहने के लिए हैं। बिना इसके कविता करना अथवा केवल इसी को सर्वस्व मानकर कविता करने की कोशिश करना, निष्फल है। नाद-सौन्दर्य के साथ भाव-सौन्दर्य भी होना चाहिये। हिन्दी के कुछ पुराने कवि इसी नाद-सौन्दर्य के इतना पीछे पड़ गए थे कि उनकी अधिकांश कविता विकृत और प्रायः भावशून्य हो गई है। यह देखकर आजकल के कुछ समालोचक इतना चिढ़ गए हैं कि ऐसी कविता को एकदम निकाल बाहर करना

चाहते हैं। किसी को अन्त्यानुप्रास का बन्धन खलता है; कोई गणात्मक छन्दों को देखकर नाक भौं चढ़ाता है; कोई फारसी के मुखम्मस और रुबाई की ओर झुकता है। हमारी छन्दोरचना तक की कोई कोई अवहेलना करते हैं—वह छन्दोरचना जिसके माधुर्य को भूमंडल के किसी देश का छन्द शास्त्र नहीं पा सकता और जो हमारी श्रुति-सुखदता के स्वाभाविक प्रेम के सर्वथा अनुकूल है। जो लोग अन्त्यानुप्रास की बिलकुल आवश्यकता नहीं समझते, उनसे मुझे यही पूछना है कि अन्त्यानुप्रास ही पर इतना कोप क्यों? छन्द (Metre) और तुक (Rhyme) दोनों ही नाद-सौन्दर्य के उद्देश से रक्खे गए हैं। फिर क्यों एक निकाला जाय, दूसरा नहीं? यदि कहा जाय कि सिर्फ छन्द ही से उस उद्देश की सिद्धि हो जाती है तो यह जानने की इच्छा बनी रहती है कि क्या कविता के लिए नाद-सौन्दर्य की कोई सीमा नियत है। यदि किसी कविता में भाव-सौन्दर्य के साथ नाद-सौन्दर्य भी वर्तमान हो तो वह अधिक ओजस्विनी और चिरस्थायिनी होगी। नाद-सौन्दर्य कविता के स्थायित्व का वर्द्धक है, उसके बल से कविता ग्रंथाश्रय-विहीन होने पर भी किसी न किसी अंश में लोगों की जिह्वा पर बनी रहती है। अतएव इस नाद-सौन्दर्य को केवल बन्धन ही न समझना चाहिए। यह कविता की आत्मा नहीं तो शरीर अवश्य है।

नाद-सौन्दर्य सम्बन्धी नियमों की गणित-क्रिया के समान काम में लाने से हमारी कविता में कहीं-कहीं बड़ी विलक्षणता आ गई है। श्रुति-कटु वर्णों का निर्देश इसलिए नहीं किया गया कि जितने अक्षर श्रवण-कटु हैं, वे एकदम त्याज्य समझें जायँ और उनकी जगह पर श्रवण-सुखद वर्ण ढूँढ़-ढूँढ़कर रक्खे जायँ। इस नियम-निर्देश का मतलब सिर्फ इतना ही है कि यदि मधुराक्षर वाले शब्द मिल सकें और बिना तोड़ मरोड़ के प्रसंगानुसार खप सकें तो उनके स्थान पर श्रुति-कर्कश अक्षरवाले शब्द न लाए जायँ। संस्कृत से सम्बन्ध रखनेवाली भाषाओं में इस नाद-सौन्दर्य का निर्वाह अधिकता से हो सकता है। अतः अँगरेजी आदि अन्य भाषाओं की देखा-देखी जिनमें इसके लिए कम जगह है, अपनी कविता को भी हमें इस विशेषता से वंचित कर देना बुद्धिमानी का काम नहीं। पर, याद रहे, सिर्फ श्रुति-मधुर अक्षरों के पीछे दीवाने रहना और कविता को अन्यान्य गुणों से भूषित न करना सबसे बड़ा दोष है। एक और विशेषता हमारी कविता में है। वह यह है कि कहीं कहीं व्यक्तियों के नामों के स्थान पर उनके रूप, गुण या कार्यबोधक शब्दों का व्यवहार किया जाता है। पद्य के नपे हुए चरणों में खपाने के लिए शब्दों की संख्या का बढ़ाना ही इसका प्रयोजन जान पड़ता है; पर विचार करने से इसका इससे भी गुरुतर उद्देश प्रगट होता है। सच पूछिए तो यह बात कृत्रिमता बचाने के लिए की जाती है। मनुष्यों के नाम यथार्थ में कृत्रिम संकेत हैं जिनसे कविता की परिपोषकता नहीं होती। अतएव कवि मनुष्यों के नामों के स्थान पर कभी-कभी उनके ऐसे रूप, गुण या व्यापार की ओर इशारा करता है जो स्वाभाविक होने के कारण सुनने वाले के

ध्यान में अधिक आ सकते हैं और प्रसंग विशेष के अनुकूल होने से वर्णन की यथार्थता को बढ़ाते हैं। गिरिधर, मुरारि, त्रिपुरारि, दीनबन्धु, चक्रपाणि, दशमुख आदि शब्द ऐसे ही हैं। ऐसे शब्दों को चुनते समय प्रसंग या अवसर का ध्यान रखना चाहिए। जैसे यदि कोई मनुष्य किसी दुर्धर्ष अत्याचारी के हाथ से छुटकारा पाना चाहता हो तो उसके लिए—'हे गोपिकारमण!' हे वृन्दावनविहारी! आदि कहकर कृष्ण को पुकारने की अपेक्षा 'हे मुरारि!' 'हे कंसनिकंदन!' आदि सम्बोधनों से पुकारना अधिक उपयुक्त है। क्योंकि श्रीकृष्ण के द्वारा मुर और कंस आदि दुष्टों का मारा जाना देख कर उसे उनसे अपनी रक्षा की आशा हुई है, न कि उनका वृन्दावन में गोपियों के साथ विहार करना देखकर। इसी तरह किसी आपत्ति से उद्धार पाने के लिए कृष्ण को 'मुरलीधर' कह कर पुकारने की अपेक्षा 'गिरिधर' कहना अधिक अर्थ-संगत है।

अलंकार

कविता में भाषा को खूब ज़ोरदार बनाना पड़ता है—उसकी सब शक्तियों से काम लेना पड़ता है! कल्पना को चटकीली करने और रस-परिपाक के लिए कभी-कभी किसी वस्तु का गुण या आकार बहुत बढ़ाकर दिखाना पड़ता है और कभी घटाकर। कल्पना-तरंग को ऊँचा करने के लिए कभी कभी किसी वस्तु के रूप और गुण को उसके समान रूप और धर्म्म वाली और और वस्तुओं को सामने लाकर रखना पड़ता है। इस तरह की भिन्न भिन्न प्रकार की वर्णन-प्रणालियों का नाम अलंकार है। इनका उपयोग काव्य में प्रसंगानुसार विशेष रूप से होता है। इनसे वस्तु-वर्णन में बहुत सहायता मिलती है। कहीं कहीं तो इनके बिना कविता का काम ही नहीं चल सकता। किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि अलंकार ही कविता है। ये अलंकार बोलचाल में भी रोज आते रहते हैं। जैसे, लोग कहते हैं 'जिसने शालग्राम को भून डाला उसे भँटा भूँनते क्या लगता है? 'इसमें काव्यार्थापत्ति अलंकार है। 'क्या हमसे वैर करके तुम यहाँ टिक सकते हो?' इसमें वक्रोक्ति है।

कई वर्ष हुए अलंकारप्रकाश' नामक पुस्तक के कर्त्ता का एक लेख 'सरस्वती' में निकला था। उसका नाम था—'कवि और काव्य'। उसमें उन्होंने अलंकारों की प्रधानता स्थापित करते हुए और उन्हें काव्य का सर्वस्व मानते हुए लिखा था कि ''आजकल के बहुत से विद्वानों का मत विदेशी भाषा के प्रभाव से काव्य विषय में कुछ परिवर्तित देख पड़ता है। वे महाशय सर्वलोकमान्य साहित्य-ग्रन्थों में विवेचन किए हुए व्यंग्य-अलंकार-युक्त काव्य को उत्कृष्ट न समझ केवल सृष्टि-वैचित्र्य-वर्णन में काव्यत्व समझते हैं। यदि ऐसा है तो इसमें आश्चर्य ही क्या? रस और भाव ही कविता के प्राण हैं। पुराने विद्वान् रसात्मक कविता ही को कविता कहते थे। रसों अथवा मनोविकारों के यथेष्ट परिपाक ही की ओर उनका ध्यान अधिक था।

अलंकारों को वे आवश्यकतानुसार वर्णित विषय को विशेषतया हृदयंगम करने के लिए ही लाते थे। यह नहीं समझा जाता था कि अलंकार के बिना कविता हो ही नहीं सकती। स्वयं काव्य-प्रकाश के कर्त्ता मम्मटाचार्य्य ने बिना अलंकार के काव्य का होना माना है और उदाहरण भी दिया है—"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणा-बलनलंकृती पुनः क्वापि"। किन्तु पीछे से इन अलंकारों ही में काव्यत्व मान लेने से कविता अभ्यासगम्य और सुगम प्रतीत होने लगी। इसी से लोग उनकी ओर अधिक झुक पड़े। धीरे-धीरे इन अलंकारों के लिए आग्रह बढ़ने लगा। यहाँ तक कि चन्द्रालोककार ने लिख डाला कि—

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥

अर्थात्—जो अलंकार-रहित शब्द और अर्थ को काव्य मानता है वह अग्नि को उष्णता रहित क्यों नहीं मानता? परन्तु यथार्थ बात कब तक छिपाई जा सकती है। इतने दिनों पीछे समय ने फिर पलटा खाया। विचारशील लोगों पर यह बात प्रगट हो गई कि रसात्मक वाक्यों ही का नाम कविता है और रस ही कविता की आत्मा है।

इस विषय में पूर्वोक्त ग्रंथकार महोदय को एक बात कहनी थी; पर उन्होंने नहीं कही। वे कह सकते थे कि सृष्टि-वैचित्र्य-वर्णन भी तो स्वभावोक्ति अलंकार है। इसका उत्तर यह है कि स्वभावोक्ति को अलंकार मानना उचित नहीं। वह अलंकारों की श्रेणी में आ ही नहीं सकती। वर्णन करने की प्रणाली का नाम अलंकार है। जिस वस्तु को हम चाहें उस प्रणाली के अन्तर्गत करके उसका वर्णन कर सकते हैं। किसी वस्तु-विशेष से उसका सम्बन्ध नहीं। यह बात अलंकारों की परीक्षा से स्पष्ट हो जायगी। स्वभावोक्ति में वर्ण्य वस्तु का निर्देश है; पर वस्तु-निर्वाचन अलंकार का काम नहीं।

इससे स्वभावोक्ति को अलंकार मानना ठीक नहीं। उसे अलंकारों में गिनने वालों ने बहुत सिर खपाया है; पर उसका निर्दोष लक्षण नहीं कर सके। काव्य-प्रकाश के कारिकाकार ने उसका लक्षण लिखा है—

स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्।

अर्थात्—जिसमें बालकादिकों की निज की क्रिया या रूप का वर्णन हो वह स्वभावोक्ति है। बालकादिक कहने से किसी वस्तुविशेष का बोध तो होता नहीं। इससे यही समझा जा सकता है कि सृष्टि की वस्तुओं के व्यापार और रूप का वर्णन स्वभावोक्ति है। इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष के कारण अलंकारता नहीं आती। अलंकारसर्वस्व के कर्त्ता राजानक रुय्यक ने इसका यह लक्षण लिखा है—

सूक्ष्मवस्तु स्वभावयथावद्वर्णनं स्वभावोक्तिः।

अर्थात्—वस्तु के सूक्ष्म स्वभाव का ठीक-ठीक वर्णन करना स्वभावोक्ति है।

आचार्य दंडी ने अवस्था की योजना करके यह लक्षण लिखा है—

नानावस्थं पदार्थाना रूपं साक्षाद्विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा॥

बात यह है कि स्वभावोक्ति अलंकार के अंतर्गत आ ही नहीं सकती, क्योंकि वह वर्णन की प्रणाली नहीं, किन्तु वर्ण्य वस्तु या विषय है।

जिस प्रकार एक कुरूपा स्त्री अलंकार धारण करने से सुन्दर नहीं हो सकती, उसी प्रकार अस्वाभाविक भद्दे और क्षुद्र भावों को अलंकार-स्थापना सुन्दर और मनोहर नहीं बना सकती। महाराज भोज ने भी अलंकार को 'अलमर्थमलंकर्त्तुः' अर्थात् सुन्दर सुन्दर अर्थ को शोभित करनेवाला ही कहा है। इस कथन से अलंकार आने के पहले ही कविता की सुन्दरता सिद्ध है। अतः उसे अलंकारों में ढूँढ़ना भूल है। अलंकारों से युक्त बहुत से ऐसे काव्योदाहरण दिये जा सकते हैं जिनको अलंकार के प्रेमी लोग भी भद्दा और नीरस कहने में संकोच न करेंगे। इसी तरह बहुत से ऐसे उदाहरण भी दिए जा सकते हैं जिनमें एक भी अलंकार नहीं, परन्तु उनके सौन्दर्य और मनोरंजकत्व को सब स्वीकार करेंगे। जिन वाक्यों से मनुष्य के चित्त में रस-संचार न हो—उसकी मानसिक स्थिति में कोई परिवर्तन न हो—वे कदापि काव्य नहीं। अलंकार शास्त्र की कुछ बातें ऐसी हैं जो केवल शब्द चातुरी मात्र हैं। उसी शब्दकौशल के कारण वे चित्त को चमत्कृत करती हैं। उनसे रस-संचार नहीं होता। वे कान को चाहे चमत्कृत करें, पर मानव-हृदय से उनका विशेष सम्बन्ध नहीं। उनका चमत्कार शिल्पकारों की कारीगरी के समान सिर्फ शिल्प-प्रदर्शनी में रखने ही योग्य होता है। हर्ष की बात है कि एक ऐसी रचना अपने उचित स्थान पर पहुँच गई। सुनते हैं कि नागपुर की शिल्प-प्रदर्शनी में चित्र-काव्य के बहुत अच्छे नमूने आये थे।

अलंकार है क्या वस्तु ? विद्वानों ने काव्यों के सुन्दर-सुन्दर स्थलों को पहले चुना। फिर उनकी वर्णन-शैली के सौन्दर्य का कारण ढूँढ़ा। तब वर्णन-वैचित्र्य के अनुसार भिन्न-भिन्न लक्षण बनाए। जैसे 'विकल्प' अलंकार को पहले पहल राजानक रुय्यक ने ही निकाला है। अब कौन कह सकता है कि काव्यों के जितने सुन्दर-सुन्दर स्थल थे सब ढूँढ़ डाले गए, अथवा जो सुन्दर समझे गए—जिन्हें लक्ष्य करके लक्षण बने—उनकी सुन्दरता का कारण कही हुई वर्णन प्रणाली ही थी। अलंकारों के लक्षण बनने तक काव्यों का बनना नहीं रुका रहा। आदि-कवि महर्षि वाल्मीकि ने—"मां निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीःसमाः" का उच्चारण किसी अलंकार को ध्यान में रखकर नहीं किया। अलंकार लक्षणों के बनने के बहुत पहले कविता होती थी, और अच्छी होती थी। अथवा यों कहना चाहिए कि जब से इन अलंकारों को हठात् लाने का उद्योग होने लगा तबसे कविता कुछ बिगड़ चली।

(सरस्वती, अप्रैल 1909)
[चिन्तामणि भाग-3]

कविता क्या है

कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है। राग से यहां अभिप्राय प्रवृत्ति और निवृत्ति के मूल में रहनेवाली अंतःकरणवृत्ति से है। जिस प्रकार निश्चय के लिए प्रमाण की आवश्यकता होती है उसी प्रकार प्रवृत्ति या निवृत्ति के लिए भी कुछ विषयों का वाह्य या मानस प्रत्यक्ष अपेक्षित होता है। यही हमारे रागों या मनोवेगों के—जिन्हें साहित्य में भाव कहते हैं—विषय हैं। कविता उन मूल और आदिम मनोवृत्तियों का व्यवसाय है जो सजीव सृष्टि के बीच सुखदुख की अनुभूति से विरूप परिणाम द्वारा अत्यंत प्राचीन कल्प में प्रकट हुईं और जिनके सूत्र से शेष सृष्टि के साथ तादात्म्य का अनुभव मनुष्य जाति आदि काल से करती चली आई है। वन, पर्वत, नदी, नाले, निर्झर, कद्दार, पटपर, चट्टान, वृक्ष, लता, झाड़, पशु, पक्षी, अनंत आकाश, नक्षत्र इत्यादि तो मनुष्य के आदिम सहचर हैं ही; पर खेत, ढुर्री, हल, झोंपड़ें, चौपाए आदि भी कुछ कम पुराने नहीं है। इनके द्वारा प्राप्त रागात्मक संस्कार मानव अंतःकरण में दीर्घ परम्परा के कारण मूल रूप से बद्ध हैं अतः इनके जैसा पक्का रसपरिपाक सम्भव है वैसा कल, कारखाने, गोदाम, स्टेशन, एंजिन, हवाई जहाज इत्यादि द्वारा नहीं।

रागों या वेगस्वरूप मनोवृत्तियों का सृष्टि के साथ उचित सामन्जस्य स्थापित करके कविता मानव जीवन के व्यापकत्व की अनुभूति उत्पन्न करने का प्रयास करती है। यदि इन वृत्तियों को समेटकर मनुष्य अपने अंतःकरण के मूल रागात्मक अंश को सृष्टि से किनारे कर ले तो फिर उसके जड़ हो जाने में क्या संदेह है? यदि वह लहलहाते हुए खेतों और जंगलों, हरी घास के बीच घूम घूमकर बहते हुए नालों, काली चट्टानों पर चाँदी की तरह ढलते हुए झरनों, मंजरियों से लदी हुई अमराइयों, पटपर के बीच खड़े झाड़ों को देख क्षण भर लीन न हुआ, यदि कलरव करते हुए पक्षियों के आनन्दोत्सव में उसने योग न दिया, यदि खिले हुए फूलों को देख वह न खिला, यदि सुन्दर रूप देख पवित्र भाव से मुग्ध न हुआ, यदि

दीन-दुखी का आर्तनाद सुन न पसीजा, यदि अनाथों और अबलाओं पर अत्याचार होते देख क्रोध से न तिलमिलाया, यदि हास्य की अनूठी उक्ति पर न हँसा तो उसके जीवन में रह क्या गया? मनुष्य के व्यापार का क्षेत्र ज्यों-ज्यों जटिल और सघन होता गया त्यों-त्यों सृष्टि के साथ उसके रागात्मक सम्बन्ध के विच्छेद की आशंका बढ़ती गई। ऐसी स्थिति में बड़े-बड़े कवि ही उसे सँभालते आए हैं।

जो कुछ अब तक कहा गया उससे यह स्पष्ट है कि सृष्टि के नाना रूपों के साथ मनुष्य की भीतरी रागात्मिका प्रकृति का समान्जस्य ही कविता का लक्ष्य है। वह जिस प्रकार प्रेम, क्रोध, करुणा, घृणा आदि मनोवेगों या भावों पर सान चढ़ाकर उन्हें तीक्ष्ण करती है उसी प्रकार जगत के नाना रूपों और व्यापारों के साथ उनका उचित सम्बन्ध स्थापित करने का भी उद्योग करती है। इस बात का निश्चय हो जाने पर वे सब मतभेद दूर हो जाते हैं जो काव्य के नाना लक्षणों और विशेषतः रस आदि के भेदप्रतिबंधों के कारण चल पड़े हैं। ध्वनि सम्प्रदायवालों का नैयायिकों से उलझना, आलकारिकों का रसप्रतिपादकों से झगड़ना एक पतली गली में बहुत से लोगों का धक्कमधक्का करने के समान है। "वाक्यं रसात्मकं काव्यम" में कुछ लोगों को जो अव्याप्ति दिखाई पड़ा है वह नौ भेदों के कारण। रस के नौ भेदों की लीक के भीतर सृष्टि के बहुत थोड़े से अंश के वर्णन के लिए शृंगार के उद्दीपन विभाव के अंतर्गत उन्हें थोड़ी सी जगह दिखाई पड़ी। हमारे पिछले खेवे के हिन्दी कवियों ने तो उतने ही पर संतोष किया। रीति के अनुसार 'षट्ऋतु' के अन्तर्गत कुछ इनी-गिनी वस्तुओं को लेकर कभी नायिका को हर्ष से पुलकित करके और कभी विरह से विकल करके वे चलते हुए।

बात यह है कि आरंभ में कहे हुए काव्य के व्यापक आदर्श से जिस समय संस्कृत काव्य च्युत हो चुका था उस समय में हिन्दीकाव्य अग्रसर हुआ, इससे उसमें सृष्टिवर्णन का व्यापक समावेश न होने पाया। यह कमी केशव की लीक पीटनेवाले 'कविन्दो' में ही नहीं है, प्रत्युत उनसे पहले के वास्तविक काव्य, महाकाव्य, आख्यानकाव्य रचने वाले बड़े बड़े कवियों में भी पाई जाती है। वाल्मीकि के वर्षा और शरद् के विशद वर्णन को गो॰ तुलसीदास जी के वर्णनों से मिलाने से यह बात समझ में आ जायेगी। कहाँ—

क्वचित्प्रकाशं क्वचिदप्रकाशं
नभः प्रकीर्णाम्बु घनं विभाति।

और

व्यामिश्रितं सर्जकदंवपुष्पै
नवं जलं पर्वतधातुताम्रम्।
मयूरकेकाभिरनुप्रयातं

और कहा–

बरसहि जलद भूमि नियराए।
यथा नवहिं बुध विद्या पाए॥
दामिनि दमक रही घन माहीं।
खल की प्रीति यथा थिर नाहीं॥

कहाँ प्रकृति का वह सूक्ष्म निरीक्षण कहाँ उदाहरण की ओर यह टूटना। बाबाजी की दृष्टि 'यथा नवहिं बुध विद्या पाए' इस उपदेशात्मक वाक्य की ओर अधिक जान पड़ती है, वस्तुवर्णन की ओर कम। भारतेंदु का गंगा और यमुना-वर्णन अच्छा कहा जाता है पर वह भी परम्पराभुक्त और उपमाप्रधान है।

हिन्दीवाले चाहे ऐसे वर्णनों से अपना सन्तोष कर लें पर जिनकी आँखों के सामने कुमारसम्भव का हिमालयवर्णन और मेघदूत का नाना-प्रदेश-वर्णन नाच रहा था वे स्पष्ट देख सके कि प्रकृति का वह सूक्ष्म निरीक्षण शृंगार के उद्दीपन विभाव की दृष्टि से नहीं है; शुद्ध वर्णन के निमित्त, दृश्य अंकित करने के निमित्त है। उन्होंने रस की नौ नालियों के भीतर ऐसे शुद्ध वर्णनों के लिए कोई गड्ढा न पाकर 'रसात्मक वाक्यम्' से असन्तोष प्रकट किया। पर असन्तोष नाली बनानेवालों के प्रति होना चाहिए था, रस के सिद्धान्त के प्रति नहीं। प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में एक प्रकार का रस अवश्य है चाहे उसे अनिर्वचनीय कहिए, चाहे उसका कोई नाम रखिए, चाहे उसे किसी रस के भीतर कीजिए।

कार्य में प्रवृत्ति

यदि क्रोध, करुणा, दया, प्रेम आदि मनोभाव मनुष्य के अंतःकरण से निकल जाएं तो वह कुछ भी नहीं कर सकता। कविता हमारे मनोभावों को उच्छ्वसित करके हमारे जीवन में एक नया जीवन डाल देती है; हम सृष्टि के सौंदर्य को देख कर मोहित होने लगते हैं; कोई अनुचित या निष्ठुर काम हमें असह्य होने लगता है; हमें जान पड़ता है कि हमारा जीवन कई गुना अधिक होकर समस्त संसार में व्याप्त हो गया है। इस प्रकार कविता की प्रेरणा से कार्य में प्रवृत्ति बढ़ जाती है। केवल विवेचना के बल से हम किसी कार्य में बहुत कम प्रवृत्त होते हैं। केवल इस बात को जानकर ही हम किसी काम के करने या न करने के लिए प्रायः तैयार नहीं होते कि वह काम अच्छा है या बुरा, लाभदायक है या हानिकारक। जब उसको या उसके परिणाम की कोई ऐसी बात हमारे सामने उपस्थित हो जाती है जो हमें आहालाद, क्रोध, करुणा आदि से विचलित कर देती है तभी हम उस काम को करने या न करने के लिए प्रस्तुत होते हैं। केवल बुद्धि हमें काम करने के लिए उत्तेजित नहीं करती। काम करने के लिए मन ही हमको उत्साहित करता है। अतः कार्यप्रवृत्ति के लिए मन में वेग का आना आवश्यक है। यदि किसी जनसमुदाय

के बीच कहा जाए कि अमुक देश तुम्हारा इतना रुपया प्रतिवर्ष उठा ले जाता है; इसी से तुम्हारे यहाँ अकाल और दारिद्रय बना रहा है, तो सम्भव है कि उस पर कुछ प्रभाव न पड़े। पर यदि दारिद्रय और अकाल का भीषण दृश्य दिखाया जाए, पेट की ज्वाला से जले हुए प्राणियों के अस्थिपंजर कल्पना के सम्मुख रखे जायें और भूख से तड़पते हुए बालक के पास बैठी हुई माता का आर्त स्वर सुनाया जाये तो बहुत से लोग क्रोध और करुणा से विह्वल हो उठेंगे और इन बातों को दूर करने का यदि उपाय नहीं तो संकल्प अवश्य करेंगे। पहले प्रकार की बात कहना राजनीतिज्ञ का काम है और पिछले प्रकार का दृश्य दिखाना कवि का कर्त्तव्य है। मानवहृदय पर दोनों में से किसका अधिकार अधिक हो सकता है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं।

स्वभावसंशोधन

कविता के द्वारा हम संसार के सुख, दुःख, आनन्द और क्लेश आदि यथार्थ रूप से अनुभव करने में अभ्यस्त होते हैं जिससे हृदय की स्तब्धता हटती है और मनुष्यता आती है। किसी लोभी और कन्जूस दूकानदार को देखिए जिसने लोभ के वशीभूत होकर क्रोध, दया, भक्ति, आत्माभिमान आदि मनोविकारों को दबा दिया है और संसार के सब सुखों से मुँह मोड़ लिया है। अथवा किसी महाक्रूर राजकर्मचारी के पास जाइये जिसका हृदय पत्थर के समान जड़ और कठोर हो गया है, जिसे दूसरे के दुःख और क्लेश का अनुभव स्वप्न में भी नहीं होता। ऐसा करने से आपके मन में यह प्रश्न अवश्य उठेगा कि क्या इनकी भी कोई दवा है। ऐसे हृदयों को द्रवीभूत करके उन्हें अपने स्वाभाविक धर्म पर लाने का सामर्थ्य काव्य ही में है। कविता ही उस दूकानदार की प्रवृत्ति को भौतिक और आध्यात्मिक सृष्टि सौंदर्य की ओर ले जायेगी; कविता ही उनका ध्यान औरों की आवश्यकताओं की ओर आकर्षित करेगी और उनकी पूर्ति करने की इच्छा उत्पन्न करेगी; कविता ही उसे उचित अवसर पर क्रोध, दया, भक्ति, आत्माभिमान आदि सिखावेगी। इसी प्रकार उस राजकर्मचारी के सामने कविता ही उसके कार्यों का प्रतिबिंब खींचकर रखेगी और उनकी जघन्यता और भयंकरता का आभास दिखलावेगी तथा दैवी किंवा अन्य मनुष्यों द्वारा पहुँचाई हुई पीड़ा और क्लेश के सूक्ष्म से सूक्ष्म अंश को दिखलाकर उसे दया दिखाने का अभ्यास कराएगी।

मनोरंजन

प्रायः लोग कहा करते हैं कि काव्य का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन है। मेरी समझ में केवल मनोरंजन उसका साध्य नहीं है। कविता पढ़ते समय मनोरंजन अवश्य होता है, पर उसके उपरांत कुछ और भी होता है। मनोरंजन करना कविता का वह प्रधान गुण है जिससे वह मनुष्य के चित्त को अपना प्रभाव जमाने के लिए वश

में किए रहती है, उसे इधर उधर जाने नहीं देती। यही कारण है कि नीति और धर्म-सम्बन्धी उपदेश चित्त पर वैसा असर नहीं करते जैसा कि काव्य या उपन्यास से निकली हुई शिक्षा असर करती है। केवल यही कहकर कि 'परोपकार करो', 'सदैव सच बोलो', 'चोरी करना महापाप है' हम यह आशा कदापि नहीं कर सकते कि कोई अपकारी मनुष्य परोपकारी हो जाएगा, झूठा सच्चा हो जाएगा और चोर चोरी करना छोड़ देगा। क्योंकि पहले तो मनुष्य का चित्त ऐसी सूखी शिक्षाएँ ग्रहण करने के लिए उद्यत ही नहीं होता; दूसरे मानवजीवन पर उनका कोई प्रभाव अंकित न देखकर वह उनकी कुछ परवा नहीं करता। पर कविता अपनी मनोरंजक शक्ति के द्वारा पढ़ने या सुननेवाले का चित्त उचटने नहीं देती, उसके हृदय के मर्म स्थानों को स्पर्श करती है और सृष्टि में उक्त कर्मों के स्थान और सम्बन्ध की सूचना देकर मानवजीवन पर उनके प्रभाव और परिणाम विस्तृत रूप से अंकित करके दिखलाती है। इंद्रासन खाली कराने का वचन देकर, हूर और गिलमा का लालच दिखाकर, यमराज का स्मरण दिलाकर, दोजख की जलती हुई आग की धमकी देकर हम बहुधा किसी मनुष्य को सदाचारी और कर्त्तव्यपरायण नहीं बना सकते। बात यह है कि इस तरह का लालच या धमकी ऐसी है जिससे मनुष्य परिचित नहीं और जो इतनी दूर की है कि उसकी परवा करना मानवप्रकृति के विरुद्ध है। सदाचार में एक अलौकिक सौंदर्य और माधुर्य होता है। अतः लोगों को सदाचार की ओर आकर्षित करने का प्रकृत उपाय यही है कि उनको उसका सौंदर्य और माधुर्य दिखाकर लुभाया जाय, जिससे वे बिना आगा पीछा सोचे मोहित होकर उसकी ओर ढल पड़ें।

मन को अनुरंजित करना और उसे सुख पहुँचाना ही यदि कविता का धर्म माना जाए तो कविता भी केवल विलास की सामग्री हुई। परन्तु क्या हम कह सकते हैं कि वाल्मीकि का आदि काव्य, कालिदास का मेघदूत, तुलसीदास का रामचरितमानस या सूरदास का सूरसागर विलास की सामग्री हैं? यदि इन ग्रन्थों से मनोरंजन होगा तो चरित्र संशोधन भी अवश्य ही होगा। मन लगने से यह सूचित होगा कि मन अब इस अवस्था में हो गया है कि उस पर कोई प्रभाव डाला जाय। खेद के साथ कहना पड़ता है कि हिन्दी भाषा के अनेक कवियों ने शृंगार रस की उन्मादकारिणी उक्तियों से साहित्य को इतना भर दिया है कि कविता भी विलास की एक सामग्री समझी जाने लगी है। पीछे से तो ग्रीष्मोपचार आदि के नुस्खे भी कवि लोग तैयार करने लगे।

गरमी के मौसम के लिए एक कविजी आज्ञा करते हैं—

सीतल गुलाबजल भरि चहबच्चन में,
डारि के कमलदल न्हायबे को धँसिए।
कालिदास अंग अंग अगर अतर संग,
केसर उसीर नीर घनसार घसिए।
जेठ में गोविंदलाल चंदन के चहलन,
भरि भरि गोकुल के महलन बसिए।

अब शिशिर के मसाले सुनिए—

गुलगुली गिलमें गलीचा हैं गुनीजन हैं,
चिक हैं चिराकैं हैं चिरागन की माला हैं।
कहैं पदमाकर हैं गजक गजा हूं सजी,
शय्या है, सुरा है, सुराही है, सुप्याला है।
शिशिर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्है,
जिनके अधीन एते उदित मसाला हैं।

ऐसी श्रृंगारिक कविता को कोई विलास को सामग्री कह बैठे तो उसका क्या दोष? सारांश यह कि कविता का काम मनोरंजन ही नहीं, कुछ और भी है।

चरित्रचित्रण द्वारा जितनी सुगमता से शिक्षा दी जा सकती है उतनी सुगमता से किसी और उपाय द्वारा नहीं। आदि काव्य रामायण में जब हम भगवान रामचंद्र के प्रतिज्ञा-पालन, सत्यव्रताचरण और पितृभक्ति आदि की छटा देखते हैं। भरत के सर्वोच्च स्वार्थत्याग और सर्वांगपूर्ण सात्विक चरित्र का अलौकिक तेज देखते हैं, तब हमारा हृदय श्रद्धा, भक्ति और आश्चर्य से स्तंभित हो जाता है। इसके विरुद्ध जब हम रावण की दुष्टता और उद्दंडता का चित्र देखते हैं तब समझते हैं कि दुष्टता क्या चीज है और उसका प्रभाव और परिणाम सृष्टि में क्या है। अब देखिए कविता द्वारा कितना उपकार होता है। उसका काम भक्ति, श्रद्धा, दया, करुणा, क्रोध और प्रेम आदि मनोवेगों को तीव्र और परिमार्जित करना तथा सृष्टि की वस्तुओं और व्यापारों से उनका उचित और उपयुक्त सम्बन्ध स्थिर करना है।

उच्च आदर्श

कविता मनुष्य के हृदय को उन्नत करती है और ऐसे ऐसे उत्कृष्ट और अलौकिक पदार्थों का परिचय कराती है जिनके द्वारा यह लोक देवलोक और मनुष्य देवता हो सकता है।

कविता की आवश्यकता

कविता इतनी प्रयोजनीय वस्तु है कि संसार की सभ्य और असभ्य सभी जातियों में पाई जाती है। चाहे इतिहास न हो, विज्ञान न हो, दर्शन न हो, पर कविता अवश्य होगी। इसका क्या कारण है? बात यह है कि मनुष्य अपने ही व्यापारों का ऐसा घना मंडल बाँधता चला आ रहा है जिसके भीतर फँसकर वह शेष सृष्टि के साथ अपने हृदय का सम्बन्ध कभी नहीं रख सकता। इस बात से मनुष्य की मनुष्यता जाती रहने का डर रहता है। अतएव मानुषी प्रकृति को जाग्रत रखने के लिए कविता मनुष्य जाति के संग लग गई है। कविता यही प्रयत्न करती है कि शेष प्रकृति

से मनुष्य की दृष्टि फिरने न पावे। जानवरों को इसकी जरूरत नहीं। हमने किसी उपन्यास में पढ़ा है कि एक चिड़चिड़ा बनिया अपनी सुशीला और परम रूपवती पुत्रवधू को अकारण निकालने को उद्यत हुआ। जब उसके पुत्र ने अपनी स्त्री की ओर से कुछ कहा तो वह चिड़कर बोला—"चल चल! भोली सूरत पर मरा जाता है।" आह! यह कैसा अमानुषिक बर्ताव है! सांसरिक बंधनों में फँसकर मनुष्य का हृदय कभी कभी इतना कठोर और कुंठित हो जाता है कि उसकी चेतना—उसका मानुष भाव—कम हो जाता है। न उसे किसी का रूपमाधुर्य देखकर उस पर उपकार करने की इच्छा होती है, न उसे किसी दीन-दुखिया की पीड़ा देखकर करुणा आती है, न उसे अपमान-सूचक बातें सुनकर क्रोध आता है। ऐसे लोगों से यदि किसी लोम-हर्षण अत्याचार की बात कही जाए तो, मनुष्य के स्वाभाविक धर्मानुसार, वे क्रोध या घृणा प्रकट करने के स्थान पर रूखाई के साथ यही कहेंगे—"जाने दो, हम से क्या मतलब? चलो, अपना काम देखो।" याद रखिए, यह महाभयानक मानसिक रोग है। इससे मनुष्य जीते जी मृतवत् हो जाता है। कविता इसी मर्ज की दवा है।

सृष्टि-सौंदर्य

कविता सृष्टि सौंदर्य का अनुभव कराती है और मनुष्य को सुन्दर वस्तुओं में अनुरक्त और कुत्सित वस्तुओं से विरक्त करती है। कविता जिस प्रकार विकसित कमल, रमणी के मुख आदि का सौंदर्य चित्त में अंकित करती है उसी प्रकार औदार्य, वीरता, त्याग, दया इत्यादि का सौंदर्य भी दिखाती है। जिस प्रकार वह रौरव नरक और गंदी गलियों की वीभत्सता दिखाती है उसी प्रकार क्रूरों की हिंसावृत्ति और दुष्टों की ईर्ष्या आदि की जघन्यता भी। यहीं तक नहीं, जिन वृत्तियों का प्रायः बुरा रूप ही हम संसार में देखा करते हैं उनका सुन्दर रूप भी वह अलग करके दिखाती है। दशवदननिधनकारी राम के क्रोध के सौंदर्य पर कौन मोहित न होगा? जो कविता रमणी के रूपमाधुर्य से हमें आह्लादित करती है वही उसके अंतःकरण की सुन्दरता और कोमलता आदि की मनोहारिणी छाया दिखाकर मुग्ध भी करती है। जिस बंकिम की लेखनी ने गढ़ के ऊपर बैठी हुई राजकुमार तिलोत्तमा के अंग प्रत्यंग की शोभा को अंकित किया है उसी ने आयशा के अंतःकरण की अपूर्व सात्विक ज्योति दिखाकर पाठकों को चमत्कृत किया है। वाह्य सौंदर्य के अवलोकन से हमारी आत्मा को जिस प्रकार सन्तोष होता है उसी प्रकार मानसिक सौंदर्य से भी। जिस प्रकार वन, पर्वत, नदी, झरने, आदि से हम आह्लादित होतें हैं उसी प्रकार मानसिक अंतःकरण में प्रेम, स्वार्थत्याग, दया, दाक्षियण, करुणा, भक्ति आदि उदात्त वृत्तियों को प्रतिष्ठित देख हम आनंदित होते हैं। यदि इन दोनों वाह्य और आभ्यंतर सौंदर्य का कहीं संयोग दिखाई पड़े तो फिर क्या कहना है! यदि किसी अत्यंत सुंदर पुरुष या अत्यंत रूपवती स्त्री के रूपमात्र का वर्णन करके हम छोड़ दें तो चित्र अपूर्ण होगा, यदि

हम साथ ही हृदय की दृढ़ता और सत्यप्रियता अथवा कोमलता और स्नेहशीलता आदि की भी झलक दिखाएँ तो उस वर्णन में सजीवता आ जायगी।

बात यह है कि कविता सौंदर्य और सात्विकशीलता या कर्त्तव्यपरायणता में भेद नहीं देखना चाहती। इसी से उत्कर्ष-साधना के लिए कवियों ने प्रायः रूपसौंदर्य और अंतःकरण के सौंदर्य का मेल कराया है। राम का रूपमाधुर्य और रावण का विकराल रूप अंतःकिरण के प्रतिबिंब मात्र हैं। वाह्य प्रकृति को भी मिला लेने से वर्णन का प्रभाव कभी कभी बहुत बढ़ जाता है। चित्रकूट ऐसे रम्य स्थान में राम और भरत ऐसे रूपवानों के रम्य अंतःकरण की छटा क्या कहना है!

कविता का दुरुपयोग

जो लोग स्वार्थवश व्यर्थ की प्रशंसा और खुशामद करके वाणी का दुरुपयोग करते हैं वे सरस्वती का गला घोंटते हैं। ऐसी तुच्छ वृत्तिवालों को कविता न करनी चाहिए। कविता उच्चाशय, उदार और निःस्वार्थ हृदय की उपज है। सत्कवि मनुष्यमात्र के हृदय में सौंदर्य का प्रवाह बहानेवाला है। उसकी दृष्टि में राजा और रंक सब समान है। वह उन्हें मनुष्य के सिवा और कुछ नहीं समझता। जिस प्रकार महल में रहने वाले बादशाह के वास्तविक सद्गुणों की वह प्रशंसा करता है उसी प्रकार झोपड़ें में रहने वाले किसान के सद्गुणों की भी। श्रीमानों के शुभागमन की कविता लिखना और बात बात पर उनको बधाई देना सत्कवि का काम नहीं। हाँ, जिसने निःस्वार्थ होकर और कष्ट सहकर देश और समाज की सेवा की है, दूसरों का हितसाधन किया है, धर्म का पालन किया है ऐसे परोपकारी महात्मा का गुणगान करना उसका कर्त्तव्य है।

कविता की भाषा

मनुष्य स्वभाव ही से प्राचीन पुरुषों और वस्तुओं को श्रद्धा की दृष्टि से देखता है। पुराने शब्द हम लोगों को मालूम ही रहते हैं। इसी से कविता में कुछ न कुछ पुराने शब्द आ ही जाते हैं उनका थोड़ा बहुत बना रहना अच्छा भी है। वे आधुनिक और पुरातन कविता के बीच सम्बन्धसूत्र का काम देते हैं। हिंदी में "राजते हैं", "गहते हैं", "लहते हैं", "सरसाते हैं" आदि प्रयोगों का खड़ी बोली तक की कविता में बना रहना कोई अचम्भे की बात नहीं। अंग्रेजी कविता में भी ऐसे शब्दों का अभाव नहीं है जिनका व्यवहार बहुत पुराने जमाने से कविता में होता आया है। Main', 'Swain' आदि शब्द ऐसे ही हैं। अंग्रेजी कविता समझने के लिए इनसे परिचित होना पड़ता है। पर ऐसे शब्द बहुत थोड़े आने चाहिए; वे भी ऐसे जो भद्दे और गँवारू न हों। खड़ी बोली में संयुक्त क्रियाएँ बहुत लम्बी होती हैं जैसे—"लाभ करते हैं", "प्रकाश करते हैं" आदि कविता में इनके स्थान पर 'लहते हैं', 'प्रकाशते हैं', कर देने से कोई हानि नहीं। पर यह बात इस तरह के सभी शब्दों के लिए ठीक नहीं हो सकती।

कोई हानि नहीं। पर यह बात इस तरह के सभी शब्दों के लिए ठीक नहीं हो सकती।

कविता में कही गई बात चित्र रूप में हमारे सामने आती है, संकेत रूप में नहीं। अतः उसमें गोचर रूपों का ही विधान अधिकतर होता है। वह ऐसे ही व्यापारों को लेती है जो संसार में सबसे अधिक मनुष्यों को सबसे अधिक दिखाई पड़ते हैं। उसमें प्रत्यक्ष और 'स्वभाविसिद्ध व्यापारसूचक शब्दों की संख्या अधिक रहती है। 'समय बीता जाता है' कहने की अपेक्षा 'समय भागा जाता है।' कहना अधिक काव्यसंगत है। किसी काम से हाथ खींचना, किसी का रुपया खा जाना, कोई बात पी जाना, दिन ढलना या डूबना, मन मारना, मन छूना शोभा बरसना आदि ऐसे ही कविसमयसिद्ध वाक्य हैं जो बोलचाल में आ गए हैं। नीचे कुछ पद्य उदाहरण स्वरूप दिए जाते हैं—

(क) **धन्य भूमि वन *पंथ* पहारा।**
जहँ जहँ नाथ *पाँव तुम धारा*॥ —तुलसीदास

(ख) **मनहुँ उमगि अंग अंग छबि *छलकै*।** —तुलसी

(ग) **चूनरि चारु *चुई सी परै* चटकीली हरी अंगिया ललचावे।**

(घ) **बीथिन में ब्रज में नवेलिन में बेलिन में बनन में बागन में *बगरो* वसंत है।** —पद्माकर

(ङ) **रंग रंग रागन पै, संग ही परागन पै, वृंदावन बागन पै, वसंत *बरसो* परै।**

बहुत से ऐसे शब्द हैं जिनसे एक ही का नहीं, किंतु कई क्रियाओं का एक ही साथ बोध होता है। ऐसे शब्दों को हम मिश्रसंकेत कह सकते हैं। किसी ने कहा 'वहाँ बड़ा अत्याचार हो रहा है।' इस अत्याचार शब्द के अंतर्गत मारना, पीटना, डाटना, डपटना, लूटना-पाटना इत्यादि बहुत से व्यापार हो सकते हैं अतः 'अत्याचार' शब्द के सुनने से उन सब व्यापारों का एक मिलाजुला अस्पष्ट भाव अंतःकरण में आता है, कल्पना में किसी एक व्यापार का स्पष्ट चित्र अंकित नहीं होता। इससे यह शब्द कविता के उतने काम का नहीं है। ऐसे शब्द वैज्ञानिक विषयों में अधिक आते हैं। उनमें से कुछ शब्द तो एक विलक्षण ही अर्थ देते हैं और पारिभाषिक कहलाते हैं। विज्ञानवेत्ता को किसी बात की सत्यता या असत्यता के निर्णय की जल्दी रहती है। इससे वह कई बातों को एक मानकर अपना काम चलाता है; प्रत्येक काम को पृथक पृथक दृष्टि से नहीं देखता। यही कारण है जो वह ऐसे शब्द अधिक व्यवहार करता है जिससे कई क्रियाओं से घटित एक ही भाव का अर्थ निकलता है। परन्तु कविता प्राकृतिक व्यापारों को कल्पना द्वारा प्रत्यक्ष कराती है—मानव हृदय पर अंकित करती है। अतएव पूर्वोक्त प्रकार के शब्द अधिक लाने से कविता के प्रसाद गुण की हानि होती है और व्यक्त किए गए भाव हृदय पर अच्छी तरह अंकित नहीं होते। बात यह है कि मानवी कल्पना इतनी प्रशस्त नहीं कि एक ही बार में कई व्यापार उसके द्वारा हृदय पर स्पष्ट रीति से खचित हो सकें। यदि

कोई ऐसा शब्द प्रयोग में लाया गया जो कई संयुक्त व्यापारों का बोधक है तो, सम्भव है, कल्पनाशक्ति किसी एक व्यापार को भी न ग्रहण कर सके; अथवा तदंतर्गत कोई ऐसा व्यापार ग्रहण करे जो रागात्मिका प्रकृति का उद्दीपक न हो। तात्पर्य यह कि परिभाषिक शब्दों का प्रयोग, तथा ऐसे शब्दों का समावेश जो किन्हीं संयुक्त व्यापारों की सूचना देते हैं, कविता में वांछित नहीं।

किसी ने 'प्रेमफौजदारी' नाम की शृंगारसविशिष्ट एक छोटी सी कविता अदालती कार्रवाइयों पर घटाकर लिखी है और उसे 'एकतरफा डिगरी' आदि कानूनी शब्दों से भर दिया है। यह उचित नहीं। कविता का उद्देश्य इसके विपरीत व्यवहार से सिद्ध होता है। जब कोई कवि किसी दार्शनिक सिद्धांत को अधिक प्रभावोत्पादक बनाकर उसे लोगों के चित्त पर अंकित करना चाहता है तब वह जटिल और परिभाषिक शब्दों को निकालकर उसे अधिक प्रत्यक्ष और मर्मस्पर्शी रूप देता है। भर्तृहरि, कबीर, गोस्वामी तुलसीदास आदि इस बात में बहुत निपुण थे। भर्तृहरि का एक श्लोक लीजिए—

तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं स्वादु सुरभि
क्षुधार्त्तः सञ्छालीन्कवलयति शाकादिवलितान्।
प्रदीप्ते रागाग्नौ सुदृढ़तरमाश्लिष्यति वधूं
प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः॥

भावार्थ—प्यासे होने पर स्वादिष्ट और सुंगधित जलपान, भूखे होने पर शाकादि के साथ चावलों का भोजन, और हृदय में अनुरागग्नि के प्रज्चलित होने पर प्रियतमा का आलिंगन करने वाले मनुष्य विलक्षण मूर्ख हैं। क्योंकि प्यास आदि व्याधियों की शांति के लिए जलपान आदि प्रतिकारों ही को वे सुख समझते हैं। वे नहीं जानते कि उनका यह उपचार बिल्कुल ही उलटा है।

देखिए, यहाँ पर कवि ने कैसे स्वाभाविक व्यापारों के चित्रण द्वारा मनुष्य की सुखदुखविषयक बुद्धि की भ्रामकता दिखलाई है।

अंग्रेजों में भी पोप कवि इस विषय में बहुत सिद्धहस्त था। नीचे उसका एक साधारण सिद्धान्त लिखा जाता है—

''भविष्यत् में क्या होने वाला है, इस बात की अनभिज्ञता इसलिए दी गई है जिसमें सब लोग, आने वाले अनिष्ट की शंका से, उस अनिष्ट घटना के पूर्ववर्ती दिनों के सुख को भी न खो बैठे।''

इस बात को पोप कवि इस तरह कहता है—

उस बलिपशु को देख आज जिसका, तु हे नर!
निज उमंग में रक्त बहाएगा वेदी पर।
होता उसको ज्ञान कहीं तेरा है जैसा।
क्रीड़ा करता कभी उछलता फिरता ऐसा?

हनने को जो हाथ उठा है उसे चाटता।
आगम का अज्ञान ईश का परम अनुग्रह।*

'अनिष्ट' शब्द बहुत व्यापक और संदिग्ध है, अतः कवि मृत्यु ही को सबसे अधिक अनिष्ट वस्तु समझता है। मृत्यु की आशंका से प्राणिमात्र का विचलित होना स्वाभाविक है। कवि दिखलाता है कि पशु ही मृत्यु सिर पर नाचते रहते भी सुखी रहता है, यहाँ तक कि वह प्रहारकर्ता के हाथ को चाटता जाता है, यह एक अद्‌भूत और मर्मस्पर्शी दृश्य है। पूर्वोक्त सिद्धान्त को यहाँ काव्य का रूप प्राप्त हुआ है।

एक और साधारण सा उदाहरण लीजिए। "तुमने उससे विवाह किया" यह बहुत ही साधारण वाक्य है। पर "तुमने उसका हाथ पकड़ा" यह एक अर्थगर्भित और काव्योचित वाक्य है। 'विवाह' शब्द के अंतर्गत बहुत से विधान है जिन पर सब कोई एक दफे दृष्टि नहीं डाल सकते। अतः उससे कोई बात स्पष्ट रूप से कल्पना में नहीं आती। इस कारण इन विधानों में से सबसे प्रधान और स्वाभाविक बात जो हाथ पकड़ना है उसे चुनकर कवि अपने अर्थ को मनुष्य को हृत्पटल पर रेखांकित करता है।

श्रुतिसुखदता

कविता की बोली और साधारण बोली में बड़ा अंतर है। "शुष्कों वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे" और "नीरसतरूरिह विलसति पुरतः" वाली बात हमारी पंडितमंडली में बहुत दिन से चली आती है। भावसौंदर्य और नादसौंदर्य दोनों के संयोग से कविता की सृष्टि होती है। श्रुतिकटु मानकर कुछ अक्षरों का परित्याग, वृत्तविधान और अंत्यानुप्रास का बंधन इसी नाद-सौंदर्य के निबाहने के लिए है। बिना इसके कविता करना, अथवा इसी को सर्वस्व मानकर कविता करने की कोशिश करना, निष्फल है। नाद-सौंदर्य के साथ भाव-सौंदर्य भी होना चाहिए। हिंदी के कुछ पुराने कवि इस नाद-सौंदर्य के इतना पीछे पड़ गए थे कि उनकी अधिकांश कविता विकृत और प्रायः भावशून्य हो गई है। यह देखकर आज कल के कुछ समालोचक इतना चिढ़ गए हैं कि ऐसी कविता को एकदम निकाल बाहर करना चाहते हैं। किसी को अत्यानुप्रास का बंधन खलता है; कोई गणात्मक छंदों को देखकर नाक भौं चढ़ाता है; कोई फारसी के मुखम्मस और रुबाई की ओर झुकता है। हमारी छंदोरचना तक की कोई कोई अवहेलना करते हैं—वह छंदोरचना जिसके माधुर्य को भूमंडल के किसी देश का छंदशास्त्र नहीं पा सकता और जो हमारी श्रुतिसुखदता के स्वाभाविक प्रेम

---

* The Lamb thy riot dooms to bleed to-day.
Had he thy reason, would he skip and play?
Pleased to the last he crops the flowry food
And licks the hand just raised to shed his blood.
The blindness to the future kindly given.

—Essay on man.

के सर्वथा अनुकूल है। जो लोग अत्यानुप्रास की बिल्कुल आवश्यकता नहीं समझते उनसे मुझे यही पूछना है कि अत्यानुप्रास ही पर इतना कोप क्यों? छंद और तुक दोनों ही नाद-सौंदर्य के उद्देश्य से रखे गए हैं। फिर क्यों एक निकाला जाए दूसरा नहीं? यदि कहा जाए कि सिर्फ छंद ही से उस उद्देश्य की सिद्धि हो जाती है तो यह जानने की इच्छा बनी रहती है कि क्या कविता के लिए नादसौंदर्य की कोई सीमा नियत है। यदि किसी कविता में भावसौंदर्य के साथ नादसौंदर्य भी वर्तमान हो तो वह अधिक ओजस्विनी और चिरस्थायिनी होगी। नादसौंदर्य कविता के स्थायित्व का वर्द्धक है, उसके बल से कविता गंन्थाश्रयविहीन होने पर भी किसी न किसी अंश में लोगों की जिह्वा पर बनी रहती है। अतएव इस नादसौंदर्य को केवल बंधन ही न समझना चाहिए। यह कविता की आत्मा नहीं तो शरीर अवश्य है।

नादसौंदर्य सम्बन्धी नियमों को गणितक्रिया के समान काम में लाने से हमारी कविता में कहीं कहीं बड़ी विलक्षणता आ गई है। श्रुतिकटु वर्णों का निर्देश इसलिए नहीं किया गया कि जितने अक्षर श्रवणकटु हैं वे एकदम त्याज्य समझे जाएं और उनकी जगह पर श्रवणसुखद वर्ण ढूँढ ढूँढकर रखे जाएं। इस नियमनिर्देश का मतलब इतना ही है कि यदि मधुराक्षरवाले शब्द मिल सकें और बिना तोड़मरोड़ के प्रसंगानुसार खप सकें तो उनके स्थान पर श्रुतिकर्कश अक्षरवाले शब्द न ला जाएं। संस्कृत से सम्बन्ध रखने वाली भाषाओं में इस नादसौंदर्य का निर्वाह अधिकता से हो सकता है। अतः अंग्रेजी आदि अन्य भाषाओं की देखा-देखी, जिनमें इसके लिए कम जगह है, अपनी कविता को भी हमें इस विशेषता से वंचित कर देना बुद्धिमानी का काम नहीं। पर, याद रहे, सिर्फ श्रुतिमधुर अक्षरों के पीछे दीवाने रहना और कविता को अन्यान्य गुणों से भूषित न करना सबसे बड़ा दोष है।

एक और विशेषता हमारी कविता में है। वह यह है कि कहीं कहीं व्यक्तियों के नामों के स्थान पर उनके रूप, गुण या कार्य्यबोधक शब्दों का व्यवहार किया जाता है। यों देखने में पद्य के नपे हुए चरणों में खपाने के लिए शब्दों की संख्या का बढ़ाना ही इसका प्रयोजन जान पड़ता है; पर विचार करने से इसका इससे भी गुरुतर उद्देश्य प्रकट होता है। सच पूछिए तो यह बात कृत्रिमता बचाने के लिए की जाती है। मनुष्यों के नाम यथार्थ में कृत्रिम संकेत हैं। जिनसे कविता की परिपोषिकता नहीं होती। अतएव कवि मनुष्यों के नामों के स्थान पर कभी कभी उनके ऐसे रूप, गुण या व्यापार की ओर इशारा करता है जो स्वाभाविक होने के कारण सुननेवाले के ध्यान में अधिक आ सकते हैं और प्रसंग विशेष के अनुकूल होने से वर्णन की यथार्थता को बढ़ाते हैं। गिरिधर, मुरारि, त्रिपुरारि, दीनबंधु, चक्रपाणि, दशमुख आदि शब्द ऐसे ही हैं। ऐसे शब्दों को चुनते समय प्रसंग या अवसर का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। जैसे, यदि कोई मनुष्य किसी दुर्धर्ष अत्याचारी के हाथ से छुटकारा पाना चाहता हो तो उसके लिए—"हे गोपिकारमण!" "हे वृंदावन

बिहारी!'' आदि कहकर कृष्ण को पुकारने की अपेक्षा 'हे मुरारि!' 'हे कंसनिकंदन!' आदि सम्बोधनों से पुकारना अधिक उपयुक्त है। क्योंकि श्रीकृष्ण के द्वारा सुर और कंस आदि दुष्टों का मारा जाना देखकर उसे उनसे अपनी रक्षा की आशा हुई है, न कि उनका वृंदावन में गोपियों के साथ विहार करना देखकर। इसी तरह किसी आपत्ति से उद्धार पाने के लिए कृष्ण को 'मुरलीधर' कहकर पुकारने की अपेक्षा 'गिरिधर' कहना अधिक अर्थसंगत है।

अलंकार

कविता में भाषा को खूब जोरदार बनाना पड़ता है—उसकी सब शक्तियों से काम लेना पड़ता है। वस्तु या व्यापार का चित्र चटकीला करने और रसपरिपाक के लिए कभी किसी वस्तु का गुण या आकार बहुत बढ़ाकर दिखाना पड़ता है, कभी किसी वस्तु के रूप और गुण को वैसी ही और वस्तुओं के साहचर्य द्वारा और मनोरंजक बनाने के लिए उसके समान रूप और धर्मवाली और और वस्तुओं को सामने लाकर रखना पड़ता है। इस तरह की भिन्न भिन्न वर्णन प्रणालियों का नाम अलंकार है। इनका उपयोग काव्य में प्रसंगानुसार विशेष रूप से होता है। इनसे वस्तुवर्णन में बहुत सहायता मिलती है। कहीं कहीं तो इनके बिना कविता का काम ही नहीं चल सकता। किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि अलंकार ही कविता है। अलंकार बोलचाल में भी रोज आते रहते हैं। जैसे, लोग कहते हैं ''जिसने शालग्राम को भून डाला उसे भंटा भूनते क्या लगता है?'' ये काव्य नहीं कहे जा सकते। जहाँ किसी प्रकार की रसव्यंजना होगी वहीं किसी वर्णन-प्रणाली को अलंकारता प्राप्त हो सकती है।

कई वर्ष हुए 'अलंकार प्रकाश' नामक पुस्तक के कर्त्ता का एक लेख 'सरस्वती' में निकला था। उसका नाम था—'कवि और काव्य'। उसमें उन्होंने अलंकारों की प्रधानता स्थापित करते हुए और उन्हें काव्य का सर्वस्व मानते हुए लिखा था कि ''आजकल के बहुत से विद्वानों का मत विदेशी भाषा के प्रभाव से काव्यविषय में कुछ परिवर्तित देख पड़ता है। वे महाशय सर्वलोकमान्य साहित्यग्रन्थों में विवेचन किए हुए अलंकारयुक्त काव्य का उत्कष्ट न समझ केवल सृष्टि के वैचित्र्यवर्णन में काव्यत्व समझते हैं।'' यदि ऐसा है तो इसमें आश्चर्य ही क्या? रस और भाव ही कविता के प्राण हैं। पुराने विद्वान रसात्मक कविता ही को कविता कहते थे। रसों अथवा मनोविकारों के यथेष्ट परिपाक ही की ओर उनका ध्यान अधिक था। अलंकारों का वे आवश्यकतानुसार वर्णित विषय को विशेषतया हृदयंगम कराने के लिए ही लाते थे। यह नहीं समझा जाता था कि अलंकार के बिना कविता हो ही नहीं सकती। स्वयं काव्यप्रकाश के कर्ता मम्मटाचार्य ने बिना अलंकार के काव्य का होना माना है और उदाहरण भी दिया है—''तददोषौ शब्दार्थौ सगुणवनलंकृती

पुनः क्वापि''। किन्तु पीछे से इन अलंकारों ही में काव्यत्व मान लेने से कविता अभ्यासगम्य और सुगम प्रतीत होने लगी। इसी से लोग उनकी ओर अधिक झुक पड़े। धीरे-धीरे इन अलंकारों के लिए आग्रह बढ़ने लगा, यहाँ तक कि चंद्रालोककार ने लिख डाला—

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थवनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्माद्दुष्णमनलंकृती॥

अर्थात्—जो अलंकाररहित शब्द और अर्थ को काव्य मानता है वह अग्नि को उष्णतारहित क्यों नहीं मानता? किन्तु यथार्थ बात कब तक छिपाई जा सकती है। इतने दिनों पीछे समय ने फिर पलटा खाया। विचारशील लोगों पर यह बात प्रकट हो गई कि रसात्मक वाक्यों ही का नाम कविता है और रस ही कविता की आत्मा है।

इस विषय में पूर्वोक्त ग्रन्थकार महोदय को एक बात कहनी थी; पर उन्होंने नहीं कही। वे कह सकते थे कि सृष्टिवैचित्र्यवर्णन भी तो स्वाभावोक्ति अलंकार है। इसका उत्तर यह है कि स्वाभावोक्ति को अलंकार मानना उचित नही। वह अलंकार की श्रेणी में आ ही नहीं सकती। वर्णन करने की प्रणाली का नाम अलंकार है। जिस वस्तु को हम चाहें, उस प्रणाली के अन्तर्गत करके उसका वर्णन कर सकते हैं। किसी वस्तुविशेष से उसका सम्बन्ध न होना चाहिए। वस्तु-निर्देश अलंकार का विषय नहीं, वह यथार्थ में रस का विषय है। अलंकार वर्णनशैली मात्र को ही कह सकते हैं। इस दृष्टि से कई अलंकार ऐसे हैं जिन्हें अलंकार नहीं कहना चाहिए; जैसे, स्वाभावोक्ति, अतिशयोक्ति से भिन्न अत्युक्ति, स्मरण, अल्प, उदात्त। स्वभावोक्ति में वणर्य वस्तु का निर्देश है; पर वस्तुनिर्वाचन अलंकार का काम नहीं। इससे स्वाभावोक्ति को अलंकार मानना ठीक नहीं। उसे अलंकार में गिनने वालों ने बहुत सिर खपाया है; पर उसका निर्दोष लक्षण नहीं कह सके। काव्यप्रकाश के कारिकाकार ने उसका लक्षण लिखा है—

स्वभावोक्ति डिंभादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्।

अर्थात् जिसमें बालकादिकों की निज की क्रिया या रूप का वर्णन हो वह स्वभावोक्ति है। बलाकादिक कहने से किसी वस्तुविशेष का बोध तो होता नहीं। इससे यही समझा जा सकता है कि सृष्टि की वस्तुओं के व्यापार और रूप का वर्णन स्वभावोक्ति है। इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष के कारण अलंकारता नहीं आती। अलंकारसर्वस्व के कर्ता राजानक रूय्यक ने इसका यह लक्षण लिखा है—

सूक्ष्मवस्तुस्वभावयथावद्वर्णनं स्वभावोक्तिः।

अर्थात् वस्तु के सूक्ष्य स्वभाव का ठीक ठीक वर्णन करना स्वाभावोक्ति है। आचार्य दंडी ने अवस्था की योजना करके यह लक्षण लिखा है—

नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृणवती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा॥

बात यह है कि स्वभावोक्ति अलंकार के अंतर्गत आ ही नहीं सकती; क्योंकि वह वर्णन करने की प्रणाली नहीं, किन्तु वणर्यवस्तु या विषय है।

जिस प्रकार एक कुरूपा स्त्री अलंकार धारण करने से सुन्दर नहीं हो सकती उसी प्रकार अस्वाभाविक, भद्दे और क्षुद्र भावों को अलंकारस्थापना सुन्दर और मनोहर नहीं बना सकेगी। महाराज भोज ने भी अलंकार को 'अलमर्थमलंकर्तु' अर्थात् सुन्दर अर्थ को शोभित करने वाला ही कहा है। इस कथन से अलंकार आने के पहले ही कविता की सुन्दरता सिद्ध है। अतः उसे अलंकारों में ढूँढना भूल है। अलंकारों से युक्त बहुत से काव्योदाहरण दिए जा सकते हैं जिनको अलंकार के प्रेमी भी भद्दा और नीरस कहने में संकोच न करेंगे। इसी तरह से ऐसे उदाहरण भी दिए जा सकते हैं जिनमें एक भी अलंकार नहीं, किन्तु उसके सौंदर्य और मनोरंजकत्व को सब स्वीकार करेंगे। जिन वाक्यों से मनुष्य के चित्त में रससंचार न हो—उसकी मानसिक स्थिति में कोई परिवर्तन न हो—वे कदापि काव्य नहीं। अलंकार शास्त्र की कुछ बातें ऐसी हैं जो केवल शब्द चातुरी मात्र हैं। शब्द कौशल के कारण वे चित्त को चमत्कृत करती हैं। उनसे रस संचार नहीं होता। वे चमत्कृत चाहे भले ही करें, पर मानवहृदय के स्रोतों से उनका विशेष सम्बन्ध नहीं। उनका चमत्कार शिल्पकारों की कारीगरी के समान सिर्फ शिल्पप्रदर्शनी में रखने ही योग्य होता है।

अलंकार है क्या वस्तु? विद्वानों ने काव्यों के सुन्दर सुन्दर स्थलों को पहले चुना। फिर उनकी वर्णनशैली के सौंदर्य का कारण ढूँढा। तब वर्णनवैचित्र्य के अनुसार भिन्न भिन्न लक्षण बनाए; जैसे 'विकल्प' अलंकार को पहले पहल राजानक रूय्यक ने ही निकाला है। अब कौन कह सकता है कि काव्यों के जितने सुन्दर सुन्दर स्थल थे सब ढूँढ डाले गए, अथवा जो सुन्दर समझे गए—जिन्हें लक्ष्य करके लक्षण बने—उनकी सुन्दरता का कारण कही हुई वर्णनप्रणाली ही थी। अलंकारों के लक्षण बनने तक काव्यों का बनना नहीं रूका रहा। आदि कवि महर्षि वाल्मीकि ने—"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः" का उच्चारण किसी अलंकार को ध्यान में रखकर नहीं किया। अलंकारलक्षणों के बनने के बहुत पहले कविता होती थी और अच्छी होती थी। अथवा यों कहना चाहिए कि जबसे इन अलंकारों को हठात् लाने को उद्योग होने लगा तब से कविता कुछ बिगड़ चली।

(हिंदी निबंध माला, दूसरा भाग, ना. प्र. सभा वाराणसी 1922 ई.)

कविता क्या है

मनुष्य अपने भावों, विचारों और व्यापारों को लिए दिए दूसरों के भावों, विचारों और व्यापारों के साथ कहीं मिलाता और कहीं लड़ाता हुआ अंत तक चला चलता है और इसी को जीना कहता है। जिस अनंत-रूपात्मक क्षेत्र में यह व्यवसाय चलता रहता है उसका नाम है जगत्। जब तक कोई अपनी पृथक् सत्ता की भावना को ऊपर किए इस क्षेत्र के नाना रूपों और व्यापारों को अपने योगक्षेम, हानि-लाभ, सुख-दुःख आदि से संबद्ध करके देखता रहता है तब तक उसका हृदय एक प्रकार से बद्ध रहता है। इन रूपों और व्यापारों के सामने जब कभी वह अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से छूटकर—अपने आपको बिलकुल भूलकर—विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है, तब वह मुक्त हृदय हो जाता है। जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भावयोग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग का समकक्ष मानते हैं।

कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-संबंधों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत् की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है, इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोक-सत्ता में लीन किए रहता है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है या हो सकती है। इस अनुभूति-योग के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह होता है। जिस प्रकार जगत् अनेकरूपात्मक है उसी प्रकार हमारा हृदय भी अनेक भावात्मक है। इन अनेक भावों का व्यायाम और परिष्कार तभी समझा जा सकता है जबकि इन सबका प्रकृत सामंजस्य जगत् के भिन्न-भिन्न रूपों, व्यापारों या तथ्यों के साथ हो जाए। इन्हीं भावों के सूत्र से मनुष्य-जाति जगत् के साथ तादात्म्य का अनुभव चिरकाल से करती चली आई है। जिन रूपों और व्यापारों से मनुष्य आदिम युगों

से ही परिचित है, जिन रूपों और व्यापारों को सामने पाकर वह नरजीवन के आरंभ से ही लुब्ध और क्षुब्ध होता आ रहा है, उनका हमारे भावों के साथ मूल या सीधा संबंध है। अतः काव्य के प्रयोजन के लिए हम उन्हें मूल रूप और मूल व्यापार कह सकते हैं। इस विशाल विश्व के प्रत्यक्ष से प्रत्यक्ष और गूढ़ से गूढ़ तथ्यों को भावों के विषय या आलंबन बनाने के लिए इन्हीं मूल रूपों और मूल व्यापारों में परिणत करना पड़ता है। जब तक वे इन मूल मार्मिक रूपों में नहीं लाए जाते तब तक उन पर काव्य दृष्टि नहीं पड़ती।

वन, पर्वत, नदी, नाले, निर्झर, कछार, पटपर, चट्टान, वृक्ष, लता, झाड़ी, फूल, शाखा, पशु, पक्षी, आकाश, मेघ, नक्षत्र, समुद्र, इत्यादि ऐसे ही चिर-सहचर रूप हैं। खेत, ढुर्री, हल, झोंपड़े, चौपाए इत्यादि भी कुछ कम पुराने नहीं हैं। इसी प्रकार पानी का बहना, सूखे पत्तों का झड़ना, बिजली का चमकना, घटा का घिरना, नदी का उमड़ना, मेह का बरसना, कुहरे का छाना, डर से भागना, लोभ से लपकना, छीनना, झपटना, नदी या दलदल से बाँह पकड़कर निकालना, हाथ से खिलाना, आग में झोंकना, गला काटना ऐसे व्यापारों का भी मनुष्य-जाति के भावों के साथ अत्यंत प्राचीन साहचर्य है। ऐसे आदिम रूपों और व्यापारों में वंशानुगत वासना की दीर्घ-परंपरा के प्रभाव से, भावों के उद्‌बोधन की गहरी शक्ति संचित है; अतः इनके द्वारा जैसा रस-परिपाक संभव है वैसा कल-कारखाने, गोदाम, स्टेशन, इंजिन, हवाई जहाज ऐसी वस्तुओं तथा अनाथालय के लिए चेक काटना, सर्वस्वहरण के लिए जाली दस्तावेज-बनाना, मोटर की चरखी घुमाना या इंजिन में कोयला झोंकना आदि व्यापारों द्वारा नहीं।

सभ्यता के आवरण और कविता

सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ ज्यों-ज्यों मनुष्यों के व्यापार बहुरूपी और जटिल होते गए त्यों-त्यों उनके मूल रूप बहुत कुछ आच्छन्न होते गए। भावों के आदिम और सीधे लक्ष्यों के अतिरिक्त और-और लक्ष्यों की स्थापना होती गई; वासनाजन्य मूल व्यापारों के सिवा बुद्धि द्वारा निश्चित व्यापारों का विधान बढ़ता गया। इस प्रकार बहुत से ऐसे व्यापारों से मनुष्य घिरता गया जिनके साथ उसके भावों का सीधा लगाव नहीं। जैसे आदि में भय का लक्ष्य अपने शरीर और अपनी संतति ही की रक्षा तक था, पर पीछे गाय, बैल, अन्न आदि की रक्षा आवश्यक हुई, यहाँ तक कि होते-होते धन, मान, अधिकार, प्रभुत्व इत्यादि अनेक बातों की रक्षा की चिंता ने घर किया और रक्षा के उपाय भी वासना-जन्य प्रवृत्ति से भिन्न प्रकार के होने लगे। इसी प्रकार क्रोध, घृणा, लोभ आदि अन्य भावों के विषय भी अपने मूल रूपों से भिन्न रूप धारण करने लगे। कुछ भावों के विषय तो अमूर्त्त तक होने लगे, जैसे कीर्ति की लालसा। ऐसे भावों को ही बौद्धदर्शन में 'अरूपराग' कहते हैं।

भावों के विषयों और उनके द्वारा प्रेरित व्यापारों में जटिलता आने पर भी उनका संबंध मूल विषयों और मूल व्यापारों से भीतर-भीतर बना है और बराबर बना रहेगा। किसी का कुटिल भाई उसे संपत्ति से एकदम वंचित रखने के लिए वकीलों की सलाह से एक नया दस्तावेज तैयार करता है। इसकी खबर पाकर वह क्रोध से नाच उठता है। प्रयत्क्ष व्यावहारिक दृष्टि से तो उसके क्रोध का विषय है वह दस्तावेज या कागज का टुकड़ा। पर उस कागज के टुकड़े के भीतर वह देखता है कि उसे और उसकी संतति को अन्न-वस्त्र न मिलेगा। उसके क्रोध का प्रकृत विषय न तो वह कागज का टुकड़ा है और न उस पर लिखे हुए काले-काले अक्षर। ये तो सभ्यता के आवरण मात्र हैं। अतः उसके क्रोध में और उस कुत्ते के क्रोध में जिसके सामने का भोजन कोई दूसरा कुत्ता छीन रहा है, काव्य-दृष्टि से कोई भेद नहीं है—भेद है केवल विषय के थोड़ा रूप बदलकर आने का। इसी रूप बदलने का नाम है सभ्यता। इस रूप बदलने से होता यह है कि क्रोध आदि को भी अपना रूप कुछ बदलना पड़ता है, वह भी कुछ सभ्यता के साथ अच्छे कपड़े-लत्ते पहनकर समाज में आता है जिससे मार-पीट, छीन-खसोट आदि भद्दे समझे जानेवाले व्यापारों का कुछ निवारण होता है।

पर यह प्रच्छन्न रूप वैसा मर्मस्पर्शी नहीं हो सकता। इसी से इस प्रच्छन्नता का उद्घाटन कवि-कर्म का एक मुख्य अंग है। ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती जाएगी त्यों-त्यों कवियों के लिए यह काम बढ़ता जाएगा। मनुष्य के हृदय की वृत्तियों से सीधा संबंध रखनेवाले रूपों और व्यापारों को प्रत्यक्ष करने के लिए उसे बहुत से पर्दों को हटाना पड़ेगा। इससे यह स्पष्ट है कि ज्यों-ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नये-नये आवरण चढ़ते जायँगे त्यों-त्यों एक ओर तो कविता की आवश्यकता बढ़ती जायगी, दूसरी ओर कवि-कर्म कठिन होता जायगा। ऊपर जिस क्रुद्ध व्यक्ति का उदाहरण दिया गया है, वह यदि क्रोध से छुट्टी पाकर अपने भाई के मन में दया का संचार करना चाहेगा तो क्षोभ के साथ उससे कहेगा, "भाई! तुम यह सब इसीलिए न कर रहे हो कि तुम पक्की हवेली में बैठकर हलवा-पूरी खाओ और मैं एक झोपड़ी में बैठा सूखे चने चबाऊँ; तुम्हारे लड़के दोपहर को भी दुशाले ओढ़कर निकलें और मेरे बच्चे रात को भी ठंड से काँपते रहें।" यह हुआ प्रकृत रूप का प्रत्यक्षीकरण। इसमें सभ्यता के बहुत से आवरणों को हटाकर वे मूल गोचर रूप सामने रखे गए हैं जिनसे हमारे भावों का सीधा लगाव है और जो इस कारण भावों को उत्तेजित करने में अधिक समर्थ हैं। कोई बात जब इस रूप में आएगी तभी उसे काव्य का उपयुक्त रूप प्राप्त होगा। "तुमने हमें नुकसान पहुँचाने के लिए जाली दस्तावेज बनाया" इस वाक्य में रसात्मकता नहीं। इसी बात को ध्यान में रखकर ध्वनिकार ने कहा है—"नहि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वहिणात्मपदलाभः।"

देश की वर्तमान दशा के वर्णन में यदि हम केवल इस प्रकार के वाक्य कहते जायँ कि "हम मूर्ख, बलहीन और आलसी हो गए हैं, हमारा धन विदेश चला जाता है, रुपये का डेढ़ पाव घी बिकता है; स्त्री-शिक्षा का अभाव है" तो ये छंदोबद्ध होकर भी काव्य पद के अधिकारी न होंगे। सारांश यह कि काव्य के लिए अनेक स्थलों पर हमें भावों के विषयों के मूल और आदिम रूपों तक जाना होगा जो मूर्त्त और गोचर होंगे। जब तक भावों से सीधा और पुराना लगाव रखनेवाले मूर्त्त और गोचर रूप न मिलेंगे तब तक काव्य का वास्तविक ढाँचा खड़ा न हो सकेगा। भावों के अमूर्त्त विषयों की तह में भी मूर्त्त और गोचर रूप छिपे मिलेंगे, जैसे, यशोलिप्सा में कुछ दूर भीतर चलकर उस आनंद के उपभोग की प्रवृत्ति छिपी हुई पाई जायगी जो अपनी तारीफ कान में पड़ने से हुआ करता है।

काव्य में अर्थग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, बिंबग्रहण अपेक्षित होता है। यह बिंबग्रहण निर्दिष्ट, गोचर और मूर्त्त विषय का ही हो सकता है। 'रुपये का डेढ़ पाव घी मिलता है' इस कथन से कल्पना में यदि कोई बिंब या मूर्ति उपस्थित होगी तो वह तराजू लिए हुए बनिए की होगी जिससे हमारे करुण भाव का कोई लगाव न होगा। बहुत कम लोगों को घी खाने को मिलता है, अधिकतर लोग रूखी-सूखी खाकर रहते हैं, इस तथ्य तक हम अर्थग्रहण परंपरा द्वारा इस चक्कर के साथ पहुँचते हैं—एक रुपये का बहुत कम घी मिलता है, इससे रुपयेवाले ही घी खा सकते हैं, पर रुपयेवाले बहुत कम हैं, इससे अधिकांश जनता घी नहीं खा सकती, रूखी-सूखी खाकर रहती है।

कविता और सृष्टि-प्रसार

हृदय पर नित्य प्रभाव रखनेवाले रूपों और व्यापारों को भावना के सामने लाकर कविता वाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अंतःप्रकृति का सामंजस्य घटित करती हुई उसके भावात्मक सत्ता के प्रसार का प्रयास करती है। यदि अपने भावों को समेट कर मनुष्य अपने हृदय को शेष सृष्टि से किनारे कर ले या स्वार्थ की पशुवृत्ति में ही लिप्त रखे तो उसकी मनुष्यता कहाँ रहेगी? यदि वह लहलहाते हुए खेतों और जंगलों, हरी घास के बीच घूम-घूमकर बहते हुए नालों, काली चट्टानों पर चाँदी की तरह ढलते हुए झरनों, मंजरियों से लदी हुई अमराइयों, पटपर के बीच खड़ी झाड़ियों को देख क्षण भर लीन न हुआ, यदि कलरव करते हुए पक्षियों के आनंदोत्सव में उसने योग न दिया, यदि खिले हुए फूलों को देख वह न खिला, यदि सुंदर रूप सामने पाकर अपनी भीतरी कुरूपता का उसने विसर्जन न किया, यदि दीन-दुःखी का आर्त्तनाद सुन वह न पसीजा, यदि अनाथों और अबलाओं पर अत्याचार होते देख क्रोध से न तिलमिलाया, यदि किसी बेढब और विनोदपूर्ण दृश्य या उक्ति पर न हँसा, तो उसके जीवन में क्या रह गया? इस विश्वकाव्य की रस-धारा

में जो थोड़ी देर के लिए निमग्न न हुआ उसके जीवन को मरुस्थल की यात्रा ही समझना चाहिए।

काव्य दृष्टि कहीं तो (1) नरक्षेत्र के भीतर रहती है, कहीं (2) मनुष्येतर वाह्य सृष्टि के और, (3) कहीं समस्त चराचर के।

1. पहले नरक्षेत्र को लेते हैं। संसार में अधिकतर कविता इसी क्षेत्र के भीतर हुई है। नरत्व की वाह्य प्रकृति और अंतःप्रकृति के नाना संबंधों और पारस्परिक विधानों का संकलन या उद्‌भावना ही काव्यों में—मुक्तक हों या प्रबंध—अधिकतर पाई जाती है।

प्राचीन महाकाव्यों और खंडकाव्यों के मार्ग में यद्यपि शेष दो क्षेत्र भी बीच-बीच में पड़ जाते हैं। पर मुख्य यात्रा नरक्षेत्र के भीतर ही होती है। वाल्मीकि रामायण में यद्यपि बीच-बीच में ऐसे विशद् वर्णन बहुत कुछ मिलते हैं, जिनमें कवि की मुग्ध दृष्टि प्रधानतः मनुष्येतर वाह्य प्रकृति के रूप-जाल में फँसी पाई जाती है, पर उसका प्रधान विषय लोकचरित ही है। और प्रबंध-काव्यों के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है। रहे मुक्तक या फुटकल पद्य, वे भी अधिकतर मनुष्य ही की भीतरी-बाहरी वृत्तियों से संबंध रखते हैं। साहित्य-शास्त्र की रस-निरूपण-पद्धति में आलंबनों के बीच वाह्य प्रकृति को स्थान ही नहीं मिला है। वह उद्दीपन मात्र मानी गई है। श्रृंगार के उद्‌दीपन रूप में जो प्राकृतिक दृश्य लाए जाते हैं, उनके प्रति रतिभाव नहीं होता, नायक या नायिका के प्रति होता है। वे दूसरे के प्रति उत्पन्न प्रीति को उद्‌दीप्त करनेवाले होते हैं, स्वयं प्रीति के पात्र या आलंबन नहीं होते। संयोग में वे सुख बढ़ाते हैं और वियोग में काटने दौड़ते हैं। जिस भावोद्रेक और जिस ब्योरे के साथ नायक या नायिका के रूप का वर्णन किया जाता है, उस भावोद्रेक और उस ब्योरे के साथ उनका नहीं। कहीं-कहीं तो उनके नाम गिनाकर ही काम चला लिया जाता है।

मनुष्यों के रूप, व्यापार या मनोवृत्तियों के सादृश्य, साधर्म्य की दृष्टि से जो प्राकृतिक वस्तु-व्यापार आदि लाए जाते हैं उनका स्थान भी गौण ही समझना चाहिए। वे नर-संबंधी भावना को ही तीव्र करने के लिए रखे जाते हैं।

2. मनुष्येतर वाह्य प्रकृति का आलंबन के रूप में ग्रहण हमारे यहाँ संस्कृत के प्राचीन प्रबंध-काव्यों के बीच-बीच में ही पाया जाता है। कहाँ प्रकृति का ग्रहण आलंबन के रूप में हुआ है, इसका पता वर्णन की प्रणाली से लग जाता है। पहले कह आए हैं कि किसी वर्णन में आई हुई वस्तुओं का मन में ग्रहण दो प्रकार का हो सकता है—बिंबग्रहण और अर्थग्रहण। किसी ने कहा 'कमल'। अब इस 'कमल' पद का ग्रहण कोई इस प्रकार भी कर सकता है कि ललाई लिए हुए सफेद पंखुड़ियों और झुके हुए नाल आदि के सहित एक फूल की मूर्ति मन में थोड़ी देर के लिए आ जाय या कुछ देर बनी रहे; और इस प्रकार भी कर सकता है कि कोई चित्र

उपस्थित न हो; केवल पद का अर्थ मात्र समझकर काम चला लिया जाय। काव्य के दृश्य-चित्रण में पहले प्रकार का संकेत-ग्रहण अपेक्षित होता है और व्यवहार तथा शास्त्रचर्चा में दूसरे प्रकार का। बिंबग्रहण वहीं होता है जहाँ कवि अपने सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा वस्तुओं के अंग-प्रत्यंग, वर्ण, आकृति तथा उनके आस-पास की परिस्थिति का परस्पर संश्लिष्ट विवरण देता है। बिना अनुराग के ऐसे सूक्ष्म ब्योरों पर न दृष्टि जा ही सकती है, न रम ही सकती है। अतः जहाँ ऐसा पूर्ण और संश्लिष्ट चित्रण मिले, वहाँ समझना चाहिए कि कवि ने वाह्य प्रकृति को आलंबन के रूप में ग्रहण किया है। उदाहरण के लिए वाल्मीकि का यह हेमंत वर्णन लीजिए—

अवश्याय-निपातेन किञ्चित्प्रक्लिन्नशाद्वला।
वनानां शोभते भूमिर्निविष्टतरूणातपा॥
स्पृशंस्तु विपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम्।
अत्यन्ततृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम्॥
अवश्याय-तमोनद्धा नीहार-तमसावृताः।
प्रसुप्ता इव लक्ष्यंते विपुष्पा वनराजयः॥
वाष्पसन्छन्नसलिला रुतविज्ञेयसारसाः।
हिमार्द्रबालुकैस्तीरैः सरितो भांति सांप्रतम्॥
जरा-जर्जरितैः पद्मैः शीर्णकेशरकर्णिकाः।
नालशेषैर्हिमध्वस्तैर्न भांति कमलाकराः॥

वन की भूमि जिसकी हरी-हरी घास ओस गिरने से कुछ-कुछ गीली हो गई है, तरुण धूप के पड़ने से कैसी शोभा दे रही है। अत्यंत प्यासा जंगली हाथी बहुत शीतल जल के स्पर्श से अपनी सूँड़ सिकोड़ लेता है। बिना फूल के वन-समूह कुहरे के अंधकार में सोए से जान पड़ते हैं। नदियाँ, जिनका जल कुहरे से ढँका हुआ है और जिनमें सारस पक्षियों का पता केवल उनके शब्द से लगता है, हिम से आर्द्र बालू के तटों से ही पहचानी जाती हैं। कमल, जिनके पत्ते जीर्ण होकर झड़ गए हैं, जिनकी केसर-कणिकाएँ टूट-फूटकर छितरा गई हैं, पाले से ध्वस्त होकर नालमात्र खड़े हैं।

मनुष्येतर वाह्य प्रकृति का इसी रूप में ग्रहण कुमारसंभव के आरंभ तथा रघुवंश के बीच-बीच में मिलता है। नाटक यद्यपि मनुष्य ही की भीतरी-बाहरी प्रवृत्तियों के प्रदर्शन के लिए लिखे जाते हैं और भवभूति अपने मार्मिक और तीव्र अंतर्वृत्ति विधान के लिए ही प्रसिद्ध हैं, पर उनके 'उत्तररामचरित' में कहीं-कहीं वाह्य प्रकृति के बहुत ही सांग और संश्लिष्ट खंड-चित्र पाए जाते हैं। पर मनुष्येत्तर वाह्य प्रकृति को जो प्रधानता मेघदूत में मिली है, वह संस्कृत के और किसी काव्य में नहीं। 'पूर्वमेघ' तो यहाँ से वहाँ तक प्रकृति की ही एक मनोहर झाँकी या भारत भूमि के स्वरूप का ही मधुर ध्यान है। जो इस स्वरूप के ध्यान में अपने को भूलकर

कभी-कभी मग्न हुआ करता है वह घूम-घूमकर वक्तृता दे या न दे, चंदा इकट्ठा करे या न करे, देशवासियों की आमदनी का औसत निकाले या न निकाले, सच्चा देश-प्रेमी है। मेघदूत न कल्पना की क्रीड़ा है, न कला की विचित्रता। वह है प्राचीन भारत के सबसे भावुक हृदय की अपनी प्यारी भूमि की रूप-माधुरी पर सीधी-सादी प्रेम-दृष्टि।

अनंत रूपों में प्रकृति हमारे सामने आती है—कहीं मधुर, सुसज्जित या सुंदर रूप में, कहीं रूखे, बेडौल या कर्कश रूप में, कहीं भव्य, विशाल या विचित्र रूप में, कही उग्र, कराल या भयंकर रूप में। सच्चे कवि का हृदय उसके इन सब रूपों में लीन होता है, क्योंकि उसके अनुराग का कारण अपना खास सुख-भोग नहीं, बल्कि चिरसाहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित वासना है। जो केवल प्रफुल्ल-प्रसून प्रसार के सौरभ-संचार, मकरंद-लोलुप, मधुप-गुंजार, कोकिल-कूजित निकुंज और शीतल सुख-स्पर्श समीर इत्यादि की ही चर्चा किया करते हैं; वे विषयी या भोगलिप्सु हैं। इसी प्रकार जो केवल मुक्ताभास हिमबिंदु मंडित मरकताभ शाद्वल-जाल, अत्यंत विशाल गिरिशिखर से गिरते हुए जल-प्रपात के गंभीर गर्त्त से उठी हुई सीकर-नीहारिका के बीच विविधवर्णस्फुरण की विशालता, भव्यता और विचित्रता में ही अपने हृदय के लिए कुछ पाते हैं, वे तमाशबीन हैं, सच्चे भावुक या सहृदय नहीं। प्रकृति के साधारण-असाधारण सब प्रकार के रूपों में रमानेवाले वर्णन हमें वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि संस्कृत के प्राचीन कवियों में मिलते हैं। पिछले खेवे के कवियों में मुक्तक-रचना में तो अधिकतर प्राकृतिक वस्तुओं का अलग-अलग उल्लेख मात्र उद्दीपन की दृष्टि से किया है। प्रबंध-रचना में जो थोड़ा-बहुत संश्लिष्ट चित्रण किया है वह प्रकृति की विशेष रूप-विभूति को लेकर ही। अंगरेजी के पिछले कवियों में वर्ड्सवर्थ की दृष्टि सामान्य चिरपरिचित, सीधे-सादे प्रशांत और मधुर दृश्यों की ओर रहती थी, पर शेली की असाधारण-भव्य और विशाल की ओर।

साहचर्य-संभूत रस के प्रभाव से सामान्य सीधे-सादे चिरपरिचित दृश्यों में कितने माधुर्य की अनूभूति होती है। पुराने कवि कालिदास ने वर्षा के प्रथम जल से सिक्त तुरंत की जोती हुई धरती तथा उसके पास बिखरी हुई भोली चितवनवाली ग्रामवनिताओं में साफ-सुथरे ग्रामचैत्यों और कथा-कोविद ग्रामवृद्धों में इसी प्रकार के माधुर्य का अनुभव किया था। आज भी इसका अनुभव लोग करते हैं। बाल्य या कौमार अवस्था में जिस पेड़ के नीचे हम अपनी मंडली के साथ बैठा करते थे; चिड़चिड़ी बुढ़िया की जिस झोंपड़ी के पास से होकर हम आते-जाते थे, उनकी मधुर स्मृति हमारी भावना को बराबर लीन किया करती है। बुड्ढी की झोंपड़ी में न कोई चमक-दमक थी, न कला-कौशल का वैचित्र्य। मिट्टी की दीवारों पर फूस का छप्पर पड़ा था, नींव के किनारे चढ़ी हुई मिट्टी पर सत्यानाशी के नीलाभ हरित कँटीले, कटावदार पौदे खड़े थे जिनके पीले फूलों के गोल संपुटों के बीच लाल-लाल बिंदियाँ झलकती थीं।

सारांश यह है कि केवल असाधारणत्व की रुचि सच्ची सहृदयता की पहचान नहीं है। शोभा और सौंदर्य की भावना के साथ जिनमें मनुष्य-जाति के उस समय के पुराने सहचरों की वंश-परंपरागत स्मृति वासना के रूप में बनी हुई है, जब वह प्रकृति के खुले क्षेत्र में विचरती थी, वे ही पूरे सहृदय भावुक कहे जा सकते हैं। वन्य और ग्रामीण दोनों प्रकार के जीवन प्राचीन हैं; दोनों पेड़-पौदों, पशु-पक्षियों, नदी-नालों और पर्वत-मैदानों के बीच व्यतीत होते हैं, अतः प्रकृति के अधिक रूपों के साथ संबंध रखते हैं। हम पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों से संबंध तोड़कर बड़े-बड़े नगरों में आ बसे, पर उनके बिना रहा नहीं जाता। हम उन्हें हर वक्त पास न रखकर एक घेरे में बंद करते हैं और कभी-कभी मन बहलाने के लिए उनके पास चले जाते हैं। हमारा साथ उनसे भी छोड़ते नहीं बनता। कबूतर हमारे घर के छज्जों के नीचे सुख से सोते हैं, गौरे हमारे घर के भीतर आ बैठते हैं, बिल्ली अपना हिस्सा या तो म्याँव-म्याँव करके माँगती है या चोरी से ले जाती है, कुत्ते घर की रखवाली करते हैं, और वासुदेवजी कभी-कभी दीवार फोड़कर निकल पड़ते हैं। बरसात के दिनों में जब सुर्खी-चूने की कड़ाई की परवाह न कर हरी-हरी घास पुरानी छत पर निकलने लगती है, तब हमें उसके प्रेम का अनुभव होता है। वह मानो हमें ढूँढ़ती हुई आती है और कहती है कि "तुम हमसे क्यों दूर-दूर भागे फिरते हो?"

जो केवल अपने विलास या शरीर-सुख की सामग्री ही प्रकृति में ढूँढ़ा करते हैं उनमें उस रागात्मक 'सत्त्व' की कमी है जो व्यक्त सत्ता मात्र के साथ एकता की अनुभूति में लीन करके हृदय के व्यापकत्व का आभास देता है। संपूर्ण सत्ताएँ एक ही परम सत्ता और संपूर्ण भाव एक ही परम भाव के अंतर्भूत हैं। अतः बुद्धि की क्रिया से हमारा ज्ञान जिस अद्वैत भूमि पर पहुँचता है उसी भूमि तक हमारा भावात्मक हृदय भी इस सत्त्व-रस के प्रभाव से पहुँचता है। इस प्रकार अंत में जाकर दोनों पक्षों की वृत्तियों का समन्वय हो जाता है। इस समन्वय के बिना मनुष्यत्व की साधना पूरी नहीं हो सकती।

मार्मिक तथ्य

मनुष्येतर प्रकृति के बीच के रूप-व्यापार कुछ भीतरी भावों या तथ्यों की भी व्यंजना करते हैं। पशु-पक्षियों के सुख-दःख, हर्ष-विषाद, राग-द्वेष, तोष-क्षोभ, कृपा-क्रोध इत्यादि भावों की व्यंजना जो उनकी आकृति, चेष्टा, शब्द आदि से होती है, वह तो प्रायः बहुत प्रत्यक्ष होती है। कवियों को उन पर अपने भावों का आरोप करने की आवश्यकता प्रायः नहीं होती। तथ्यों का आरोप या संभावना अलबत वे कभी-कभी किया करते हैं। पर इस प्रकार का आरोप कभी-कभी कथन को, 'काव्य' के क्षेत्र से घसीटकर 'सूक्ति' या 'सुभाषित' के क्षेत्र में डाल देता है। जैसे, "कौवे सवेरा होते ही क्यों चिल्लाने लगते हैं? वे समझते हैं कि सूर्य अंधकार का नाश करता

बढ़ा आ रहा है, कहीं धोखे से हमारा भी नाश न कर दे।" यह सूक्ति मात्र है, काव्य नहीं। जहाँ तथ्य केवल आरोपित या संभावित रहते हैं वहाँ वे अलंकार रूप में ही रहते हैं। पर जिन तथ्यों का आभास हमें पशु-पक्षियों के रूप, व्यापार या परिस्थिति में ही मिलता है वे हमारे भावों के विषय वास्तव में हो सकते हैं। मनुष्य सारी पृथ्वी छेंकता चला जा रहा है। जंगल कट-कटकर खेत, गाँव और नगर बनते चले जा रहे हैं। पशु-पक्षियों का भाग छिनता चला जा रहा है। उनके सब ठिकानों पर हमारा निष्ठुर अधिकार होता चला जा रहा है। वे कहाँ जायँ ? कुछ तो हमारी गुलामी करते हैं। कुछ हमारी बस्ती के भीतर या आस-पास रहते हैं और छीन-झपटकर अपना हक ले जाते हैं। हम उनके साथ बराबर ऐसा ही व्यवहार करते हैं, मानो उन्हें जीने का कोई अधिकार ही नहीं है। इन तथ्यों का सच्चा आभास हमें उनकी परिस्थिति से मिलता है। अतः उनमें से किसी की चेष्टा-विशेष में इन तथ्यों की मार्मिक व्यंजना की प्रतीत काव्यानुभूति के अंतर्गत होगी। यदि कोई बंदर हमारे सामने से कोई खाने-पीने की चीज उठा ले जाय और किसी पेड़ के ऊपर बैठा-बैठा हमें घुड़की दे, तो काव्य-दृष्टि से हमें ऐसा मालूम हो सकता है कि—

देते हैं घुड़की यह अर्थ ओज भरी हरि
"जीने का हमारा अधिकार क्या न गया रह?
पर प्रतिषेध के प्रसार बीच तेरे, नर!
क्रीड़ामय जीवन उपाय है हमारा यह।
दानी जो हमारे रहे, वे भी दास तेरे हुए,
उनकी उदारता भी सकता नहीं तू सह।
फूली फ़ली उनकी उमंग उपकार की तू
छेंकता है जाता, हम जायँ कहाँ, तू ही कह!"

पेड़-पौधे, लता गुल्म आदि भी इसी प्रकार कुछ भावों या तथ्यों की व्यंजना करते हैं जो कभी-कभी कुछ गूढ़ होती है। सामान्य दृष्टि भी वर्षा को झड़ी के पीछे उनके हर्ष और उल्लास को, ग्रीष्म के प्रचंड आतप में उनकी शिथिलता और म्लानता को, शिशिर के कठोर शासन में उनकी दीनता को, मधुकाल में उनके रसोन्माद, उमंग और हास को, प्रबल वात के झकोरों में उनकी विकलता को, प्रकाश के प्रति उनकी ललक को देख सकती है। इसी प्रकार भावुकों के समक्ष वे अपनी रूपचेष्टा आदि द्वारा कुछ मार्मिक तथ्यों की भी व्यंजना करते हैं। हमारे यहाँ के पुराने अन्योक्तिकारों नें कहीं-कहीं इस व्यंजना की ओर ध्यान दिया है। कहीं-कहीं का मतलब यह है कि बहुत जगह उन्होंने अपनी भावना का आरोप किया है, उनकी रूपचेष्टा या परिस्थिति से तथ्य चयन नहीं। पर उनकी विशेष-विशेष परिस्थितियों की ओर भावुकता से ध्यान देने पर बहुत से मार्मिक तथ्य सामने आते हैं। कोसों तक फैले, कड़ी धूप में तपते मैदान के बीच एक अकेला वटवृक्ष दूर तक छाया

फैलाए खड़ा है। हवा के झोंकों से उसकी टहनियाँ और पत्ते हिलहिलकर मानो बुला रहे हैं। हम धूप से व्याकुल होकर उसकी ओर बढ़ते हैं। देखते हैं, उसकी जड़ के पास एक गाय बैठी आँखें मूँदे जुगाली कर रही है। हम लोग भी उसी के पास आराम से जा बैठते हैं। इतने में एक कुत्ता जीभ बाहर निकाले हाँफता हुआ उस छाया के नीचे आता है और हममें से कोई उठकर उसे छड़ी लेकर भगाने लगता है। इस परिस्थिति को देख हममें से कोई भावुक पुरुष उस पेड़ को इस प्रकार संबोधन करे तो कर सकता है—

काया की न छाया यह केवल तुम्हारी, द्रुम
अंतस के मर्म का प्रकाश यह छाया है।
भरी है इसी में वह स्वर्ग स्वप्न धारा, अभी
जिसमें न पूरा पूरा नर बह पाया है।
शांतिसार शीतल प्रसार यह छाया धन्य!
प्रीति सा पसारे इसे कैसी हरी काया है।
हे नर! तू प्यारा इस तरु का स्वरूप देख,
देख फिर घोर रूप तूने जो कमाया है।

ऊपर नरक्षेत्र और मनुष्येतर सजीव सृष्टि के क्षेत्र का उल्लेख हुआ है। काव्यदृष्टि कभी तो इन पर अलग-अलग रहती है और कभी समष्टि-रूप में समस्त जीवन-क्षेत्र पर। कहने की आवश्यकता नहीं कि विच्छिन्न दृष्टि की अपेक्षा समष्टि-दृष्टि में अधिक व्यापकता और गंभीरता रहती है। काव्य का अनुशीलन करनेवाले मात्र जानते हैं कि काव्य-दृष्टि सजीव सृष्टि तक ही बद्ध नहीं रहती है। वह प्रकृति के उस भाग की ओर भी जाती है जो निर्जीव या जड़ कहलाता है। भूमि, पर्वत, चट्टान, नदी, नाले, टीले, मैदान, समुद्र, आकाश, मेघ, नक्षत्र इत्यादि की रूप गति आदि से भी हम सौंदर्य, माधुर्य, भीषणता, भव्यता, विचित्रता, उदासी उदारता, संपन्नता इत्यादि की भावना प्राप्त करते हैं। कड़कड़ाती धूप के पीछे उमड़ी हुई घटा की श्यामल स्निग्धता और शीतलता का अनुभव मनुष्य क्या पशु-पक्षी; पेड़-पौधे तक करते हैं। अपने इधर-उधर हरी-भरी लहलहाती प्रफुल्लता का विधान करती हुई नदी की अविराम जीवन-धारा में हम द्रवीभूत औदार्य का दर्शन करते हैं। पर्वत की ऊँची चोटियों में विशालता और भव्यता का, वात-विलोड़ित जल-प्रसार में क्षोभ और आकुलता का, विकीर्णघन-खंड-मंडित रश्मि-रंजित सांध्य-दिगंचल में चमत्कारपूर्ण सौंदर्य का, ताप से तिलमिलाती धरा पर धूल झोंकते हुए अंधड़ के प्रचंड झोंकों में उग्रता और उच्छृंखलता का, बिजली की कँपानेवाली कड़क और ज्वालामुखी के ज्वलंत स्फोट में भीषणता का आभास मिलता है। ये सब विश्वरूपी महाकाव्य की भावनाएँ या कल्पनाएँ हैं। स्वार्थ-भूमि से परे पहुँचे हुए सच्चे अनुभूति-योगी या कवि इनके द्रष्टामात्र होते हैं।

जड़ जगत् के भीतर पाए जानेवाले रूप, व्यापार या परिस्थितियाँ अनेक मार्मिक तथ्यों की भी व्यंजना करती हैं। जीवन में तथ्यों के साथ उनके साम्य का बहुत अच्छा मार्मिक उद्घाटन कहीं-कहीं हमारे यहाँ के अन्योक्तिकारों ने किया है। जैसे, इधर नर-क्षेत्र के बीच देखते हैं तो सुख-समृद्धि और संपन्नता की दशा में दिन-रात घेरे रहनेवाले, स्तुति का खासा कोलाहल खड़ा करनेवाले, विपत्ति और दुर्दिन में पास नहीं फटकते; उधर जड़ जगत् के भीतर देखते हैं तो भरे हुए सरोवर के किनारे जो पक्षी बराबर कलरव करते रहते हैं, वे उसके सूखने पर अपना-अपना रास्ता लेते हैं।

कोलाहल सुनि खगन के, सरवर! जनि अनुरागि।
ये सव स्वारथ के सखा, दुर्दिन दैहैं त्यागि॥
दुर्दिन दैहैं त्यागि, तोय तेरो जब जैहै।
दूरहिं ते तजि आस, पास कोऊ नहिं ऐहै॥

इसी प्रकार सूक्ष्म और मार्मिक दृष्टिवालों को और गूढ़ व्यंजना भी मिल सकती है। अपने इधर-उधर हरियाली और प्रफुल्लता का विधान करने के लिए यह आवश्यक है कि नदी कुछ काल तक एक बँधी हुई मर्यादा के भीतर बहती रहे। वर्षा की उमड़ी हुई उच्छृंखलता में पोषित हरियाली और प्रफुल्लता का ध्वंस सामने आता है। पर यह उच्छृंखलता और ध्वंस अल्पकालिक होता है और इसके द्वारा आगे के लिए पोषण की नयी शक्ति का संचय होता है। उच्छृंखलता नदी की स्थायी वृत्ति नहीं है। नदी के इस स्वरूप के भीतर सूक्ष्य मार्मिक दृष्टि लोकगति के स्वरूप का साक्षात्कार करती है। लोकजीवन की धारा जब एक बँधे मार्ग पर कुछ काल तक अबाध गति से चलने पाती है तभी सभ्यता के किसी रूप का पूर्ण विकास और उसके भीतर सुख-शांति की प्रतिष्ठा होती है। जब जीवन-प्रवाह क्षीण और शाक्त पड़ने लगता है और गहरी विषमता आने लगती है तब नयी शक्ति का प्रवाह फूट पड़ता है जिसमें वेग की उच्छृंखलता के सामने बहुत कुछ ध्वंस भी होता है। पर यह उच्छृंखल वेग जीवन का या जगत् का नित्य स्वरूप नहीं है।

३. पहले कहा जा चुका है कि नरक्षेत्र के भीतर बद्ध रहनेवाली काव्य-दृष्टि की अपेक्षा संपूर्ण जीवन-क्षेत्र और समस्त चराचर के क्षेत्र से मार्मिक तथ्यों का चयन करनेवाली दृष्टि उत्तरोत्तर अधिक व्यापक और गंभीर कही जायगी। जब कभी हमारी भावना का प्रसार इतना विस्तीर्ण और व्यापक होता है कि हम अनंत व्यक्त सत्ता के भीतर नरसत्ता के स्थान का अनुभव करते हैं तब हमारी पार्थक्य-बुद्धि का परिहार हो जाता है। उस समय हमारा हृदय ऐसी उच्च भूमि पर पहुँचा रहता है जहाँ उसकी वृत्ति प्रशांत और गंभीर हो जाती है, उसकी अनुभूति का विषय ही कुछ बदल जाता है।

तथ्य चाहे नरक्षेत्र के ही हों, चाहे अधिक व्यापक क्षेत्र के हों, कुछ प्रत्यक्ष होते हैं और कुछ गूढ़। जो तथ्य हमारे किसी भाव को उत्पन्न करे उसे उस भाव का आलंबन कहना चाहिए। ऐसे रसात्मक तथ्य आरंभ में ज्ञानेंद्रियाँ उपस्थित

करती हैं। फिर ज्ञानेंद्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री से भावना या कल्पना उनकी योजना करती है। अतः यह कहा जा सकता है कि ज्ञान ही भावों में संचार के लिए मार्ग खोलता है। ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है। आरंभ में मनुष्य की चेतन सत्ता अधिकतर इंद्रियज ज्ञान की समष्टि के रूप में ही रही। फिर ज्यों-ज्यों अंतःकरण का विकास होता गया और सभ्यता बढ़ती गई त्यों-त्यों मनुष्य का ज्ञान बुद्धि-व्यवसायात्मक होता गया। अब मनुष्य का ज्ञानक्षेत्र बुद्धि-व्यवसायात्मक या विचारात्मक होकर बहुत ही विस्तृत हो गया है। अतः उसके विस्तार के साथ हमें अपने हृदय का विस्तार भी बढ़ाना पड़ेगा। विचारों की क्रिया से, वैज्ञानिक विवेचन और अनुसंधान द्वारा उद्घाटित परिस्थितियों और तथ्यों के मर्मस्पर्शी पक्ष का मूर्त्त और सजीव चित्रण भी—उसका इस रूप में प्रत्यक्षीकरण भी कि वह हमारे किसी भाव का आलंबन हो सके—कवियों का काम और उच्च काव्य का एक लक्षण होगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन तथ्यों और परिस्थितियों के मार्मिक रूप न जाने कितनी बातों की तह में छिपे होंगे।

काव्य और व्यवहार

भावों या मनोविकारों के विवेचन में हम कह चुके हैं कि मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करनेवाली मूल वृत्ति भावात्मिका है। केवल तर्क-बुद्धि या विवेचना के बल से हम किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होते। जहाँ जटिल बुद्धि-व्यापार के अनन्तर किसी कर्म का अनुष्ठान देखा जाता है वहाँ भी तह में कोई भाव या वासना छिपी रहती है। चाणक्य जिस समय अपनी नीति की सफलता के लिए किसी निष्ठुर व्यापार में प्रवृत्त दिखाई पड़ता है उस समय वह दया, करुणा आदि सब मनोविकारों या भावों से परे दिखाई पड़ता है। पर थोड़ा अंतर्दृष्टि गड़ाकर देखने से कौटिल्य को नचानेवाली डोर का छोर भी अंतःकरण के रागात्मक खंड की ओर मिलेगा। प्रतिज्ञा-पूर्ति की आनंद भावना और नंदवंश के प्रति क्रोध या वैर की वासना बारी-बारी से उस डोर को हिलाती हुई मिलेगी। अर्वाचीन राष्ट्रनीति के गुरु-घंटाल जिस समय अपनी किसी गहरी चाल से किसी देश की निरपराध जनता का सर्वनाश करते हैं, उस समय वे दया आदि दुर्बलताओं से निर्लिप्त, केवल बुद्धि के कठपुतले दिखाई पड़ते हैं। पर उनके भीतर यदि छानबीन की जाए तो कभी अपने देशवासियों के सुख की उत्कंठा, कभी अन्य जाति के प्रति घोर विद्वेष, कभी अपनी जातीय श्रेष्ठता का नया या पुराना घमंड, इशारे करता हुआ मिलेगा।

बात यह है कि केवल इस बात को जानकर ही हम किसी काम को करने या न करने के लिए तैयार नहीं होते कि वह काम अच्छा है या बुरा, लाभदायक है या हानिकारक! जब उसकी या उसके परिणाम की कोई ऐसी बात हमारी भावना में आती है जो आह्लाद, क्रोध, करुणा, भय, उत्कंठा आदि का संचार कर देती

है तभी हम उस काम को करने या न करने के लिए उद्यत होते हैं। शुद्ध ज्ञान या विवेक में कर्म की उत्तेजना नहीं होती। कर्म-प्रवृत्ति के लिए मन में कुछ वेग का आना आवश्यक है। यदि किसी जनसमुदाय के बीच कहा जाए कि अमुक देश तुम्हारा इतना रुपया प्रतिवर्ष उठा ले जाता है तो संभव है कि उस पर कुछ प्रभाव न पड़े। पर यदि दारिद्र्य और अकाल का भीषण और करुण दृश्य दिखाया जाए, पेट की ज्वाला से जले हुए कंकाल कल्पना के सम्मुख रखे जाएँ और भूख में तड़पते हुए बालक के पास बैठी हुई माता का आर्त्त-क्रंदन सुनाया जाए तो बहुत से लोग क्रोध और करुणा से व्याकुल हो उठेंगे और इस दशा को दूर करने का यदि उपाय नहीं तो संकल्प अवश्य करेंगे। पहले ढंग की बात कहना राजनीतिक या अर्थशास्त्री का काम है और पिछले प्रकार का दृश्य भावना में लाना कवि का। अतः यह धारणा कि काव्य व्यवहार का बाधक है, उसके अनुशीलन से अकर्मण्यता आती है, ठीक नहीं। कविता तो भाव-प्रसार द्वारा कर्मण्य के लिए कर्मक्षेत्र का और विस्तार कर देती है।

उक्त धारणा का आधार यदि कुछ हो सकता है तो यही कि जो भावुक या सहृदय होते हैं अथवा काव्य के अनुशीलन से जिनके भाव-प्रसार का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है, उनकी वृत्तियाँ उतनी स्वार्थबद्ध नहीं रह सकतीं। कभी-कभी वे दूसरों का जी दुखाने के डर से, आत्मगौरव या कुलगौरव या जातिगौरव के ध्यान से अथवा जीवन के किसी पक्ष की उत्कर्ष-भावना में नग्न होकर अपने लाभ के कर्म में अतत्पर या उससे विरत देखे जाते हैं। अतः अर्थागम से 'हृष्ट, स्वकार्य साधयेत्' के अनुयायी काशी के ज्योतिषी और कर्मकांडी, कानपुर के बनिए और दलाल, कचहरियों के अमले और मुख़्तार ऐसों को कार्य-भ्रंशकारी, मूर्ख, निरे निठल्ले या खब्त-उल-हवास समझ सकते हैं। जिनकी भावना किसी बात के मार्मिक पक्ष का चित्रानुभव करने में तत्पर रहती है, जिनके भाव चराचर के बीच किसी की भी आलंबनोपयुक्त रूप या दशा में पाते ही उसकी ओर दौड़ पड़ते हैं, वे सदा अपने लाभ के ध्यान से या स्वार्थ-बुद्धि द्वारा ही परिचालित नहीं होते। उसकी यही विशेषता अर्थपरायणों को—अपने काम से काम रखनेवालों को—एक त्रुटि-सी जान पड़ती है। कवि और भावुक हाथ-पैर न हिलाते हों, यह बात नहीं है। पर अर्थियों के निकट उनकी बहुत-सी क्रियाओं का कोई अर्थ नहीं होता।

मनुष्यता की उच्च भूमि

मनुष्य की चेष्टाओं और कर्मकलाप से भावों का मूल-संबंध निरूपित हो चुका है और यह भी दिखाया जा चुका है कि कविता इन भावों या मनोविकारों के क्षेत्र में विस्तृत करती हुई उनका प्रसार करती है। पशुत्व से मनुष्यत्व में जिस प्रकार अधिक ज्ञान-प्रसार की विशेषता है उसी प्रकार अधिक भाव-प्रसार की भी। पशुओं

के प्रेम की पहुँच प्रायः अपने जोड़े, बच्चों या खिलाने-पिलानेवालों तक ही होती है। इसी प्रकार उनका क्रोध भी अपने सतानेवालों तक ही जाता है, स्ववर्ग या पशुमात्र को सतानेवालों तक नहीं पहुँचता। पर मनुष्य में ज्ञान-प्रसार के साथ भाव-प्रसार भी क्रमशः बढ़ता गया है। अपने परिजनों, अपने संबंधियों, अपने पड़ोसियों, अपने देशवासियों क्या मनुष्य मात्र और प्राणिमात्र तक से प्रेम करने भर की जगह उसके हृदय में बन गई है। मनुष्य की त्योरी मनुष्य को ही सतानेवाले पर नहीं चढ़ती, गाय-बैल और कुत्ते-बिल्ली को सतानेवाले पर भी चढ़ती है। पशु की वेदना देखकर भी उसके नेत्र सजल होते हैं। बंदर को शायद बंदरिया के मुँह में ही सौंदर्य दिखाई पड़ता होगा; पर मनुष्य पशु-पक्षी, फूल-पत्ते और रेत-पत्थर में भी सौंदर्य पाकर मुग्ध होता है। इस हृदय-प्रसार का स्मारक स्तंभ काव्य है जिसकी उत्तेजना से हमारे जीवन में एक नया जीवन आ जाता है। हम सृष्टि के सौंदर्य को देखकर रसमग्न होने लगते हैं, कोई निष्ठुर कार्य हमें असह्य होने लगता है, हमें जान पड़ता है कि हमारा जीवन कई गुना बढ़कर सारे संसार में व्याप्त हो गया है।

कवि-वाणी के प्रसार से हम संसार के सुख-दुःख, आनंद-क्लेश आदि का शुद्ध स्वार्थमुक्त रूप में अनुभव करते हैं। इस प्रकार के अनुभव के अभ्यास से हृदय का बंधन खुलता है और मनुष्यता की उच्चभूमि की प्राप्ति होती है। किसी अर्थपिशाच कृपण को देखिए, जिसने केवल अर्थलोभ के वशीभूत होकर क्रोध, दया, श्रद्धा, भक्ति, आत्माभिमान आदि भावों को एकदम दबा दिया है और संसार के मार्मिक पक्ष से मुँह मोड़ लिया है। न सृष्टि के किसी रूप-माधुर्य को देख वह पैसों का हिसाब-किताब भूल कभी मुग्ध होता है, न किसी दीन-दुखिया को देख कभी करुणा से द्रवीभूत होता है, न कोई अपमान-सूचक बात सुनकर क्रुद्ध या क्षुब्ध होता है। यदि उससे किसी लोमहर्षण अत्याचार की बात कही जाए तो वह मनुष्य धर्मानुसार क्रोध या घृणा प्रकट करने के स्थान पर रूखाई के साथ कहेगा कि "जाने दो, हमसे क्या मतलब; चलो अपना काम देखें।" यह महा भयानक मानसिक रोग है। इससे मनुष्य आधा मर जाता है। इसी प्रकार किसी महाक्रूर पुलिस कर्मचारी को जाकर देखिए जिसका हृदय पत्थर के समान जड़ और कठोर हो गया है, जिसे दूसरे के दुःख और क्लेश की भावना स्वप्न में भी नहीं होती है। ऐसों को सामने पाकर स्वभावतः यह मन में आता है कि क्या इनकी भी कोई दवा है? इनकी दवा कविता है।

कविता ही हृदय को प्रकृत दशा में लाती है और जगत् के बीच क्रमशः उसका अधिकाधिक प्रसार करती हुई उसे मनुष्यत्व की उच्च भूमि पर ले जाती है। भावयोग की सबसे उच्च कक्षा पर पहुँचे हुए मनुष्य का जगत् के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है, उसकी अलग भावसत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्व-हृदय हो जाता है। उसकी अश्रुधारा में जगत् की अश्रुधारा का, उसके हास-विलास में

जगत् के आनंद-नृत्य का, उसके गर्जन-तर्जन में जगत के गर्जन-तर्जन का आभास मिलता है।

भावना या कल्पना

इस निबंध के आरंभ में ही हम काव्यानुशीलन को भावयोग कह आए हैं और उसे कर्मयोग और ज्ञानयोग के समकक्ष बता आए हैं। यहाँ पर अब यह कहने की आवश्यकता प्रतीत होती है कि 'उपासना' भावयोग का ही एक अंग है। पुराने धार्मिक लोग उपासना का अर्थ 'ध्यान' ही लिया करते हैं। जो वस्तु हमसे अलग है, हमसे दूर प्रतीत होती है, उसकी मूर्ति मन में लाकर उसके सामीप्य का अनुभव करना ही उपासना है। साहित्यवाले इसी को 'भावना' कहते हैं और आजकल के लोग 'कल्पना'। जिस प्रकार भक्ति के लिए उपासना या ध्यान की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार और भावों के प्रवर्त्तन के लिए भी भावना या कल्पना अपेक्षित होती है। जिनकी भावना या कल्पना शिथिल या अशक्त होती है, किसी कविता या सरस उक्ति को पढ़-सुनकर उनके हृदय में मार्मिकता होते हुए भी वैसी अनुभूति नहीं होती। बात यह है कि उनके अंतःकरण में चटपट वह सजीव और स्पष्ट मूर्ति-विधान नहीं होता जो भावों को परिचालित कर देता है। कुछ कवि किसी बात के सारे मार्मिक अंगों का पूरे ब्यौरे के साथ चित्रण कर देते हैं, पाठक या श्रोता की कल्पना के लिए बहुत कम काम छोड़ते हैं और कुछ कवि कुछ मार्मिक खंड रखते हैं जिन्हें पाठक की तत्पर कल्पना आप से आप पूर्ण करती है।

कल्पना दो प्रकार की होती है—विधायक और ग्राहक! कवि में विधायक कल्पना अपेक्षित होती है और श्रोता या पाठक में अधिकतर ग्राहक। अधिकतर कहने का अभिप्राय यह है जहाँ कवि पूर्ण चित्रण नहीं करता वहाँ पाठक या श्रोता को भी अपनी ओर से कुछ मूर्ति-विधान करना पड़ता है। योरोपीय साहित्य-मीमांसा में कल्पना को बहुत प्रधानता दी गई है। है भी यह काव्य का अनिवार्य साधन, पर है साधन ही साध्य नहीं, जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है। किसी प्रसंग के अंतर्गत कैसा ही विचित्र मूर्ति विधान हो पर यदि उसमें उपर्युक्त भावसंचार की क्षमता नहीं है तो वह काव्य के अंतर्गत न होगा।

मनोरंजन

प्रायः सुनने में आता है कि कविता का उद्देश्य मनोरंजन है। पर जैसा कि हम पहले कह आए हैं कविता का अंतिम लक्ष्य जगत् के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य-हृदय का सामंजस्य-स्थापन है। इतने गंभीर उद्देश्य के स्थान पर केवल मनोरंजन का हल्का उद्देश्य सामने रखकर जो कविता का पठन-पाठन या विचार करते हैं, वे रास्ते ही में रह जानेवाले पथिक के समान हैं। कविता पढ़ते

समय मनोरंजन अवश्य होता है, पर उसके उपरांत कुछ और भी होता है और वही सब कुछ है। मनोरंजन वह शक्ति है जिससे कविता अपना प्रभाव जमाने के लिए मनुष्य की चित्तवृत्ति को स्थिर किए रहती है, इधर-उधर जाने नहीं देती। अच्छी से-अच्छी बात को भी कभी-कभी जो केवल कान से सुन भर लेते हैं, उनकी ओर उनका मनोयोग नहीं होता। केवल यही कहकर कि 'परोपकार करो', 'दूसरों पर दया करो', 'चोरी करना महापाप है', हमें यह आशा कदापि न करनी चाहिए कि कोई अपकारी उपकारी, कोई क्रूर दयावान् या कोई चोर साधु हो जाएगा। क्योंकि ऐसे वाक्यों के अर्थ की पहुँच हृदय तक होती ही नहीं, वह ऊपर ही-ऊपर रह जाता है। ऐसे वाक्यों द्वारा सूचित व्यापारों का मानव-जीवन के बीच कोई मार्मिक चित्र सामने न पाकर हृदय उनकी अनुभूति की ओर प्रवृत्त ही नहीं होता।

पर कविता अपनी मनोरंजन-शक्ति द्वारा पढ़ने या सुननेवाले का चित्त रमाए रहती है, जीवन-पट पर उक्त कर्मों की सुंदरता या विरूपता अंकित करके हृदय के मर्मस्थलों का स्पर्श करती है। मनुष्य के कुछ कर्मों में जिस प्रकार दिव्य सौंदर्य और माधुर्य होता है, उसी प्रकार कुछ कर्मों में भीषण कुरूपता और भद्दापन होता है। इसी सौंदर्य या कुरूपता का प्रभाव मनुष्य के हृदय पर पड़ता है और इस सौंदर्य या कुरूपता का सम्यक् प्रत्यक्षीकरण कविता ही कर सकती है।

कविता की इसी रमानेवाली शक्ति को देखकर जगन्नाथ पंडितराज ने रमणीयता का पल्ला पकड़ा और उसे काव्य का साध्य स्थिर किया तथा योरोपीय समीक्षकों ने 'आनंद' को काव्य का चरम लक्ष्य ठहराया। इस प्रकार मार्ग को ही अंतिम गंतव्य स्थल मान लेने के कारण बड़ा गड़बड़झाला हुआ। मनोरंजन या आनंद तो बहुत-सी बातों में हुआ करता है। किस्सा-कहानी सुनने में भी तो पूरा मनोरंजन होता है, लोग रात-रात भर सुनते रह जाते हैं। पर क्या कहानी सुनना और कविता सुनना एक ही बात है? हम रसात्मक कथाओं या आख्यानों की बात नहीं कहते हैं; केवल घटना वैचित्र्यपूर्ण कहानियों की बात कहते हैं। कविता और कहानी का अंतर स्पष्ट है। कविता सुननेवाला किसी भाव में मग्न रहता है और कभी-कभी बार-बार एक ही पद्य सुनना चाहता है। पर कहानी सुननेवाला आगे की घटना के लिए आकुल रहता है। कविता सुननेवाला कहता है, " जरा फिर तो कहिए।" कहानी सुनेवाला कहता है, "हाँ! तब क्या हुआ।"

मन को अनुरंजित करना, उसे सुख या आनंद पहुँचाना ही यदि कविता का अंतिम लक्ष्य माना जाए तो कविता भी केवल विलास की एक सामग्री हुई। परंतु क्या कोई कह सकता है कि वाल्मीकि ऐसे मुनि और तुलसीदास ऐसे भक्त ने केवल इतना ही समझकर श्रम किया कि लोगों को समय काटने का एक अच्छा सहारा मिल जायगा? क्या इससे गंभीर कोई उद्देश्य उनका न था? खेद के साथ कहना पड़ता है कि बहुत दिनों से बहुत से लोग कविता को विलास की सामग्री

समझते आ रहे हैं। हिंदी के रीति-काल के कवि तो मानो राजाओं-महाराजाओं की कामवासना उत्तेजित करने के लिए ही रखे जाते थे। एक प्रकार के कविराज तो रईसों के मुँह में मकरध्वज रस झोंकते थे, दूसरे प्रकार के कविराज कान में मकरध्वज रस की पिचकारी देते थे, पीछे से तो ग्रीष्मोपचार आदि के नुस्खे भी कवि लोग तैयार करने लगे। गर्मी के मौसम के लिए एक कविजी व्यवस्था करते हैं–

सीतल गुलाबजल भरि चहबच्चन में,
डारि कै कमलदल न्हायबे को धँसिए।
कालिदास अंग-अंग अगर अतर संग,
केसर उसीर नीर घनसार धँसिए।
जेठ में गोविंद लाल चंदन के चहलन,
भरि-भरि गोकुल के महलन बसिए।

इसी प्रकार शिशिर के मसाले सुनिए–

गुलगुली गिलमैं, गलीचा हैं, गुनीजन हैं,
चिक हैं, चिराकैं हैं, चिरागन की माला हैं।
कहै पदमाकर है गजक गजा हू सजी,
सज्जा हैं, सुरा हैं, सुराही हैं सुप्याला हैं।
शिशिर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्हें,
जिनके अधीन एते उचित मसाला हैं।

सौंदर्य

सौंदर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है। योरपीय कला-समीक्षा की यह एक बड़ी ऊँची उड़ान या बड़ी दूर की कौड़ी समझी गई है। पर वास्तव में यह भाषा के गड़बलझाले के सिवा और कुछ नहीं है। जैसे, वीरकर्म से पृथक् वीरत्व कोई पदार्थ नहीं वैसे ही सुंदर वस्तु से पृथक् सौंदर्य कोई पदार्थ नहीं। कुछ रूप-रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं। हमारी अंतस्तता की यही तदाकार-परिणति सौंदर्य की अनुभूति है। इसके विपरीत कुछ रूप-रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनकी प्रतीति या जिनकी भावना हमारे मन में कुछ देर टिकने ही नहीं पाती और एक मानसिक आपत्ति-सी जान पड़ती है। जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी, उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुंदर कही जायगी। इस विवेचन से स्पष्ट है कि भीतर-बाहर का भेद व्यर्थ है। जो भीतर है वही बाहर है।

यही बाहर हँसता-खेलता, रोता-गाता, खिलता-मुरझाता जगत् भीतर भी है

जिसे हम मन कहते हैं। जिस प्रकार यह जगत् रूपमय और गतिमय है उसी प्रकार मन भी। मन भी रूपगति का संघात ही है। रूप मन और इंद्रियों द्वारा संघटित है या मन और इंद्रियाँ रूपों द्वारा, इससे यहाँ प्रयोजन नहीं। हमें तो केवल यही कहना है कि हमें अपने मन का और अपनी सत्ता का बोध रूपात्मक ही होता है।

किसी वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से हमारी अपनी सत्ता के बोध का जितना ही अधिक तिरोभाव और हमारे मन की उस वस्तु के रूप में जितनी ही पूर्ण परिणति होगी उतनी ही बढ़ी हुई हमारी सौंदर्य की अनुभूति कही जाएगी। जिस प्रकार की रूपरेखा या वर्ण-विन्यास से किसी की तदाकार परिणति होती है, उसी प्रकार की रूपरेखा या वर्ण-विन्यास उसके लिए सुंदर है। मनुष्यता की सामान्य भूमि पर पहुँची हुई संसार की सब सभ्य जातियों में सौंदर्य के सामान्य आदर्श प्रतिष्ठित हैं। भेद अधिकतर अनुभूति की मात्रा में पाया जाता है। न सुंदर को कोई एकबारगी कुरूप कहता है और न बिलकुल कुरूप को सुंदर। जैसा कि कहा जा चुका है, सौंदर्य का दर्शन मनुष्य मनुष्य ही में नहीं करता है, प्रत्युत् पल्लव-गुंफित, पुष्पहास में पक्षियों के पक्षजाल में सिंदूराभ सांध्य दिगंचल के हिरण्य-मेखला-मंडित घनखंड में, तुषारावृत्त तुंग-गिरि-शिखर में, चंद्रकिरण से झलझलाते निर्झर में और न जाने कितनी वस्तुओं में वह सौंदर्य की झलक पाता है।

जिस सौंदर्य की भावना में मग्न होकर मनुष्य अपनी पृथक् सत्ता की प्रतीति का विसर्जन करता है वह अवश्य एक दिव्य विभूति है। भक्त लोग अपनी उपासना या ध्यान में इसी विभूति का अवलंबन करते हैं। तुलसी और सूर ऐसे सगुणोपासक भक्त राम और कृष्ण की सौंदर्य-भावना में मग्न होकर ऐसी मंगल-दशा का अनुभव कर गए हैं जिसके सामने कैवल्य या मुक्ति की कामना का कहीं पता नहीं लगता।

कविता केवल वस्तुओं के ही रंग-रूप में सौंदर्य की छटा नहीं दिखाती, प्रत्युत् कर्म और मनोवृत्ति के भी अत्यंत मार्मिक दृश्य सामने रखती है। वह जिस प्रकार विकसित कमल, रमणी के मुखमंडल आदि का सौंदर्य मन में लाती है उसी प्रकार उदारता, वीरता, त्याग, दया, प्रेमोत्कर्ष इत्यादि कर्मों और मनोवृत्तियों का सौंदर्य भी मन में जगाती है। जिस प्रकार वह शव को नोचते हुए कुत्तों और शृगालों के वीभत्स व्यापार की झलक दिखाती है उसी प्रकार क्रूरों की हिंसावृत्ति और दुष्टों की ईर्ष्या आदि की कुरूपता से भी क्षुब्ध करती है। इस कुरूपता का अवस्थान सौंदर्य को पूर्ण और स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए ही समझना चाहिए। जिन मनोवृत्तियों का अधिकतर बुरा रूप हम संसार में देखा करते हैं उनका भी सुंदर रूप कविता ढूँढ़कर दिखाती है। दशवदन-निधनकारी राम के क्रोध के सौंदर्य पर कौन मोहित न होगा?

जो कविता रमणी के रूपमाधुर्य से हमें तृप्त करती है वही उसकी अंतर्वृत्ति की सुंदरता का आभास देकर हमें मुग्ध करती है। जिस बंकिम की लेखनी ने गढ़ पर बैठी हुई राजकुमारी तिलोत्तमा के अंग-प्रत्यंग की सुषमा को अंकित किया है

उसी ने नवाब-नंदिनी आयशा के अंतस् की अपूर्व सात्त्विकी ज्योति की झलक दिखाकर पाठकों को चमत्कृत किया है। जिस प्रकार वाह्य प्रकृति के बीच वन, पर्वत, नदी-निर्झर आदि की रूप-विभूति से हम सौंदर्य-मग्न होते हैं उसी प्रकार अंतःप्रकृति में दया, दाक्षिण्य, श्रद्धा, भक्ति आदि वृत्तियों की स्निग्ध शीतल आभा में सौंदर्य लहराता हुआ पाते हैं। यदि कहीं वाह्य और आभ्यंतर दोनों सौंदर्यों का योग दिखाई पड़े तो फिर क्या कहना है? यदि किसी अत्यंत सुंदर पुरुष की धीरता, वीरता, सत्यप्रियता आदि अथवा किसी अत्यंत रूपवती स्त्री की सुशीलता, कोमलता और प्रेमपरायणता आदि भी सामने रख दी जाए तो सौंदर्य की भावना सर्वांग पूर्ण हो जाती है।

सुंदर और कुरूप-काव्य में बस ये ही दो पक्ष हैं। भला-बुरा, शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, मंगल-अमंगल, उपयोगी-अनुपयोगी—ये सब शब्द काव्य-क्षेत्र के बाहर के हैं। ये नीति, धर्म, व्यवहार, अर्थशास्त्र आदि के शब्द हैं। शुद्ध काव्य-क्षेत्र में न कोई बात भली कही जाती है न बुरी, न शुभ, न अशुभ, न उपयोगी, न अनुपयोगी। सब बातें केवल दो रूपों में दिखाई जाती हैं—सुंदर और असुंदर। जिसे धार्मिक शुभ या मंगल कहता है, कवि उसके सौंदर्य-पक्ष पर आप ही मुग्ध रहता है और दूसरों को भी मुध करता है। जिसे धर्मज्ञ अपनी दृष्टि के अनुसार शुभ या मंगल समझता है, उसी को कवि अपनी दृष्टि के अनुसार सुंदर कहता है। दृष्टि-भेद अवश्य है। धार्मिक की दृष्टि जीव के कल्याण, परलोक में सुख, भवबंधन से मोक्ष आदि की ओर होती है। पर कवि की दृष्टि इन सब बातों की ओर नहीं रहती। वह उधर देखता है जिधर सौंदर्य दिखाई पड़ता है। इतनी-सी बात ध्यान में रखने से ऐसे-ऐसे झमेलों में पड़ने की आवश्यकता बहुत कुछ दूर हो जाती है कि "कला में सत्-असत्, धर्माधर्म का विचार होना चाहिए या नहीं", "कवि को उपदेशक बनना चाहिए या नहीं।"

कवि की दृष्टि तो सौंदर्य की ओर जाती है चाहे वह जहाँ हो—वस्तुओं के रूप-रंग में अथवा मनुष्यों के मन, वचन और कर्म में। उत्कर्ष-साधन के लिए, प्रभाव की वृद्धि के लिए, कवि लोग कई प्रकार के सौंदर्यों का मेल भी किया करते हैं। राम की रूपमाधुरी और रावण की विकरालता भीतर का प्रतिबिंब-सी जान पड़ती है। मनुष्य के भीतरी-बाहरी सौंदर्य के साथ चारों ओर की प्रकृति के सौंदर्य को भी मिला देने से वर्णन का प्रभाव कभी-कभी बहुत बढ़ जाता है। चित्रकूट ऐसे रम्य स्थान में राम और भरत ऐसे रूपवानों की रम्य अंतःप्रकृति की छटा का क्या कहना है!

चमत्कारवाद

काव्य के संबंध में चमत्कार' अनूठापन आदि शब्द बहुत दिनों से लाए जाते हैं। चमत्कार मनोरंजन की सामग्री है, इसमें संदेह नहीं। इससे जो लोग मनोरंजन को

ही काव्य का लक्ष्य समझते हैं, वे यदि कविता में चमत्कार ही ढूँढ़ा करें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। पर जो लोग इससे ऊँचा और गंभीर लक्ष्य समझते हैं वे चमत्कार मात्र को काव्य नहीं मान सकते। चमत्कार से हमारा अभिप्राय यहाँ प्रस्तुत वस्तु के अद्भुतत्व या वैलक्षण्य से नहीं जो अद्भुत रस के आलंबन में होता है। 'चमत्कार' से हमारा तात्पर्य उक्ति के चमत्कार से है, जिसके अंतर्गत वर्ण-विन्यास की विशेषता (जैसे, अनुप्रास में), शब्दों की क्रीड़ा (जैसे श्लेष, यमक आदि में) वाक्य की वक्रता या वचनभंगी (जैसे, काव्यार्थापत्ति, परिसंख्या, विरोधाभास, असंगति इत्यादि में) तथा अप्रस्तुत वस्तुओं का अद्भुतत्व अथवा प्रस्तुत वस्तुओं के साथ उनके सादृश्य या संबंध की अनहोनी या दूरारूढ़ कल्पना (जैसे उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि में) इत्यादि बातें आती हैं।

चमत्कार का प्रयोग भावुक कवि भी करते हैं, पर किसी भाव की अनुभूति को तीव्र करने के लिए। जिस रूप या जिस मात्रा में भाव की स्थिति है उसी रूप और उसी मात्रा में उसकी व्यंजना के लिए प्रायः कवियों की व्यंजना का कुछ असामान्य ढंग पकड़ना पड़ता है। बातचीत में भी देखा जाता है कि कभी-कभी हम किसी को मूर्ख न कहकर 'बैल' कह देते हैं। इसका मतलब यही है कि उसकी मूर्खता की जितनी गहरी भावना मन में है वह 'मूर्ख' शब्द से नहीं व्यक्त होती। इसी बात को देखकर कुछ लोगों ने यह निश्चय किया कि यही चमत्कार या उक्तिवैचित्र्य ही काव्य का नित्य लक्षण है। इसी निश्चय के अनुसार कोई वाक्य, चाहे वह कितना ही मर्मस्पर्शी हो, यदि उक्तिवैचित्र्य शून्य है तो काव्य के अंतर्गत न होगा और कोई वाक्य जिसमें किसी भाव या मर्म-विकार की व्यंजना कुछ भी न हो पर उक्तिवैचित्र्य हो, वह खासा काव्य कहा जाएगा। उदाहरण के लिए पद्माकर का यह सीधा-साधा वाक्य लीजिए—

''नैन नचाय कही मुसुकाय 'लला फिर आइयो खेलन होरी'।''

अथवा मंडन का यह सवैया लीजिए—

अलि! हौं तौ गई जमुना-जल को,
सो कहा कहौं, वीर! विपत्ति परी।
घहराय के कारी घटा उनई,
इतनेई में गागर सीस धरी॥
रपट्यो पग, घाट चढ़्यो न गयो,
कवि मंडन ह्वै के बिहाल गिरी।
चिरजीवहु नंद को बारो अरी,
गहि बाँह गरीब ने ठाढ़ी करी॥

इसी प्रकार ठाकुर की यह अत्यंत स्वाभाविक वितर्क-व्यंजना देखिए—

वा निरमोहिन रूप की रासि जऊ उर हेतु न ठानति ह्वैहै।
बारहिं बार बिलोक घरी-घरी सूरति तो पहिचानति ह्वैहै॥
ठाकुर या मन को परतीति है, जो पै सनेह न मानति ह्वैहै।
आवत हैं नित मेरे लिए, इतनों तो विशेष कै जानति ह्वैहै॥

मंडन ने प्रेम-गोपन को जो वचन कहलाए हैं, वे ऐसे ही हैं जैसे जल्दी में स्वभावतः मुँह से निकल पड़ते हैं। उनमें विदग्धता की अपेक्षा स्वाभाविकता कहीं अधिक झलक रही है। ठाकुर के सवैये में भी अपने प्रेम का परिचय देने के लिए आतुर नये प्रेमी के चित्त के वितर्क की बड़े सीधे-सादे शब्दों में, बिना किसी वैचित्र्य या लोकोत्तर या चमत्कार के, व्यंजना की गई है। क्या कोई सहृदय वैचित्र्य के अभाव के कारण कह सकता है कि इनमें काव्यत्व नहीं है?

अब इनके सामने उन केवल चमत्कारवाली उक्तियों का विचार कीजिए जिनमें कहीं कोई कवि किसी राजा की कीर्ति की धवलता चारों ओर फैलती देख यह आशंका प्रकट करता है कि कहीं मेरी स्त्री के बाल भी सफेद न हो जाएँ अथवा प्रभात होने पर कौवों के काँव-काँव का कारण यह भय बताता है कि कालिमा या अंधकार का नाश करने में प्रवृत्त सूर्य कहीं उन्हें काला देख उनका भी नाश न कर दे। भोज-प्रबंध तथा और-और सुभाषित संग्रहों में इस प्रकार की उक्तियाँ भरी पड़ी हैं। केशव की रामचंद्रिका में पचीसों ऐसे पद्य हैं जिनमें अलंकारों की भद्दी भरती के चमत्कार के सिवा हृदय को स्पर्श करनेवाली या किसी भावना में मग्न करनेवाली कोई बात न मिलेगी। उदाहरण के लिए पताका और पंचवटी के ये वर्णन लीजिए—

पताका

अति सुंदर अति साधु! थिर न रहति पल आधु।
परम तपोमय मानि। दंडधारिणी जानि॥

पंचवटी

बेर भयानक सी अति लगै। अर्क समूह जहाँ जगमगै।
पांडव की प्रतिमा सम लेखौ। अर्जुन भीम महामति देखौ।
है सुभगा सम दीपति पूरी। सिंदुर और तिलकावलि रूरी।
राजति है यह ज्यौं कुलकन्या। धाय विराजित है संग धन्या॥

क्या कोई भावुक इन उक्तियों को शुद्ध काव्य कह सकता है? क्या ये उसके मर्म का स्पर्श कर सकती हैं।

ऊपर दिए अवतरणों में हम स्पष्ट देखते हैं कि किसी उक्ति की तह में उसके प्रवर्तक के रूप में यदि कोई भाव या मार्मिक अंतर्वृत्ति छिपी है तो चाहे वैचित्र्य हो या न हो, काव्य की सरसता बराबर पाई जाएगी। पर यदि कोरा वैचित्र्य

या चमत्कार ही चमत्कार है तो थोड़ी देर के लिए कुछ कुतूहल या मन-बहलाव चाहे हो जाए पर काव्य की लीन करनेवाली सरसता न पाई जाएगी। केवल कुतूहल तो बालवृत्ति है। कविता सुनना और तमाशा देखना एक ही बात नहीं है। यदि सब प्रकार की कविता में केवल आश्चर्य या कुतूहल का ही संचार मानें तब तो अलग-अलग स्थायी भावों की रसरूप में अनुभूति और भिन्न-भिन्न भावों के आश्रयों के साथ तादात्म्य का कहीं प्रयोजन ही नहीं रह जाता।

यह बात ठीक है कि हृदय पर जो प्रभाव पड़ता है, उसके मर्म का जो स्पर्श होता है, वह उक्ति ही के द्वारा। पर उक्ति के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह सदा विचित्र, अद्भुत या लोकोत्तर हो—ऐसी हो जो सुनने में नहीं आया करती या जिसमें बड़ी दूर की सूझ होती है। ऐसी उक्ति जिसे सुनते ही मन किसी भाव या मार्मिक भावना (जैसे प्रस्तुत वस्तु का सौंदर्य आदि) में लीन न होकर एकबारगी कथन के अनूठे ढंग वर्ण-विन्यास या पद-प्रयोग की विशेषता, दूर की सूझ, कवि की चातुरी या निपुणता इत्यादि का विचार करने लगे, वह काव्य नहीं, सूक्ति है। बहुत से लोग काव्य और सूक्ति को एक ही समझा करते हैं। पर इन दोनों का भेद सदा ध्यान में रहना चाहिए। जो उक्ति हृदय में कोई भाव जागृत कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे, वह तो है काव्य। जो उक्ति केवल कथन के ढंग के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे, वह है सूक्ति।

यदि किसी उक्ति में रसात्मकता और चमत्कार दोनों हों तो प्रधानता का विचार करके सूक्ति या काव्य का निर्णय हो सकता है। जहाँ उक्ति में अनूठापन अधिक मात्रा में होने पर भी उसकी तह में रहनेवाला भाव आच्छन्न नहीं हो जाता, वहाँ भी काव्य ही माना जाएगा। जैसे, देव का यह सवैया लीजिए—

साँसन ही में समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपने अरु भूमि गई तन की तनुता करि॥
देव जियै मिलिबेई की आस कै, आसहु पास अकास रह्यो भरि।
जा दिन तें मुख फेरि हरै हँसि हेरि हियो जो लियो हरि जू हरि॥

सवैये का अर्थ यह है कि वियोग में उस नायिका के शरीर को संघटित करने वाले पंचभूत धीरे-धीरे निकलते जा रहे हैं। वायु दीर्घ निःश्वासों के द्वारा निकल गई, जलतत्त्व सारा आँसुओं ही-आँसुओं में ढल गया, तेल भी न रह गया—शरीर की सारी दीप्ति या कांति जाती रही, पार्थिव तत्त्व के निकल जाने से शरीर भी क्षीण हो गया; अब तो उसके चारों ओर आकाश ही-आकाश रह गया है—चारों ओर शून्य दिखाई पड़ रहा है। जिस दिन से श्रीकृष्ण ने उसकी ओर मुँह फेरकर ताका है और मंद-मंद हँसकर उसके मन को हर लिया है, उसी दिन से उनकी यह दशा है।

इस वर्णन में देवजी ने विरह की भिन्न-भिन्न दशाओं में चार भूतों के निकलने की बड़ी सटीक उद्भावना की है। आकाश का अस्तित्व भी बड़ी निपुणता से चरितार्थ किया है। यमक, अनुप्रास आदि भी हैं। सारांश यह कि उनकी उक्ति में एक पूरी सावयव कल्पना है, मजमून की पूरी बंदिश है, पूरा चमत्कार या अनूठापन है। पर इस चमत्कार के बीच में भी विरह वेदना स्पष्ट झलक रही है. उसकी चकाचौंध में अदृश्य नहीं हो गई है। इसी प्रकार मतिराम के इस सवैये की पिछली दो पंक्तियों में वर्षा के रूपक का जो व्यंग्य चमत्कार है वह भाव-शवलता के साथ अनूठे ढंग से गुंफित है–

दोऊ अनंद सों आँगन माँझ
विराजैं असाढ़ की साँझ सुहाई।
प्यारी के बूझत और तिया को
अचानक नाम लियो रसिकाई॥
आई उनै मुँह में हँसी, कोहि
तिया पुनि चाप सी भौंह चढ़ाई।
आँखिन ते गिरे आँसू के बूँद,
सुहास गयो उड़ि हंस की नाई॥

इसके विरुद्ध बिहारी की उन उक्तियों में जिनमें विरहिणी के शरीर के पास ले जाते-ले जाते शीशी का गुलाबजल सूख जाता है, उसके विरह-ताप की लपट के मारे माघ के महीने में भी पड़ोसियों का रहना कठिन हो जाता है, कृशता के कारण विरहिणी साँस खींचने के साथ दो-चार हाथ पीछे और साँस छोड़ने के साथ दो-चार हाथ आगे उड़ जाती है, अत्युक्ति का एक बड़ा तमाशा ही खड़ा किया गया है। कहाँ यह सब मजाक, कहाँ विरह की वेदना।

यह कहा जा चुका है कि उमड़ते हुए भाव की प्रेरणा से अक्सर कथन के ढंग में कुछ वक्रता आ जाती है। ऐसी वक्रता काव्य की प्रक्रिया के भीतर रहती है। उसका अनूठापन भाव-विधान के बाहर की वस्तु नहीं। उदाहरण के लिए दासजी की ये विरहदशा सूचक उक्तियाँ लीजिए–

अब तौ विहारी के वे बानक गए री,
तेरी तनदुति-केसर को नैन कसमीर भो।
श्रौन तुव बानी स्वाति-बूँदन के चातक भे,
साँसन को भरिबो द्रुपदजा को चीर भो॥
हिय को हरष मरु धरनि को नीर भो,
री! जियरो मनोभव-शरन को तुनीर भो।
एरी! बेगि करिकै मिलापु थिर थापु,
न तौ आपु अब चहत अतनु को सरीर भो॥

ऐसी ही भाव-प्रेरित वक्रता द्विजदेव की इस मनोहर उक्ति में है—

तू जो कही, सखि! लोनो सरूप,
सो मो अँखियान को लोनी गई लगि।

प्रेम के स्फुरण की विलक्षण अनुभूति नायिका को हो रही है—कभी आँसू आते हैं, कभी अपनी दशा पर आप अचरज होता है, कभी हल्की-सी हँसी भी आ जाती है कि अच्छी बला मैंने मोल ली। इसी बीच अपनी अंतरंग सखी को सामने पाकर किंचित् विनोद-चातुरी की भी प्रवृत्ति होती है। ऐसी जटिल अंतर्वृत्ति द्वारा प्रेरित उक्ति में विचित्रता आ ही जाती है। ऐसी चित्त-वृत्तियों के अवसर घड़ी-घड़ी नहीं आया करते। सूरदासजी का 'भ्रमरगीत' ऐसी भावप्रेरित वक्र उक्तियों से भरा पड़ा है।

उक्ति की वहीं तक की वचनभंगी या वक्रता के संबंध में हमसे कुंतकजी का 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' मानते बनता है, जहाँ तक कि वह भावानुमोदित हो या किसी मार्मिक अंतर्वृत्ति से संबद्ध हो; उसके आगे नहीं। कुंतकजी की वक्रता बहुत व्यापक है जिसके अंतर्गत वे वाक्य-वैचित्र्य की वक्रता और वस्तु-वैचित्र्य की वक्रता दोनों लेते हैं। सालंकृत वक्रता के चमत्कार ही में वे काव्यत्व मानते हैं। योरप में भी आजकल क्रोचे के प्रभाव से एक प्रकार का वक्रोक्तिवाद जोर पर है। विलायती वक्रोक्तिवाद लक्षणा प्रधान है। लाक्षणिक चपलता और प्रगल्भता में ही, उक्ति के अनूठे स्वरूप में ही, बहुत से लोग वहाँ कविता मानने लगे हैं। उक्ति ही काव्य होती है, यह तो सिद्ध बात है। हमारे यहाँ भी व्यंजक वाक्य ही काव्य माना जाता है। अब प्रश्न यह है कि कैसी उक्ति, किस प्रकार की व्यंजना करनेवाला वाक्य? वक्रोक्तिवादी कहेंगे कि ऐसी उक्ति जिसमें कुछ वैचित्र्य या चमत्कार हो, व्यंजना चाहे जिसकी हो, या किसी ठीक-ठीक बात की न भी हो पर जैसा कि हम कह चुके हैं, मनोरंजनमात्र काव्य का उद्देश्य न माननेवाले उनकी इस बात का समर्थन करने में असमर्थ होंगे। वे किसी लक्षण में उसका प्रयोजन अवश्य ढूँढ़ेंगे।

कविता की भाषा

कविता में कही गई बात चित्र-रूप में हमारे सामने आनी चहिए, यह हम पहले कह आए हैं। अतः उसमें गोचर-रूपों का विधान अधिक होता है। वह प्रायः ऐसे रूपों और व्यापारों को ही लेती है जो स्वाभाविक होते हैं और संसार में सबसे अधिक मनुष्यों को सबसे अधिक दिखाई पड़ते हैं।

अगोचर बातों या भावनाओं को भी, जहाँ तक हो सकता है, कविता स्थूल गोचर रूप में रखने का प्रयास करती है। इस मूर्ति-विधान के लिए वह भाषा की लक्षणा-शक्ति से काम लेती है। जैसे, 'समय बीता जाता है' कहने की अपेक्षा ''समय

भागा जाता है' कहना वह अधिक पसंद करेगी। किसी काम से हाथ खींचना, किसी का रुपया खा जाना, कोई बात पी जाना, दिन ढलना या डूबना, मन मारना, मन छूना, शोभा बरसना, उदासी टपकना इत्यादि ऐसी ही कवि-समय-सिद्ध उक्तियाँ हैं जो बोलचाल में रूढ़ि होकर आ गई हैं। लक्षणा के द्वारा स्पष्ट और सजीव आकार-प्रदान का विधान प्रायः सब देशों के कवि-कर्म में पाया जाता है। कुछ उदाहरण देखिए—

(क) धन्य भूमि बनपंथ पहारा। जहँ-जहँ नाथ *पाँव तुम धारा*।

—तुलसी

(ख) मनहु *उमगि* अँग-अँग छबि *छलकै*।

—तुलसी

(ग) चूनरि चारु चुई सी परै।

(घ) बनन में बागन में *बगरो* बसंत है।

—पद्माकर

(ड.) वृंदावन बागन पै बसंत *बरसो* परै।

—पद्माकर

(च) हौं तो श्यामरंग में चोराय, चित्त चोरा-चोरी
बोरत तो *बोइयों* पै *निचोरत* बनै नहीं।

—पद्माकर

(छ) एहो नंद लाल ऐसी व्याकुल परी है बाल,
हाल ही चलौ तौ चलौ, जोरे, जुरि जाएगी।
कहै पद्माकर नहीं तो ये झकोरे लगे,
ओरे लौं अचाका बिनु घोरे घुरि जाएगी।
तौ ही लगि चैन जौलौं चेतिहैं न चंद्रमुखी,
चेतैगी कहूँ तौ चाँदनी में चुरि जाएगी।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि वस्तु या तथ्य के पूर्ण प्रत्यक्षीकरण तथा भाव या मार्मिक अंतर्वृत्ति के अनुरूप व्यंजना के लिए लक्षणा का बहुत कुछ सहारा कवि को लेना पड़ता है।

भावना! को मूर्त्त रूप में रखने की आवश्यकता के कारण कविता की भाषा में दूसरी विशेषता यह रहती है कि उसमें जाति संकेतवाले शब्दों की अपेक्षा विशेष-रूप-व्यापार सूचक शब्द अधिक रहते हैं। बहुत से ऐसे शब्द होते हैं जिनसे किसी एक का नहीं बल्कि बहुत से रूपों का या व्यापारों का एक साथ चलता सा अर्थ ग्रहण हो जाता है। ऐसे शब्दों को हम जाति-संकेत कह सकते हैं। ये मूर्त्त विधान के प्रयोजन के नहीं होते। किसी ने कहा, "वहाँ बड़ा अत्याचार हो रहा है।" इस अत्याचार शब्द के अंतर्गत मारना-पीटना, डाँटना-डपटना, लूटना-पाटना

रहा है।" इस अत्याचार शब्द के अंतर्गत मारना-पीटना, डाँटना-डपटना, लूटना-पाटना इत्यादि बहुत से व्यापार हो सकते हैं, अतः 'अत्याचार' शब्द सुनने से उन सब व्यापारों की एक मिली-जुली अस्पष्ट भावना थोड़ी देर के लिए मन में आ जाती है; कुछ विशेष व्यापारों का स्पष्ट चित्र या मूर्त रूप नहीं खड़ा होता। इससे ऐसे शब्द कविता के उतने काम के नहीं। ये तत्त्व-निरूपण, शास्त्रीय विचार आदि में ही अधिक उपयोगी होते हैं। भिन्न-भिन्न शास्त्रों में बहुत से शब्द तो विलक्षण ही अर्थ देते हैं और पारिभाषिक कहलाते हैं। शास्त्र-मीमांसक या तत्त्व-निरूपक को किसी सामान्य तथ्य या तत्त्व तक पहुँचाने की जल्दी रहती है, इससे वह किसी सामान्य धर्म के अंतर्गत आनेवाली बहुत सी बातों को एक मानकर अपना काम चलाता है; प्रत्येक का अलग-अलग दृश्य देखने-दिखाने में नहीं उलझता।

पर कविता कुछ वस्तुओं और व्यापारों को मन के भीतर मूर्त्त रूप में लाना और प्रभाव उत्पन्न करने के लिए कुछ देर रखना चाहती है। अतः उक्त प्रकार के व्यापक अर्थ-संकेतों से ही उसका काम नहीं चल सकता। इससे जहाँ उसे किसी स्थिति का वर्णन करना चाहता है, वहाँ वह उसके अंतर्गत सबसे अधिक मर्मस्पर्शिनी कुछ वस्तुओं या व्यापारों को लेकर उनका चित्र खड़ा करने का आयोजन करती है। यदि कहीं के घोर अत्याचार का वर्णन करना होगा, तो वह कुछ निरपराध व्यक्तियों के वध, भीषण यंत्रणा, स्त्री-बच्चों पर निष्ठुर प्रहार आदि क्षोभकारी दृश्य सामने रखेगी। "वहाँ घोर अत्याचार हो रहा है" इस वाक्य द्वारा वह कोई प्रभाव नहीं उत्पन्न कर सकती। अत्याचार शब्द के अंतर्गत न जाने कितने व्यापार आ सकते हैं, अतः उसे सुनकर या पढ़कर संभव है कि भावना में एक भी व्यापार स्पष्ट रूप से न आए या आए भी तो ऐसा जिसमें मर्म को क्षुब्ध करने की शक्ति न हो।

उपर्युक्त विचार से ही किसी व्यवहार या शास्त्र के पारिभाषिक शब्द भी काव्य में लाए जाने योग्य नहीं माने जाते। हमारे यहाँ के आचार्यों ने पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग को 'अप्रतीतत्व' दोष माना है। पर दोष स्पष्ट होते हुए भी चमत्कार के प्रेमी कब मान सकते हैं? संस्कृत के अनेक कवियों ने वेदांत, आयुर्वेद, न्याय के पारिभाषिक शब्दों को लेकर बड़े-बड़े चमत्कार खड़े किए हैं या अपनी बहुज्ञता दिखाई है। हिंदी के किसी मुकदमेबाज कवित्त करनेवाले ने 'प्रेम फौजदारी' नाम की एक छोटी सी पुस्तक में शृंगाररस की बातें अदालती कार्रवाइयों पर घटाकर लिखी हैं। 'एक तरफा डिगरी', 'तनकीह' ऐसे-ऐसे शब्द चारों ओर अपनी बहार दिखा रहे हैं, जिन्हें सुनकर कुछ अशिक्षित या भद्दी रुचिवाले वाह-वाह भी कर देते हैं।

शास्त्र के भीतर निरूपित तथ्य को भी जब कोई कवि अपनी रचना के भीतर लेता है, तब वह पारिभाषिक तथा अधिक व्याप्तिवाले जाति-संकेत शब्दों को हटाकर उस तथ्य को व्यंजित करनेवाले कुछ विशेष मार्मिक रूपों और व्यापारों का चित्रण

करता है। कवि गोचर और मूर्त्त रूपों के द्वारा ही अपनी बात कहता है। उदाहरण के लिए गोस्वामी तुलसीदासजी के ये वचन लीजिए—

जेहि निसि सकल जीव सूतहिं तव कृपापात्र जन जागै।

इसमें माया में पड़े हुए जीव की अज्ञान दशा का काव्य-पद्धति पर कथन है। और देखिए—प्राणी आयु भर क्लेश-निवारण और सुख-प्राप्ति का प्रयास करता रह जाता है और कभी वास्तविक सुख-शांति प्राप्त नहीं करता; इस बात को गोस्वामीजी यों सामने रखते हैं—

डासत ही गई बीति निसा सब,
कबहुँ न नाथ! नींद भर सोयो।

भविष्य का अज्ञान अत्यंत अद्‌भुत और रहस्यमय है जिसके कारण प्राणी आनेवाली विपत्ति की कुछ भी भावना न करके अपनी दशा में मग्न रहता है। इस बात को गोस्वामी जी ने 'चरै हरित तृन बलिपशु' इस चित्र द्वारा व्यक्त किया है। अंग्रेज कवि पोप ने भी भविष्य के अज्ञान का यही मार्मिक चित्र लिया है, यद्यपि उसने इस अज्ञान को ईश्वर का बड़ा भारी अनुग्रह कहा है—

उस बलिपशु को देख आज जिसका तू, रे नर!
अपने रँग में रक्त बहायेगा बेदी पर।
होता उसको ज्ञान कहीं तेरा है जैसा,
क्रीड़ा करता कभी उछलता फिरता ऐसा!
अंतकाल तक हरा-हरा चारा चभलाता।
हनन हेतु उस उठे हाथ को चाटे जाता॥
आगम का अज्ञान ईश का परम अनुग्रह॥[1]

बातचीत में भी जब किसी को अपने कथन द्वारा कोई मार्मिक प्रभाव उत्पन्न करना होता है, तब वह इसी पद्धति का अवलंबन करता है। यदि अपनी पत्नी पर अत्याचार करनेवाले किसी व्यक्ति को उसे समझाना है तो वह कहेगा कि "तुमने इसका हाथ पकड़ा है।" यह न कहेगा कि "तुमने इसके साथ विवाह किया है।" विवाह शब्द के अंतर्गत न जाने कितने विधि-विधान हैं जो सब-के-सब एकबारगी मन में आ भी नहीं सकते और उतने व्यंजक या मर्मस्पर्शी भी नहीं होते। अतः कहनेवाला उनमें से जो सबसे अधिक व्यंजक और स्वाभाविक व्यापार 'हाथ पकड़ना' है, जिससे सहारा देने का चित्र सामने आता है, उसे भावना में लाता है।

---

1. The lamb thy riot dooms to bleed today,
Had he thy reason, would he skip and play ?
Pleased to the last he crops the flow'ry, food,
And licks the hand just raised to shed his blood,
The blindness to the future kindly given. —Essay on man.

तीसरी विशेषता कविता की भाषा में वर्ण-विन्यास की है। 'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे' और 'नीरस तरुरिह विलसति पुरतः' का भेद हमारी पंडित मंडली में बहुत दिनों से प्रसिद्ध चला आता है। काव्य एक बहुत ही व्यापक कला है। जिस प्रकार मूर्त्त विधान के लिए कविता चित्र-विद्या की प्रणाली का अनुसरण करती है उसी प्रकार नादसौष्ठव के लिए वह संगीत का कुछ-कुछ सहारा लेती है। श्रुति-कटु मानकर कुछ वर्णों का त्याग, वृत्तिविधान, लय, अन्त्यानुप्रास आदि नाद सौंदर्य-साधन के लिए ही हैं। नादसौष्ठव के निमित्त निरूपित-वर्ण विशिष्टता को हिंदी के हमारे कुछ पुराने कवि इतनी दूर तक घसीट ले गए कि उनकी बहुत सी रचना बेडौल और भावशून्य हो गई। उसमें अनुप्रास की लंबी लड़ी—वर्ण-विशेष की निरंतर आवृत्ति-के सिवा और किसी बात पर ध्यान नहीं जाता। जो बात भाव या रस की धारा का मन के भीतर अधिक प्रसार करने के लिए थी, वह अलग चमत्कार या तमाशा खड़ा करने के लिए काम में लाई गई।

नाद-सौंदर्य से कविता की आयु बढ़ती है। तालपत्र भोजपत्र, कागज आदि का आश्रय छूट जाने पर भी वह बहुत दिनों तक लोगों की जिह्वा पर नाचती रहती है। बहुत सी उक्तियों को लोग, उनके अर्थ की रमणीयता इत्यादि की ओर ध्यान ले जाने का कष्ट उठाए बिना ही, प्रसन्न-चित्त रहने पर गुनगुनाया करते हैं। अतः नाद-सौंदर्य का योग भी कविता का पूर्ण स्वरूप खड़ा करने के लिए कुछ न-कुछ आवश्यक होता है। इसे हम बिलकुल हटा नहीं सकते। जो अन्त्यानुप्रास को फालतू समझते हैं, वे छंद को पकड़े रहते हैं; जो छंद को भी फालतू समझते हैं, वे लय में लीन होने का प्रयास करते हैं। संस्कृत से संबंध रखनेवाली भाषाओं में नाद-सौंदर्य के समावेश के लिए बहुत अवकाश रहता है। अतः अंग्रेजी आदि अन्य भाषाओं की देखादेखी, जिनमें इसके लिए कम जगह है, अपनी कविता को हम इस विशेषता से वंचित कैसे कर सकते हैं?

हमारी काव्य-भाषा में एक चौथी विशेषता भी है जो संस्कृत से ही आई है। वह यह है कि कहीं-कहीं व्यक्तियों के नामों के स्थान पर उनके रूप-गुण या कार्यबोधक शब्दों का व्यवहार किया जाता है, ऊपर से देखने में तो पद्य के नपे हुए चरणों में शब्द खपाने के लिए ही ऐसा किया जाता है, पर थोड़ा विचार करने पर इसमें गुरुतर उद्देश्य प्रकट होता है। सच पूछिए तो यह बात कृत्रिमता बचाने के लिए की जाती है। मनुष्यों के नाम यथार्थ में कृत्रिम संकेत है जिनसे कविता की पूर्ण परिपोषकता नहीं होती। अतएव कवि मनुष्यों के नामों के स्थान पर कभी-कभी उनके ऐसे रूप, गुण या व्यापार की ओर इशारा करता है जो स्वाभाविक और अर्थगर्भित होने के कारण सुननेवाले की भावना के निर्माण में योग देते हैं। गिरिधर, मुरारि, त्रिपुरारि, दीनबंधु, चक्रपाणि, मुरलीधर, सव्यसाची इत्यादि शब्द ऐसे ही हैं।

ऐसे शब्दों को चुनते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वे प्रकरण

विरुद्ध या अवसर के प्रतिकूल न हों। जैसे, यदि कोई मनुष्य किसी दुर्धर्ष अत्याचारी के हाथ से छुटकारा पाना चाहता हो तो उसके लिए "हे गोपिकारमण! हे वृंदावन-बिहारी!" आदि कहकर कृष्ण को पुकारने की अपेक्षा "हे मुरारि! हे कंसनिकंदन!" आदि संबोधनों से पुकारना अधिक उपयुक्त है; क्योंकि श्रीकृष्ण के द्वारा कंस आदि दुष्टों का मारा जाना देखकर उसे उनसे अपनी रक्षा की आशा होती है, न कि उनका वृंदावन में गोपियों के साथ विहार करना देखकर। इसी तरह किसी आपत्ति से उद्धार पाने के लिए कृष्ण को 'मुरलीधर' कहकर पुकारने की अपेक्षा 'गिरधर' कहना अधिक अर्थसंगत है।

अलंकार

कविता में भाषा की सब शक्तियों से काम लेना पड़ता है। वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए कभी किसी वस्तु का आकार या गुण बहुत बढ़ाकर दिखाना पड़ता है; कभी उसके रूप-रंग या गुण की भावना को उसी प्रकार के और रूप-रंग मिलाकर तीव्र करने के लिए समान रूप और धर्मवाली और-और वस्तुओं को सामने लाकर रखना पड़ता है। कभी-कभी बात को भी घुमा-फिराकर कहना पड़ता है। इस तरह के भिन्न-भिन्न विधान और कथन के ढंग अलंकार कहलाते हैं। इनके सहारे से कविता अपना प्रभाव बहुत कुछ बढ़ाती है। कहीं-कहीं तो इनके बिना काम ही नहीं चल सकता। पर साथ ही यह भी स्पष्ट है कि ये साधन हैं, साध्य नहीं! साध्य को भुलाकर इन्हीं को साध्य मान लेने से कविता का रूप कभी-कभी इतना विकृत हो जाता है कि वह कविता ही नहीं रह जाती। पुरानी कविता में कहीं-कहीं इस बात के उदाहरण मिल जाते हैं।

अलंकार चाहे अप्रस्तुत वस्तु-योजना के रूप में हों (जैसे, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा इत्यादि में), चाहे वाक्य-वक्रता के रूप में (जैसे—अप्रस्तुत-प्रशंसा, परिसंख्या, व्याज-स्तुति, विरोध इत्यादि में), चाहे वर्ण-विन्यास के रूप में (जैसे, अनुप्रास में) लाए जाते हैं, वे प्रस्तुत भाव या भावना के उत्कर्ष-साधन के लिए ही। मुख के वर्णन में जो कमल, चंद्र आदि सामने रखे जाते हैं वह इसीलिए जिसमें इनकी वर्ण-रुचिरता, कोमलता, दीप्ति इत्यादि के योग से सौंदर्य की भावना और बढ़े। सादृश्य या साधर्म्य दिखाना उपमा, उत्प्रेक्षा इत्यादि का प्रकृत लक्ष्य नहीं है। इस बात को भूलकर कवि-परंपरा में बहुत से ऐसे उपमान चला दिए गए हैं जो प्रस्तुत भावना में सहायता पहुँचाने के स्थान पर बाधा डालते हैं। जैसे, नायिका का अंग-वर्णन सौंदर्य की भावना प्रतिष्ठित करने के लिए ही किया जाता है। ऐसे वर्णन में यदि कटि का प्रसंग आने पर भिड़ या सिंह की कमर सामने कर दी जाएगी तो सौंदर्य की भावना में क्या वृद्धि होगी? प्रभात के सूर्यबिंब के संबंध में इस कथन से कि

"है शोणित-कलित कपाल यह किल कापालिक काल को" अथवा शिखर की तरह उठे हुए मेघखंड के ऊपर उदित होते हुए चंद्रबिंब के संबंध में इस उक्ति से कि "मनहुँ क्रमेलक-पीठि पै धर्यो गोल घंटा लसत", दूर की सूझ चाहे प्रकट हो, पर प्रस्तुत सौंदर्य की भावना की कुछ भी पुष्टि नहीं होती।

पर जो लोग चमत्कार ही को काव्य का स्वरूप मानते हैं, वे अलंकार को काव्य का सर्वस्व कहा ही चाहें । चंद्रालोककार तो कहते हैं—

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णः मनलंकृती॥

भरत मुनि ने रस की प्रधानता की ओर ही संकेत किया था; पर भामह, उद्भट आदि कुछ प्राचीन आचार्यों ने वैचित्र्य का पल्ला पकड़ अलंकारों को प्रधानता दी। इनमें बहुतेरे आचार्यों ने अलंकार शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में—रस, रीति, गुण आदि काव्य में प्रयुक्त होनेवाली सारी सामग्री के अर्थ में—किया है। पर ज्यों-ज्यों शास्त्रीय विचार गंभीर और सूक्ष्म होता गया त्यो-त्यों साध्य और साधनों को विविक्त करके काव्य के नित्य स्वरूप या मर्म-शरीर को अलग निकालने का प्रयास बढ़ता गया। रुद्रट और मम्मट के समय से ही काव्य का प्रकृत स्वरूप उभरते-उभरते विश्वनाथ महापात्र के साहित्य-दर्पण में साफ ऊपर आ गया।

प्राचीन गड़बड़झाला मिटे बहुत दिन हो गए। वर्ण्य-वस्तु और वर्णन-प्रणाली बहुत दिनों से एक-दूसरे से अलग कर दी गई है। प्रस्तुत-अप्रस्तुत के भेद ने बहुत-सी बातों के विचार और निर्णय के सीधे रास्ते खोल दिए हैं। अब यह स्पष्ट हो गया है कि अलंकार प्रस्तुत वर्ण्य-वस्तु नहीं, बल्कि वर्णन की भिन्न-भिन्न प्रणालियाँ हैं, कहने के खास-खास ढंग हैं। पर प्राचीन अव्यवस्था के स्मारक-स्वरूप कुछ अलंकार ऐसे चले आ रहे हैं, जो वर्ण्य-वस्तु का निर्देश करते हैं, और अलंकार नहीं कहे जा सकते—जैसे, स्वभावोक्ति, उदात्त, अत्युक्ति। स्वभावोक्ति को लेकर कुछ अलंकार-प्रेमी कह बैठते हैं कि प्रकृति का वर्णन भी तो स्वभावोक्ति अलंकार ही है। पर स्वभावोक्ति अलंकार कोटि में आ ही नहीं सकती। अलंकार वर्णन करने की प्रणाली है। चाहे जिस वस्तु या तथ्य के कथन को हम किसी अलंकार-प्रणाली के अंतर्गत ला सकते हैं। किसी वस्तु-विशेष से किसी अलंकार-प्रणाली का संबंध नहीं हो सकता। किसी तथ्य तक वह परिमित नहीं रह सकती। वस्तु-निर्देश अलंकार का काम नहीं, रस-व्यवस्था का विषय है। किन-किन वस्तुओं, चेष्टाओं या व्यापारों का वर्णन किन-किन रसों के विभावों और अनुभावों के अंतर्गत आएगा, इसकी सूचना रसनिरूपण के अंतर्गत ही हो सकती है।

अलंकारों के भीतर स्वभावोक्ति का ठीक-ठीक लक्षण-निरूपण हो भी नहीं सका है। काव्यप्रकाश की कारिका में यह लक्षण दिया गया है—

स्वभावोक्तिस्तु डिंभादेः स्वक्रिया रूप-वर्णनम्

अर्थात्—"जिसमें बालकादिकों की निज की क्रिया या रूप का वर्णन हो वह स्वभावोक्ति है।" प्रथम तो बालकादिक पद की व्याप्ति कहाँ तक है, यही स्पष्ट नहीं। अतः यही समझा जा सकता है कि सृष्टि की वस्तुओं के रूप और व्यापार का वर्णन स्वभावेक्ति है। खैर, बालक की रूपचेष्टा को लेकर ही स्वभावोक्ति की अलंकारता पर विचार कीजिए। वात्सल्य में बालक के रूप आदि का वर्णन आलंबन विभाव के अंतर्गत और उसकी चेष्टाओं का वर्णन उद्दीपन विभाव के अंतर्गत होगा। प्रस्तुत वस्तु की रूप-क्रिया आदि के वर्णन को रस-क्षेत्र से घसीटकर अलंकार-क्षेत्र में हम कभी नहीं ले जा सकते। मम्मट ही के ढंग के और आचार्यों के लक्षण भी हैं। अलंकार-सर्वस्वकार राजानक रुय्यक कहते हैं।

सूक्ष्म-वस्तु-स्वभाव-यथावद्वर्णनं स्वभावोक्तिः।

आचार्य दंडी ने अवस्था की योजना करके यह लक्षण लिखा है—

नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा।

बात यह है कि स्वभावोक्ति अलंकारों के भीतर आ नहीं सकती। वक्रोक्तिवादी कुंतक ने भी इसे अलंकार नहीं माना है।

जिस प्रकार एक कुरूपा स्त्री अलंकार लादकर सुंदर नहीं हो सकती, उसी प्रकार प्रस्तुत या तथ्य की रमणीयता के अभाव में अलंकारों का ढेर काव्य का सजीव स्वरूप नहीं खड़ा कर सकता। केशवदास के पचीसों पद्य ऐसे रखे जा सकते हैं जिनमें यहाँ से वहाँ तक उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ भरी हैं, शब्दसाम्य के बड़े खेल-तमाशे जुटाए गए हैं, पर उनके द्वारा कोई मार्मिक अनुभूति नहीं उत्पन्न होती। इन्हें कोई सहृदय या भावुक काव्य न कहेगा। आचार्यों ने भी अलंकारों को 'काव्य-शोभाकर', 'शोभातिशायी' आदि ही कहा है। महाराज भोज भी अलंकार को 'अलमर्थमलङ्कर्तुः ही कहते हैं। पहले से सुंदर अर्थ को ही अलंकार शोभित कर सकता है। सुंदर अर्थ की शोभा बढ़ाने में जो अलंकार प्रस्तुत नहीं वे काव्यालंकार नहीं। वे ऐसे ही हैं जैसे शरीर पर से उतार कर किसी अलग कोने में रखा हुआ गहनों का ढेर। किसी भाव या मार्मिक भावना से असंपृक्त अलंकार चमत्कार या तमाशे हैं। चमत्कार विवेचन पहले हो चुका है।

अलंकार है क्या? सूक्ष्म दृष्टिवालों ने काव्यों के सुंदर-सुंदर स्थल चुने और उनकी रमणीयता के कारणों की खोज करने लगे। वर्णन शैली या कथन की पद्धति में ऐसे लोगों को जो-जो विशेषताएँ मालूम होती गईं, उनका वे नामकरण करते गए। जैसे, 'विकल्प' अलंकार का निरूपण पहले-पहल राजानक रुय्यक ने किया। कौन कह सकता है कि काव्यों में जितने रमणीक स्थल हैं, सब ढूँढ़ डाले गए, वर्णन की जितनी सुंदर प्रणालियाँ हो सकती हैं सब निरूपित हो गईं अथवा जो-जो स्थल रमणीय लगे, उनकी रमणीयता का कारण वर्णन प्रणाली ही थी। आदि काव्य

भरी पड़ी हैं, जो न निर्दिष्ट की गई हैं और न जिनके कुछ नाम रखे गए हैं।

कविता पर अत्याचार

कविता पर अत्याचार भी बहुत कुछ हुआ है। लोभियों, स्वार्थियों और खुशामदियों ने उसका गला दबाकर कहीं अपात्रों की—आसमान पर चढ़नेवाली स्तुति कराई है, कहीं द्रव्य न देनेवालों की निराधार निंदा। ऐसी तुच्छ वृत्तिवालों का अपवित्र हृदय कविता के निवास के योग्य नहीं। कविता देवी के मंदिर ऊँचे खुले, विस्तृत और पुनीत हृदय हैं। सच्चे कवि राजाओं की सवारी, ऐश्वर्य की सामग्री में ही सौंदर्य नहीं ढूँढ़ा करते। वे फूस के झोंपड़ों, धूल-मिट्टी में सने किसानों, बच्चों के मुँह में चारा डालते हुए पक्षियों, दौड़ते हुए कुत्तों और चोरी करती हुई बिल्लियों में कभी-कभी ऐसे सौंदर्य का दर्शन करते हैं जिसकी छाया भी महलों और दरबारों तक नहीं पहुंच सकती। श्रीमानों के शुभागमन पर पद्य बनाना, बात-बात में उनको बधाई देना, कवि का काम नहीं। जिनके रूप या कर्मकलाप जगत् और जीवन के बीच में उसे सुंदर लगते हैं, उन्हीं के वर्णन में वह 'स्वांतः सुखाय' प्रवृत्त होता है।

कविता की आवश्यकता

मनुष्य के लिए कविता इतनी प्रयोजनीय वस्तु है कि संसार की सभ्य-असभ्य सभी जातियों में, किसी न-किसी रूप में पाई जाती है। चाहे इतिहास न हो, विज्ञान न हो, दर्शन न हो, पर कविता का प्रचार अवश्य रहेगा। बात यह है कि मनुष्य अपने ही व्यापारों का ऐसा सघन और जटिल मंडल बाँधता चला आ रहा है जिसके भीतर बँधा-बँधा वह शेष सृष्टि के साथ अपने हृदय का संबंध भूला-सा रहता है। इस परिस्थिति में मनुष्य को अपनी मनुष्यता खोने का डर बराबर रहता है। इसी से अंतःप्रकृति में मनुष्यता को समय-समय पर जगाते रहने के लिए कविता मनुष्य जाति के साथ लगी चली आ रही है और चली चलेगी। जानवरों को इसकी जरूरत नहीं।

(विचार वीथी, 1930)

उपन्यास

आजकल उपन्यास लिखने में बहुत लोगों की धड़क खुल गई है। इनमें यदि थोड़े ऐसे हैं जिन्हें अपनी कल्पना और अनुभव का सहारा है तो बहुत से ऐसे भी हैं जिनका अन्य भाषाओं की विख्यात पुस्तकों ही पर गुज़ारा है। उपन्यास साहित्य का एक प्रधान अंग है। मानव प्रकृति पर इसका प्रभाव बहुत पड़ता है। अतः अच्छे उपन्यासों से भाषा की बहुत कुछ पूर्ति और समाज का बहुत कुछ कल्याण हो सकता है।

मानव जीवन के अनेक रूपों का परिचय कराना उपन्यास का काम है। यह उन सूक्ष्म से सूक्ष्म घटनाओं को प्रत्यक्ष करने का यत्न करता है जिनसे मनुष्य का जीवन बनता है और जो इतिहास आदि की पहुँच के बाहर हैं। बहुत लोग उपन्यास का आधार शुद्ध कल्पना बतलाते हैं। पर उत्कृष्ट उपन्यासों का आधार अनुमान शक्ति है, न कि केवल कल्पना। तोता मैना का किस्सा और तिलिस्म ऐयारी की कहानियाँ निस्संदेह कल्पना की क्रीड़ा हैं और असत्य हैं, पर स्वर्णलता, दुर्गेशनन्दिनी, बंगविजेता, जीवन सन्ध्या, बड़ा भाई आदि के ढंग के गार्हस्थ और ऐतिहासिक उपन्यास अनुमानमूलक और सत्य हैं, उच्च श्रेणी के उपन्यासों में वर्णित छोटी छोटी घटनाओं पर यदि विचार किया जाय तो जान पड़ेगा कि वे यथार्थ में सृष्टि के असंख्य और अपरिमित व्यापारों से छाँटे हुए नमूने हैं।

संसार में मनुष्य जीवन संबंधी बहुत सी ऐसी ऐसी बातें नित्य होती रहती हैं जिनका इतिहास लेखा नहीं रख सकता पर जो बड़े महत्त्व की होती हैं। व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन इन्हीं छोटी छोटी घटनाओं का जोड़ है। पर बड़े से बड़े इतिहास और बड़े से बड़े जीवन चरित्र में भी इन घटनाओं का समावेश नहीं हो सकता। जब इन सूक्ष्म घटनाओं के संयोग में कोई उग्र घटना उमड़ पड़ती है तब जाकर इतिहास की दृष्टि उस पर पड़ती है। अपनी असंख्यता और क्षिप्रगति के कारण ऐतिहासिक प्रमाणों की पकड़ में न आनेवाली इन घटनाओं के निदर्शन के निमित्त मनुष्य की अनुमान शक्ति उठ खड़ी होती है जो अनेक व्यापारों के अभ्यास से वैसे ही किसी एक व्यापार का आरोपण कर सकती है। इस शक्ति को रखनेवाले उच्च कोटि के उपन्यास लेखक जिन जिन बातों का उल्लेख अपनी कथाओं में करते हैं

वे सब ऐसी बातें होती हैं जो संसार में बराबर होती रहती हैं और समाज की परिचित गति के अन्तर्भूत होती हैं। जबकि इन घटनाओं का आरोप करने में सृष्टि के व्यापारों के निरीक्षण करने की अपेक्षा हुई तब वे बिलकुल कल्पना कैसे कही जा सकती हैं? उनका आधार सत्य पर है, उन्हें असत्य नहीं समझना चाहिए।

ऐतिहासिक आख्यानों के वर्णन करने में कविगण इस अनुमान का सहारा लेते हैं। जिन छोटे छोटे अंशों को इतिहास छलाँग मारता हुआ छोड़ जाता है, कवि अपने सत्यमूलक अनुमान के बल पर उनकी एक लड़ी जोड़कर जीवन का एक चित्र पूरा करके खड़ा करता है। धनुषभंग होने पर परशुराम का राम और लक्ष्मण पर क्रोध करना इतिहास की बात है पर परशुराम और लक्ष्मण के बीच जो जो बातें अवश्य हुईं वह कवि का अनुमान है। कवि ने लक्ष्मण और परशुराम के स्वभाव तथा अवसर की ओर ध्यान देकर अनुमान किया कि उनके बीच ये या इसी तरह की बातें अवश्य हुई होंगी। कैकेयी का कोपभवन में जाना तो इतिहास ने बतलाया पर उसने जो चुटीली बातें राजा दशरथ को कहीं उन्हें भिन्न भिन्न कवियों ने अपने अनुमान के अनुसार जोड़ा है। इन छोटी छोटी बातों के समावेश के कारण कोई ऐतिहासिक काव्य वा आख्यान असत्यमूलक नहीं कहा जा सकता। बिना इन बातों का जोड़ लगाए ऐतिहासिक वृत्त स्वाभाविक मानव व्यापार समझ ही नहीं पड़ते। ऐतिहासिक उपन्यासों के बीच जो पात्र और व्यापार ऊपर से लाए जाते हैं और कल्पित कहे जाते हैं यदि वे उस समय की सामाजिक स्थिति के सर्वथा अनुकूल हों तो उन्हें ठीक मान लेना कोई बड़ी भारी भूल नहीं है। क्योंकि उनके अनुमान करने का साधन तो हमारे पास है पर खंडन करने का एक भी नहीं। यदि कोई अनुभवी लेखक महाराणा प्रतापसिंह वा शिवाजी की असंख्य सेना में से किसी सैनिक को च्युत कर उसका साहस तथा किसी रमणी पर प्रेम तथा उसका गार्हस्थ जीवन आदि दिखलावे तो हमें इन बातों को अघटित और असत्य मानने का कोई अधिकार नहीं है। क्योंकि हमें तो उस समय का सामाजिक चित्र देखना है, न कि किसी व्यक्ति के विषय में छानबीन करना। इसी प्रकार किसी इतिहास प्रसिद्ध घटना के ऐसे अंगों का वर्णन करना भी उपन्यास लेखक का काम है जिन पर इतिहास ने ध्यान नहीं दिया। यदि हल्दीघाटी की लड़ाई का दृश्य दिखाने में लिखा जाय कि 'रामसिंह ने भाला मारा, गाजी खाँ की पगड़ी गिरी, राजपूतों को महाराणा ने यह कहकर बढ़ावा दिया, अमुक भील ने पत्थर लुढ़काया', तो इन अनुमानित व्यापारों को उस लड़ाई के अन्तर्गत मानने में कोई बाधा नहीं है। ऐसे ही व्यापार की आंशिक वा साधारण सूचना पाकर उपन्यासकर्ता विशेष उदाहरण का अनुमान भी कर सकता है। जैसे औरंगजेब के लिए हिन्दुओं को सताना और उनके मन्दिर तोड़ना साधारण बात प्रसिद्ध है। अतः यदि उस समय की कहानी लिखते हुए कोई किसी बस्ती में एक विशेष नाम का मन्दिर अनुमान करके उसका तोड़ा

जाना दिखलावे तथा किसी अनुमानित व्यक्ति विशेष की पीठ पर काजी के कट्टरपन के कारण कोड़े पड़ने की बात सुनावे तो वह मिथ्या भाषण का दोषी नहीं।

इतिहास कभी उन बहुत से सूक्ष्म व्यापारों के लिए जिनसे जीवन का तार बँधा है एक सांकेतिक व्यापार का व्यवहार करके काम चला लेता है पर उपन्यास का सन्तोष इस प्रकार नहीं हो सकता। इतिहास कहीं यह कहकर छुट्टी पा जायगा कि अमुक राजा ने बड़ा अत्याचार किया। अब इस अत्याचार शब्द के अन्तर्गत बहुत से व्यापार आ सकते हैं। इससे उपन्यास इन व्यापारों में से किसी किसी को प्रत्यक्ष करने में लग जायगा।

यहाँ पर यह भी समझ रखना चाहिए कि ऐतिहासिक उपन्यासकर्ताओं के इस अधिकार की भी सीमा है। यह उन्हीं छोटी छोटी घटनाओं को ऊपर से ला सकता है जो किसी ऐतिहासिक घटना के अन्तर्गत अनुमान की जा सकें, अथवा संसार की गति और समाज की तत्कालीन अवस्था का अंग समझी जा सकें। न वह किसी विख्यात घटना में उलटफेर कर सकता है और न ऐसी बातों को ठूँस सकता है जिनका अनुमान उस समय की अवस्था को देखते नहीं हो सकता। इन ऊपर लिखी बातों पर विचार करने ही से यह विदित हो गया होगा कि ऐतिहासिक उपन्यास लिखने के लिए इतिहास के पूरे ज्ञान के साथ ही साथ परम्परागत रहन सहन, बोलचाल की आलोचना शक्ति आदि भी खूब होनी चाहिए।

सामाजिक उपन्यास जिन जिन चरित्रों को सामने लाते हैं वे या तो ऐसे हैं जो सामाजिक व्यापारों के औसत हैं अथवा जिनका होना मानव प्रवृत्ति की चरमसीमा पर सम्भव है। कहीं पर ये उपन्यास यह दिखलाते हैं कि समाज कैसा है और कहीं पर यह दिखलाते हैं कि समाज को कैसा होना चाहिए। ये कहीं तो उन असंख्य व्यापारों में से जिनसे हम घिरे हैं कुछ एक को ऐसे स्थान पर लाकर अड़ा देते हैं जहाँ से हम उनका यथार्थ रूप और सृष्टि के बीच उनका संबंध दृष्टि गड़ा कर देख सकते हैं और कहीं उन सम्भावनाओं की सूचना देते हैं जिनसे यह मनुष्यजीवन, देवजीवन और यह धराधाम स्वर्गधाम हो सकता है। सतोगुण की जो मुग्धकारिणी छाया ये प्रतिभासम्पन्न लेखक एक बार डाल देते हैं वह पाठक के हृदय पर से जीवन भर नहीं हिलती, मानव अन्तःकरण के सौन्दर्य की जो झलक ये एक बार दिखा देते हैं वह कभी नहीं भूलती। कथा के मिस से मनुष्यजीवन के बीच भले और बुरे कर्म्मों की स्थिति दिखाकर जितना ये लेखक आँख खोल सकते हैं उतना अहंकार से भरे हुए नीति के कोरे उपदेश देनेवाले नहीं। चाणक्य, स्माइल्स आदि नीति छाँटने वाले रूखे लेखक जन साधारण से अपने को श्रेष्ठ समझ जिस ढब से आदेश चलाते हैं वह मनुष्य की आत्माभिमान वृत्ति को अखर सकता है। ये लोग सदाचार का स्वाभाविक सौन्दर्य नहीं दिखला सकते जिनकी ओर मनुष्य मोहित होकर आपसे आप ढल पड़ता है। अस्तु, चाणक्यनीति और स्माइल्स

के 'कैरक्टर' आदि की अपेक्षा उत्तम श्रेणी के उपन्यासों का पढ़ना आचरण पर कहीं बढ़कर प्रभाव डालता है।

बड़े लोगों के जो जीवनचरित्र लिखे जाते हैं वे भी मानवजीवन के पूरे और सच्चे चित्र नहीं। उनमें भी बहुत सी सूक्ष्म घटनाएँ तो असामर्थ्य के कारण छूट जाती हैं और बहुत सी स्थूल घटनाएँ किसी विशेष अभिप्राय से छिपा दी जाती हैं। उनमें मनुष्य के अन्तःकरण की वृत्तियाँ साफ साफ नहीं झलकाई जातीं। बाग्वेल आदि अँगरेजी लेखकों ने अपने चरित्र नायकों की बहुत छोटी छोटी बातें भी दर्ज की हैं पर वे जोड़ सी मालूम होती हैं, उनमें औपन्यासिक पूर्णता नहीं आई। बादशाहों तथा वैभवशाली पुरुषों के जो चरित्र लिखे जाते हैं वे तो और भी कृत्रिम होते हैं। किसी महाराज ने अपनी गाड़ी पर से उतर अस्पताल में जा किसी रोगी से दो बातें पूछ लीं तो उनकी दया और करुणा का कहीं ठिकाना नहीं। क्या इन बातों से मानव अन्तःकरण की सच्ची परख हो सकती है? वड्र्सवर्थ, थैकरे, डिकेंस और जार्ज इलियट आदि बड़े बड़े अँगरेजी कवि और उपन्यास लेखक तथा लेखिकाओं ने दीन से दीन और तुच्छ से तुच्छ लोगों की झोंपड़ियों में जीवन के ऊँचे से ऊँचे आदर्श दिखलाए हैं।

(नागरीप्रचारिणी पत्रिका, जुलाई 1910)

[चिन्तामणि भाग-3]

काव्य में प्राकृतिक दृश्य

'दृश्य' शब्द के अंतर्गत केवल नेत्रों के विषय का ही नहीं, अन्य ज्ञानेंद्रियों के विषयों (जैसे शब्द, गंध, रस) का भी ग्रहण समझना चाहिए। 'महकती हुई मंजरियों से लदी और वायु के झकोरों से हिलती हुई आम की डाली पर काली कोयल बैठी मधुर कूक सुना रही है।' इस वाक्य में यद्यपि रूप, शब्द और गंध तीनों का विवरण है, पर इसे एक 'दृश्य' ही कहेंगे। बात यह है कि कल्पना द्वारा अन्य विषयों की अपेक्षा नेत्रों के विषयों का ही सबसे अधिक आनयन होता है, और सब विषय गौण रूप से आते हैं। वाह्यकरणों के सब विषय अंतःकरण में 'चित्र' रूप से प्रतिबिंबित हो सकते हैं। इसी प्रतिबिंब को हम 'दृश्य' कहते हैं।

यह तो स्पष्ट है कि 'प्रतिबिंब' या 'दृश्य' का ग्रहण 'अभिधा' द्वारा ही होता है। पर 'अभिधा' द्वारा ग्रहण एक ही प्रकार का नहीं होता। हमारे यहाँ आचार्यों ने संकेतग्रह के जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा ये चार विषय बताए, पर स्वयं संकेतग्रह के दो रूपों का विचार नहीं किया। अभिधा द्वारा ग्रहण दो प्रकार का होता है—'बिंबग्रहण और अर्थग्रहण। किसी ने कहा 'कमल'। अब इस 'कमल' पद का ग्रहण कोई इस प्रकार भी कर सकता है कि ललाई लिए हुए सफेद पंखड़ियों और नाल आदि के सहित एक फूल का चित्र अंतःकरण में थोड़ी देर के लिए उपस्थित हो जाय; और इस प्रकार भी कर सकता है कि चित्र उपस्थित न हो केवल पद का अर्थमात्र समझकर काम चलाया जाय। व्यवहार में तथा शास्त्रों में इसी दूसरे प्रकार के संकेतग्रह से काम चलता है। वहाँ एक एक पद के वाच्यार्थ के रूप पर अड़ते चलने की फुरसत नहीं रहती। पर काव्य के दृश्य चित्रण में संकेतग्रह पहले प्रकार का होता है। उसमें कवि का लक्ष्य 'बिंबग्रहण' कराने का रहता है, केवल अर्थ ग्रहण कराने का नहीं। वस्तुओं के रूप और आसपास की परिस्थिति का ब्योरा जितना स्पष्ट या स्फुट होगा उतना ही पूर्ण बिंबग्रहण होगा, और उतना ही अच्छा दृश्यचित्रण कहा जाएगा।

'बिंबग्रहण' कराने के लिए चित्रण काव्य का प्रथम विधान है, जो 'विभाव' में दिखाई पड़ता है। काव्य में 'विभाव' मुख्य समझना चाहिए। भावों के प्रकृत आधार या विषय का कल्पना द्वारा पूर्ण और यथातथ्य प्रत्यक्षीकरण कवि का पहला और

सबसे आवश्यक काम है। यों तो जिस प्रकार विभाव, अनुभाव आदि में हम कल्पना का प्रयोग पाते हैं उसी प्रकार उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों में भी, पर जबकि रस ही काव्य में प्रधान वस्तु है तब उसके संयोजकों में कल्पना का जो प्रयोग होता है वह आवश्यक और प्रधान ठहरता है। रस का आधार खड़ा करनेवाला जो विभावन व्यापार है वही कल्पना का सबसे बड़ा प्रधान कार्यक्षेत्र है। किंतु उसे यों ही उड़ान भरना नहीं होता, उसे अनुभूति या रागात्मिका वृत्ति के आदेश पर चलना पड़ता है। उसे ऐसे स्वप्न खड़े करने पड़ते हैं जिनके द्वारा रति हास, शोक, क्रोध इत्यादि का स्वयं अनुभव करने के कारण कवि जानता है कि श्रोता या पाठक भी उनका वैसा ही अनुभव करेंगे। अपनी अनुभूति की व्यापकता के कारण मनुष्यमात्र की अनुभूति तथा उनके विषयों को अपने हृदय में रखनेवाले ही ऐसे स्वरूपों को अपने मन में ला सकते हैं और कवि कहे जाने के अधिकारी बन सकते हैं।

विभाव के अंतर्गत दो पक्ष होते हैं–

(1) आलंबन (भाव का विषय),

(2) आश्रय (भाव का अनुभव करनेवाला)।

इनमें से प्रथम तो मनुष्य से लेकर कीट पतंग, वृक्ष, नदी, पर्वत आदि सृष्टि का कोई भी पदार्थ हो सकता है। किंतु दूसरा हृदयसंपन्न मनुष्य ही होता है। प्राचीन कविगण इन दोनों का स्वरूप प्रतिष्ठित करने में–इनका बिंब ग्रहण कराने में–कल्पना का पूरा पूरा उपयोग करते थे। वाल्मीकीय रामायण को मैं आर्य काव्य का आदर्श मानता हूँ। इसमें राम के रूप, गुण, शीलस्वभाव तथा रावण की विरूपता, अनीति, अत्याचार आदि का पूरा चित्रण तो मिलता ही है, साथ ही अध्योध्या, चित्रकूट, दंडकारण्य आदि का चित्र भी पूरे ब्योरे के साथ सामने आता है। इन स्थलों के वर्णन में हमें हाट, बाट, नदी, निर्झर, ग्राम, जनपद इत्यादि न जाने कितने पदार्थों का प्रत्यक्षीकरण मिलता है।

साहित्य के आचार्यों की दृष्टि में वन, उपवन, ऋतु आदि शृंगार के 'उद्दीपन' मात्र हैं; वे केवल नायक या नायिका को हँसाने या रुलाने के लिए हैं। जब यही बात है तब फिर इनका संश्लिष्ट चित्रण करके श्रोता को बिंबग्रहण' कराने से क्या प्रयोजन? उनके नाम गिनाकर अर्थग्रहण करा दिया, बस, हो गया। पर सोचने की बात है कि क्या प्राचीन कवियों ने इनका वर्णन इसी रूप में किया है? क्या विश्वहृदय वाल्मीकि ने वनों और नदियों आदि का वर्णन इसी उद्देश्य से किया है? क्या महाकवि कालिदास ने कुमारसंभव के आरंभ में ही हिमालय का जो विशद वर्णन किया है वह केवल शृंगार के उद्दीपन की दृष्टि से? कभी नहीं। ये वर्णन पहले तो प्रसंग प्राप्त हैं अर्थात् आलंबन की परिस्थिति को अंकित करनेवाले हैं। इनके बिना आश्रय और आलंबन शून्य में खड़े मालूम होते हैं। इसपर यों गौर कीजिए। राम और लक्ष्मण के दो चित्र आपके सामने हैं। एक में केवल दो मूर्तियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं

है और दूसरे में पयस्विनी के द्रुमलताच्छादित तट पर पर्णकुटी के सामने दोनों भाई बैठे हैं। इनमें से दूसरा चित्र परिस्थिति को लिए हुए है, इससे उसमें हमारे भावों के लिए अधिक विस्तृत आलंबन है। हमारी परिस्थिति हमारे जीवन का आलंबन है, अतः उपचार से वह हमारे भावों का भी आलंबन है। उसी परिस्थिति में—उसी संसार में—उन्हीं दृश्यों के बीच जिनमें हम रहते हैं, राम लक्ष्मण को पाकर हम उसके साथ तादात्म्य संबंध का अधिक अनुभव करते हैं, जिससे 'साधारणीकरण' पूरा पूरा होता है।

पर प्राकृतिक वर्णन केवल अंग रूप से ही हमारे भावों के आलंबन नहीं हैं, स्वतंत्र रूप में भी हैं। जिन प्राकृतिक दृश्यों के बीच हमारे आदिम पूर्वज रहे और अब भी मनुष्य जाति का अधिकांश (जो नगरों में नहीं आ गया है) अपनी आयु व्यतीत करता है, उनके प्रति प्रेमभाव, पूर्व साहचर्य के प्रभाव से संस्कार या वासना के रूप में हमारे अंतःकरण में निहित है। उनके दर्शन या काव्य आदि में प्रदर्शन से हमारी भीतरी प्रकृति का जो अनुरंजन होता है वह अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। इस अनुरंजन को केवल किसी दूसरे भाव का उत्तेजक कहना अपनी जड़ता का ढिंढोरा पीटना है। जो प्राकृतिक दृश्यों को केवल कामोद्दीपन की सामग्री समझते हैं; उनकी रुचि भ्रष्ट हो गई है और संस्कारसापेक्ष है। मैंने पहाड़ों पर या जंगलों में घूमते समय बहुत ऐसे साधु देखे हैं जो लहराते हुए हरे भरे जंगलों, स्वच्छ शिलाओं पर चाँदी के ढलते हुए झरनों, कलरव कर रहे विहंगों को देख मुग्ध हो गए हैं। काले मेघ जब अपनी छाया डालकर चित्रकूट के पर्वतों को नीलवर्ण कर देते हैं तब नाचते हुए नीलकंठों (मोरों) को देखकर सभ्यताभिमान के कारण शरीर चाहे न नाचे, पर मन अवश्य नाचने लगता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि ऐसे दृश्यों को देखकर हर्ष होता है। हर्ष एक संचारी भाव है। इसलिए यह मानना पड़ेगा कि उसके मूल में रति भाव वर्तमान है और वह रति भाव उन दृश्यों के प्रति है।

रीतिग्रंथों की बदौलत रसदृष्टि परिमित हो जाने से उसके संयोजक विषयों में से कुछ तो 'उद्दीपन' में डाल दिए गए और कुछ 'भाव क्षेत्र' से ही निकाले जाकर 'अलंकार' के हाते में हाँक दिए गए। इसी व्यवस्था के अनुसार वस्तुओं के स्वाभाविक रूप और क्रिया का वर्णन 'स्वभावोक्ति' अलंकार हो गया, जैसे—लड़कों का खेलना, चीते का पूँछ पटककर झपटना, हाथी का गंडस्थल रगड़ना इत्यादि। पर मैं इन्हें प्रस्तुत विषय मानता हूँ, जिनपर अप्रस्तुत विषयों का उत्प्रेक्षा आदि द्वारा आरोप हो सकता है। वात्सल्य रतिभाव के प्रदर्शन में यदि बच्चे की क्रीड़ा का वर्णन हो तो क्या वह अलंकार मात्र होगा? प्रस्तुत वर्ण्य विषय अलंकार नहीं कहा जा सकता। वह स्वयं रस के संयोजकों में से है, उसकी शोभा मात्र बढ़ानेवाला नहीं। मैं अलंकार को केवल वर्णन प्रणाली मात्र मानता हूँ, जिसके अंतर्गत करके किसी वस्तु का वर्णन किया जा सकता है। वस्तुनिर्देश अलंकार का काम

नहीं। इस दृष्टि से कई अलंकार ऐसे हैं जिन्हें अलंकार न कहना चाहिए, जैसे—स्वभावोक्ति, अतिशयोक्ति से भिन्न अत्युक्ति, उदात्त इत्यादि। सारांश यह कि 'स्वभावोक्ति' अलंकार नहीं है और इसी से उसका ठीक ठीक लक्षण भी नहीं स्थिर हो सका है। कुछ लोग 'अलंकार' का बहुत व्यापक अर्थ लेने लगे हैं। इन सब बातों का विस्तृत विवेचन फिर कभी किया जाएगा।

मनुष्य शेष प्रकृति के साथ अपने रागात्मक संबंध का विच्छेद करने से अपने आनंद की व्यापकता को नष्ट करता है। बुद्धि की व्याप्ति के लिए मनुष्य को जिस प्रकार विस्तृत और अनेक रूपात्मक क्षेत्र मिला है उसी प्रकार 'भावों' (मन के वेगों) की व्याप्ति के लिए भी। अब यदि आलस्य या प्रमाद के कारण मनुष्य इस द्वितीय क्षेत्र को संकुचित कर लेगा तो उसका आनंद पशुओं के आनंद से विशाल किसी प्रकार नहीं कहा जा सकेगा। अतः यह सिद्ध हुआ कि वन, पर्वत, नदी, निर्झर, पशु, पक्षी, खेत, बारी इत्यादि के प्रति हमारा प्रेम स्वाभाविक है, या कम से कम वासना के रूप में अंतःकरण में निहित है।

पर प्रेम की प्रतिष्ठा दो प्रकार से होती है—(1) सुंदर रूप के अनुभव द्वारा और (2) साहचर्य द्वारा। सुंदर रूप के आधार पर जो प्रेमभाव का लोभ (मेरे मानसकोश में दोनों का अर्थ प्रायः एक ही निकलता है) प्रतिष्ठित होता है उसका हेतु संलक्ष्य होता है, और जो केवल साहचर्य के प्रभाव से अंकुरित और पल्लवित होता है वह एक प्रकार से हेतु ज्ञान शून्य होता है। यदि हम किसी किसान को उसकी झोंपड़ी से हटाकर किसी दूर देश में ले जाकर राजभवन में टिका दें तो वह उस झोंपड़ी का, उसके छप्पर पर चढ़ी हुई कुम्हड़े की बेल का, सामने के नीम के पेड़ का, द्वार पर बँधे हुए चौपायों का ध्यान करके आँसू बहाएगा। वह यह कभी नहीं समझता कि मेरी झोंपड़ी इस राजभवन से सुंदर थी; परंतु फिर भी झोंपड़े का प्रेम उसके हृदय में बना हुआ है। यह प्रेम रूपसौंदर्यगत नहीं है; सच्चा स्वाभाविक और हेतु ज्ञान शून्य प्रेम है इस प्रेम तक रूप सौंदर्यगत प्रेम नहीं पहुँच सकता।

इससे यह स्पष्ट है कि अपने सुखविलास की अथवा शोभा और सजावट की अपनी रचनाओं के आदर्श को लेकर जो प्रकृति के क्षेत्र का अवलोकन करते हैं और अपना प्रेमानंद केवल इन शब्दों में प्रकट करते हैं कि "अहा हा! कैसे लाल, पीले और सुंदर फूल खिले हैं, पेड़ किस प्रकार यहाँ से वहाँ तक एक एक पंक्ति में चले गए हैं, लताओं का कैसा सुंदर मंडप सा बन गया है, कैसी शीतल, मंद, सुगंध हवा चल रही है।" उनका प्रेम कोई प्रेम नहीं—उसे अधूरा समझना चाहिए। वे प्रकृति के सच्चे उपासक नहीं। वे तमाशबीन हैं, और केवल अनोखापन, सजावट या चमत्कार देखने निकलते हैं। उनका हृदय मनुष्यप्रवर्तित व्यापारों में पड़कर इतना कुंठित हो गया है कि उसमें उन सामान्य प्राकृतिक परिस्थितियों में, जिनमें अत्यंत आदिम काल में मनुष्यजाति ने अपना जीवन व्यतीत किया था तथा उन प्राचीन मानवव्यापारों में,

जिनमें वन्य दशा से निकल कर वह अपने निर्वाह और रक्षा के लिए लगी, लीन होने की वृत्ति दब गई अथवा यों कहिए कि उनमें करोड़ों पीढ़ियों को पार करके आनेवाली अंतःसंज्ञावर्तिनी वह अव्यक्त स्मृति नहीं रह गई जिसे वासना या संस्कार कहते हैं। वे तड़क भड़क, सजावट, रंगों की चमक दमक, कलाओं की बारीकी पर भले ही मुग्ध हो सकते हों, सच्चे सहृदय नहीं कहे जा सकते।

कंकरीले टीलों, ऊसर, पटपरों, पहाड़ के ऊबड़ खाबड़ किनारों या बबूल, करौंदे के झाड़ों में क्या आकर्षित करनेवाली कोई बात नहीं होती? जो फारस की चाल के बगीचों के गोल चौखूँटे कटाव, सीधी सीधी रविशें, मेंहदी के भद्दे हाथी, घोड़े, काट छाँटकर सुडौल किए हुए सरों के पेड़ों की कतारें, एक पंक्ति में फूले हुए गुलाब आदि देखकर ही वाह वाह करना जानते हैं उनका साथ सच्चे भावुक सहृदयों को वैसा ही दुःखदायी होगा जैसा कि सज्जनों को खलों का। हमारे प्राचीन पूर्वज भी उपवन और वाटिकाएँ लगाते थे। पर उसका आदर्श कुछ और था। उनका आदर्श वही था जो अब तक चीन और योरप में थोड़ा बहुत बना हुआ है। आजकल के पार्कों में हम भारतीय आदर्श की छाया पाते हैं। हमारे यहाँ के उपवन वन के प्रतिरूप ही होते थे। जो वनों में जाकर प्रकृति का शुद्ध स्वरूप और उसकी स्वच्छंद क्रीड़ा नहीं देख सकते थे वे उपवनों में ही जाकर उसका थोड़ा बहुत अनुभव कर लेते थे। वे सर्वत्र अपने को ही नहीं देखना चाहते थे। पेड़ों को मनुष्य की कवायद करते देखकर ही जो मनुष्य प्रसन्न होते हैं वे अपना ही रूप सर्वत्र देखना चाहते हैं, अहंकारवश अपने से बाहर प्रकृति की ओर देखने की इच्छा नहीं करते।

काव्य का जो चरम लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत करके अनुभव कराना है (दर्शन के समान केवल ज्ञान कराना नहीं) उसके साधन में भी अहंकार का त्याग आवश्यक है। जब तक इस अहंकार से पीछा न छूटेगा तब तक प्रकृति के सब रूप मनुष्य की अनुभूति के भीतर नहीं आ सकते। खेद है कि फारस की उस महफिली शायरी का कुसंस्कार भारतीयों के हृदय में भी इधर बहुत दिनों से जम रहा है जिसमें चमन, गुल, बुलबुल, लाला, नरगिस आदि का ही कुछ वर्णन विलास की सामग्री के रूप में ही होता है—कोह, बयाबान आदि का उल्लेख किसी भारी विपत्ति या दुर्दिन के ही प्रसंग में मिलता है। फारस में क्या और पेड़ पौधे नहीं होते? पर उनसे वहाँ के शायरों को कोई मतलब नहीं। अलबूर्ज जैसे सुंदर पहाड़ का विशद वर्णन किस फारसी काव्य में है? पर इधर वाल्मीकि को देखिए। उन्होंने प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में केवल मंजरियों से छाए हुए रसालों, सुरभित सुमनों से लदी हुई मालती लताओं, मकरंद पराग पूरित सरोजों का ही वर्णन नहीं किया, इंगुदी, अंकोट, तेंदू, बबूल, बहेड़े आदि जंगली पेड़ों का भी पूर्ण तल्लीनता के साथ वर्णन किया है। इसी प्रकार योरप के कवियों ने भी अपने गाँव के पास से बहते

हुए नाले के किनारे उगनेवाली झाड़ी या घास तक का नाम आँखों में आँसू भरकर लिया है।[1] इससे स्पष्ट है कि मनुष्य को उसके व्यापारगर्त से बाहर प्रकृति के विशाल और विस्तृत क्षेत्र में ले जाने की शक्ति फारस की परिमित काव्यपद्धति में नहीं है—भारत और योरप की पद्धति में है।

स्वाभाविक सहृदयता केवल अद्भुत, अनूठी, चमत्कारपूर्ण, विशद या असाधारण वस्तुओं पर मुग्ध होने में ही नहीं है। जितने आदमी भेड़ाघाट, गुलमर्ग आदि देखने जाते हैं वे सब प्रकृति के सच्चे आराधक नहीं होते, अधिकांश केवल तमाशबीन होते हैं। केवल असाधारणत्व के साक्षात्कार की यह रुचि स्थूल और भद्दी है और हृदय के गहरे तलों से संबंध नहीं रखती। जिस रुचि से प्रेरित होकर लोग आतिशबाजी, जुलूस वगैरह देखने दौड़ते हैं, यह वही रुचि है। काव्य में इसी असाधारणत्व और चमत्कार की छोटी रुचि के कारण बहुत से लोग अतिशयोक्तिपूर्ण अशक्त वाक्यों में ही काव्यत्व समझने लगे! कोई बिहारी के विरहवर्णन पर सिर हिलाता है, कोई 'यार' की कमर गायब होने पर वाह वाह करता है। कालिदास ने अत्यंत प्राकृतिक ढंग से रथ को धूल के आगे निकाला[2] तो भूषण ने घोड़े को छोड़े हुए तीर से एक तीर आगे कर दिया[3], पर मुकाबला जहाँ हद से ज्यादा बढ़ा कि मजाक हुआ। खेद है कि उर्दू की शायरी ऐसे ही मजाक की सूरत में आ गई।

'अनूठी बात' सुनने की उत्कंठा रखनेवाले जब काव्यरसिक समझे जाने लगे तब भिन्न भिन्न रसों के प्रवाह को दबाकर अद्भुत रस ऊपर उछलने लगा, और नारायण पंडित जैसे लोगों को सर्वत्र वही दिखाई देने लगा। उन्होंने कह ही डाला कि—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः॥

भावों का उत्कर्ष दिखाने के लिए काव्य में कहीं कहीं असाधारणत्व अवश्य अपेक्षित होता है, पर उतनी ही मात्रा में जितनी से प्रकृत भाव दबने न पावे। इस उत्कर्ष के लिए कहीं कहीं असाधारणत्व पहले आलंबन में अधिष्ठित होकर भाव के उत्कर्ष का कारण स्वरूप होता है। पर यह कहा जा चुका है कि भावों के उत्कर्ष के लिए भी सर्वत्र आलंबन का असाधारणत्व अपेक्षित नहीं होता। साधारण से साधारण वस्तु हमारे गंभीर से गंभीर भावों का आलंबन हो सकती है। साहचर्यजन्य प्रेम कितना

---

1. देखिए, वर्ड्सवर्थ की 'ऐडमानिशन टु ए ट्रैवेलर' शीर्षक कविता।
2. आत्मोद्धतैरपि रजोभिरलंघनीया धावन्त्यमी मृगजवाक्षमयेव रथ्याः।

—अभिज्ञानशाकुंतल, 1।8

3. जिन चढ़ि आगे को चलाइत तीर, तीर एक भरि तऊ तीर पीछे ही परत हैं।

—शिवभूषण, 372

बलवान् होता है, उसमें वृत्तियों को तल्लीन करने की कितनी शक्ति होती है यह सब लोग जानते हैं; पर वह असाधारणत्व पर अवलंबित नहीं होता। जिनका हमारा लड़कपन में साथ रहा है, जिन पेड़ों के नीचे, जिन टीलों पर, जिन नदी नालों के किनारे हम अपने साथियों को लेकर बैठा करते थे, उनके प्रति हमारा प्रेम जीवन भर स्थायी होकर बना रहता है। अतः चमत्कारियों की यह समझ ठीक नहीं कि जहाँ असाधारणत्व होता है वहीं रस का पारिपाक होता है, अन्यत्र नहीं।

प्रसंगप्राप्त साधारण, असाधारण सभी वस्तुओं का वर्णन कवि का कर्त्तव्य है। काव्यक्षेत्र अजायबखाना या नुमाइशगाह नहीं है। जो सच्चा कवि है उसके द्वारा अंकित साधारण वस्तुएँ भी मन को तल्लीन करनेवाली होती हैं। साधारण के बीच में यथास्थान असाधारण की योजना करना सहृदय और कलाकुशल कवि का ही काम है। साधारण, असाधारण अनेक वस्तुओं के मेल से एक विस्तृत और पूर्ण चित्र संघटित करनेवाले ही कवि कहे जाने के अधिकारी हैं। साधारण के बीच में ही असाधारण की प्रकृत अभिव्यक्ति हो सकती है। साधारण से ही असाधारण की सत्ता है। अतः केवल वस्तु के असाधारणत्व या व्यंजनप्रणाली के असाधारणत्व में ही काव्य समझ बैठना अच्छी समझदारी नहीं।

सारांश यह कि केवल असाधारणत्वदर्शन की रुचि सच्ची सहृदयता की पहचान नहीं है। शोभा और सौंदर्य की भावना के साथ साथ जिनमें मनुष्य जाति के उस समय के पुराने सहचरों की वंशपरंपरागत स्मृति वासना के रूप में बनी हुई है, जब वह प्रकृति के खुले क्षेत्र में विचरती थी, वे ही पूरे सहृदय कहे जा सकते हैं। पहले कह आए हैं कि वन्य और ग्रामीण दोनों प्रकार के जीवन प्राचीन हैं, दोनों पेड़ पौधों, पशु पक्षियों, नदी नालों और पर्वत मैदानों के बीच व्यतीत होते हैं, अतः प्रकृति के अधिक रूपों के साथ संबंध रखते हैं। हम पेड़ पौधों और पशु पक्षियों से संबंध तोड़कर नगरों में आ बसे; पर उनके बिना रहा नहीं जाता। हम उन्हें हर वक्त पास न रखकर एक घेरे में बंद करते हैं, और कभी कभी मन बहलाने को उनके पास चले जाते हैं। हमारा साथ उनसे भी छोड़ते नहीं बनता। कबूतर हमारे घर के छज्जों पर सुख से सोते हैं–

तां कस्यांचिद्भवनवलभौ सुप्तपारावतायां,
नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात्खिन्नविद्युत्कलत्रः॥

गौरे हमारे घर के भीतर आ बैठते हैं, बिल्ली अपना हिस्सा या तो म्याऊँ म्याऊँ करके माँगती है या चोरी से ले जाती है, कुत्ते घर की रखवाली करते हैं और वासुदेव जी कभी कभी दीवार फोड़कर निकल पड़ते हैं। बरसात के दिनों में जब सुरखी चूने की कड़ाई की परवा न करके हरी हरी घास पुरानी छत पर निकल पड़ती है तब मुझे उसके प्रेम का अनुभव होता है। वह मानों हमें ढूँढ़ती हुई आती है और कहती है कि तुम मुझसे क्यों दूर दूर भागे फिरते हो?

वनों, पर्वतों, नदी नालों, कछारों, पटपरों, खेतों की नालियों, घास के बीच से गई हुई दुर्रियों, हल बैलों, झोंपड़ों और श्रम में लगे हुए किसानों इत्यादि में जो आकर्षण हमारे लिए है वह हमारे अंतःकरण में निहित वासना के कारण है, असाधारण चमत्कार या अपूर्व शोभा के कारण नहीं। जो केवल पावस की हरियाली और वसंत के पुष्पहास के समय ही वनों और खेतों को देखकर प्रसन्न हो सकते हैं, जिन्हें केवल मंजरीमंडित रसालों, प्रफुल्ल कदंबों और सघन मालतीकुंजों का ही दर्शन प्रिय लगता है ग्रीष्म के खुले हुए पटपर खेत और मैदान, शिशिर की पत्रविहीन नंगी वृक्षावली और झाड़ बबूल आदि जिनके हृदय को कुछ भी स्पर्श नहीं करते उनकी प्रवृत्ति राजसी समझनी चाहिए। वे केवल अपने विलास या सुख की सामग्री प्रकृति में ढूँढ़ते हैं। उसमें उस 'सत्त्व' की कमी है जो सत्तामात्र के साथ एकीकरण की अनुभूति द्वारा लीन करके आत्मसत्ता के विभुत्व का आभास देती है। संपूर्ण सत्ता, क्या भौतिक, क्या आध्यात्मिक, एक ही परम सत्ता या परम भाव के अंतर्गत है, अतः ज्ञान या तर्कबुद्धि द्वारा हम जिस अद्वैत भाव तक पहुँचते हैं उसी भाव तक इस 'सत्त्व' गुण के बल पर हमारी रागात्मिका वृत्ति भी पहुँचती है। इस प्रकार अंततः दोनों प्रवृत्तियों का समन्वय हो जाता है। यदि हम ज्ञान द्वारा सर्वभूत को आत्मवत् जान सकते हैं तो रागात्मिका वृत्ति द्वारा उसका अनुभव भी कर सकते हैं। तर्कबुद्धि से हारकर परम ज्ञानी भी इस 'स्वानुभूति' का आश्रय लेते हैं। अतः परमार्थ दृष्टि से दर्शन और काव्य दोनों अंतःकरण की भिन्न भिन्न वृत्तियों का आश्रय लेकर एक ही लक्ष्य की ओर ले जानेवाले हैं। इस व्यापक दृष्टि से काव्य का विवेचन करने से लक्षणग्रंथों में निर्दिष्ट संकीर्णता कहीं कहीं बहुत खटकती है। वन, उपवन, चाँदनी इत्यादि को दांपत्य रति का उद्दीपन मात्र मानने से संतोष नहीं होता।

पहले कहा जा चुका है कि रस के संयोजक जो विभाव आदि हैं वे ही कल्पना के प्रधान क्षेत्र हैं। कवि की कल्पना का पूर्ण विकास उन्हीं में देखना चाहिए। पर वहाँ कल्पना को कवि की अनुभूति के आदेश पर चलना पड़ता है, उसकी श्रेष्ठता कवि की सहृदयता से संबंध रखती है, अतः उस कृत्रिमता के काल में, जिसमें कविता केवल अभ्यासगम्य समझी जाने लगी, कल्पना का प्रयोग काव्य का प्रकृत स्वरूप संघटित करने में कम होकर अलंकार आदि वाह्य आडंबर फैलाने में अधिक होने लगा। पर विभावन द्वारा जब वस्तुप्रतिष्ठा पूर्ण रूप से हो ले तब आगे और कुछ होना चाहिए। विभाव वस्तु चित्रमय होता है, अतः जहाँ वस्तु श्रोता या पाठक के भावों का आलंबन होती है वहाँ अकेला उसका पूर्ण चित्रण ही काव्य कहलाने में समर्थ हो सकता है। पिछले कवियों में इस वस्तुचित्र का विस्तार क्रमशः कम होता गया। प्राकृतिक दृश्यों के विषय में वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि सच्चे कवियों की कल्पना ऐसे रूपों की योजना करने में, ऐसी वस्तुएँ इकट्ठी करने में प्रयुक्त होती

थी जिससे किसी स्थल का चित्र पूरा होता था और जो श्रोता के भाव का स्वयं आलंबन होती थी। वे जिन दृश्यों को अंकित कर गए हैं उनके ऐसे ब्योरों को उन्होंने सामने रखा है जिनसे एक भरापूरा चित्र सामने आता है। ऐसे दृश्य अंकित करने के लिए प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण की आवश्यकता होती है, उनके स्वरूप से इस प्रकार तल्लीन होना पड़ता है कि एक एक ब्योरे पर ध्यान जाय। उन्हें इस बात का अनुभव रहता था कि कल्पना के सहारे चित्र के भीतर एक एक वस्तु और व्यापार का संश्लिष्ट रूप में भरना जितना जरूरी है उतना उपमा आदि ढूँढ़ना नहीं, इसी से उनके चित्र भरेपूरे हैं, और इधर के कवियों ने जहाँ परंपरापालन के लिए ऐसे चित्र खींचे भी हैं वहाँ वे पूर्ण चित्र क्या, चित्र भी नहीं हुए हैं। उनके चित्र (यदि चित्र कहे जा सकें) ऐसे ही हुए हैं जैसा किसी चित्रकार का अधूरा छोड़ा हुआ चित्र, जिसमें कहीं एक रेखा यहाँ लगी है, कहीं वहाँ—कहीं कुछ रंग भरा जा सकता है, कहीं जगह खाली है। चित्रकला के प्रयोग द्वारा इस बात की परीक्षा हो सकती है। वाल्मीकि के वर्षावर्णन को लीजिए और जो जो वस्तुएँ आती जाएँ उनकी आकृति ऐसी सावधानी से अंकित करते चलिए कि कोई वस्तु छूटने न पावे। फिर गोस्वामी तुलसीदासजी का भागवत् से लिया गया वर्षावर्णन लेकर ऐसा ही कीजिए और दोनों चित्रों को इस बात का ध्यान रखकर मिलाइए कि ये किष्किंधा की पर्वतस्थली के चित्र हैं।

आदिकवि का कैसा सूक्ष्म प्रकृतिनिरीक्षण है, वस्तुओं और व्यापारों की कैसी संश्लिष्ट योजना है, उन्होंने किस प्रकार एक एक पेचीले ब्योरे पर ध्यान दिया है, यह दिखाने के लिए नीचे कुछ पद्य दिए जाते हैं—

व्यामिश्रितं सर्जकदम्बपुष्पैर्नवं जलं पर्वतधातुताम्रम्।
मयूरकेकाभिरनुप्रयातं शैलापगाः शीघ्रतरं वहन्ति॥
रसाकुलं षट्पदसन्निकाशं प्रभुज्यते जम्बुफलं प्रकामम्।
अनेकवर्णं पवनावदूतं भूमौ पतत्याम्रफलं विपक्वम्॥
मुक्तासकाशं सलिलं पतद्वै सुनिर्मलं पत्रपुटेषु लग्नम्।
हृष्टा विवर्णच्छदना विहङ्गाः सुरेन्द्रदत्तं तृषिताः पिवन्ति॥[1]

अब पंचवटी में लक्ष्मण हेमंत का कैसा दृश्य देख रहे हैं उसका एक छोटा सा नमूना लीजिए—

---

1. पर्वत की नदियाँ सर्ज और कदंब के फूलों से मिश्रित, पर्वतधातुओं (गेरू) से लाल नए गिरे जल से कैसी शीघ्रता से बह रही हैं, जिनके साथ मोर बोल रहे हैं। रस से भरे भौंरे के समान काले काले जामुन के फलों को लोग खा रहे हैं। अनेक रंग के पके आम के फल वायु के झोंकों से टूटकर भूमि पर गिरते हैं। प्यासे पक्षी, जिनके पंख पानी से बिगड़ गए हैं, मोती के समान इंद्र के दिए हुए जल को, जो पत्तों की नोंक पर लगा है, हर्षित होकर पी रहे हैं।

अवश्यायनिपातेन किंचित्प्रक्लिन्नशाद्वला।
वनानां शोभते भूमिर्निविष्टतरुणातपा॥
स्पृशंस्तु विपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम्।
अत्यन्ततृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम्॥
अवश्यायतमोनद्धा नीहारतमसावृताः।
प्रसुप्ता इव लक्ष्यन्ते विपुष्पा वनराजयः॥
वाष्पसंछन्नसलिला रुतविज्ञेयसारसाः।
हिमार्दवालुकैस्तीरैः सरितो भान्ति साम्प्रतम॥
जराजर्जरितैः पद्मैः शीर्णकेसरकर्णिकैः।
नालशेषहिमध्वस्तैर्न भान्ति कमलाकराः॥[1]
—अरण्य, 16 सर्ग।

महाकवि कालिदास ने भी जहाँ स्थलवर्णन को सामने रखकर दृश्य अंकित किया है वहाँ उनका निरीक्षण अत्यंत सूक्ष्म है—

आमेखलं संचरतां घनानां छायामधः सानुगतां निषेव्य।
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते शृंगाणि यस्यातपवन्ति सिद्धाः॥
कपोलकण्डूः करिभिर्विनेतुं विघट्टितानां सरलद्रुमाणाम्।
यत्र स्रुतक्षीरतया प्रसूतः सानूनि गन्धः सुरभीकरोति॥
भागीरथीनिर्झरसीकराणां वोढा मुहुःकम्पितदेवदारुः।
यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातैरासेव्यते भिन्नशिखण्डिवर्हः॥[2]

उपमाएँ देने में कालिदास अद्वितीय समझे जाते हैं, पर वस्तुचित्र को उपमा आदि का अधिक बोझ लादकर उन्होंने भद्दा नहीं किया। उनका मेघदूत—विशेषकर पूर्वमेघ—तो यहाँ से वहाँ तक एक मनोहर चित्र ही है। ऐसा काव्य तो संस्कृत क्या

---

1. वन की भूमि, जिसकी हरी हरी घास पाला गिरने से कुछ गीली हो गई है, नई धूप पड़ने से कैसी शोभा दे रही है। अत्यंत प्यासा जंगली हाथी बहुत शीतल जल के स्पर्श से अपनी सूँड़ सिकोड़ता है। बिना फूल के वन समूह कुहरे के अंधकार में सोए से जान पड़ते हैं। नदियाँ, जिनका जल कुहरे से ढका हुआ है और जिनमें के सारस पक्षी केवल शब्द से जाने जाते हैं, हिम से आर्द्र बालू के तटों से ही पहचानी जाती हैं। कमल, जिनके पत्ते जीर्ण होकर झड़ गए हैं जिनके केसर और कर्णिका टूट फूटकर छितरा गई हैं, पाले से ध्वस्त होकर नालमात्र खड़े हैं।
2. मेखला तक घूमनेवाले मेघों के नीचे के शिखरों में प्राप्त छाया का सेवन करके वृष्टि से कँपे हुए सिद्ध लोग जिसके धूपवाले शिखरों का सेवन करते हैं। जिस (हिमालय) में कपोलों की खुजली मिटाने के लिए हाथियों के द्वारा रगड़े गए सरल (सलई) के पेड़ों से टपके हुए दूध से उत्पन्न सुगंध शिखरों को सुगंधित करती है। गंगा के झरने के कणों को ले जानेवाला, बार बार देवदारु के पेड़ों को कँपानेवाला, मयूरों की पूँछों को छितरानेवाला जिसका पवन मृगों के ढूँढ़नेवाले किरातों द्वारा सेवन किया जाता है।

किसी भाषा में भी शायद ही हो। जिनमें ऐतिहासिक सहृदयता है, देश के प्रकृत स्वरूप के साथ जिनके हृदय का सामंजस्य है, मेघदूत उनके लिए भावों का भरापूरा भंडार है। जिनकी रुचि भ्रष्ट हो गई है, जो सर्वत्र उपमा, उत्प्रेक्षा ही ढूँढ़ा करते हैं, जो 'अनूठी उक्तियों' पर भी वाह, वाह किया करते हैं, उनके लिए चाहे उसमें कुछ भी न हो।

कालिदास ने वनश्री, पुर की शोभा आदि का ही वर्णन एक एक ब्योरे पर दृष्टि ले जाकर नहीं किया, उजाड़ खंडहरों का भी वर्णन किया है, उसका ऐसा स्वरूप सामने रखा है जिसे अतीत स्वरूप के साथ मिलाने पर करुणा का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। कुश जब कुशावती में जाकर राज्य करने लगे तब अयोध्या उजड़ गई। एक दिन रात को अयोध्या का अधिदेवता स्त्री का रूप धरकर उनके पास गया और अयोध्या की हीन दशा का अत्यंत मर्मस्पर्शी शब्दों में वर्णन किया। उस प्रसंग के केवल दो श्लोक नीचे दिए जाते हैं, जिनसे सारे वर्णन का अनुमान पाठक कर लेंगे–

कालान्तरश्यामसुधेषु नक्तं इतस्ततो रूढ़तृणाङ्करेषु।
त एव मुक्तागुणशुद्धयोऽपि हर्म्येषु मूर्च्छन्ति न चंद्रपादाः॥
रात्रावनाविष्कृतदीपभासः कान्तामुखश्रीवियुता दिवापि।
तिरस्क्रियन्ते कृमितन्तुजालैर्विच्छिन्नधूमप्रसरा गवाक्षाः॥[1]

भावमूर्ति भवभूति ने यद्यपि शब्दालंकार की ओर अधिक रुचि दिखाई पर प्रकृति के रूपमाधुर्य की ओर उनका पूर्ण ध्यान रहा। नाटक में स्थल चित्रण के लिए पूर्ण अवकाश न होने पर भी उन्होंने बीच बीच में उसकी जो झलक दिखाई उससे वन्य प्राकृतिक दृश्यों का गूढ़ अनुराग लक्षित होता है। खेद है कि जिस कल्पना का उपयोग मुख्यतः पदार्थों का रूप संघटित करने, प्राकृतिक व्यापारों को प्रत्यक्ष करने और इस प्रकार किसी दृश्यखंड के ब्योरे पूरे करने में होना चाहिए था उसका प्रयोग पिछले कवियों ने उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टांत आदि की उद्भावना करने में ही अधिक किया। महाकवि माघ प्रबंधरचना में जैसे कुशल थे वैसे ही उसके पक्षपाती भी थे; पर उनकी प्रवृत्ति हम प्रस्तुत वस्तु विन्यास की ओर कम और अलंकारयोजना की ओर अधिक पाते हैं। उनके दृश्यवर्णन में वाल्मीकि आदि प्राचीन कवियों का सा प्रकृति का रूपविश्लेषण नहीं है; उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टांत,

---

1. समय के फेर में काले पड़े हुए चूनेवाले मंदिरों में, जिनके इधर उधर घास के अंकुर उगे हैं, रात्रि के समय मोती की माला के समान वे चंद्रकिरणें अब प्रकाश नहीं करतीं। रात्रि में दीपक के प्रकाश से रहित और दिन में स्त्रियों के मुख की कांति से शून्य, जिनमें से धुएँ का निकलना बंद हो गया है ऐसे झरोखे मकड़ियों के जालों से ढक गए हैं।

अर्थांतरन्यास आदि की भरमार है। उदाहरण के लिए उनके प्रभात वर्णन से कुछ श्लोक दिए जाते हैं–

अरुणजलजराजीमुग्धहस्ताग्रपादा बहुलमधुपमालाकज्जलेन्दीवराक्षी।
अनुपतति विरावैः पत्रिणां व्याहरन्ती रजनिमचिरजाता पूर्वसन्ध्या सुतेव॥
विततपृथुवरत्रातुल्यरूपैर्मयूखैः कलश इव गरीयान् दिग्भिराकृष्यमाणः।
कृतचपलविहंगालापकोलाहलभिर्जलानिधिजलमध्यादेष उत्तार्यतेऽर्कः॥
व्रजति विषयमक्ष्णामंशुमाली न यावत् तिमिरमखिलमस्तं तावदेवाऽरुणेन।
परपरिभवितेजस्तन्वतामाशु कर्तुं प्रभवति हि विपक्षोच्छेदमग्रेसरोऽपि॥[1]

इस वर्णन में यह स्पष्ट लक्षित होता है कि कवि को दृश्य की एक एक सूक्ष्म वस्तु और व्यापार प्रत्यक्ष करके चित्र पूरा करने की उतनी चिंता नहीं है जितनी कि अद्भुत उपमाओं आदि के द्वारा एक कौतुक खड़ा करने की। पर काव्य कौतुक नहीं है, उसका उद्देश्य गंभीर है।

पाश्चात्य काव्यसमीक्षक किसी वर्णन के ज्ञातृपक्ष (सब्जेक्टिव) और ज्ञेयपक्ष (आब्जेक्टिव)–अथवा विषयिपक्ष और विषयपक्ष–दो पक्ष किया करते हैं। जो वस्तुएँ वाह्य प्रकृति में हम देख रहे हैं उनका चित्रण ज्ञेयपक्ष के अंतर्गत हुआ, और उन वस्तुओं के प्रभाव से हमारे चित्त में जो भाव या आभास उत्पन्न हो रहे हैं वे ज्ञातृपक्ष के अंतर्गत हुए। अतः उपमा, उत्प्रेक्षा आदि के आधिक्य के पक्षपाती कह सकते हैं कि पिछले कवियों के दृश्यवर्णन ज्ञातृपक्षप्रधान हैं। ठीक है, पर वस्तुविन्यास प्रधान कार्य है। यदि वह अच्छी तरह बन पड़ा तो पाठक के हृदय में दृश्य के सौंदर्य, भीषणता, विशालता इत्यादि का अनुभव थोड़ा बहुत आप से आप होगा। वस्तुओं के संबंध में इन भावों का ठीक ठीक अनुभव करने में सहारा देने के लिए कवि कहीं बीच बीच में अपने अंतःकरण की भी झलक दिखाता चले तो यहाँ तक ठीक है। यह झलक दो प्रकार की हो सकती है–भावमय और अपर वस्तुमय। जैसे, किसी ने कहा–तालाब के उस किनारे पर खिले कमल कैसे मनोहर लगते हैं!' यहाँ कमलों के दर्शन से सौंदर्य का जो भाव चित्त में उदित हुआ वह वाच्य द्वारा स्पष्ट कह दिया गया। यही बात यदि यों कही जाय कि 'तालाब के उस किनारे पर खिले कमल ऐसे लगते हैं मानो प्रभात के गगनतट पर की ललाई' तो सौंदर्य का भाव

1. अरुण कमलरूपी कोमल हाथ पैर वाली, मधुपमालारूपी कज्जलयुक्त कमलनेत्रवाली, पक्षियों के कलरवरूपी रोदनवाली यह प्रभात वेला सद्योजात बालिका के समान रात्रिरूपी अपनी माता की ओर लपकी आ रही है। जिस प्रकार घड़ा खींचते समय स्त्रियाँ कुछ कोलाहल करती हैं उसी प्रकार के पक्षियों के कोलाहल से पूर्ण दिशारूपी स्त्रियाँ, दूर तक फैली हुई किरणरूपी रस्सियों से सूर्यरूपी घड़े को बाँधकर बड़े भारी कलश के समान समुद्र के भीतर से खींचकर ऊपर निकाल रही हैं। सूर्य के उदय होने से पहले ही सूर्य के साथी अरुण ने सारा अंधकार दूर कर दिया, वैरियों को नष्ट करनेवाले स्वामियों के आगे चलनेवाला सेवक भी शत्रुओं को मार भगाने में समर्थ होता है।

स्पष्ट न कहा जाकर दूसरी ऐसी वस्तु सामने ला दी गई जिसके साथ भी वैसे ही सौंदर्य का भाव लगा हुआ है। एक में भाव वाच्य द्वारा प्रकट किया गया, दूसरे में अलंकाररूप व्यंग्य द्वारा। इससे स्पष्ट है कि दृश्यवर्णन करते समय कवि उपमा, उत्प्रेक्षा आदि द्वारा वर्ण्य वस्तुओं के मेल में जो दूसरी वस्तुएँ रखता है सो केवल भाव को तीव्र करने के लिए। अतः वे दूसरी वस्तुएँ ऐसी होनी चाहिए जिनसे प्रायः सब मनुष्यों के चित्त में वे ही भाव उदित होते हों जो वर्ण्य वस्तुओं से होते हैं। यों ही खिलवाड़ के लिए बार बार प्रसंगप्राप्त वस्तुओं से श्रोता या पाठक का ध्यान हटाकर दूसरी वस्तुओं की ओर ले जाना, जो प्रसंगानुकूल भाव उद्दीप्त करने में भी सहायक नहीं, काव्य के गांभीर्य और गौरव को नष्ट करना है, उसकी मर्यादा बिगाड़ना है। इसी प्रकार बात बात में 'अहाहा! कैसा मनोहर है! कैसा आह्लादजनक है!' ऐसे भावोद्गार भी भद्देपन से खाली नहीं, और काव्यशिष्टता के विरुद्ध हैं! तात्पर्य यह कि भावों की अनुभूति में सहायता देने के लिए केवल कहीं कहीं उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का प्रयोग उतना ही उचित है जितने से बिंबग्रहण करने में, दृश्य का चित्र हृदयंगम करने में, श्रोता या पाठक को बाधा न पड़े।

जहाँ एक व्यापार के मेल में दूसरा व्यापार रखा जाता है वहाँ या तो (क) प्रथम व्यापार से उत्पन्न भाव को अधिक तीव्र करना होता है, जैसे हिलती हुई मंजरियाँ मानो भौंरों को पास बुला रही हैं, अथवा (ख) द्वितीय व्यापार का सृष्टि के बीच एक गोचर प्रतिरूप दिखाना; जैसे–

" बुंद अघात सहै गिरि कैसे, खल के बचन संत सह जैसे।"

दूसरी अवस्था में प्रस्तुत दृश्य स्वयं सृष्टि या जीवन के किसी रहस्य का गोचर प्रतिबिंबवत् हो जाता है। अतः उस प्रतिबिंब का प्रतिबिंब ग्रहण करने में कल्पना उत्साह नहीं दिखाती। इसी से जहाँ दृश्यचित्रण इष्ट होता है वहाँ के लिए यह अवस्था अनुकूल नहीं होती।

वाल्मीकिजी भी बीच बीच में उपमाएँ देते गए हैं, पर उससे उनके सूक्ष्म निरीक्षण में कसर नहीं आने पाई है वर्षा में पर्वत की गेरू से मिलकर नदियों की धारा का लाल होकर बहना, पर्वत के ऊपर से पानी की मोटी धारा का काली शिलाओं पर गिरकर छितराना, पेड़ों पर गिरे वर्षा के जल का पत्तियों की नोकों पर से बूँद बूँद टपकना और पक्षियों का उसे पीना, हेमंत में कमलों के नाल मात्र का खड़ा रहना और उसके छोर पर केसर का छितराना, ऐसे ऐसे व्यापारों को वे सामने लाते चले गए हैं। सुंदरकांड के पाँचवें सर्ग में जो छोटा सा 'चंद्रनामा' है वह इसके विरोध में नहीं उपस्थित किया जा सकता; क्योंकि वह एक प्रकार की स्तुति या वर्णन मात्र है वहाँ कोई दृश्यचित्रण नहीं है।

विषयी या ज्ञाता अपने चारों ओर उपस्थित वस्तुओं को कभी कभी किस प्रकार अपने तत्कालीन भावों के रंग में देखता है इसका जैसा सुंदर उदाहरण आदिकवि

ने दिया है वह वैसा अन्यत्र कहीं कदाचित् ही मिले। पंचवटी में आश्रम बनाकर हेमंत में जब लक्ष्मण एक एक वस्तु और प्राकृतिक व्यापार का निरीक्षण करने लगे उस समय पाले से धुँधली पड़ी हुई चाँदनी उन्हें ऐसी दिखाई पड़ी जैसी धूप से साँवली पड़ी हुई सीता—

ज्योत्स्ना तुषारमलिना पौर्णमास्यां न राजते।
सीतेव चातपश्यामा लक्ष्यते न तु शोभते॥

इसी प्रकार सुग्रीव को राज्य देकर माल्यवान पर्वत पर निवास करते हुए सीता के विरह में व्याकुल, भगवान रामचंद्र को वर्षा आने पर ग्रीष्म की धूप से संतप्त पृथ्वी जल से पूर्ण होकर सीता के समान आँसू बहाती हुई दिखाई देती है, काले काले बादलों के बीच में चमकती हुई बिजली रावण की गोद में छटपटाती हुई वैदेही के समान दिखाई पड़ती है और फूले हुए अर्जुन के वृक्षों से युक्त तथा केतकी से सुगंधित शैल ऐसा लगता है जैसे शत्रु से रहित होकर सुग्रीव अभिषेक की जलधारा से सींचा जाता हो, यथा—

एषा धर्मपरिक्लिष्टा नववारिपरिप्लुता।
सीतेव शोकसन्तप्ता मही वाष्पं विमुञ्चति॥
नीलमेघाश्रिता विद्युत्स्फुरन्ती प्रतिभाति माम्।
स्फुरन्ती रावणस्याङ्के वैदेहीव तपस्विनी॥
एषः फुल्लार्जुनः शैलः केतकैरभिवासितः।
सुग्रीव इव शान्तारिर्धाराभिरभिषिच्यते॥

ऐसा अनुमान होता है कि कालिदास के समय से, या उसके कुछ पहले ही से दृश्यवर्णन के संबंध में कवियों ने दो मार्ग निकाले। स्थलवर्णन में तो वस्तुवर्णन की सूक्ष्मता कुछ दिनों तक वैसे ही बनी रही, पर ऋतुवर्णन में चित्रण उतना आवश्यक नहीं समझा गया जितना कुछ इनी गिनी वस्तुओं का कथन मात्र करके भावों के उद्दीपन का वर्णन। जान पड़ता है, ऋतुवर्णन वैसे ही फुटकर पद्यों के रूप में पढ़े जाने लगे, जैसे बारहमासा पढ़ा जाता है। अतः उनमें अनुप्रास और शब्दों के माधुर्य आदि का ध्यान अधिक रहने लगा। कालिदास के ऋतुसंहार और रघुवंश के नवें सर्ग में सन्निविष्ट वसंतवर्णन से इनका कुछ आभास मिलता है। उक्त वर्णन के श्लोक इस ढंग के हैं—

कुसुमजन्म ततो नवपल्लवास्तदनु षट्पदकोकिलकूजितम्।
इति यथाक्रममाविरभून्मधुर्द्रुमवतीमवतीर्य वनस्थलीम्॥

रीति ग्रंथों के अधिक बनने और प्रचार पाने से क्रमशः यह ढंग जोर पकड़ता गया। प्राकृतिक वस्तुव्यापार का सूक्ष्म निरीक्षण धीरे धीरे कम होता गया। किस ऋतु में क्या क्या वर्णन करना चाहिए, इसका आधार 'प्रत्यक्ष' अनुभव नहीं रह गया, 'आप्त

शब्द' हुआ। वर्षा के वर्णन में जो कदंब, कुटज, इंद्रवधू, मेघगर्जन, विद्युत् इत्यादि का नाम लिया जाता रहा वह इसलिए कि भगवान भरत मुनि की आज्ञा थी–

कदंबनिम्बकुटजैः शाद्वलैः सेन्द्रगोपकैः।
मेघैर्वातैः सुखस्पर्शैः प्रावृट्कालं प्रदर्शयेत्॥

कहना नहीं होगा कि हिन्दी के कवियों के हिस्से में यही आया। गिनी गिनाई वस्तुओं के नाम लेकर अर्थ ग्रहण मात्र कराना अधिकतर उनका काम हुआ, सूक्ष्म रूपविवरण और आधार आधेय की संश्लिष्ट योजना के साथ 'बिंबग्रहण' कराना नहीं।

ऋतुवर्णन की यह प्रथा निकल ही रही थी कि कवियों को भी औरों की देखादेखी दंगल का शौक पैदा हुआ। राजसभाओं में ललकारकर टेढ़ी मेढ़ी विकट समस्याएँ दी जाने लगीं और कवि लोग उपमा, उत्प्रेक्षा आदि की अद्भुत उक्तियों द्वारा उनकी पूर्ति करने लगे। ये उक्तियाँ जितनी ही बे सिर पैर की होतीं उतनी ही वाहवाही मिलती। काश्मीर के मंखक कवि जब अपना श्रीकंठचरित काव्य काश्मीर के राजा की सभा में ले गए तब वहाँ कन्नौज के राजा गोविंदचंद्र के दूत सुहल ने उन्हें यह समस्या दी–

एतद्बभ्रुकचानुचारिकिरणं राजद्रुहोऽह्नः शिर
श्लेदाभं वियतः प्रतीचि निपतत्यब्धौ रवेर्मण्डलम्॥

अर्थात् नेवले के बालों के सदृश पीली किरणों को प्रकट करता हुआ सूर्य का यह बिंब, चंद्रमा का द्रोह करनेवाले दिन के कटे हुए सिर के समान, आकाश से पश्चिम समुद्र में गिरता है (राज=राजा, चंद्रमा)। इसकी पूर्ति मंखक ने इस प्रकार की–

एषापि द्युरमा प्रियानुगमनं प्रोद्दामकाष्ठोत्थिते।
संध्याग्नौ विरचय्य तारकमिषाज्जातास्थिशेषस्थितिः॥

अर्थात् दिशाओं में उत्पन्न संध्यारूपी प्रचंड अग्नि में अपने प्रियतम का अनुगमन करके आकाश की श्री (शोभा) भी तारों के बहाने (रूप में) अस्थिशेष हो गई। (काष्ठोत्थिते = काष्ठा+उत्थिते और काष्ठ+उत्थिते। काष्ठा = दिशा; काष्ठ = लकड़ी।) मतलब यह कि सती हो जानेवाली आकाश श्री की जो हड्डियाँ रह गईं वे ही ये तारे हैं।

जो कल्पना पहले भावों और रसों की सामग्री जुटाया करती थी और बाजीगर का तमाशा करने लगी। होते होते यहाँ तक हुआ कि 'पिपीलिका नृत्यति वह्निमध्ये' और ''मोम के मंदिर माखन के मुनि बैठे हुतासन आसन मारे'' की नौबत आ गई।

कहाँ ऋषि कवि का पाले से धुँधले चंद्रमा का मुँह की भाप से अंधे दर्पण के साथ मिलान और कहाँ तारे और हड्डियाँ! खैर; यहाँ दोनों रंग तो सफेद हैं, और आगे चलकर तो यह दशा हुई कि दो वस्तुओं को लेकर सांगरूपक बाँधते चले जाते हैं, वे किसी बात में परस्पर मिलती जुलती भी हैं या नहीं इससे कोई मतलब नहीं, सांगरूपक की रस्म तो अदा हो रही है। दूसरी बात विचारने की यह

है कि संध्या समय अस्त होते हुए सूर्य को देख मंखक कवि के हृदय में किसी भाव का उदय हुआ या नहीं, उनके कथन से किसी भाव की व्यंजना होती है या नहीं? यहाँ अस्त होता हुआ सूर्य 'आलंबन' और कवि ही आश्रय माना जा सकता है। पर मेरे देखने में तो यहाँ कवि का हृदय एकदम तटस्थ है। उससे सारे वर्णन से कोई मतलब ही नहीं। उसमें रति, शोक आदि किसी भाव का पता नहीं लगता। ऐसे पद्यों को काव्य में परिगणित देख यदि कोई "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" की व्याप्ति में संदेह कर बैठे तो उसका क्या दोष? "ललाई के बीच सूर्य का बिंब समुद्र के छोर पर डूबा और तारे छिटक गए," इतना ही कथन यदि प्रधान होता तो वह दृश्य कवि और श्रोता दोनों के रतिभाव का आलंबन होकर काव्य भी कहला सकता था। पर अलंकार से एकदम आक्रांत होकर वह काव्य का स्वरूप ही खो बैठा। यदि कहिए कि अलंकार द्वारा उक्त दृश्यरूप वस्तुव्यंग्य है तो भी ठीक नहीं; क्योंकि 'विभाव' व्यंग्य नहीं हुआ करता। 'विभाव' में शब्द द्वारा उन वस्तुओं के स्वरूप की प्रतिष्ठा करनी होती है जो भावों का आश्रय, आलंबन और उद्दीपन होती हैं। जब यह वस्तुप्रतिष्ठा हो लेती है तब भावों के व्यापार का आरंभ होता है। मुक्तक में जहाँ नायिका नायक का चित्रण नहीं होता वहाँ उनका ग्रहण 'आक्षेप' द्वारा होता है, व्यंजना द्वारा नहीं।

दृश्यवर्णन में उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का स्थान कितना गौण है, इनकी मनोविज्ञान की रीति से भी परीक्षा हो सकती है। एक पर्वतस्थली का दृश्यवर्णन करके किसी को सुनाइए। फिर महीने दो महीने पीछे उससे उसी दृश्य का कुछ वर्णन करने के लिए कहिए। आप देखेंगे कि उस संपूर्ण दृश्य की सुसंगत योजना करनेवाली वस्तुओं और व्यापारों में शायद ही किसी का उसे स्मरण हो। इसका मतलब यही है कि उस वर्णन के जितने अंश पर हृदय की तल्लीनता के कारण पूरा स्थान रहा उसका संस्कार बना रहा; और इसलिए संकेत पाकर उसकी तो पुनरुद्भावना हुई, शेष अंश छूट गया।

खेद के साथ कहना पड़ता है कि हिन्दी की कविता का उत्थान उस समय हुआ जब संस्कृत काव्य लक्ष्यच्युत हो चुका था। इसी से हिन्दी के कविताओं में प्राकृतिक दृश्यों का वह सूक्ष्म वर्णन नहीं मिलता जो संस्कृत की प्राचीन कविताओं में पाया जाता है। केशव के पीछे तो प्रबंध काव्यों का बनना एक प्रकार से बंद ही हो गया। आचार्य बनने का ही हौसला रह गया, कवि बनने का नहीं। अलंकार और नायिकाभेद के लक्षणग्रंथ लिखकर अपने रचे उदाहरण देने में ही कवियों ने अपने कार्य की समाप्ति मान ली। ऐसे फुटकर पद्यरचयिताओं की परिमित कृति में प्राकृतिक दृश्य ढूँढ़ना ही व्यर्थ है। शृंगार के उद्दीपन के रूप में, षट्ऋतु का वर्णन अवश्य कुछ मिलता है, पर उसमें वाह्य प्रकृति के रूपों का प्रत्यक्षीकरण मुख्य नहीं होता, नायक नायिका का प्रमोद या संताप मुख्य होता है। अब रहे दो चार आख्यान काव्य। उसमें दृश्यवर्णन

को स्थान ही बहुत कम दिया गया है। अगर कुछ वर्णन परंपरापालन की दृष्टि से है भी तो वह अलंकारप्रधान है। उपमा, उत्प्रेक्षा आदि की भरमार इस बात की स्पष्ट सूचना दे रही है कि कवि का मन दृश्यों के प्रत्यक्षीकरण में लगा नहीं है, उचट उचटकर दूसरी ओर जा पड़ा है।

कोई एक वस्तु सामने आई कि उपमा के पीछे परेशान। श्याम के 'छबीले मुख' का प्रसंग आया, बस अंधे सूरदास चारों ओर उपमा टटोल रहे हैं–

बलि बलि जाउँ छबीले मुख की, या पटतर को को है?
या बानक उपमा दीबे को सुकबि कहा टकटो है?

उपमाएँ यदि मिलती गईं तब तो सब ठीक ही ठीक, एक वस्तु के ऊपर उपमा पर उपमा, उत्प्रेक्षा पर उत्प्रेक्षा लादते चले जाते रहे हैं। "हरि कर राजत माखन रोटी" बस इतनी ही सी तो बात है, उस पर–

मनौ बारिज ससि बैर जानि जिय गह्यो सुधांसुहि धोटी,
मनौ बराह भूधर सह पृथिवी धरी दसनन की कोटी।

एक छोटी सी रोटी की हकीकत ही कितनी, उस पर पहाड़ के सहित जमीन का बोझा लाकर रख दिया! उपमाएँ यदि न मिलीं तो बस, 'शेष शारदा' पर फिरे, उनकी इज्जत लेने पर उतारू!

मलिक मुहम्मद जायसी का 'पद्मावत' यद्यपि एक आख्यानकाव्य है पर उसमें भी स्थलवर्णन सूक्ष्म नहीं है। सिंहलद्वीप के गढ़, राजद्वार, बगीचे आदि का वर्णन है। बगीचे के वर्णन में पेड़ों और चिड़ियों की फेहरिस्त है, जो बहेलियों से भी मिल सकती है। प्राप्त प्रथा के अनुसार पद्मावती के संयोगसुख के संबंध में 'षट्ऋतु' और नागमती की विरहवेदना के प्रसंग में 'बारहमासा' अलबत हैं। दोनों का ढंग वही है जो ऊपर कहा गया है। दो उदाहरण यथेष्ट होंगे–

ऋतु पावस बरसे पिउ पावा, सावन भादों अधिक सुहावा।
पदमावति चाहति ऋतु पाई, गगन सुहावन, भूमि सुहाई।
कोकिल बैन, पाँति बग छूटी, घन निसरीं जनु बीर बहूटी।
चमक बीजु, बरसै जल सोना, दादुर मोर सबद सुठि लोना।
रँगराती पिय संग निसि जागी, गरजे गगन, चौंकि गर लागी।
सीतल बूँद, ऊँच चौपारा, हरियर सब दीखै संसारा।
हरियर भूमि, कुसुंभी चोला, औ धन पिय संग रचा हिंडोला।

संयोग शृंगार की दृष्टि से यह वर्णन बड़ा मनोहर है। पर इसमें कवि का अपना सूक्ष्म निरीक्षण 'बरसै जल सोना' में ही दिखाई पड़ता है। और सब वर्णन परंपरानुरागी ही है। अब विप्रलंभ शृंगार के अंतर्गत आषाढ़ का वर्णन लीजिए–

चढ़ा असाढ़, गगन घन गाजा, साजा बिरह बुंद दल बाजा।
धूम स्याम धौरे घन धाए, सेत धजा बग पाँति दिखाए।

खड़ग बीजु चमकै चहुँ ओरा, बुंद बान बरसहिं घन घोरा।
उनई घटा आइ चहुँ फेरी, कंत! उबार मदन हौं घेरी।
दादुर मोर, कोकिला, पीऊ, गिरहि बीज, घट रहै न जीऊ।
पुष्य नखत सिर ऊपर आवा, हौं बिनु नाह, मँदिर को छावा।

पाठक देख सकते हैं कि फुटकर कहने या गाने के लिए ये पद्य कितने सुंदर हैं। पर एक प्रबंधकाव्य के भीतर दृश्यचित्रण की दृष्टि से यदि इन्हें देखते हैं तो संतोष नहीं होता। अन्य के संबंध में स्थित किसी भाव के 'उद्दीपन' मात्र के लिए जितना वस्तुविन्यास अपेक्षित था उतना जायसी ने किया, इसमें कोई संदेह नहीं। 'उद्दीपन' रूप में दृश्य जो प्रभाव उत्पन्न करता है वह दूसरे के—अर्थात् 'आलंबन' के—संबंध से, स्वतंत्र रूप में नहीं। पर, जैसा कि सिद्ध किया जा चुका है, प्राकृतिक दृश्य मनुष्य के भावों के स्वतंत्र आलंबन भी होते हैं। प्राचीन कवियों ने उन्हें पात्र के आलंबन के रूप में और श्रोता के आलंबन के रूप में, दोनों रूपों में सन्निविष्ट किया है। 'कुमारसंभव' का हिमालय वर्णन श्रोता या पाठक के आलंबन के रूप में है। वाल्मीकि रामायण में लक्ष्मण का हेमंत के अंतर्गत पंचवटी दृश्य वर्णन पात्र (राम) के पक्ष में तो 'उद्दीपन' है किंतु रूप के सूक्ष्म विश्लेषण के बल से श्रोता के लिए आलंबन हो गया है।

एक बड़े प्रबंधकाव्य में प्राकृतिक दृश्यों का श्रोता के भाव के आलंबन रूप में वर्णन भी आवश्यक है, और यह स्वरूप उन्हें तभी प्राप्त हो सकता है जब उनका चित्रण ऐसे ब्योरे के साथ हो कि उनका बिंबग्रहण हो, उनका पूर्ण स्वरूप पाठक या श्रोता की कल्पना में उपस्थित हो जाए। कारण, रति या तल्लीनता उत्पन्न करने के लिए प्रत्यक्ष स्वरूप का परिचय आवश्यक है। सारांश यह कि 'उद्दीपन' होने के लिए रूप का थोड़ा थोड़ा प्रकाश क्या, संकेत मात्र यथेष्ट है; पर 'आलंबन' होने के लिए पूर्ण और स्पष्ट स्फुरण होना चाहिए।

गोस्वामी तुलसीदासजी के भक्तिपूर्ण हृदय में भगवान रामचंद्र के संबंध से चित्रकूट के प्रति जो प्रेमभाव प्रतिष्ठित था उसके कारण उन्होंने उसके रम्य स्वरूप पर अधिक दृष्टि जमाई है। नीचे दिए वर्णन में यद्यपि प्रचलित रीति के अनुसार प्रत्येक वस्तु और व्यापार के साथ दृष्टांत और उत्प्रेक्षा लगी हुई है, पर निरीक्षण बहुत अच्छा है—

सब दिन चित्रकूट नीको लागत;
वरषा ऋतु प्रबेस बिसेष गिरि देखत मन अनुरागत।
चहुँ दिसि बन सम्पन्न, बिहग मृग बोलत सोभा पावत;
जनु सुनरेस देस पुर प्रमुदित प्रजा सकल सुख छावत।
सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु रँगमगे सृंगनि;
मनहुँ आदि अंभोज बिराजत सेवित सुर मुनि भृंगनि।

सिखर परसि घन घटहिं मिलति बगपाँति सो छवि कवि बरनी;
आदि बराह बिहरि बारिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरनी।
जल जुत विमल सिलनि झलकत नभ बन प्रतिबिंब तरंग;
मानहुँ जग रचना बिचित्र बिलसति बिराट अंग अंग
मंदाकिनिहि मिलत झरना झरि झरि भर जल आछे;
'तुलसी' सकल सुकृत सुख लागे मानौं राम भगति के पाछे।

वाह्य प्रकृति के संबंध में सूरदासजी की दृष्टि बहुत परिमित है। एक तो व्रज की गोचारण भूमि के बाहर उन्होंने पैर ही नहीं निकाला, दूसरे उस भूमि का भी पूर्ण चित्र उन्होंने कहीं नहीं खींचा। उद्दीपन के रूप में केवल द्रुम, वल्ली और यमुना के किनारेवाले कदंब का उल्लेख भर बार बार मिलता है। गोपियों के विरह के प्रसंग में रीति के अनुसार पावस आदि का वर्णन अवश्य है; पर कहने की आवश्यकता नहीं कि उसमें पावस स्वरूप में स्थित नहीं है; वियोगिनी गोपियों के मानस प्रदत्त रूप में है—कहीं वह कृष्ण रूप में है, कहीं चढ़ाई करते हुए राजा के रूप में, इत्यादि; जैसे—

आजु घन स्याम की अनुहारि;
उनइ आए साँवरे से, सजनी! देखु रूप की आरि।
इंद्रधनुष मानों पीतबसन छवि, दामिनि दसन बिचारि;
जनु बगपाँति माल मोतिन की, चितवत हितहि निहारि।

अथवा

तुम्हारो गोकुल हो, ब्रजनाथ!
घेर्‌यो है अरि चतुरंगिनि लै मनमथ सेना साथ।
गरजत अति गंभीर गिरा, मनु मैगल मत्त अपार;
धुरवा धूरि उड़त रथ पायक घोरन की खुरतार।

केवल कहीं कहीं नियत वस्तुओं की कुछ अधिक गिनती भर मिलती है; जैसे—

बरन बरन अनेक जलधर अति मनोहर बेष;
तिहि समय, सखि! गगन सोभा सबहि ते सुबिसेष।
उड़त खग, बग बृंद राजत, रटत चातक, मोर;
बहुत बिधि बिधि रुचि बढ़ावत दामिनी घन घोर।
धरनि तृन तृन रोम पुलकित पिय समागम जानि;
द्रुमनि बर बल्ली बियोगिनि मिलति है पहिचानि।
हंस, सुक, पिक, सारिका, अलि गूँज नाना नाद;
मुदित मंडल भेक भेकी, बिहग बिगत बिषाद।
कुटज, कुमुद, कदंब, कोविद कनक आरि, सुकंज;
केतकी करबीर, बेलउ बिमल बहु बिधि मंजु।

यह नामावली निरीक्षण का फल नहीं है। इसकी सूचना 'कुमुद' और 'कोबिद' (कोविदार) पद दे रहे हैं। कचनार की शोभा वसंत ऋतु में ही होती है, जबकि यह फूलता है; और कुमुद की तो पत्तियाँ भी वर्षाकाल में अच्छी तरह नहीं बढ़ी रहतीं।

यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि वस्तुओं की गिनती गिनाना ही वस्तु विन्यास नहीं है। आसपास की और वस्तुओं के बीच उनकी प्रकृत स्थापना से दृश्य के एक पूर्ण सुसंगत रूप की योजना होती है। "मौर लगे हैं; समीर चलता है, कोयल बोलती है" इस प्रकार कहना केवल वस्तुओं और व्यापारों की गिनती गिनाना है। रीतिग्रंथों में प्रत्येक ऋतु में वर्ण्य वस्तुओं की सूची देखकर यह तो हर एक कर सकता है। यह चित्रण नहीं है। इन्हीं वस्तुओं और व्यापारों को लेकर यदि हम इस प्रकार योजना करें—"वह देखो, भौंरों से गुँथी, मंद मंद झूमती हुई आम की डाली पर, हरी हरी पत्तियों के बीच अपने कृष्ण कलेवर को पूर्ण रूप से न छिपा सकती हुई कोयल बोल रही है!" तो यह दृश्य अंकित करने का प्रयत्न कहा जाएगा। किसी वस्तु का वर्णन जितना ही अधिक वस्तुओं के संबंध को लिए हुए होगा उतना ही वह पेचीदा होगा, और कवि के निरीक्षण की सूक्ष्मता प्रकट करेगा। इस दृष्टि से प्राचीन कवियों के वर्णनों का विचार करने पर इस बात का पता लग जाएगा। देखिए, वाल्मीकि के 'मुक्तासकाशं' वाले श्लोक में पानी की बूँदों का आकाश से गिरना, गिरकर पत्तों की नोंकों पर लगना और चिड़ियों के पंखों को बिगाड़ना, चिड़ियों का पत्तों की नोंक पर लगी बूँदों को पीना इतने अधिक व्यापार एक संबंध सूत्र में एकत्र पिरोए हैं। इसी प्रकार कालिदास ने हिमालय के पवन के साथ भागीरथी के जलकण का फैलना, देवदारु के पेड़ों का काँपना, मोर की पूँछों का छितराना, किरातों का मृगों की खोज में निकलना और वायुसेवन करना, इतने व्यापारों का परस्पर संबंध दिखाया है। पर इतनी अधिक संश्लिष्ट योजना के प्रत्यक्षीकरण के लिए विस्तृत और गूढ़ निरीक्षण अपेक्षित है। ऊपर गोस्वामी तुलसीदासजी का जो चित्रकूट वर्णन दिया गया है उसमें यह बात कुछ कुछ है। "सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु रँगमगे सृंगनि" में यों ही काले बादल का नाम नहीं ले लिया है; वह ऊपर उठे हुए शृंग पर दिखाया गया है, और वह शृंग भी गेरू के रंग में रंगा हुआ है। इसी प्रकार "जलजुत विमल सिलनि झलकत नभ बन प्रतिबिंब तरंग" में शिलाओं का धुलकर स्वच्छ होना उनपर बरसाती पानी का लगना, स्वच्छता के कारण उनमें आकाश और वन का प्रतिबिंब दिखाई पड़ना, इतनी बातों की एक वाक्य में संबंधयोजना पाई जाती है।

जायसी से कवियों के एक और झुकाव का पता लगता है। 'कवि' और 'सयाने' जब एक ही समझे जाने लगे तब मनुष्य के व्यवसाय विशेष की जानकारी का खजाना भी काव्यों में खुलने लगा। घोड़ों का वर्णन है तो घोड़ों के पचासों भेदों के नाम सुन लीजिए; जिन्हें शायद घोड़ों के व्यवसायी ही जानते होंगे। भोजन का वर्णन है तो पूरी, कचौड़ी, कढ़ी, रायता, चटनी, मुरब्बा, पेड़ा बरफी, जलेबी, फेनी, गुलाबजामुन

आदि जितनी चीजों के नाम कवि जी जानते हैं सब मौजूद! इन व्यंजनों को सामने रखने से पाठकों को ललचाने के सिवा और क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? पर काव्य भूख जगाने के लिए तो है नहीं। जिसे रोग आदि के कारण भोजन से अरुचि हो गई होगी वह किसी अच्छे वैद्य के नुस्खे का सेवन करेगा। भोजन की पत्तल का वर्णन करना प्राचीन कजिव भद्दापन और काव्यशिष्टता के विरुद्ध समझते थे। इसी से उन्होंने दृश्यकाव्य में भोजन के दृश्य का निषेध किया है। नामावली की इस प्रथा का अनुसरण जायसी, सूरदास, सूदन और महाराज रघुराजसिंह ने अधिक किया है। अस्त्रशस्त्रों और पहिरावों के नामों की फेहरिस्त देखनी हो तो सूदन का 'सुजानचरित्र' पढ़िए। हाथी, घोड़ों, सवारियों और राजसी ठाट बाट की वस्तुओं के नाम याद करने हों तो महाराज रघुराजसिंह का 'रामस्वयंवर' उठा लीजिए।

केशवदासजी को अपने श्लेष, यमक और उत्प्रेक्षा इत्यादि से फुरसत कहाँ कि विस्तृत संबंधयोजना के साथ प्रकृति का निरीक्षण करने जायँ। सीधी तरह से कुछ वस्तुओं के नाम ले जायँ, यही गनीमत है–

फल फूलन पूरे, तरुवर रूरे, कोकिल कुल कलरव बोलै;
अति मत्त मयूरी पियरस पूरी, बन बन प्रति नाचति डोलै।

देखिए, दंडक वन के वर्णन में श्लेष का यह चमत्कार दिखाकर आप चलते हुए–

सोभत दंडक की रुचि बनी, भाँतिन भाँतिन सुंदर घनी।
सेव बड़े नृप की जनु लसै, श्रीफल भूरिभाव जहँ बसै।
बेर भयानक सी अति लगै, अर्क समूह जहाँ जगमगै।

'बेर', 'बनी', 'श्रीफल' और 'अर्क' शब्दों में श्लेष की कारीगरी दिखा दी, बस हो गया। वनस्थली के प्रति उनका अनुराग तो था नहीं कि उसके रूप की छटा ब्योरे के साथ दिखाते। 'भयानक' शब्द जो रखा हुआ है वह 'भाव' का सूचक नहीं है, क्योंकि न तो 'बेर' ही कोई भयंकर वस्तु है, न आक (मदार) ही। श्लेष से 'अर्क' का अर्थ सूर्य लेने से 'समूह' के कारण प्रलयकाल का अर्थ निकलता है, जो प्रस्तुत नहीं है। दंडक वन क्या देता 'आनंद' दे सकता था, वह भी नहीं देता था–जो उसके रूप का विश्लेषण केशवदासजी करने जाते? राजा की सेवा से 'श्रीफल' प्राप्त होता था, उसका जिक्र मौजूद है।

जब केशवदासजी का यह हाल है तब फुटकर पद्य कहनेवाले उनके अनुयायी कविंदों' में प्रकृति का रूपविश्लेषण ढूँढ़ना ही व्यर्थ है। ऋतुवर्णन की पुरानी रीति उन्होंने निबाही है। उनके वर्णन में उद्दीपन भर के लिए फुटकर वस्तुएँ आई हैं; सो वे भी उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि की भीड़ में छिपी हुई है। वसंत कहीं राजा होकर आया है, कहीं फौजदार, कहीं फकीर; कहीं कुछ, कहीं कुछ। किसी ने कुछ बढ़कर हाथ मारा तो शिशिर और ग्रीष्मऋतु में जो अपने शरीर की दशा देखी उसका वर्णन कर दिया, और उपचार का नुस्खा कह गए–

ग्रीषम की गजब धुकी है धूप धाम धाम,
गरमी झुकी है जाम जाम अति तापिनी।
भीजे खस बीजन डुलाए ना सुखात सेद,
गात ना सुहात, बात दावा सी डरापिनी।
ग्वाल कवि कहैं कोरे कुंभन तें, कूपन तें,
लै लै जलधार बार बार मुख थापिनी।
जब पियो तब पियो, अब पियो फेरि अब
पीवत हू पीवत बुझे न प्यास पापिनी॥

गरमी के मौसम के लिए एक कविजी राय देते हैं—

सीतल गुलाबजल भर चहबच्चन में,
डारि के कमलदल न्हाइबे को धँसिए।
कालिदास अंग अंग अगर अतर संग,
केसर, उसीर नीर घनसार घँसिए।
जेठ में गोविंदलाल चंदन के चहलन,
भरि भरि गोकुल के महलन बसिए।

मेरे कहने का अभिप्राय यह नहीं कि इन कवियों में कहीं प्रकृति का निरीक्षण मिलेगा ही नहीं। मिलेगा, पर थोड़ा और वह भी बहुत ढूँढ़ने पर कहीं एकाध जगह, जैसे—

वृष को तरनि तेज सहसौ किरन तपै,
ज्वालनि के जाल बिकराल बरसत है।
तचति धरनि, जग झुरत झुरनि, सीरी
छाँह को पकरि पंथी, पंछी बिरमत है।
'सेनापति' नेक दुपहरी ढरकत होत,
घमका[1] विषम जो न पात खरकत है।
मेरे जान पौन सीरे ठौर को पकरि कोऊ,
घरी एक बैठि कहूँ घामै बितवत है।

नंददासजी एक प्रसिद्ध कृष्णभक्त और कवि थे। पर व्रजभूमि की महिमा का बखान करते समय दृश्य अंकित करने के बखेड़े में वे भी नहीं पड़े। वहाँ चिरवसंत रहता है, इतने ही में अपना मतलब सबको समझा दिया—

श्रीबृंदाबन, चिदघन कछु छबि बरनि न जाई,
कृष्ण ललित लीला के काज गहि रह्यो जड़ताई।
जहँ नग, खग, मृग, लता कुंज बीरुध, तृन जेते,
नहिन काल, गुन, प्रभा सदा सोभित रहैं तेते।

---

1. घमका = हवा का गिरना या ठहर जाना।

सकल जंतु अविरुद्ध जहाँ, हरि भृग सँग चरहीं,
काम क्रोध मद लोभ रहित लीला अनुसरहीं।
सब दिन रहत वसंत कृष्ण अवलोकनि लोभा,
त्रिभुवन कानन जा विभूति करि सोभित सोभा।
या बन को बर बानिक या बन ही बनि आवै,
सेस, महेस, सुरेस, गनेस न पारहिं पावै।

भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय से हमारी भाषा नए मार्ग पर आ खड़ी हुई, पर दृश्यवर्णन में कोई संस्कार नहीं हुआ। वाल्मीकि, कालिदास आदि प्राचीन कवियों की प्रणाली का अध्ययन करके सुधार का यत्न नहीं किया गया। भारतेंदुजी का जीवन एकदम नागरिक था। मानवी प्रकृति में ही उनकी तल्लीनता अधिक पाई जाती है, वाह्य प्रकृति के साथ उनके हृदय का वैसा सामंजस्य नहीं पाया जाता। 'सत्यहरिश्चंद्र' में गंगा का और 'चंद्रावली' में यमुना का वर्णन अच्छा कहा जाता है। पर ये दोनों वर्णन भी पिछले खेवे के कवियों की परंपरा के अनुसार ही हैं। इनमें भी एक एक साथ कई वस्तुओं और व्यापारों की सूक्ष्म संबंधयोजना नहीं है, केवल वस्तुओं और व्यापारों के पृथक् पृथक् कथन के साथ उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का प्राचुर्य है। दोनों के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं—

(क)

नव उज्जल जल धार हार हीरक सी सोहति,
बिच बिच छहरति बूँद मध्य मुक्ता मनि पोहति।
लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत,
जिमि नरगन मन बिबिध मनोरथ करत, मिटावत।
कहूँ बँधे नवघाट उच्च गिरिवर सम सोहत,
कहुँ छतरी, कहुँ मढ़ी बढ़ी मन मोहत जोहत।
धवल धाम चहुँ ओर फरहरत धुजा पताका,
घहरत घंटा धुनि धमकत धौंसा करि साका।
कहुँ सुंदरी नहाति, नीर कर जुगल उछारत,
जुग अंबुज मिलि मुक्तगुच्छ मनु सुच्छ निकारत।
धोवति सुंदरि बदन करन अति ही छबि पावत,
बारिधि नाते ससि कलंक मनु कमल मिटावत।

(ख)

तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाए,
झुके कूल सों जल परसन हित मनहुँ सुहाए।
किधौं मुकुर में लखत उझकि सब निज निज सोभा,
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा।

मनु आतप बारन तीर को मिमिट सबै छाए रहत,
कै हरि सेवा हित नै रहे, निरखी नैन मन सुख लहत।
कहूँ तीर पर अमल कमल सोभित बहु भाँतिन,
कहुँ सैवालन मध्य कुमुदिनी लगि रहि पाँतिन।
मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखति ब्रज सोभा,
कै उमँगे प्रिय प्रिया प्रेम के अनगिन गोभा।
कै करि कै कर बहु पीय को टेरत निज ढिग सोहई।
कै पूजन को उपचार लै चलति मिलन मन मोहई।
कै प्रिय पद उपमान जानि यहि निज उर धारत,
कै मुख करि बहु भृंगन मिस अस्तुति उच्चारत।
कै ब्रज तियगन बदन कमल की झलकति झाँईं,
कै ब्रज हरि पद परस हेतु कमला बहु आईं।

देखिए, यमुना के वर्णन में 'सैवालन मध्य कुमुदिनी' में दो वस्तुओं की संबंधयोजना थी; पर आगे चलकर जो 'उत्प्रेक्षा' और संदेह की भरमार हुई तो उसमें अलग अलग कुमुद और कमल ही रह गए और वे अलंकारों के बोझ के नीचे दबे हुए।

मैं समझता हूँ, अब यह दिखाने के लिए और अधिक प्रयास की आवश्यकता नहीं है कि वन, पर्वत, नदी, निर्झर आदि प्राकृतिक दृश्य हमारे राग या रतिभाव के स्वतंत्र आलंबन हैं, उनमें सहृदयों के लिए सहज आकर्षक वर्तमान है। इन दृश्यों के अंतर्गत जो वस्तुएँ और व्यापार होंगे उनमें जीवन के मूलस्वरूप और मूलपरिस्थिति का आभास पाकर हमारी वृत्तियाँ तल्लीन होती हैं। जो व्यापार केवल मनुष्य की अधिक समुन्नत बुद्धि के परिणाम होंगे, जो उसके आदिम जीवन से बहुत इधर के होंगे, उनमें प्राकृतिक या पुरातन व्यापारों की सी तल्लीन करने की शक्ति न होगी। जैसे, 'सीतल गुलाबजल भरि चहबच्चन में' बैठे हुए कविजी की अपेक्षा तलैया के कीचड़ में बैठकर जीभ निकाल निकाल कर हाँफते हुए कुत्ते का अधिक प्राकृतिक व्यापार कहा जाएगा। इसी प्रकार शिशिर में दुशाला ओढ़े 'गुलगुली गिलमें, गलीचा' बिछाकर बैठे हुए स्वांग से, धूप में खपरैल पर बैठी बदन चाटती हुई बिल्ली में अधिक प्राकृतिक भाव है। पुतलीघर में एंजिन चलाते हुए देशी साहब की अपेक्षा खेत में हल चलाते हुए किसान में अधिक स्वाभाविक आकर्षण है। विश्वास न हो तो भवभूति और कालिदास से पूछ लीजिए।

जबकि प्राकृतिक दृश्य हमारे भावों के आलंबन हैं तब इस शंका के लिए कोई स्थान ही नहीं रहा कि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में कौन सा रस है? जो पदार्थ हमारे किसी न किसी भाव के विषय हो सकते हैं उन सबका वर्णन रस के अंतर्गत है; क्योंकि 'भाव' का ग्रहण भी रस के समान ही होता है। यदि रतिभाव के रसदशा तक पहुँचने की योग्यता 'दांपत्य रति' में ही मानिए तो पूर्ण भाव के रूप में भी

दृश्यों का वर्णन कवियों की रचनाओं में बराबर मिलता है। जैसे काव्य के किसी पात्र का यह कहना कि 'जब मैं इस पुराने आम के पेड़ को देखता हूँ तब इस बात का स्मरण हो आता है कि यह वही है जिसके नीचे मैं लड़कपन में बैठा करता था। और सारा शरीर पुलकित हो जाता है, मन एक अपूर्व भाव में मग्न हो जाता है।' विभाव, अनुभाव और संचारी से पुष्ट भावव्यंजना का उदाहरण होगा।

पहले कहा जा चुका है कि जो वस्तु मनुष्य के भावों का विषय वा आलंबन होती है उसका शब्दचित्र यदि किसी कवि ने खींच दिया तो वह एक प्रकार से अपना काम कर चुका। उसके लिए यह अनिवार्य नहीं कि वह 'आश्रय' की भी कल्पना करके उसे उस भाव का अनुभव करता हुआ, हर्ष से नाचता हुआ या विषाद से रोता हुआ, दिखावे। मैं आलंबन मात्र के विस्तृत वर्णन को श्रोता में रसानुभव (भावानुभव सही) उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ मानता हूँ। यह बात नहीं है कि जब तक कोई दूसरा किसी भाव का अनुभव करता हुआ और उसे शब्द और चेष्टा द्वारा प्रकाशित करता हुआ न दिखाया जाय तब तक रसानुभव हो ही नहीं सकता। यदि ऐसा होता तो हिन्दी में 'नायिकाभेद' और 'नखशिख' के जो सैकड़ों ग्रंथ बने हैं, उन्हें कोई पढ़ता ही नहीं। नायिकाभेद में केवल शृंगाररस के आलंबन का वर्णन होता है, और 'नखशिख' के किसी पद्य में उस आलंबन के भी किसी एक अंगमात्र का। पर ऐसे वर्णनों से रसिक लोग बराबर आनंद प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार प्राकृतिक दृश्यवर्णन मात्र को, चाहे कवि अपने हर्ष आदि का कुछ भी वर्णन न करे, हम काव्य कह सकते हैं। हिमालय वर्णन को यदि हम कुमारसंभव से निकालकर अलग कर लें तो वह एक उत्तम काव्य कहला सकता है। मेघदूत में—विशेषकर पूर्वमेघ में—प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन ही प्रधान है। यक्ष की कथा निकाल देने पर भी उसका काव्यत्व नष्ट नहीं हो सकता।

ऊपर 'नखशिख' की बात आ गई है, इसलिए मनुष्य के रूपवर्णन के संबंध में भी चार बातें कह देना अप्रासंगिक न होगा। कारण, दृश्यचित्रण के अंतर्गत वह भी आता है। 'नखशिख' में केवल नायिका के रूप का वर्णन होता है। पर उसमें भी रूपचित्रण का कोई प्रयास हम नहीं पाते, केवल विलक्षण उत्प्रेक्षाओं और उपमानों की भरमार पाते हैं। इन उपमानों के योग द्वारा अंगों की सौंदर्यभावना से उत्पन्न सुखानुभूति में अवश्य वृद्धि होती है, पर रूप नहीं निर्दिष्ट होता। काव्य में मुख, नेत्र और अधर आदि के साथ चंद्र, कमल और विद्रुम आदि के लाने का प्रमुख उद्देश्य वर्ण, आकृति आदि का ज्ञान कराना नहीं बल्कि कल्पना में साथ साथ इन्हें भी रखकर सौंदर्यगत आनंद के अनुभव को तीव्र करना है। काव्य की उपमा का उद्देश्य भावानुभूति को तीव्र करना है, नैयायिकों के 'गोसदृशो गवयः' के समान ज्ञान उत्पन्न कराना नहीं। इस दृष्टि से विचार करने पर कई एक प्रचलित उपमान बहुत खटकते हैं, जैसे—नायिका की कटि की सूक्ष्मता दिखाने के लिए सिंहिनी को सामने लाना, जाँघों

की उपमा के लिए हाथी की सूँड़ की ओर इशारा करना। खैर, इसका विवेचन उपमा आदि अलंकारों पर करते समय कभी किया जाएगा। अब प्रस्तुत विषय की ओर आता हूँ।

मनुष्य की आकृति और मुद्रा के चित्रण के लिए भी काव्यक्षेत्र में पूरा मैदान पड़ा है। आकृतिचित्रण का अत्यंत उत्कर्ष वहाँ समझना चाहिए जहाँ दो व्यक्तियों के अलग अलग चित्रों में हम भेद कर सकें, जैसे—दो सुंदरियों की आँख, कान, नाक, भौं, कपोल, अधर, चिबुक इत्यादि सब अंगों को लेकर हमने वर्णन द्वारा दो अलग अलग चित्र खींचे। फिर दोनों वर्णनों को किसी और के हाथ में देकर हमने उन दोनों स्त्रियों को उसके सामने बुलाया। यदि वह बतला दे कि 'यह इसका वर्णन है और यह उसका' तो समझिए कि पूर्ण सफलता हुई। योरप के उपन्यासों में इस ओर बहुत कुछ प्रयत्न दिखाई पड़ता है, पर हमारे यहाँ अभी इधर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। मुद्रा चित्रित करने में गोस्वामी तुलसीदासजी अत्यंत कुशल दिखाई पड़ते हैं। मृग पर चलाने के लिए तीर खींचे हुए रामचंद्रजी को देखिए—

"जटा मुकुट सिर, सारस नयननि सौंहैं तकत सुभौंह सिकोरे।"

इसी प्रकार राम के आगमन की प्रतीक्षा में शबरी—

"छन भवन छन बाहर बिलोकति पंथ भ्रू पर पानि कै।"

पूर्वजनों की दीर्घ परंपरा द्वारा चली आती हुई जन्मगत वासना के अतिरिक्त जीवन में भी बहुत से संस्कार प्राप्त किए जाते हैं, जिनके कारण कुछ वस्तुओं के प्रति विशेष भाव अंतःकरण में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। बचपन से अपने घर में या बाहर हम जिन दृश्यों को बराबर देखते आए, जिनकी चर्चा बराबर सुनते आए, उनके प्रति एक प्रकार का सुहृद्भाव मन में घर कर लेता है। हिंदुओं के बालक अपने घर में राम कृष्ण की कथाएँ और भजन सुनते आते हैं, इससे राम कृष्ण के चरित्रों से संबंध रखनेवाले स्थानों को देखने की उत्कंठा उनमें बनी रहती है, गोस्वामीजी के इन शब्दों में यही उत्कंठा भरी है—

अब चित चेत चित्रकूटहिं चलु,
भूमि बिलोकु राम पद अंकित, बन बिलोकु रघुबर बिहार थलु।

ऐसे स्थानों के प्रति संबंध की योजना के कारण हृदय में विशेष रूप से भावों का उदय होता है। कोई रामभक्त जब चित्रकूट पहुँचता है तब वह वहाँ के प्राकृतिक सौंदर्य पर ही मुग्ध नहीं होता, अपने इष्टदेव की मधुर भावना के योग से एक विशेष प्रकार के अनिर्वचनीय माधुर्य का भी अनुभव करता है। ऊबड़ खाबड़ पहाड़ी रास्तों में जब झाड़ियों के काँटे उसके शरीर में चुभते हैं तब उसमें सान्निध्य का यह मधुर भाव बिना उठे नहीं रह सकता कि वे झाड़ उन्हीं प्राचीन झाड़ों के वंशज हैं जो राम, लक्ष्मण और सीता को कभी चुभे होंगे। इस भाव योजना के कारण उन झाड़ों को वह और ही दृष्टि से देखने लगता है। यह दृष्टि औरों को नहीं प्राप्त हो सकती।

ऐसे संस्कार जीवन में हम बराबर प्राप्त करते जाते हैं। जो पढ़े लिखे नहीं हैं वे भी आल्हा आदि सुनकर कन्नौज, कालिंजर, महोबा, नयनागढ़ (चुनारगढ़) इत्यादि के प्रति एक विशेष 'भाव' संचित करते हैं। पढ़े लिखे लोग अनेक प्रकार के इतिहास, पुराण, जीवनचरित्र आदि पढ़कर उनमें वर्णित घटनाओं से संबंध रखनेवाले स्थानों के दर्शन की उत्कंठा प्राप्त करते हैं। इतिहासप्रसिद्ध स्थान उनके लिए तीर्थ से हो जाते हैं। प्राचीन इतिहास पढ़ते समय कल्पना का योग पूरा पूरा रहता है। जिन छोटे छोटे ब्योरों का वर्णन इतिहास नहीं करता उनका आरोप अज्ञात रूप से कल्पना करती चलती है। यदि इस प्रकार का थोड़ा बहुत चित्रण कल्पना अपनी ओर से न करती चले तो इतिहास आदि पढ़ने में जी ही न लगे। सिकंदर और पौरव का युद्ध पढ़ते समय पढ़नेवाले के मन में सिकंदर और उसके साथियों का यवन देश तथा पौरव के उष्णीष और किरीट कुंडल मन में आवेंगे। मतलब यह कि परिस्थिति आदि का कोई चित्र कल्पना में थोड़ा बहुत अवश्य रहेगा—जो भावुक होंगे, उनमें अधिक रहेगा। प्राचीन समय का समाजचित्र हम 'मेघदूत', 'मालविकाग्निमित्र' आदि में ढूँढ़ते हैं, और उसकी थोड़ी बहुत झलक पाकर अपने को और अपने हृदय को भूलकर तल्लीन हो जाते हैं। एक दिन रात को मैं सारनाथ से लौटता हुआ काशी की कुंजगली में जा निकला। प्राचीन काल में पहुँची हुई कल्पना को लिए हुए उस सँकरी गली में जाकर मैं क्या देखता हूँ कि पीतल की सुंदर दीवटों पर दीपक जल रहे हैं, दूकानों पर केवल धोती पहने और उत्तरीय डाले (गरमी के दिन थे) व्यापारी बैठे हुए हैं, दीवारों पर सिंदूर से कुछ देवताओं के नाम लिखे हुए हैं, पुरानी चाल के चौखूँटे द्वार और खिड़कियाँ हैं। मुझे ऐसा भान हुआ कि मैं प्राचीन उज्जयिनी की किसी वीथिका में आ निकला हूँ। इतने ही में थोड़ी दूर चलकर म्युनिसिपैलिटी की लालटेन दिखाई दी। बस, सारी भावना हवा हो गई।

इतिहास के अध्ययन से, प्राचीन आख्यानों के श्रवण से भूतकाल का जो दृश्य इस प्रकार कल्पना में बस जाता है, वह वर्तमान दृश्यों को खंडित प्रतीत होने से बचाता है, वह उन्हें दीर्घ कालक्षेत्र के बीच चले आए हुए अतीत दृश्यों के मेल में दिखाता है, और हमारे 'भावों' को कालबद्ध न रखकर अधिक व्यापकत्व प्रदान करता है। हम केवल उन्हीं से राग द्वेष नहीं रखते जिनसे हम घिरे हुए हैं, बल्कि उनसे भी जो अब संसार में नहीं हैं, पहले कभी हो चुके हैं। पशुत्व और मनुष्यत्व में यही एक बड़ा भारी भेद है। मनुष्य उस कोटि की पहुँची हुई सत्ता है जो उस अल्प क्षण में ही आत्मप्रसार को बद्ध रखकर संतुष्ट नहीं हो सकती जिसे वर्तमान कहते हैं। यह अतीत के दीर्घ पटल को भेदकर अपनी अन्वीक्षण बुद्धि को ही नहीं, रागात्मिकता वृत्ति को भी ले जाती है। हमारे 'भावों' के लिए भूतकाल का क्षेत्र अत्यंत पवित्र क्षेत्र है। वहाँ वे शरीर यात्रा के स्थूल स्वार्थ से संश्लिष्ट होकर कलुषित नहीं होते—अपने विशुद्ध रूप में दिखाई पड़ते हैं। उक्त क्षेत्र में जिनके 'भावों' का व्यायाम के लिए

संचरण होता रहता है उनके 'भावों का वर्तमान विषयों के साथ उचित और उपयुक्त संबंध स्थापित हो जाता है। उनके घृणा, क्रोध आदि भाव भी बहुत कम अवसरों पर ऐसे होंगे कि कोई उन्हें बुरा कह सके।

मनुष्य अपने रति, क्रोध आदि भावों को या तो सर्वथा मार डाले अथवा साधना के लिए उन्हें कभी कभी ऐसे क्षेत्र में ले जाया करे जहाँ स्वार्थ की पहुँच न हो, तब जाकर सच्ची आत्माभिव्यक्ति होगी। नए अर्थवादी 'पुराने गीतों' को छोड़ने को लाख कहा करें पर जो विशालहृदय हैं, वे भूत को बिना आत्मभूत किए नहीं रह सकते। अतीतकाल की वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति जो हमारा रागात्मक भाव होता है वह प्राप्तकाल की वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति हमारे भावों को तीव्र भी करता है और उनका ठीक ठीक अवस्थान भी करता है। वर्षा के आरंभ में जब हम बाहर मैदान में निकल पड़ते हैं, जहाँ जुते हुए खेतों की सोंधी महक आती है और किसानों की स्त्रियाँ टोकरी लिए इधर उधर दिखाई देती हैं, उस समय कालिदास की लेखनी से अंकित इस दृश्य के भाव से—

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविकारानभिज्ञैः
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः।
सद्यः सीरोत्कषणसुरभिक्षेत्रमारुह्य मालं
किञ्चित्पश्चाद् व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण॥

हमारा भाव और तीव्र हो जाता है—हमें वह दृश्य और भी मनोहर लगने लगता है।

जिन वस्तुओं और व्यापारों के प्रति हमारे प्राचीन पूर्वज अपने 'भाव' अंकित कर गए हैं उनके सामने अपने को पाकर मानो हम उन पूर्वपुरुषों के निकट जा पहुँचते हैं, और उसी प्रकार के भावों का अनुभव कर उनके हृदय से अपना हृदय मिलाते हुए उनके सगे बन जाते हैं। वर्तमान सभ्यता ने जहाँ अपना दखल नहीं जमाया है, उन जंगलों, पहाड़ों, गाँवों और मैदानों में हम अपने को वाल्मीकि, कालिदास या भवभूति के समय में खड़ा कल्पित कर सकते हैं, कोई बाधक दृश्य सामने नहीं आता। पर्वतों की दरी कंदराओं में, प्रभात के प्रफुल्ल पद्मजाल में, छिटकी चाँदनी में, खिली कुमुदिनी में हमारी आँखें कालिदास, भवभूति आदि की आँखों से जा मिलती हैं, पलाश, इंगुदी, अंकोट के वन अब भी खड़े हैं, सरोवरों में कमल अब भी खिलते हैं, तालाबों में कुमुदिनी अब भी चाँदनी के साथ हँसती है, वानीर शाखाएँ अब भी झुककर तीर का नीर चूमती हैं, पर हमारी आँखें उनकी ओर भूलकर भी नहीं जातीं, हमारे हृदय से मानो उनका कोई लगाव ही नहीं रह गया। अग्निमित्र, विक्रमादित्य आदि को अब हम नहीं देख सकते। उनकी आकृति वहन करनेवाला आलोक अब न जाने किस लोक में पहुँचा होगा; पर ऐसी वस्तुएँ अब भी हम देख सकते हैं जिन्हें उन्होंने भी देखा होगा। सिप्रा के किनारे दूर तक फैले हुए प्राचीन उज्जयिनी के ढूहों पर

सूर्यास्त के समय खड़े हो जाइए, इधर उधर उठी हुई पहाड़ियाँ कह रही हैं कि महाकाल के दर्शन को जाते हुए कालिदासजी हमें देर तक देखा करते थे; उस समय 'सिप्रावात' उनके उत्तरीय को फहराता था[1]। काली शिलाओं पर से बहती हुई वेत्रवती की स्वच्छ धारा के तट पर विदिशा के खंडहरों में वे ईंट पत्थर अब भी पड़े हुए हैं जिन पर अंगरागलिप्त शरीर और सुगंधधूम से बसे केशकलापवाली रमणियों के हाथ पड़े होंगे[2]।

बिजली से जगमगाते हुए नए अँगरेजी ढंग के शहरों में, धुआँ उगलती मिलों और ह्वाइट वे लेडला की दूकान के सामने, हम कालिदास आदि से अपने को बहुत दूर पाते हैं। पर प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र में हमारा उनका भेदभाव मिट जाता है, हम सामान्य परिस्थिति के साक्षात्कार द्वारा चिरकालव्यापी शुद्ध 'मनुष्यत्व' का अनुभव करते हैं, किसी विशेष काल बद्ध मनुष्यत्व का नहीं।

यहाँ पर कहा जा सकता है कि विशेष काल बद्ध मनुष्यत्व न सही, पर देशबद्ध मनुष्यत्व तो यह अवश्य है? हाँ, है। इसी देशबद्ध मनुष्यत्व के अनुभव से सच्ची देशभक्ति या देशप्रेम की स्थापना होती है। जो हृदय संसार की जातियों के बीच अपनी जाति की स्वतंत्र सत्ता का अनुभव नहीं कर सकता वह देशप्रेम का दावा नहीं कर सकता। इस स्वतंत्र सत्ता से अभिप्राय स्वरूप की स्वतंत्र सत्ता है; केवल अन्न धन संचित करने और अधिकार भोगने की स्वतंत्रता से नहीं। अपने स्वरूप को भूलकर यदि भारतवासियों ने संसार में सुख समृद्धि प्राप्त की तो क्या? क्योंकि उन्होंने उदात्तवृत्तियों को उत्तेजित करनेवाली बँधी बँधाई परंपरा से अपना संबंध तोड़ लिया, नई उभरी हुई इतिहासशून्य जंगली जातियों में अपना नाम लिखाया। फिलीपाइन द्वीपवासियों से उनकी मर्यादा कुछ अधिक नहीं रह गई।

देशप्रेम है क्या? प्रेम ही तो है। इस प्रेम का आलंबन क्या है? सारा देश अर्थात् मनुष्य, पशु, पक्षी, नदी, नाले, वन पर्वत सहित सारी भूमि। प्रेम किस प्रकार का है। यह साहचर्यगत प्रेम है। जिनके बीच हम रहते हैं, जिन्हें बराबर आँखों से देखते हैं, जिनकी बातें बराबर सुनते रहते हैं, जिनका हमारा हर घड़ी का साथ रहता है, सारांश यह है कि जिनके सान्निध्य का हमें अभ्यास पड़ जाता है, जिनके प्रति लोभ या राग हो जाता है। देशप्रेम यदि वास्तव में अंतःकरण का कोई भाव है तो यही हो सकता है। यदि यह नहीं है तो वह कोरी बकवाद या किसी और भाव के संकेत के लिए गढ़ा हुआ शब्द है। यदि किसी को अपने देश से सचमुच प्रेम है तो उसे अपने देश के मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, गुल्म, पेड़, पत्ते, वन, पर्वत नदी, निर्झर आदि सबसे प्रेम होगा, वह सबको चाहभरी दृष्टि से देखेगा, वह सबकी सुध करके विदेश में आँसू बहावेगा। जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है, जो यह भी नहीं सुनते कि चातक कहाँ चिल्लाता है, जो यह भी आँख भर नहीं

1. मेघदूत, पूर्वमेघ 32।
2. वही, 26।

देखते कि आम प्रणयसौरभपूर्ण मंजरियों से कैसे लदे हुए हैं, जो यह भी नहीं झाँकते कि किसानों के झोंपड़ों के भीतर क्या हो रहा है, वे यदि दस बने ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का परता बताकर देशप्रेम का दावा करें तो उनसे पूछना चाहिए कि 'भाइयो! बिना रूप परिचय का यह प्रेम कैसा?' जिनके दुःख के तुम कभी साथी नहीं हुए उन्हें तुम सुखी देखना चाहते हो, यह कैसे समझें? उनसे कोसों दूर बैठे बैठे, पड़े पड़े या खड़े खड़े तुम विलायती बोली में 'अर्थशास्त्र' की दुहाई दिया करो; पर प्रेम का नाम उसके साथ न घसीटो। प्रेम हिसाब किताब नहीं है। हिसाब किताब करनेवाले भाड़े पर मिल सकते हैं, पर प्रेम करनेवाले नहीं। एक अमेरिकन फारसवालों को उनके देश का सारा हिसाब किताब समझाकर चला गया।

हिसाब किताब से देश की दशा का ज्ञानमात्र हो सकता है। हितचिंतन और हितसाधन की प्रवृत्ति कोरे ज्ञान से भिन्न है। वह मन के वेग या 'भाव' पर अवलंबित है, उसका संबंध लोभ या प्रेम से है; जिसके बिना अन्य पक्ष में आवश्यक त्याग का उत्साह हो नहीं सकता। जिसे व्रज की भूमि से प्रेम होगा वह इस प्रकार कहेगा—

नैनन सों 'रसखान' जबै ब्रज के बन, बाग, तड़ाग, निहारौं;
कोटिक वे कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं॥

रसखान तो किसी की 'लकुटी अरु कामरिया' पर तीनों पुरों का राजसिंहासन तक त्यागने को तैयार थे पर देशप्रेम की दुहाई देनेवालों में से कितने अपने किसी थके माँदे भाई के फटे पुराने कपड़ों पर रीझकर—या कम से कम न खीझकर—बिना मन मैला किए कमरे का फर्श भी मैला होने देंगे? मोटे आदमियो! तुम जरा सा दुबले हो जाते—अंदेशे से ही सही—तो न जाने कितनी ठठरियों पर मांस चढ़ जाता।

पशु और बालक भी जिनके साथ अधिक रहते हैं उनसे परच जाते हैं। यह परचना परिचय ही है। परिचय प्रेम का प्रवर्तक है। बिना परिचय के प्रेम नहीं हो सकता। यदि देशप्रेम के लिए हृदय में जगह करनी है तो देश के स्वरूप से परिचित और अभ्यस्त हो जाइए। बाहर निकलिए तो आँख खोलकर देखिए कि खेत कैसे लहलहा रहे हैं, नाले झाड़ियों के बीच कैसे बह रहे हैं, टेसू के फूलों से वनस्थली कैसी लाल हो रही है, कछारों में चौपायों के झुंड इधर उधर चरते हैं; चरवाहे तान लड़ा रहे हैं, अमराइयों के बीच गाँव झाँक रहे हैं; उनमें घुसिए, देखिए तो क्या हो रहा है। जो मिलें उनसे दो दो बातें कीजिए, उनके साथ किसी पेड़ की छाया के नीचे घड़ी आध घड़ी बैठ जाइए और समझिए कि ये सब हमारे देश के हैं। इस प्रकार जब देश का रूप आपकी आँखों में समा जाएगा, आप उसके अंग प्रत्यंग से परिचित हो जाएँगे, तब आपके अंतःकरण में इस इच्छा का सचमुच उदय होगा कि वह हमसे कभी न छूटे, वह सदा हरा भरा और फूला रहे, उसके धनधान्य की वृद्धि हो, उसके सब प्राणी सुखी रहें।

पर आजकल इस प्रकार का परिचय बाबुओं की लज्जा का एक विषय हो रहा है। वे देश के स्वरूप से अनजान रहने या बनने में अपनी बड़ी शान समझते हैं। मैं अपने एक लखनवी दोस्त के साथ साँची का स्तूप देखने गया। यह स्तूप एक बहुत सुंदर छोटी सी पहाड़ी के ऊपर है। नीचे छोटा मोटा जंगल है, जिसमें महुए के पेड़ भी बहुत से हैं। संयोग से उन दिनों वहाँ पुरातत्त्व विभाग का कैंप पड़ा हुआ था। रात हो जाने से उस दिन हम लोग स्तूप नहीं देख सके, सबेरे देखने का विचार करके नीचे उतर रहे थे। वसंत का समय था। महुए चारों ओर टपक रहे थे। मेरे मुँह से निकला—'महुओं की कैसी महक आ रही है।' इस पर लखनवी महाशय ने चट मुझे रोककर कहा—'यहाँ महुए सहुए का नाम न लीजिए, लोग देहाती समझेंगे।' मैं चुप हो रहा; समझ गया कि महुए का नाम जानने में बाबूपन में बड़ा भारी बट्टा लगता है। पीछे ध्यान आया कि यह वही लखनऊ है जहाँ कभी यह पूछनेवाले भी थे कि गेहूँ का पेड़ आम के पेड़ से छोटा होता है या बड़ा।

हिंदूपन की अंतिम झलक दिखानेवाले थानेश्वर, कन्नौज, दिल्ली, पानीपत आदि स्थान उनके गंभीर भावों के आलंबन हैं जिनमें ऐतिहासिक भावुकता है, जो देश के पुराने स्वरूप से परिचित हैं, उनके लिए इन स्थानों के नाम ही उद्दीपन स्वरूप हैं। इन्हें सुनते ही उनके हृदय में कैसे कैसे भाव जागृत होते हैं वे नहीं कह सकते। भारतेंदु का इतना ही कहना उनके लिए बहुत है कि—

हाय पंचनद! हा पानीपत!
अजहुँ रहे तुम धरनि विराजत?
हाय चितौर! निलज तू भारी,
अजहुँ खरो भारतहि मँझारी।

पानीपत, चित्तौर, कन्नौज आदि का नाम सुनते ही भारत का प्राचीन हिंदू दृश्य, आँखों के सामने फिर जाता है। उनके साथ गंभीर भावों का संबंध लगा हुआ है। ऐसे एक एक नाम हमारे लिए काव्य के टुकड़े हैं। वे रसात्मक वाक्य नहीं, तो रसात्मक शब्द अवश्य हैं।

अब तक जो कुछ कहा गया उससे यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि काव्य में 'आलंबन' ही मुख्य है। यदि कवि ने ऐसी वस्तुओं और व्यापारों को अपने शब्द चित्र द्वारा सामने उपस्थित कर दिया जिससे श्रोता या पाठक के भाव जागृत होते हैं, तो वह एक प्रकार से अपना काम कर चुका। संसार की प्रत्येक भाषा में इस प्रकार के काव्य वर्तमान हैं जिनमें भावों को प्रदर्शित करनेवाले पात्र अर्थात् 'आश्रय' की योजना नहीं की गई है—केवल ऐसी वस्तुएँ और व्यापार सामने रख दिए गए हैं जिनसे श्रोता या पाठक ही भाव का अनुभव करते हैं। यदि किसी कवि ने किसी दृश्य का पूर्ण चित्रण करके रख दिया तो क्या वह इसीलिए काव्य न कहलाएगा कि उसके वर्णन के भीतर कोई पात्र उस दृश्य से प्राप्त आनंद या शोक को अपने

शब्द और चेष्टा द्वारा प्रकट करनेवाला नहीं है? कुमारसंभव के आरंभ के उतने श्लोकों को जिनमें हिमालय का वर्णन है, क्या काव्य से खारिज समझें? मेघदूत में जो आम्रकूट, विंध्य, रेवा आदि के वर्णन हैं उन सब में क्या यक्ष की विरहव्यथा ही व्यंग्य है?

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी की गिनती गिनाकर किसी प्रकार 'रस' की शर्त पूरी करना ही जब से कविजन अपना परम पुरुषार्थ मानने लगे तब से यह बात कुछ भूल सी चली कि कवियों का मुख्य कार्य ऐसे विषयों को सामने रखना है जो श्रोता के विविध भावों के आलंबन हो सकें। सच पूछिए तो काव्य में अंकित सारे दृश्य श्रोता के भिन्न भिन्न भावों के आलंबन स्वरूप होते हैं। किसी पात्र को रति, हास, शोक, क्रोध आदि प्रकट करता हुआ दिखाने में ही रसपरिपाक मानना और यह समझना कि श्रोता को पूरी रसानुभूति हो गई, बुरा हुआ। श्रोता या पाठक के भी हृदय होता है। वह जो किसी काव्य को पढ़ता या सुनता है सो केवल दूसरों का हँसना, रोना, क्रोध करना आदि देखने के लिए ही नहीं, बल्कि ऐसे विषयों को सामने लाने के लिए जो स्वयं उसे हँसाने, रुलाने, क्रुद्ध करने, आकृष्ट करने, लीन करने का गुण रखते हों। राजा हरिश्चंद्र को श्मशान में रानी शैव्या से कफन माँगते हुए, राम जानकी को वनगमन के लिए निकलते हुए पढ़कर ही लोग क्या करुणार्द्र नहीं हो जाते? उनकी करुणा क्या इस बात की अपेक्षा करती है कि कोई पात्र उन दृश्यों पर शोक या दुःख, शब्दों और चेष्टा द्वारा, प्रकट करे? तुलसीदासजी के इस सवैये में–

कागर कीर ज्यों भूषन चीर सरीर लस्यो तजि नीर ज्यों काई।
मातु, पिता, प्रिय लोग सबै सनमानि सुभाय सनेह सगाई।
संग सुभामिनि भाइ भलो, दिन द्वै जनु औध हुते पहुनाई।
राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नाई॥

पाठक को करुण रस में मग्न करने की पूरी सामग्री मौजूद है। परिस्थिति के सहित राम हमारी करुणा के आलंबन हैं, चाहे किसी पात्र की करुणा के आलंबन हों या न हों।

(माधुरी, 1922)

[चिन्तामणि भाग-2]

सभ्यता के आवरण और कविता

ज्यों ज्यों मनुष्य के व्यापार बहुरूपी, गूढ़ और जटिल होते गए, त्यों त्यों भावों के आदिम लक्ष्यों के अतिरिक्त और और लक्ष्यों की भी स्थापना होती गई, और वासनाजन्य व्यापारों के अतिरिक्त बुद्धि द्वारा स्थिर व्यापारों का विधान भी भावों के शासन के भीतर आता गया। जैसे आदि में भय का लक्ष्य अपने शरीर और अपनी संतति की रक्षा तक ही था, पर पीछे गाय, बैल, अन्न आदि की रक्षा आवश्यक हुई; यहाँ तक कि होते होते धन, मान, अधिकार, प्रभुत्व आदि अनेक बातों की रक्षा के संबंध में आशंका ने मनुष्य के हृदय में घर किया, और रक्षा के उपाय भी वासनाजन्य प्रवृत्ति से भिन्न प्रकार के होने लगे। इसी प्रकार क्रोध, घृणा, शोक आदि अन्य भावों के संबंध में भी समझ लेना चाहिए। कुछ भावों के विषय अमूर्त तक होने लगे, जैसे कीर्ति की लालसा। ऐसे भावों को ही बौद्धदर्शन में 'अरूपराग' कहते हैं।

पर भावों के विषयों (आलंबन) और प्रेरित व्यापारों में यह प्रत्यक्ष अनेकरूपता आने पर भी उनका संबंध अपने मूल रूपों और अपने मूल विषयों के साथ प्रच्छन्न रूप में बना है और बराबर बना रहेगा। किसी का कुटिल भाई उसे सम्पत्ति से एकदम वंचित रखने के लिए वकीलों की सलाह से कोई जाली दस्तावेज़ तैयार कराता है। इसकी खबर पाकर वह क्रोध से तड़प उठता है। प्रत्यक्ष रूप में उसके क्रोध का विषय है वह दस्तावेज़। पर उस दस्तावेज़ का संबंध अंततः जाकर इस बात से ठहरता है कि उसे और उसके बाल बच्चों को अच्छी तरह अन्न वस्त्र न मिलेगा। अतः उसके क्रोध में और उस कुत्ते के क्रोध में, जिसके सामने की रोटी कोई दूसरा कुत्ता छीन रहा है, कोई वास्तविक भेद नहीं है। भेद है केवल विषय के थोड़ा रूप बदलकर आने में। इसी रूप बदलने का नाम है सभ्यता। इस रूप बदलने से होता यह है कि उससे उत्तेजित क्रोध आदि को भी अपना रूप कुछ बदलना पड़ता है। वह भी कुछ कपड़े लत्ते लपेटकर समाज में आता है, जिससे मारपीट, छीन खसोट आदि भद्दे समझे जानेवाले व्यापारों का कुछ निवारण होता है।

पर यह प्रच्छन्न रूप इतना मर्मस्पर्शी नहीं हो सकता कि काव्य के प्रयोजन का हो। इसी से इस प्रच्छन्नता का उद्घाटन कवि का पहला काम हो जाता है। ज्यों ज्यों सभ्यता बढ़ती जायगी, त्यों त्यों यह काम भी बढ़ता जायगा। मनुष्य की रागात्मिका

वृत्ति से सीधा संबंध रखनेवाले रूपों को सामने लाने के लिए उसे बहुत से परदों को हटाना पड़ेगा। इससे यह स्पष्ट है कि ज्यों ज्यों सभ्यता बढ़ती जायगी, त्यों त्यों एक ओर तो काव्य की आवश्यकता बढ़ती जायगी, दूसरी ओर कवि कर्म कठिन होता जायगा। ऊपर जिस क्रुद्ध व्यक्ति का उदाहरण दिया गया है, वह यदि क्रोध से छुट्टी पाकर अपने भाई के हृदय में दया का संचार करना चाहेगा, तो क्षुब्ध होकर उससे कहेगा—''भाई! तुम यह सब इसीलिए न कर रहे हो कि तुम पक्की हवेली में बैठकर हलवा पूरी खाओ, और मैं एक झोपड़ी में बैठा सूखे चने चबाऊँ। तुम्हारे लड़के दुशाले ओढ़कर सैर करने निकलें, और मेरे बच्चे एक कोने में बैठे ठंड से काँपते रहें!''

यह हुआ प्रकृत रूप का प्रत्यक्षीकरण। इसमें सभ्यता के बहुत से आवरणों को हटाकर वे मूल गोचर रूप सामने रखे गए हैं, जिनसे हमारे भावों का सीधा लगाव है। अतः वे भावों को जागृत करने में समर्थ हैं। कोई बात जब इस रूप में कही जायगी, तभी वह कवि कर्म के उपयोग में आ सकती है। 'तुमने हमें हानि पहुँचाने के लिए दस्तावेज़ बनवाई' इस वाक्य में कुछ रसात्मकता न होगी। इसी बात को ध्यान में रखकर ध्वनिकार ने कहा है—'न हि कवेरितिवृत्तमात्र निर्वहिणात्म पदलाभः'। देश की आजकल की दशा के वर्णन में यदि हम केवल इसी प्रकार के वाक्य कहते जायँ—''हम मूर्ख, बलहीन और आलसी हो गए हैं, हमारा धन विदेश चला जाता है, रुपये का डेढ़ पाव घी बिकता है इत्यादि इत्यादि,'' तो वे छन्दोबद्ध होने पर काव्य पद के अधिकारी न होंगे। सारांश यह कि काव्य के लिए अनेक स्थलों पर हमें भावों के विषयों के मूल और आदिम रूपों तक जाना होगा, जो मूर्त और गोचर होंगे। जब तक भावों से सीधा लगाव रखनेवाले मूर्त और गोचर रूप न मिलेंगे, तब तक काव्य का प्रकृत रूप खड़ा न हो सकेगा। भावों के अमूर्त विषय भी यदि भावुकता की दृष्टि गड़ाकर देखे जायँगे, तो मूल में मूर्त और गोचर रूप मिल जायँगे। यशोलिप्सा को ही लीजिए, उसमें कुछ दूर चलकर उस आनंद के उपभोग की प्रवृत्ति छिपी मिलेगी, जो अपनी तारीफ कानों में पड़ने से हुआ करती है।

काव्य में अर्थग्रहण मात्र से काम नहीं चलता। बिंबग्रहण अपेक्षित होता है। यह बिंबग्रहण गोचर और मूर्त विषय का ही हो सकता है। ''रुपये का डेढ़ पाव घी बिकता है''—इस कथन से कल्पना में यदि कोई बिंब या मूर्ति उपस्थित होगी, तो वह तराजू लिये हुए बनिये की होगी, जिससे हमारे करुण भाव का सीधा लगाव न होगा। बहुत कम लोगों को घी खाने को मिलता है, अधिकतर लोग रूखी सूखी खाकर रहते हैं, इस बात तक हम अर्थ ग्रहण परंपरा द्वारा इस चक्कर के साथ पहुँचते हैं—एक रुपये का बहुत कम घी मिलता है, इससे रुपयेवाले ही घी खा सकते हैं। पर रुपयेवाले बहुत कम हैं, इससे जनता का अधिक भाग घी नहीं पा सकता, रूखी सूखी खाकर रहता है। यदि इसे व्यंजना कहें, तो यह वस्तु व्यंजना होगी, जिससे काव्य को उतना सरोकार नहीं। मैं तो काव्य में इसको भी 'प्रसाद गुण' का अभाव ही कहूँगा।

(सुधा, अक्टूबर 1928)

[चिन्तामणि भाग-3]

काव्य में रहस्यवाद

[यह निंबध केवल इस उद्देश्य से लिखा गया कि 'रहस्यवाद' या 'छायावाद' की कविता के संबंध में भ्रांतिवश या जानबूझकर जो अनेक प्रकार की बे सिर पैर की बातों का प्रचार किया जाता है, वह बंद हो। कोई कहता है—'यही वर्तमान युग की कविता है', कोई कहता है—'इसमें आजकल की आकांक्षाएँ भरी रहती हैं' और कोई कहता है कि 'बस, यही कविता का रूप है।' किसी सभ्य जाति के साहित्यक्षेत्र में ऐसे प्रवादों का फैलना शोभा नहीं देता।

मैं 'रहस्यवाद' का विरोधी नहीं। मैं इसे भी कविता की एक शाखाविशेष मानता हूँ। पर जो इसे काव्य का सामान्य स्वरूप समझते हैं उनके अज्ञान का निवारण मैं बहुत ही आवश्यक समझता हूँ।]

'कविता क्या है?' शीर्षक निबंध में हम कह चुके हैं कि कविता मनुष्य के हृदय को व्यक्तिगत संबंध के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोकसामान्य भावभूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत् के नाना रूपों और व्यापारों के साथ उसके प्रकृत संबंध का सौंदर्य दिखाई पड़ता है। इस सौंदर्य के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार और जगत् के साथ हमारे रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह होता है। जिस प्रकार जगत् अनेकरूपात्मक है उसी प्रकार हमारा हृदय भी अनेक भावात्मक है। इन अनेक भावों का व्यायाम और परिष्कार तभी हो सकता है जबकि उन सबका प्रकृत सामंजस्य जगत् के भिन्न भिन्न रूपों और व्यापारों के साथ हो जाय। जब तक यह सामंजस्य पूरा पूरा न होगा तब तक यह नहीं कहा जा सकता है कि कोई पूरी तरह जी रहा है। उसकी सजीवता की मात्रा अधूरी और प्रसार संकुचित समझा जाएगा। अतः काव्य का काम मनुष्य के सब भावों और सब मनोविकारों के लिए प्रकृति के अपार क्षेत्र में आलंबन या विषय चुनकर रखना है। इस प्रकार उसका संबंध जगत् और जीवन की अनेकरूपता के साथ स्वतः सिद्ध है।

काव्यदृष्टि से हम जब जगत् को देखते हैं तभी जीवन का स्वरूप और सौंदर्य प्रत्यक्ष होता है। जहाँ व्यक्ति के भावों के पृथक् विषय नहीं रह जाते, मनुष्यमात्र के आलंबनों में हृदय लीन हो जाता है, जहाँ व्यक्ति जीवन का लोकजीवन में लय

हो जाता है वही भाव की पवित्र भूमि है। वहीं विश्वहृदय का आभास मिलता है। जहाँ जगत् के साथ हृदय का पूर्ण सामंजस्य घटित हो जाता है वहाँ प्रवृत्ति और निवृत्ति भी स्वतः मंगलोन्मुखी हो जाती है। जो नरक के, परजन्म के अथवा राजदंड के भय से ही पाप या अपराध नहीं करते, तथा जो स्वर्ग के या परजन्म के सुख के लोभ से ही कोई शुभ कार्य करते हैं, उनमें हृदय के विकास का अभाव और जीवन के सौंदर्य की अनुभूति की कमी समझनी चाहिए।

जीवन का सौंदर्य वैचित्र्यपूर्ण है। उसके भीतर किसी एक ही भाव का विधान नहीं है। उसमें एक ओर प्रेम, हास, उत्साह और आश्चर्य आदि हैं, दूसरी ओर क्रोध, शोक, घृणा और भय आदि—एक ओर आलिंगन, मधुरालाप, रक्षा, सुख शांति आदि हैं, दूसरी ओर गर्जन, तर्जन, तिरस्कार और ध्वंस। इन दो पक्षों के बिना क्रियात्मक या गत्यात्मक (डायनैमिक) सौंदर्य का प्रकाश नहीं हो सकता। जहाँ इन दोनों पक्षों में साध्य साधक संबंध रहता है, जहाँ इनमें सामंजस्य दिखाई पड़ता है, वहाँ की उग्रता और प्रचंडता में भी सौंदर्य का दर्शन होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सौंदर्य भी मंगल का ही पर्याय है। जो लोग केवल शांत और निष्क्रिय (स्टैटिक) सौंदर्य के अलौकिक स्वप्न में ही कविता समझते हैं वे कविता को जीवनक्षेत्र के बाहर खदेड़ना चाहते हैं।

योरप का वर्तमान लोकादर्शवाद (ह्यूमैनिटेरियन आइडियलिज्म) मनुष्य की अंतःप्रकृति के एक समूचे पक्ष के सर्वथा निराकरण में—केवल प्रेम और भ्रातृभाव की भीतरी शक्ति द्वारा क्रूरता, क्रोध, स्वार्थमद, हिंसावृत्ति आदि की चिरशांति में—काव्य का परम उत्कर्ष मानता है और उसी के भीतर सौंदर्य और मंगल को बद्ध देखता है। उसका कहना कुछ इस प्रकार है—

'सौंदर्य से, प्रेम से, मंगल से, पाप को एकदम समूल नष्ट कर देना ही हमारी आध्यात्मिक प्रकृति की एकमात्र आकांक्षा है।...उच्च साहित्य स्वभाव निःसृत अश्रुजल से कलंकमोचन करते हैं और स्वाभाविक आनंद से पुण्य का स्वागत करते हैं।'

यह परम भक्त ईसाई टाल्सटाय के साहित्यिक उपदेशों की बंग प्रतिध्वनि है।[1] थोड़े शब्दों में इसका खुलासा यह है कि संसार में क्रूरता, हिंसा, अत्याचार, स्वार्थमद आदि हैं तो अत्याचारी को विवेकी, क्रूर को सदय, पापी को पुण्यात्मा, अनिष्टकारी को प्रेमी बनाने के अविचल प्रयत्न प्रदर्शन में ही साहित्य की उच्चता है अर्थात् शुभ और सात्त्विक भावों की अशुभ और तामस भावों पर चढ़ाई और विजय ऊँचे साहित्य का विधान है। क्रूरता पर क्रोध, अत्याचारियों का ध्वंस, पापियों को जगत् के मार्ग से हटाना, मध्यम काव्य का विधान है। वर्णव्यवस्था से शब्द लें तो एक ब्राह्मण काव्य का दूसरा क्षत्रिय काव्य।

---

1. श्री रवींद्रनाथ ठाकुर—प्राचीन साहित्य।

इन आदर्शवादियों का कहना है कि आदर्श को सदा सामान्य जीवनभूमि से ऊँचे रखना चाहिए। ठीक है। जितने आदर्श होते हैं सब सामान्य भूमि से ऊपर उठे होते हैं। पर यह कहना कि उपर्युक्त आदर्श के भीतर ही सौंदर्य और मंगल की अभिव्यक्ति होती है, काव्य की उच्चता केवल वहीं मिलती है, मंगल, सौंदर्य तथा काव्य की उच्चता के क्षेत्र को बहुत संकुचित करना है। क्रूर अत्याचारी किसी दीन को निरंतर पीड़ा पहुँचाता चला जाता है। और वह पीड़ित व्यक्ति बराबर प्रेम प्रदर्शित करता और उस अत्याचारी का उपकार साधता चला जाता है, यहाँ तक कि अंत में उस अत्याचारी की वृत्ति कोमल हो जाती है, वह पश्चात्ताप करता है, और सुधर जाता है। यह एक ऊँचा आदर्श है, इसमें संदेह नहीं। पर इस आदर्श में केवल दो पक्ष हैं--अत्याचारी और पीड़ित। उस क्रूरता और पीड़ा को देखनेवाले तीसरे व्यक्ति की मनोवृत्ति का मंगलमय सौंदर्य कहाँ है, इसका अनुसंधान नहीं है। विचारने की बात है कि दूसरों की निरंतर बढ़ती हुई पीड़ा को देख देख अत्याचारियों की शुश्रूषा और उनके साथ प्रेम का व्यवहार करते चले जाने में अधिक सौंदर्य का विकास है कि करुणा से आर्द्र और फिर रोष से प्रज्वलित होकर पीड़ितों और अत्याचारियों के बीच उत्साहपूर्वक खड़े होने तथा अपने ऊपर अत्याचार पीड़ा सहने और प्राण देने के लिए तत्पर होने में। हम तो करुणा और क्रोध के इसी सामंजस्य में मनुष्य के कर्मसौंदर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति और काव्य की चरम सफलता मानते हैं।

मनुष्य की अंतःप्रकृति के एक पक्ष के सर्वथा अभाव को चरम साध्य रखकर निवृत्ति के आदर्श स्वप्न में लीन करने में ही काव्य की उच्चता हम नहीं मान सकते। यह स्वप्न सुंदर अवश्य है, पर जागरण इससे कम सुंदर नहीं। स्वप्न और जागरण दोनों काव्य के पक्ष हैं। इन दोनों पक्षों का सामंजस्य काव्य का चरम उत्कर्ष है। काव्य में हम 'वादों' का बाहर से आना ठीक नहीं समझते। पर यदि 'वाद' शब्द के बिना किसी पक्ष की पहचान न हो सकती हो तो हमें कहना पड़ेगा कि हमारा पक्ष है 'अभिव्यक्तिवाद' और 'सामंजस्यवाद'।

आदर्श व्यक्ति सिद्ध हो सकता है पर आदर्श लोक साध्य ही रहा है और रहेगा। जिस दिन यह सिद्ध हो जाएगा उस दिन यह लोक कर्मलोक न रहेगा। फिर इसके रहने की भी जरूरत रहेगी या नहीं, नहीं कह सकते। प्रयत्न ही जीवन की शोभा है; जीवन का सौंदर्य है—केवल अपना पेट भरने या आनंद से तृप्त होने का प्रयत्न नहीं; लोक में उपस्थित बाधा, क्लेश, विषमता आदि से भिड़ने का प्रयत्न। अँगरेज कवि ब्राउनिंग ने जीवन के इस प्रयत्न सौंदर्य की ओर इस प्रकार संकेत किया है—

'यदि मनुष्य केवल आनंद से तृप्त होने के लिए ही, ढूँढ़ने, पाने और आनंद लेने के लिए ही, बना है। तब तो जीवन का इतना गर्व—उसके महत्त्व की इतनी चर्चा—व्यर्थ है। यह आनंद पूरा हुआ कि मनुष्यों के दिन भी पूरे हुए समझिए। क्या पेट भरे पशु पक्षी को भी संशय या चिंता सताती है?

फिर, प्रत्येक बाधा को, जो भूतल के समसुगम को विषम और दुर्गम करती हो, खुशी से आने दो; प्रत्येक दंश (पहुँचाए हुए कष्ट) को जो न बैठा रहने देता हो, न खड़ा रहने, बराबर चलाता ही रहता हो, खुशी से लगने दो। हमारे आनंद बारह आने क्लेश ही हो जायँ? प्रयत्नवान् रहो और जो कुछ श्रम पड़े उसे गनीमत समझो। सीखो, कष्ट की परवाह न करो; साहस करो, क्लेश से मुँह न मोड़ो।[1]

जगत् की विघ्न बाधा, अत्याचार, हाहाकार के बीच ही जीवन के प्रयत्न सौंदर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति तथा भगवान की मंगलमय शक्ति का दर्शन होता है। अतः जो आँख मूँदकर काव्य का पता जगत् और जीवन से बाहर लगाने निकलते हैं वे काव्य के धोखे में, या उसके बहाने से, किसी और ही चीज के फेर में रहते हैं। इसी प्रकार जो लोग ज्ञात या अज्ञात के प्रेम, अभिलाष, लालसा या वियोग के नीरव सरव क्रंदन अथवा वीणा के तार झंकार तक ही काव्यभूमि समझते हैं, उन्हें जगत् की अनेकरूपता और हृदय की अनेक भावात्मकता के सहारे अंधकूपता से बाहर निकलने की फिक्र करनी चाहिए। निकलने पर वे देखेंगे कि काव्यभूमि कितनी विस्तृत है। जितना विस्तार जगत् और जीवन का है उतना ही विस्तार उसका है। काव्यदृष्टि से यह दृश्य जगत् ब्रह्म की नित्य और अनंत कल्पना है। जिसके साथ उसका नित्य हृदय भी लगा हुआ है।

यह अनंत रूपात्मक कल्पना व्यक्त और गोचर है—हमारी आँखों के सामने बिछी हुई है। समष्टि रूप में यह शाश्वत और अनंत है। इसी की भिन्न भिन्न रूप चेष्टाओं की ओर हृदय के भिन्न भिन्न भावों को अपने निज के संबंधप्रभाव से मुक्त करके प्रवृत्त करना ब्रह्म की व्यक्त सत्ता में अपनी व्यक्त सत्ता को लीन करना है। इस पुनीत भावभूमि में जब तक मनुष्य रहता है तब तक यह अनंत काव्य के

---

1. पुअर वांट आव लाइफ इंडीड,
   वेयर मैन वट फार्म्ड टु फीड
   आन ज्वाय, टु सोल्ली सीक ऐंड फाइंड ऐंड फीस्ट;
   सच फीस्टिंग एंडेड, देन
   ऐज श्योर ऐन एंड टु मेन;
   इर्क्स केयर दि क्रापफुल बर्ड? फ्रेट्स
   डाउट दि मा क्रैम्ड बीस्ट?
   देन वेलकम ईच रिबफ
   दैट टर्न्स अर्थ्स स्मूथनेस रफ,
   ईच स्टिंग दैट बिड्स नार सिट, नार स्टैंड बट गो।
   बी अवर ज्वाएज थ्री पार्ट्स पेन!
   स्ट्राइव ऐंड होल्ड चियर दि स्ट्रेन;
   लर्न, नार एकाउंट दि पैंग; डेयर नेवर
   ग्रज दि थ्रो।

भावुक श्रोता या द्रष्टा के रूप में रहता है। कुछ लोगों का यह ख्याल कि काव्यानुभूति एक और ही प्रकार की अनुभूति है, उसका प्रत्यक्ष या असली अनुभूति से कोई संबंध ही नहीं, या तो कोई ख्याल ही नहीं, या गलत है। काव्यानुभूति (एइस्थेटिक मोड आर स्टेट) एक निराली ही अनुभूति है, इस मत के कारण योरपीय समीक्षा क्षेत्र में बहुत सा अर्थशून्य वाग्विस्तार बहुत दिनों से चला आ रहा है। इस मत की असारता रिचर्ड्स ने अपने 'काव्य समीक्षा सिद्धांत' (प्रिंसिपल्स आव लिटररी क्रिटिसिज्म) में अच्छी तरह दिखाई है।

अपने को भूलकर; अपनी शरीरयात्रा का मार्ग छोड़कर, जब मनुष्य किसी व्यक्ति या वस्तु के सौंदर्य पर प्रेममुग्ध होता है; किसी ऐसे के दुःख पर, जिसके साथ अपना कोई खास संबंध नहीं, करुणा से व्याकुल होता है; दूसरे लोगों पर सामान्यतः घोर अत्याचार करनेवाले पर क्रोध से तिलमिलाता है; ऐसी वस्तु से घृणा अनुभव करता है जिससे सबकी रुचि को क्लेश पहुँचा है; ऐसी बात का भय करता है जिससे दूसरों को कष्ट या हानि पहुँचने की संभावना होती है; ऐसे कठिन और भयंकर कर्म के प्रति उत्साह से पूर्ण होता है जिसकी सिद्धि सबको वांछित होती है तथा ऐसी बात पर हँसता या आश्चर्य करता है जिसे देख सुनकर सबको हँसी आती या आश्चर्य होता है; तब उसके हृदय को सामान्य भावभूमि पर और उसकी अनुभूति को काव्यानुभूति से भीतर समझना चाहिए। इसलिए यह धारणा कि शब्द, रंग या पत्थर के द्वारा जो अनुभूति उत्पन्न की जाती है केवल वही काव्यानुभूति हो सकती है, ठीक नहीं है।

जिस अनुभूति की प्रेरणा से सच्चे कवि रचना करने बैठते हैं वह भी काव्यानुभूति ही होती है। सत्यकाव्य और असत्यकाव्य में—काव्य और काव्याभास में—यही भीतरी या मार्मिक अंतर होता है कि सच्चा काव्य सामान्य भूमि पर पहुँची हुई अनुभूतियों का वर्णन करता है और काव्याभास ऐसे सच्चे वर्णनों की केवल नकल करता है। न जाने कितने भाट कवियों ने अपने आश्रयदाता राजाओं की खुशामद में अपनी समझ में वीर और रौद्र रस लबालब भरकर बड़ी बड़ी पोथियाँ तैयार कीं, पर उनको लोक ने न अपनाया। वे या तो नष्ट हो गईं या उन राजाओं के वंशधरों के घरों में बेठनों में लपेटी पड़ी हैं। वे पोथियाँ सच्ची काव्यानुभूति की प्रेरणा से नहीं लिखी गई थीं। उनके नायकों की वीरमूर्ति या रौद्रमूर्ति राम कृष्ण की, शिवा प्रताप की, वीर रौद्रमूर्ति कैसे हो सकती थी? उनके उत्साह और उनके क्रोध का लोक अपना उत्साह और अपना क्रोध कैसे बना सकता था?

अभिव्यक्ति केवल और निर्विशेष नहीं हो सकती। ब्रह्म अपनी व्यक्त सत्ता के भीतर अपने 'सत्' और 'आनंद' स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए असत् और क्लेश का अवस्थान करता है—अपने मंगल रूप के प्रकाश के लिए अमंगल की छाया डालता

है। मंगल पक्ष में सौंदर्य, हास, विकास, प्रफुल्लता, रक्षा और रंजन इत्यादि है, अमंगल पक्ष में विरूपता, विलाप, क्लेश और ध्वंस इत्यादि हैं। इन दोनों पक्षों के द्वंद्व के बीच से ही मंगल की कला शक्ति के साथ फूटती दिखाई पड़ा करती है। अत्याचार क्रंदन, पीड़न, ध्वंस का सहन जगत् की साधना या तप है, जो वह भगवान की मंगल कला के दर्शन के लिए किया करता है। जीवन प्रयत्नरूप है, अतः मंगल भी साध्य रहता है; सिद्ध नहीं। जो कविता मंगल को सिद्ध रूप में देखने के लिए किसी अज्ञात लोक की ओर ही इशारा किया करती है, वह आलस्य, अकर्मण्यता और नैराश्य की वाणी है। वह जगत् और जीवन के संघर्ष से कल्पना को भगाकर केवल मन मोदक बाँधने और खयाली पुलाव पकाने में लगाती है। ऐसी कायर कल्पना ही से सच्चे काव्य का काम नहीं चल सकता जो जगत् और जीवन से सौंदर्य और मंगल की कुछ सामग्री ले भागे और अलग एक कोने में इकट्ठी करके उछला कूदा करे!

ब्रह्म की व्यक्त सत्ता सतत क्रियमाण है। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में स्थिर (स्टैटिक) सौंदर्य और स्थिर मंगल कहीं नहीं, गत्यात्मक (डायनैमिक) सौंदर्य और गत्यात्मक मंगल ही है, पर सौंदर्य की गति भी नित्य और अनंत है और मंगल की भी। गति की यही नित्यता जगत् की नित्यता है। सौंदर्य और मंगल वास्तव में पर्याय हैं। कलापक्ष से देखने में जो सौंदर्य है, वही धर्मपक्ष से देखने में मंगल है, जिस सामान्य काव्यभूमि पर प्राप्त होकर हमारे भाव एक साथ ही सुंदर और मंगलमय हो जाते हैं, उसकी व्याख्या पहले हो चुकी है। कवि मंगल का नाम न लेकर सौंदर्य ही का जिक्र किया करता है। टाल्सटाय इस प्रवृत्तिभेद को न पहचानकर काव्यक्षेत्र में लोकमंगल का एकांत उद्‌देश्य रखकर चले इससे उनकी समीक्षाएँ गिरजाघर के उपदेश के रूप में हो गईं। मनुष्य मनुष्य में प्रेम और भ्रातृभाव की प्रतिष्ठा ही काव्य का सीधा लक्ष्य ठहराने से उनकी दृष्टि बहुत संकुचित हो गई, जैसा कि उनकी सबसे उत्तम ठहराई हुई पुस्तकों की विलक्षण सूची से विदित होगा। यदि टाल्सटाय की धर्मभावना में व्यक्तिगत धर्म के अतिरिक्त लोकधर्म का समावेश होता तो उनके कथन में शायद इतना असामंजस्य न घटित होता।

अब यहाँ यह बात फिर स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि कविता का संबंध ब्रह्म की व्यक्त सत्ता से नहीं। जगत् भी अभिव्यक्ति है, काव्य भी अभिव्यक्ति है। जगत् अव्यक्त की अभिव्यक्ति है और काव्य इस अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति है। मनुष्य का ज्ञान देश और काल के बीच बहुत परिमित है। वह एक बार में अपने भावों के लिए बहुत कम सामग्री उपस्थित कर सकता है। सदा और सर्वत्र किसी भाव के अनुकूल यह सामग्री उपलब्ध भी नहीं हो सकती। दूसरी बात यह है कि सबकी कल्पना उतनी तत्पर नहीं होती कि जगत् की खुली विभूति से संचित रूपों और व्यापारों की वे जब चाहे तब ऐसी मर्मस्पर्षिणी योजना मन में कर सकें जो

भावों को एकबारगी जागृत कर दे। इसी से सूक्ष्म दृष्टि; तीव्र अनुभूति और तत्पर कल्पनावाले कुछ लोग ही कविकर्म अपने हाथ में लेते हैं।

प्रत्येक देश में काव्य का प्रादुर्भाव इसी जगत् रूपी अभिव्यक्ति को लेकर हुआ। इस अभिव्यक्ति के सम्मुख मनुष्य कहीं से लुब्ध हुआ, कहीं दुःखी हुआ, कहीं क्रुद्ध हुआ, कहीं डरा, कहीं विस्मित हुआ और कहीं भक्ति और श्रद्धा से उसने सिर झुकाया। जब सब एक दूसरे को ऐसा ही करते दिखाई पड़े तब सामान्य आलंबनों की परख हुई और उनके सहारे एक ही साथ बहुत से आदमियों में एक ही प्रकार की अनुभूति जगाने की कला का प्रादुर्भाव हुआ। इसका उपयोग जहाँ दस आदमी इकट्ठे होते, जैसे—यज्ञ में, उत्सव में, युद्धयात्रा में, शोकसमाज में—वहाँ प्रायः होता था। धीरे धीरे इसी अनुभूति योग की साधना से कुछ अंतर्दृष्टिसंपन्न महात्माओं को इस विशाल विश्वविग्रह के भीतर 'परम हृदय' की झलक मिली जिससे कविता और ऊँची भूमि पर आई। ये चराचर के साथ मनुष्यहृदय का संयोग कराने, सर्वभूतों के साथ मनुष्य को तादात्म्य अनुभव कराने उठे।

वाल्मीकि मुनि तमसा के हरे भरे कूल पर फिर रहे थे। नाना वृक्ष और लताएँ प्रफुल्लता से झूम रही थीं। मृग स्वच्छंद विचर रहे थे, पक्षी आनंद से कलरव कर रहे थे। प्रकृति के उस महोत्सव में मुनि के हृदय का भी पूरा योग था। उनकी वृत्ति भी उनमें रमी हुई थी। इतने में देखते ही देखते क्रौंच के एक जोड़े का नर पक्षी, रक्त से लिपटा, गिरकर मुनि के सामने तड़पने लगा। क्रौंची शोक से विह्वल ताकती रह गई। सुख शांति का भंग हुआ। मुनि एकबारगी करुणा से व्याकुल, फिर रोष से उद्विग्न हो उठे। उनके मुँह से यह वाग्धारा फूट पड़ी—

मा निषाद प्रतिष्ठांस्त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

इस करुण क्रोध की वाणी में लोकरक्षा और लोकरंजन की साधनाविधि और काव्य के अनेक भावात्मक स्वरूप की घोषणा थी। मुनि ने तमसातट की उस घटना में संपूर्ण लोकव्यापार का नित्य स्वरूप देखा। इससे वे हताश नहीं हुए। ध्यान करने पर उसी के भीतर उन्हें मंगलमयी ज्योति का दर्शन हुआ जिसमें शक्ति, शील और सौंदर्य तीनों विभूतियों का दिव्य समन्वय था। इसी समन्वय को लेकर उनकी वेगवती वाग्धारा चली। यह समन्वय जटिल है—इस प्रकार का है कि चाहे किसी एक को अलग कर लें, उसके साथ दूसरी दो विभूतियाँ भी इधर उधर लगी रहेंगी, जैसे—यदि किसी ओर ध्वंस वा नाश की ओर प्रवृत्त शक्ति को लें तो और सब ओर से वह शीलसाधन और सौंदर्यविकास करती दिखाई देगी। यदि क्षमा अनुग्रह में प्रवृत्त शील को लें तो अपार शक्ति उस क्षमा और अनुग्रह के सौंदर्य को बढ़ाती दिखाई पड़ेगी। यदि सौंदर्य को लें तो वह केवल व्याधि के रूप का प्रेम उभारता न दिखाई पड़ेगा, बल्कि शक्ति शील के योग में भक्ति, आशा और उत्साह का संचार करेगा।

न तो अंतःप्रकृति में एक ही प्रकार के भावों वा वृत्तियों का विधान है और न वाह्य प्रकृति में एक ही प्रकार के रूपों या व्यापारों का। भीतरी और बाहरी दोनों विधानों में घोर जटिलता है। इन्हीं परस्पर संबद्ध विविध वृत्तियों का सामंजस्य काव्य का परम उत्कर्ष और सबसे बड़ा मूल्य है। सामंजस्य काव्य और जीवन दोनों की सफलता का मूल मंत्र है। काव्य का जो स्वरूप महर्षि वाल्मीकि ने अत्यंत प्राचीन काल में तमसा के किनारे प्रतिष्ठित किया था, आज ईसा की बीसवीं शताब्दी में इंगलैंड के अत्यंत निर्मलदृष्टि समालोचक रिचर्ड्स, योरपीय समीक्षाक्षेत्र का बहुत सा निरर्थक शब्दजाल और कूड़ा करकट पार करते हुए, उसी स्वरूप तक पहुँचे हैं।[1]

अब विचारने की बात है कि किसी अगोचर और अज्ञात के प्रेम में आँसुओं की आकाशगंगा में तैरने, हृदय की नसों का सितार बजाने, प्रियतम असीम के संग नग्न प्रलय सा तांडव करने या मुँदी नयनपलकों के भीतर किसी रहस्य का सुखमय चित्र देखने को ही—'भी' तक तो कोई हर्ज न था—कविता कहना, कहाँ तक ठीक है? चारों ओर से बेदखल होकर छोटे छोटे कनकौवों पर भला कविता कब तक टिक सकती है? असीम और अनंत की भावना के लिए अज्ञात या अव्यक्त की ओर झूठे इशारे करने की कोई जरूरत नहीं। व्यक्त पक्ष में भी वही असीमता और वही अनंतता है। व्यक्त और अव्यक्त में कोई पारमार्थिक भेद नहीं। ये दोनों सापेक्ष और व्यावहारिक शब्द हैं और केवल मनुष्य के ज्ञान की परिमिति के द्योतक हैं। अज्ञान की 'जिज्ञासा' ही का कुछ अर्थ होता है; उसकी 'लालसा' या प्रेम का नहीं। भौतिक जगत् की रूपयोजना लेकर जिस प्रेम की व्यंजना होगी वह भाव की दृष्टि से वास्तव में भौतिक जगत् की उसी रूपयोजना के प्रति होगा। जगह जगह जिज्ञासावाचक शब्द रखकर उसे किसी और के प्रति बताना या तो प्रिय असत्य या सांप्रदायिक रूढ़ि ही माना जायगा।

पहले कहा जा चुका है कि जिस प्रकार जगत् अनेकरूपात्मक है उसी प्रकार काव्य भी अनेकभावात्मक है। प्रेम, अभिलाष, विरह, औत्सुक्य, हर्ष आदि थोड़ी सी मनोवृत्तियों का एक छोटा सा घेरा संपूर्ण काव्यक्षेत्र नहीं हो सकता। इन भावों के साथ और दूसरे भाव, जैसे—क्रोध, भय, उत्साह, घृणा इत्यादि—ऐसी जटिलता से गुंफित

---

1. एनीथिंग इज वैल्युएब्ल ह्विच विल सैटिसफाइ ऐन ऐपिटेंसी विदाउट इनवाल्विंग दि फ्रास्ट्रेस्सन आव सम ईक्वल आर मोर इंपार्टेन्ट ऐपिटेंसी।

दि कांप्लिकेशंस पासिबुल इन दि सिस्टेमाइजेशन आव इंपल्सेज आर इंडेफिनिट। दि प्लैस्टिसिटी आव स्पेशल ऐपिटेंसीज ऐंड ऐक्टिविटीज वैरीज एनार्मस्ली।

दि इंपार्टेंस आव ऐन इंपल्स कैन बि डिफाइंड एज दि एक्स्टेंट आव दि डिस्टर्बेन्स आव अदर इंपल्सेज इन दि इंडिविडुअल्स ऐक्टिविटीज ह्विच दि थ्वार्टिंग आव दि इंपल्स इनवाल्ब्स।

—आई ए रिचर्ड्स, प्रिंसिपल्स आव लिटरेरी क्रिटिसिज्म, अध्याय 7
(तृतीय संस्करण, 1928।)

हैं कि सम्यक् काव्यदृष्टि उनको अलग नहीं छोड़ सकती; चाहे उनका सामंजस्य शेष अंतःप्रवृत्तियों के साथ कभी कभी मुश्किल से ही क्यों न बैठता हो।

आजकल कवि के 'संदेश' (मेसेज) का फैशन बहुत हो रहा है। हमारे आदिकवि का—आदि से अभिप्राय प्रथम कवि से है जिसने काव्य के पूर्ण स्वरूप की प्रतिष्ठा की—संदेश है कि सब भूतों तक, संपूर्ण चराचर तक अपने हृदय को फैलाकर जगत् में भावरूप में रम जाओ; हृदय की स्वाभाविक प्रवृत्ति के द्वारा विश्व के साथ एकता का अनुभव करो। करुण अमर्ष की जो वाणी उनके मुख से पहले पहल निकली उसमें यही संदेश भरा था। समस्त चराचर में एक सामान्य हृदय की अनुभूति का जैसा तीव्र और पूर्ण उन्मेष करुणा में होता है वैसा किसी और भाव में नहीं। इसी से आदिकवि की वाणी द्वारा पहले पहल उसी की व्यंजना हुई। उस वाणी में काव्य के प्रकृत स्वरूप का भी पूरा संकेत था। मनुष्य की अंतःप्रकृति के भीतर भावों का परस्पर जैसा जटिल संबंध है करुणा और क्रोध का वैसा ही जटिल संबंध वाणी में था। आलंबनभेद से इन दो विरोधी भावों का कैसा सुंदर सामंजस्य उस हृदय से निकले हुए सीधे सादे वाक्य में था।

अब उनके संदेश का कुछ और विवरण लीजिए। रामायण में—विशेषतः वर्षा और हेमंत के वर्णन में—जिस संश्लिष्ट ब्योरे के साथ उन्होंने प्रकृति के नाना रूपों का सूक्ष्म निरीक्षण किया है उससे उन रूपों के साथ उनके हृदय का पूरा मेल पाया जाता है। बिना अनुराग के ऐसे सूक्ष्म ब्योरों पर दृष्टि न जा ही सकती है न रम ही सकती है। काव्य में 'प्राकृतिक दृश्य' नामक निबंध में हमने किसी वर्णन में आई हुई वस्तुओं का मन में दो प्रकार का ग्रहण बताया था। बिंबग्रहण और अर्थग्रहण मात्र। वर्षा और हेमंत के वर्णन में वाल्मीकि ने बिंबग्रहण कराने का प्रयत्न किया है। उन्होंने वस्तुओं के अलग अलग नाम नहीं गिनाए हैं; उनके आकार, वर्ण आदि का पूरा ब्योरा देते हुए आसपास की वस्तुओं के साथ उनका संश्लिष्ट दृश्य सामने रखा है। इसी संश्लिष्ट रूपयोजना का नाम चित्रण है। कवि इस प्रकार के चित्रण में तभी प्रवृत्त होता है जब वह वाह्य प्रकृति को आलंबन रूप में ग्रहण करता है। उद्दीपन रूप में जो वस्तुविधान होता है उसमें कुछ इनी गिनी वस्तुओं के उल्लेख मात्र से काम चल जाता है।

वन, पर्वत, नदी, नाले, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, मैदान, कछार ये सब हमारे पुराने सहचर हैं और हमारे हृदय के प्रसार के लिए अभी तो बने हुए हैं; आगे की नहीं कह सकते। इनके प्रति युग युगादि का संचित प्रेम जो मनुष्य की दीर्घवंशपरंपरा के बीच वासना रूप में निहित चला आ रहा है उसकी अनुभूति के उद्बोधन में ही मनुष्य की रागात्मिका प्रकृति का पूर्ण परिष्कार और मनुष्य के कल्याणमार्ग का अबाध प्रसार दिखाई पड़ता है। इन्हें सामने पाकर इनसे यही कहने को जी करता है—

एहो! वन, बंजर, कछार, हरे भरे खेत!
विटप, विहंग! सुनो, अपनी सुनावें हम।
छूटे तुम, तो भी चाह चित्त से न छूटी यह
बसने तुम्हारे बीच फिर कभी आवें हम।
सड़े चले जा रहे हैं बँधे अपने ही बीच,
जो कुछ बचा है उसे बचा कहाँ पावें हम?
मूल रसस्रोत हो हमारे वही छोड़ तुम्हें
सूखते हृदय सरसाने कहाँ जावें हम?
रूपों से तुम्हारे पले होंगे जो हृदय वे ही
मंगल की योग विधि पूरी पाल पावेंगे।
जोड़ के चराचर की सुख सुषमा के साथ,
सुख को हमारे शोभा सृष्टि की बनावेंगे।
वे ही इस महँगे हमारे नरजीवन का
कुछ उपयोग इस लोक में दिखावेंगे।
सुमनविकास, मृदुआनन के हास, खग
मृग के विलास बीच भेद को घटावेंगे।।
नर में नारायण की कला भासमान कर,
जीवन को वे ही दिव्य ज्योति सा जगावेंगे।
कूप से निकाल हमें छोड़ रूपसागर में
भव की विभूतियों में भाव सा रमावेंगे।
वैसे तो न जाने कितने कुछ काल कला,
अपनी दिखाते अस्त होते चले जावेंगे।
जीने के उपाय तो बतावेंगे, अनेक पर
जिया किस हेतु जाय, वे ही बतलावेंगे।।[1]

ज्यों ज्यों मनुष्य अपनी सभ्यता की झोंक में इन प्राचीन सहचरों से दूर हटता हुआ अपने क्रियाकलाप को कृत्रिम आवरणों से आच्छन्न करता जा रहा है त्यों त्यों उसका असली रूप छिपता चला जा रहा है। इस असली रूप का उद्घाटन तभी हुआ करेगा जब वह अपने बुने हुए घने जाल के घेरे से निकलकर कभी कभी प्रकृति के अपार क्षेत्र की ओर दृष्टि फैलाएगा और अपने इन पुराने सहचरों के संबंध का अनुभव करेगा। अपने घेरे के बाहर की क्रूरता और निष्ठुरता के अभ्यास का परिणाम अंत में घेरे के भीतर प्रकट होता है। योरपीय जातियों ने एशिया, अफ्रीका और अमेरिका आदि बाहरी भूभागों में जाकर क्रूरता और निष्ठुरता का बड़े अध्यवसाय के साथ

1. ये कवित्त शुक्लजी कृत 'हृदय का मधुर भार' शीर्षक कविता से उद्धृत हैं।

अभ्यास किया। फल क्या हुआ? उसी निष्ठुर और क्रूर वृत्ति का अत्यंत भीषण विधान अंत में गत महायुद्ध में योरप ही के भीतर सामने आया जिससे वहाँ आध्यात्मिकता की चर्चा का फैशन जो उन्नीसवीं शताब्दी की आधिभौतिक प्रवृत्ति के हद से ज्यादा बढ़ने पर प्रतिवर्तन (रिऐक्शन) के रूप में पहले से चल पड़ा था, खूब बढ़ा। पर इस रोग की दवा अध्यात्मवाद, आत्मा की एकता, ब्रह्म की व्यापकता आदि की बनावटी पुकार नहीं है। इसका एक मात्र उपाय चराचर के बीच 'एक हृदय' की सच्ची अनुभूति तथा मनुष्य तक ही नहीं उसके बाहर भी भावों का सामंजस्यपूर्ण प्रसार है।

अब तक जो कविता हुई है उसमें मनुष्येतर प्राणियों के—वृक्ष, पशु, पक्षी आदि के—प्रति स्पष्ट रूप में प्रेम की व्यंजना कम पाई जाती है। यह प्रेम स्वाभाविक और वास्तविक है, इसका अनुभव थोड़ा बहुत तो सबको होगा। लड़कपन में जिस पेड़ के नीचे कभी हम खेला करते थे उसे बहुत दिनों पीछे देखने पर हमारी दृष्टि कुछ देर उसपर अवश्य थम जाती है। हम प्रेम से उसकी ओर देखते हुए उसके जीर्ण या बूढ़े होने की बात लोगों से कहते हैं, जिस कुत्ते ने कभी बहुत से कामों में हमारा साथ दिया उसकी याद हमें कभी कभी आया करती है। जो बिल्ली कभी कभी जाड़े की धूम में हमारी छत के मुंडेरे पर लेटकर अपना पेट चाटा करती थी उसके बच्चों को हम कुछ प्रेम के साथ पहचानते हैं। जिन झाड़ियों को हम अपने जन्मग्राम के पास के नाले के किनारे देखा करते थे उन्हें किसी दूर देश में पहले पहल देखकर उनकी ओर कम से कम मुड़ जरूर जाते हैं। पशु भी बदले में प्रेम करते हैं—केवल हित अनहित ही नहीं पहचानते—इसके कहने की आवश्यकता नहीं। राम के वन जाने पर उनके प्यारे घोड़ों का हींसना, कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गायों का हूँकना, कवियों ने भी कहा है। तपोवन से प्रस्थान करते समय शकुंतला की आँखों में अपने पोसे हुए मृगछौने और सींच सींचकर बढ़ाए हुए पौधों को देखकर भी कुछ आँसू आए थे।

न जाने क्यों हमें मनुष्य जितना और चर अचर प्राणियों के बीच में अच्छा लगता है उतना अकेले नहीं। हमारे राम भी हमें मंदाकिनी या गोदावरी के किनारे बैठे जितने अच्छे लगते हैं उतने अयोध्या की राजसभा में नहीं। अपनी अपनी रुचि है। अस्तु, यहाँ पर इतना ही कहना है कि भावसाहित्य में मनुष्येतर चर अचर प्राणियों को थोड़ा और प्रेम का स्थान मिलना चाहिए। वे हमारी उपेक्षा के पात्र नहीं हैं। हम ऐसे आख्यान या उपन्यास की प्रतीक्षा में बहुत दिनों से हैं जिनमें मनुष्यों के वृत्त के साथ मिला हुआ किसी कुत्ते बिल्ली आदि का भी कुछ वृत्त हो, घटनाओं के साथ किसी चिरपरिचित पेड़, झाड़ी आदि का भी कुछ संबंध दिखाया गया हो।

कहीं कहीं विलायती काव्यसमीक्षाओं में यह लिखा मिलेगा कि प्रकृति का केवल यथातथ्य चित्रण काव्य तो है, किंतु प्रारंभिक दशा का, उन्नत दशा या ऊँची श्रेणी का

नहीं। इस कथन का अर्थ अगर बहुत दूर न घसीटा जाय, अपनी ठीक सीमा के भीतर रखा जाय, तो यही होगा कि प्रकृति के रूपों के चित्रण के अतिरिक्त उनकी व्यंजना पर भी ध्यान देना चाहिए, प्रकृति के नाना वस्तुव्यापार कुछ भावों, तथ्यों और अंतर्दशाओं की व्यंजना भी करते ही हैं। यह व्यंजना ऐसी अगूढ़ तो नहीं होती कि सब पर समान रूप से भासित हो जाय, किंतु ऐसी अवश्य होती है कि निदर्शन करने पर सहृदय या भावुक मात्र उसका अनुमोदन करें। यदि हम खिली कुमुदिनी को हँसती हुई कहें, मंजरियों से लदे आम को माता और फूले अंगों न समाता समझें, वर्षा का पहला जल पाकर साफ सुथरे और हरे पेड़ पौधों को तृप्त और प्रसन्न बताएँ, कड़कड़ाती धूप से तपते किसी बड़े मैदान के अकेले ऊँचे पेड़ को धूप में चलते प्राणियों को विश्राम के लिए बुलाता हुआ कहें, पृथ्वी को पालती पोसती हुई स्नेहमयी माता पुकारें, नदी की बहती धारा को जीवन का संचार सूचित करें, गिरिशिखर से स्पष्ट झुकी हुई मेघमाला के दृश्य में पृथ्वी और आकाश का उमंग भरा शीतल सरस और छायावृत्त आलिंगन देखें, तो प्रकृति की अभिव्यक्ति की सीमा के भीतर ही रहेंगे।

इसी प्रकार अभिव्यक्ति की प्रकृत प्रतीति के भीतर, प्रकृति की सच्ची व्यंजना के आधार पर, जो भाव, तथ्य या उपदेश निकाले जायँगे वे भी सच्चे काव्य होंगे। उदाहरण के लिए अँगरेज कवि वर्ड्सवर्थ की 'एक शिक्षा' (ए लेसन) नाम की कविता लीजिए। इसमें एक फूल का वर्णन है, जो बहुत ठंड, मेह या ओले पड़ने पर संकुचित होकर अपने दल समेट लेता है। कवि ने एक बार इस फूल को इस युक्ति से अपनी रक्षा करते देखा था। फिर कुछ दिनों पीछे देखा तब वह जीर्ण हो गया था, उसमें दल समेटने की शक्ति नहीं रह गई थी। वह मेह और ओले सह रहा था। उसका वर्णन कवि ने इस प्रकार किया—

आइ स्टाप्ड ऐंड सेड विद इन्ली मटर्ड वायस।
इट डथ नाट लव दि शावर, नार सीक दि कोल्ड,
दिस नाइदर इज इट्स करेज नार इट्स च्वायस,
बट इट्स नेसेसिटी इन बीइंग ओल्ड।

'मैं रुक गया और मन ही मन कहने लगा—यह न तो इस झड़ी को चाहता है, न इस ठंड ही को। न तो यह इनका साहस ही है, न रुचि। यह जरावस्था की अवशता है।'

प्रकृति की ऐसी ही सच्ची व्यंजनाओं को लेकर अन्योक्तियों का विधान होता है, जो इतनी मर्मस्पर्शिणी होती हैं। साहित्यमीमांसकों के अनुसार अन्योक्ति में प्रस्तुत वस्तु व्यंग्य होती है अर्थात् जो प्राकृतिक दृश्य सामने रखे जाते हैं उनसे किसी दूसरी वस्तु की, विशेषतः मनुष्य जीवन संबंधी किसी मर्मस्पर्शी तथ्य की, व्यंजना की जाती है। अन्योक्तियों में ध्यान देने की बात यह है कि व्यंग्य तथ्य पूर्णतया ज्ञात होता

है और हृदय को स्पर्श कर चुका रहता है; इससे प्रकृति के दृश्यों को लेकर जो व्यंजना की जाती है वह बहुत ही स्वाभाविक और प्रभावपूर्ण होती है। संस्कृत की जितनी अन्योक्तियाँ मिलती हैं, सब इसी ढंग की होती हैं। उनके आधार पर बाबा दीनदयाल गिरि ने अपने 'अन्योक्तिकल्पद्रुम' में बड़ी सुंदर अन्योक्तियाँ कही हैं। पर दो एक ऐसी अन्योक्तियाँ भी उस पुस्तक में मिलेंगी जिनमें परोक्ष, अव्यक्त या अज्ञात तथ्य की व्यंजना का अनुकरण किया गया है, जैसे—

चल चकई! तेहि सर विषे जहँ नहिं रैनि बिछोह।
रहत एकरस दिवस ही सुहृद हंस संदोह।
सहृद हंस संदोह कोह अरु द्रोह न जाको।
भोगत सुख अंबोह, मोह दुख होय न ताको।
बरनै दीनदयाल भाग बिनु जाय न सकई।
पिय मिलाप नित रहै ताहि सर तू चल चकई॥

अज्ञात या परोक्ष तथ्य की व्यंजना की यह हवा कबीर आदि निर्गुणपंथी संतों की बानी की है, जिसका एक आध झोंका व्यक्तिगत एकांत उपासना में लीन रहनेवाले सूरदासजी को भी लगा था। गोस्वामी तुलसीदासजी इससे बचे रहे। अन्योक्ति द्वारा अव्यक्त, परोक्ष या अज्ञात तथ्य की व्यंजना को हम कृत्रिम और काव्यगत सत्य (पोएटिक ट्रुथ) के विरुद्ध समझते हैं। जिस तथ्य का हमें ज्ञान नहीं, जिसकी अनुभूति से वास्तव में कभी हमारे हृदय में स्पंदन नहीं हुआ, उसकी व्यंजना का आडंबर रचकर दूसरों का समय नष्ट करने का कोई अधिकार नहीं। जो कोई यह कहे कि अज्ञात और अव्यक्त की अनुभूति से हम मतवाले हो रहे हैं, उसे काव्यक्षेत्र से निकलकर मतवालों (सांप्रदायिकों) के बीच अपना हाव भाव और नृत्य दिखाना चाहिए। वही ऐसी अनुभूति पर विश्वास करनेवाले मिलेंगे। खैर, इस बात को अभी हम यहीं छोड़ते हैं और प्रस्तुत प्रसंग पर आते हैं।

प्रकृति की सच्ची अभिव्यंजना द्वारा गृहीत तथ्यों का रमणीय वर्णन भी काव्य का एक बहुत आवश्यक अंग है, यह ऊपर कहा जा चुका है। अब हमें यह कहना है कि वैसा ही आवश्यक अंग प्रकृति के दृश्यों का यथातथ्य संश्लिष्ट चित्रण भी है। दोनों अलग अलग अंग हैं। दोनों का विधान भिन्न भिन्न दृष्टियों से होता है। प्रकृति के केवल यथातथ्य संश्लिष्ट चित्रण में कवि प्रकृति के सौंदर्य के प्रति सीधे अपना अनुराग प्रगट करता है। प्रकृति के किसी खंड के ब्योरों में वृत्ति रमाना इसी अनुराग की बात है। प्रकृति की व्यंजना द्वारा गृहीत तथ्यों, उपदेशों आदि में कवि की दृष्टि मनुष्य जीवन पर रहती है। इस भेद को अच्छी तरह ध्यान में रखना चाहिए। दोनों विधानों का महत्त्व बराबर है। इनमें से किसी एक को उच्च और दूसरे को

मध्यम कहना एक आँख बंद करना है। यही एकांगदर्शिता योरपीय समीक्षकों का बड़ा भारी दोष है।[1]

यदि योरप के कवि उनकी बातों पर चलते तो वहाँ से कविता या तो अपना डेरा डंडा उठा लिए होती या लूली लंगड़ी हो जाती। तथ्य ग्रहण में अत्यंत निपुण शेली, वर्ड्सवर्थ, मेरिडिथ आदि बड़े बड़े कवियों ने वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि संस्कृत के प्राचीन कवियों की शैली पर कोरे प्राकृतिक दृश्यों का बिना किसी दूसरे तथ्यविधान के बड़ा ही सूक्ष्म और संश्लिष्ट चित्रण किया है—और बहुत अधिक किया है। वे इसके लिए प्रसिद्ध हैं।

प्रकृति की ठीक और सच्ची व्यंजना के बाहर जिस भाव, कथ्य आदि का आरोप हम प्रकृति के रूपों और व्यापारों पर करेंगे वह सर्वथा अप्रस्तुत अर्थात् अलंकार मात्र होगा, चाहे हम उसे किसी अलंकार के बँधे साँचे में ढालें या न ढालें। उनका मूल्य एक फालतू या ऊपरी चीज के मूल्य से अधिक न होगा। चाहे हम कोई उपदेश निकालें, चाहे सादृश्य या साधर्म्य के सहारे कोई नैतिक या 'आध्यात्मिक' तथ्य उपस्थित करें, चाहे अपनी कल्पना या भावना का मूर्त विधान करें, वह उपदेश, तथ्य या विधान प्रकृति के किसी वास्तविक मर्म का उद्घाटन न होगा। अंतःकरण की किसी अनुभूति का उद्घाटन भी वह तभी होगा जब किसी सच्चे भाव से प्रेरित और संबद्ध जान पड़ेगा। ऐसे तथ्य कल्पना या विचार का यदि उसकी कुछ सत्ता होगी—मूल्य पहले उसकी सूक्ष्मता, गंभीरता, रमणीयता, नवीनता आदि की पृथक् परीक्षा द्वारा, प्राकृतिक रूपयोजना को अलग हटाकर आँका जायगा। जब उसमें कुछ सार ठहरेगा तब प्राकृतिक रूपयोजना के साथ उसके साम्य (एनालजी) की रमणीयता का विचार होगा। बनावटी आडंबरवाली कविताओं की परीक्षा के लिए इस पद्धति का बराबर स्मरण रखना चाहिए। इसके द्वारा अप्रस्तुत आरोप मात्र अलग हो जायगा और यह पता चल जायगा कि कुछ विचारात्मक या भावात्मक सार या सचाई है या नहीं।

कोरे अप्रस्तुत आरोप मात्र पर यदि कोई हृदय की लंबी चौड़ी उछल कूद दिखाएगा तो या तो वह काव्यगत सत्य से बहुत दूर होगी, हृदय के किसी सच्चे भाव की व्यंजना न होगी अथवा जिसे वह प्रस्तुत बताता है, वह ज्ञात या अज्ञात, एक ओट या बहाना मात्र होगा। सत्य सबकी सामान्य संपत्ति होता है, झूठ हर एक का अलग अलग होता है। यही बात काव्यगत सत्यासत्य के संबंध में ठीक समझनी चाहिए।

---

1. रिचर्ड्स ने योरपीय समीक्षाक्षेत्र के अर्थशून्य वागाडंबर और गड़बड़झाले पर बहुत खेद प्रकट किया है। उन्होंने संक्षेप में उसका स्वरूप इन शब्दों में सूचित किया है—'ए फ्यू कंजेक्चर्स, सप्लाई आव एडमानिशंस, मेनी ऐक्यूट आइसोलेट आब्जर्वेशंस सम ब्रिलिएंट गेसेज, मच ओरेटरी ऐंड एप्लाइड पोएट्री, इनएक्जास्टिबुल कन्फ्यूजन, ए सफिशैसी आव डाग्मा; नो स्माल स्टाक आव प्रेज्यूडिसेज, ह्विमसीज ऐंड क्राचेट्स, एप्रोफ्यूजन आवमिस्टिसिज्म, ए लिटिल जेनुइन स्पेक्युलेशंस, संड्री स्ट्रे इंस्पिरेशंस आव सच ऐज दीज इज एक्स्टैंट क्रिटिकल थिअरी कंपोज्ड।'

विलायती समीक्षा क्षेत्र में 'कल्पना', 'कल्पना' की पुकार बहुत बढ़ जाने पर प्रकृति की सच्ची अभिव्यक्ति से विमुख करनेवाले कई प्रकार के प्रवाद प्रचलित हुए। कल्पना के विधायक व्यापार पर ही पूरा जोर देकर यह कहा जाने लगा कि उत्कृष्ट कविता वही है जिसमें कवि अपनी कल्पना का वैचित्र्यपूर्ण आरोप करके प्रकृति के रूपों और व्यापारों को कुछ और ही रमणीयता प्रदान करे या प्रकृति की रूपयोजना की कुछ भी परवा न करके अपनी अंतर्वृत्ति से रूपचमत्कार निकाल निकालकर बाहर रखा करे। पहली बात के संबंध में हमें केवल यही कहना है कि कल्पना की यह कार्रवाई वहीं तक उचित और कविकर्म के भीतर होगी जहाँ तक भावप्रेरित होगी और उसके आच्छादन से प्रस्तुत दृश्य पर से हमारे भाव का लक्ष्य हटने न पाएगा। दूसरी के संबंध में हमारा वक्तव्य यह है कि न तो सच्ची कल्पना तमाशा खड़ा करने के लिए है और न कोई अजायबघर है। कविता में कल्पना को हम साधन मानते हैं, साध्य नहीं।

प्रकृति के रूपों और व्यापारों का उपयोग साधन रूप में भी होता है, जैसे अलंकारों में। अलंकार प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की अनुभूति को तीव्र करने के लिए ही प्रयुक्त होते हैं; पर प्रकृति के रूप और व्यापार का व्यवहार प्रस्तुत के स्वरूप के गोचर प्रत्यक्षीकरण के लिए भी बराबर होता है। तीव्र अंतर्दृष्टिवाले कवि अपने सूक्ष्म (ऐब्स्ट्रैक्ट) विचारों का बड़ा ही रमणीय मूर्त प्रत्यक्षीकरण करते हैं। यह बात गूढ़ और सूक्ष्म अर्थगर्भित कविताओं में बराबर पाई जाती है। ऊपर जिस प्रकार की आडंबरी कविता का उल्लेख हुआ है उसका इस प्रकार की कविता से लेशमात्र संबंध नहीं। इसकी अन्यायपूर्ण व्याख्या होने पर विचार जगमगाते हुए बाहर निकलते आते हैं। उसकी तह में विचारधारा का नाम तक नहीं रहता।

सूक्ष्म भावना (ऐब्स्ट्रैक्ट) के मूर्त (कांक्रीट) प्रत्यक्षीकरण का विधान लक्षणा द्वारा भी होता है और 'साध्यवसान रूपक' द्वारा भी। लक्षणा व्यंग्य प्रयोजन सिद्ध करने के अतिरिक्त प्रस्तुत भावना के स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण भी करती है। लोभ से चंचल मन को यदि कहा जाय कि 'किसी ओर लपक रहा है' तो उसकी वृत्ति का स्वरूप गोचर होकर हमारे सामने आ जाता है। सूक्ष्म को मूर्त जिस प्रकार कवि लोग करते हैं उसी प्रकार कभी कभी मूर्त को सूक्ष्म भी करते हैं। जब उन्हें किसी गोचर तथ्य के संबंध में अपने पाठकों की दृष्टि का अत्यंत प्रसार करके उन्हें विचारोन्मुख और उनकी मनोवृत्ति को गंभीर करना वांछित होता है तब वे उस तथ्य की स्थूलता या गोचरता हटाकर उसे सूक्ष्म भावना (ऐब्सट्रैक्ट) के रूप में रखते हैं। ये दोनों विधान उच्चकोटि की कविता में जिसमें सूक्ष्म विचारों का गूढ़ अंतर्न्यास रहता है, बहुत ही प्रभाववर्धक होते हैं। पर इनका दुरुपयोग भी बहुत होता है। इस 'अभिव्यंजनावाद' (एक्सप्रेशनिज्म) का आगे उल्लेख किया जायगा।

पहले हम कह आए हैं कि सच्ची कविता किसी 'वाद' को लेकर नहीं चलती, जगत् की अभिव्यक्ति को लेकर ही चलती है। वादग्रस्त काव्य अधिकतर काव्याभास ही होता है। उसमें प्रकृति के नाना रूप और व्यापार किसी वाद या संप्रदाय के घेरे में निरूपित बातों को मूर्त रूप में स्पष्ट करने या काव्य की भावात्मक शैली को मनोरंजक बनाने के लिए, साधन रूप में ही व्यवहृत होते हैं। वे अध्यवसान मात्र होते हैं। यदि कोई कहे कि किसी 'वाद' या संप्रदाय के भीतर निरूपित बातों की अनुभूति मेरे हृदय में वैसी ही होती है जैसी उन गोचर रूपों या व्यापारों की जिन्हें अभिव्यंजना के लिए मैं सामने रखता हूँ तो एक दूसरा 'वादी' या संप्रदायी उन्हीं रूपों और व्यापारों को अपने संप्रदाय की बिलकुल उलटी बातों की अनुभूति प्रदर्शित करने के लिए रखेगा। इस प्रकार कविता के सांप्रदायिक हो जाने पर प्रकृति के रूप और व्यापार अपने सच्चे अभिव्यक्ति क्षेत्र से बाहर घसीटे जाकर सांप्रदायिकों की खींचतान में पड़े रहेंगे और अपना असली प्रभाव खो बैठेंगे।

काव्य को प्रस्तुत वस्तु या तथ्य विचार और अनुभव से सिद्ध, लोकस्वीकृत और ठीक ठिकाने का होना चाहिए, क्योंकि व्यंजना उसी की होती है। हमारे यहाँ दर्शन के नाना वादों को काव्यक्षेत्र में घसीटने की प्रथा नहीं थी। अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत इत्यादि अनेक वेदांती वाद प्रचलित हुए पर काव्यक्षेत्र से भक्ति काव्य में भी, वे दूर ही रखे गए। निर्गुण संप्रदायवाले ही सूफियों की नकल पर अद्वैतवाद, छायावाद, प्रतिबिंबवाद इत्यादि की व्यंजना तरह तरह के रूपकों, साध्यवसान रूपकों[1] अन्योक्तियों इत्यादि द्वारा चित्ताकर्षिणी मूर्तिमत्ता के साथ करते रहे। ब्रह्म, माया, पंचेंद्रिय, जीवात्मा, विकार, परलोक आदि को लेकर कबीरदास ने अनेक मूर्तस्वरूप खड़े किए हैं।

इन मूर्त रूपकों में ध्यान देने की बात यह है कि जो रूपयोजना केवल अद्वैतवाद, मायावाद आदि वादों के स्पष्टीकरण के लिए की गई है उसकी अपेक्षा वह रूपयोजना जो किसी सर्वस्वीकृत, सर्वानुभूत तथ्य को भावक्षेत्र में लाने के लिए की गई है, कहीं अधिक मर्मस्पर्शिणी है। उदाहरण के लिए मायावादसमन्वित अद्वैतवाद के स्पष्टीकरण के लिए कबीर की यह उक्ति लीजिए—

जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहरि भीतरि पानी।
फूटा कुंभ, जल जलहि समाना, यह तत कथो गियानी॥

यह वेदांत ग्रंथों में लिखा हुआ दृष्टांत कथन मात्र है। अच्छा, इसी ढंग की एक दूसरी कुछ और विस्तृत रूपयोजना देखिए—

---

1. इसे रूपकातिशयोक्ति से भिन्न समझना चाहिए जिसमें अध्यवसान आतिशय्य की व्यंजना के लिए होता है, साध्यवसान रूपक (ऐलिगरी) में अध्यवसान केवल मूर्त प्रत्यक्षीकरण के लिए होता है, आतिशय्य की व्यंजना के लिए नहीं। साध्यवसान रूपक एक भद्दी चीज है इसे विलायती रहस्यवादी ईट्स तक स्वीकार करते हैं।

मन न डिगै ताथैं तन न डराई।
अति अथाह जल गहिर गँभीर, बाँधि जँजीर जलि बोरे हैं कबीर।
जल की तरंग उठी, कटी है जँजीर, हरि सुमिरत तट बैठे हैं कबीर॥

इसमें ज्ञानोदय द्वारा अज्ञान का बंधन कटने और भवसागर के पार लगने का संकेत है। यह बंधन हरि की कृपा से कटा है, इससे कबीरदास अब उनका स्मरण करते और गुण गाते हैं। यह एक निरूपित सिद्धांत का वास्तव में घटित तथ्य के रूप में चित्रणमात्र है। 'ज्ञान से मुक्ति होती है और ज्ञान ईश्वर के अनुग्रह से होता है।' यह एक 'वाद' या सिद्धांत है। कबीरदासजी इस बात को इस रूप में सामने पेश करते हैं मानो यह सचमुच हुई है—वे भवसागर के पार हो गए हैं और फूले नहीं समा रहे हैं। हम जानते हैं कि इसकी व्याख्या के लिए ऐसे बँधे और मँजे हुए वाक्य मौजूद हैं कि 'यह तो साधक की उस दिव्य अनुभूति की दशा है जिसमें वह अपने को इस भौतिक कारागार से मुक्त और ब्रह्म की ओर अग्रसर देखता है।' पर यदि कोई कहे कि 'यह सब कुछ नहीं; यह एक सांप्रदायिक सिद्धांत का काव्य के ढंग पर स्वीकार मात्र है', तो हम उसका मुँह नहीं थाम सकते।

अब देखिए कि उक्त उक्तियों की अपेक्षा कबीरदासजी की नीचे दी हुई दो उक्तियाँ, जो लोकमत या अनुभवसिद्ध तथ्यों को सामने रखती हैं, कितनी मर्मस्पर्शिणी हैं। देहावसान सबसे अधिक निश्चित एक भीषण तथ्य है। उसके निकट होने की कैसी मूर्तिमान् चेतावनी इस साखी में है—

बाढ़ी आवत देखि करि तरिवर डोलन लाग।
हमें कटे की कुछ नहीं, पंखेरू घर भाग।

'हवा में हिलता पेड़ मानो बढ़ई को आता देख काँपता है—बुढ़ापे से हिलता शरीर मानो काल को पास पहुँचता देख थर्राता है। शरीर कहता है कि हमारे नष्ट होने की परवा नहीं; हे आत्मा! तू अपनी तैयारी कर।

मेरो हार हिरानो मैं लजाउँ।
हार गुह्यो मेरो राम ताग, बिचि बिचि मानकि एक लाग।
पंच सखी मिली हैं सुजान, 'चलहुस जइए त्रिवेनी न्हान'।
न्हाइ धोइ के तिलक दीन्ह, ना जानूँ हार किनहि लीन्ह।
हार हिरानो, जन बिलम कीन्ह, मेरौ हार परोसिनी आहि लीन्ह।

यह उस मन के खो जाने का पछतावा है जो ईश्वर का स्मरण किया करता था। जीवात्मा कहता है कि 'मुझे पंचेद्रियाँ बहकाकर त्रिगुणात्मक प्रवाह में अवगाहन कराने ले गईं जहाँ मेरा मन फँस गया। उसी मन के प्रेम को लेकर मुझे उस प्रिय के पास जाने का अधिकार था। अब उसके बिना जाते नहीं बनता। इंद्रियों ने मुझे बेतरह ठगा'। इस पद में ईश्वर और परलोक माननेवाले मनुष्य मात्र की सामान्य भावना का अनुसरण करके बड़ा ही मधुर मूर्त विधान है। कुछ खटकनेवाला शब्द 'त्रिवेणी' (त्रिगुणात्मक प्रवाह)

है। क्योंकि प्रकृति के तीन गुण एक दर्शन विशेष के भीतर की निरूपित संख्या है। पर इस शब्द से अध्यवसान में बड़ा सुंदर समन्वय हो गया है।

अन्योक्ति पद्धति का अवलंबन कबीरदासजी ने कम ही किया है। अधिकतर स्थानों में उन्होंने विकारों, भूतों, इंद्रियों, चक्रों, नाड़ियों इत्यादि की शास्त्रों में बाँधी हुई केवल संख्याओं का उल्लेख साध्यवसान रूपकों में करके पहेली बुझाने का काम किया है। उनकी जो अन्योक्तियाँ या अध्यवसान प्रहेलिका के रूप में नहीं और वादमुक्त हैं वे शुद्ध काव्य के अंतर्गत आ सकती हैं। वाद या सिद्धांत के रूप में प्रतिपादित बातों को स्वभाव सिद्ध तथ्य के रूप में चित्रित करना और उनके प्रति अपने भावों का वेग प्रदर्शित करके औरों के हृदय में उस प्रकार की अनुभूति उत्पन्न करने की चेष्टा करना, हम सच्चे कवि का काम नहीं मानते; मतवादी का काम मानते हैं। मनुष्य का हृदय अत्यंत पवित्र वस्तु है। उसे प्रकृत मार्ग से यों ही उधर उधर भटकाने की चेष्टा, चाहे वह निष्फल ही क्यों न हो, उचित नहीं।

मनुष्य जीवन की वर्तमान और भविष्य स्थिति के संबंध में सूक्ष्म विचार द्वारा उपलब्ध तथ्यों और भावनाओं का मूर्त प्रत्यक्षीकरण आजकल योरप के काव्य क्षेत्र की सामान्य प्रवृत्ति है। सभ्यता की वर्तमान अवस्था में, जबकि मनुष्य का ज्ञान विचारात्मक होकर बहुत विस्तृत हो गया है, ऐसा होना बहुत उचित और स्वाभाविक है। यहाँ पर यह दिखाने के लिए कि सूक्ष्म विचार और व्यापक दृष्टिवाले जीवित योरोपीय कवियों की कविता भी कभी कभी वादग्रस्त होकर किस प्रकार अपना स्वरूप बहुत कुछ खो देती है, हम अँगरेजी के आजकल के एक अच्छे कवि अबरक्रोंबे को लेते हैं, जो संकुचित दृष्टि के सिद्धांती रहस्यवादी न होने पर भी अध्यात्म की ओर झुककर कभी कभी रहस्योन्मुख हो जाते हैं।

अबरक्रोंबे में योरप के वर्तमान कवियों की थोड़ी बहुत सब प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। कभी वे मिलों, कल कारखानों आदि में काम करनेवाले मजदूरों की दुरवस्था पर, उनके साथ होनेवाले अन्याय और अत्याचार पर, करुणा और रोष प्रकट करते हैं; कभी जगत्, जीवन आदि के संबंध में तत्त्वचिंतन करते हैं; कभी शरीर, आत्मा, असीम ससीम की जिज्ञासा की प्रेरणा से रहस्यभावना में प्रवृत्त होते हैं। इसी जिज्ञासा के क्षेत्र में उन्होंने कहीं कहीं परोक्ष संबंधी किसी वाद का प्रत्यक्षीकरण या 'अज्ञात' के अभिलाष का काव्यात्मक प्रतिपादन किया है। 'मूर्ख का अनुसंधान साहस' (दि फूल्स ऐडवेंचर) में उन्होंने 'तत्त्वमसि' के निरूपण के लिए जीवात्मा और ब्रह्म का एक खासा संवाद कराया है। एक जिज्ञासु ईश्वर (ब्रह्म) की खोज में मन और आत्मा का सारा प्रदेश छान डालता है और पहले विश्व की आत्मा तक पहुँचता है और उसी को ब्रह्म मान लेता है। इसपर एक ब्रह्मज्ञानी इस प्रकार उसकी भूल सुझाता है—

...पुअर फूल,
ऐंड डिड्स्ट दि थिंक दिस प्रेजेंट सेंसिबुल वर्ल्ड

वाज गुड?
इट इज ए नेम...
दि नेम लार्ड गाड चूजेज टू गो बाइ, मेड इन
लैंग्वेज आव स्टार्स ऐंड, हेवेन्स ऐंड लाइफ।

'अरे मूर्ख, तूने क्या इस प्रस्तुत गोचर जगत् को ब्रह्म समझा था? यह तो आकाश, नक्षत्र और जीवनरूपी भाषा में व्यक्त एक नाम है जो अपने लिए उसने रख लिया है।'

अंत में चराचर की सीमा पर पहुँचकर वह अपने अंतस् के अदृश्य अधिष्ठाता से पूछता है—

सीकर—देन दाउ आर्ट गाड?
विदिन—ऐ मेनी काल मी सो।
ऐंड येट, दो वर्ड्स वेयर नेवर लार्ज एनफ टु टेक मी मेड;
आई हैव ए बेटर नेम।
सीकर—देन ट्रुली हू आर्ट दाउ?
विदिन—आइ ऐम दाइ सेल्फ।

जिज्ञासु—तो फिर तू ही ब्रह्म है?

अंतर्वाणी—हाँ बहुत लोग ऐसा ही कहते हैं। फिर भी, यद्यपि शब्दों के भीतर मेरा स्वरूप नहीं आ सकता, मेरा इससे अच्छा नाम भी है।

जिज्ञासु—फिर तू है कौन?

अंतर्वाणी—मैं तू ही हूँ (तेरी आत्मा हूँ)।

उसी प्रकार 'तुरीयावस्था' (दि ट्रैंस) नाम की कविता में उन्होंने ब्रह्मानुभूति का वर्णन इस प्रकार किया है—

'मैं निश्चय (जिसका संबंध बुद्धि या विचार से होता है) के ऊपर उठ गया था, काल से परे हो गया था। दिक् के ज्योतिष्क मंडलों से तथा उस कोने से जिसे चेतना या ज्ञान कहते हैं, बिलकुल बाहर हो गया था। उस दशा में हे प्रभो! क्या मैं तुम्हारे बीच में नहीं था?'[1]

यहाँ पर हम यह स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि उक्त ज्ञानातीत (ट्रैंसेडेंटल) दशा से—चाहे वह कोई दशा हो या न हो—काव्य का कोई संबंध नहीं है। स्वयं अबरक्रोंबे

---

1. आइ वाज एक्जाल्टेड अबव श्योरिटी
ऐंड आउट आव टाइम डिड फाल।
× × ×
आइ स्टुड आउट साइड दि बर्निंग रिम्स आव प्लेस,
आउटसाइड दैट कार्नर, कांशसनेस।
देन वाज आइ नाट इन दि मिड्स्ट आव दि
लार्ड गाड?

ने ही अपनी एक दूसरी कविता, 'शरीर और आत्मा' (सोल एंड बाडी) में, काव्य की वास्तविक भूमि क्या है, इसका आभास दिया है। उस कविता में, आत्मा इस 'चेतना के तंग घेरे' से बाहर होने के लिए मनोमय कोश (ज्ञानेंद्रियाँ और मन जिनसे सांसारिक विषयों की प्रतीति होती है) को फेंका ही चाहती है कि शरीर उसको चेतावनी देता है कि ऐसा करने से–

'तू इस विस्मयपूर्ण आनंद को खो बैठेगा जिसे मैंने अपनी विषयविधायिनी इंद्रियों द्वारा इस प्रिय जगत् में खड़ा कर रखा है। फिर यह नीलहरित, यह सौरभ, यह संगीत कहाँ? फिर यह शाद्वलप्रसार, यह मंद प्रशांत अनिलस्पर्श और ढलते सूर्य का स्वर्णाभविराम कहाँ? फिर ये ऊँची उठी हुई पर्वतों की चोटियाँ कहाँ' जो आँखों पर कुहरे की पट्टी बाँधे (ध्यानावस्थित हो) मानो नित्य और दिव्य अनाहत स्वर सुन रही हैं।[1]

मनोमय कोश ही प्रकृति काव्यभूमि है, यही हमारा पक्ष है। इसके शरीर की वस्तुओं की कोई मनमानी योजना खड़ी करके उसे इससे बाहर के किसी तथ्य का–जिसका कुछ ठीक ठिकाना नहीं–सूचक बताना हम सच्चे कवि का क्या, सच्चे आदमी का काम नहीं समझते।

अब थोड़ा 'अज्ञात की लालसा' का विचार भी कर लेना चाहिए जिसका निरूपण अबरक्रोंबे ने मजहबी ढंग पर अपने 'संत थूमा का आत्मविक्रय' (सेल आव सेंट टॉमस) नामक काव्य में किया है। ईसाइयों में एक प्रवाद प्रचलित है कि ईसा के चेले थूमा दक्षिण भारत में उपदेश करने आए थे। उसी प्रवाद के आधार पर यह कविता रची गई है। ईसा थूमा को भारतवर्ष में प्रचार के लिए भेजते हैं और वे भाग भाग आते हैं। जब वे दूसरी बार भागने पर होते हैं, तब हजरत ईसा उनसे कहते हैं–

'थूमा! अपना पाप समझो। तुम डर से नहीं भागे हो न, आदमी एक बार डर से सिटपिटाता है, पर फिर साहस करके सब प्रकार की आपत्तियाँ झेलने के लिए तैयार हो जाता है। तुम जागे हो अपनी बुद्धिमानी और दूरदर्शिता के कारण। यह बुद्धिमानी भी बड़ा भारी पाप है क्योंकि यह मनुष्य की अंतःप्रकृति में निहित अज्ञात शक्तिपथों पर विश्वास नहीं करने देती। उनकी प्रेरणाओं को यह सस्ते अनुभवलब्ध

---

1. दाउ विल्ट मिस दि वंडर आइ हैव मेड फार दि
   आव दिस डिअर वर्ल्ड विद माइ फैशनिंग ससेज–
   दि ब्ल्यू, दि फ्रैग्रेंस, दि सिंगिग ऐंड दि ग्रीन।
   × × ×
   ग्रेट स्पेसेज आव ग्रासी लैंड, ऐंड आल दि एअर
   वन क्वाएट दि सन टेकिंग गोल्डेन ईज
   अपान ऐन आफ्टरनून टाल हिल्स दैट स्टैंड इन वेदर ब्लाइंडेड ट्रेसेज
   ऐज इफ दे हर्ड, ड्रान अपवर्ड ऐंड हेल्ड देयर
   सम गाड्स एटर्नल ट्यून।

विवेचन के पलड़े पर रखकर तोलती है। यह लालसा को ज्ञान या विचार के घेरे में डालकर संकुचित करती है। पर यह समझ रखो कि मनुष्य उतना ही बड़ा हो सकता है जितना बड़ा उसका अभिलाष होगा। अतः आत्मदृष्टि उतनी ही दूर तक बँधी न रखो जितनी दूर तक तुम्हारे ज्ञान और बुद्धि के दीपक का प्रकाश पहुँचता है। अपनी लालसा को अज्ञात के अंधकार की ओर छानबीन करने के लिए बढ़ाओ। संभव को जानकर उसके बाहर अनहोनी बातों और असंभव लक्ष्यों की ओर बढ़ो। धीरे धीरे तुम देखोगे कि तुम्हारी ज्ञात की लालसा का क्षेत्र भी आपसे आप वैसा ही व्यापक हो जायगा।'

इस प्रकार हजरत ईसा के मुँह से रहस्यवाद के सिद्धांत पक्ष का निरूपण कराया गया है। इसका निचोड़ यही है कि लालसा को व्यक्त और ज्ञात के बाहर अव्यक्त और अज्ञात तक ले जाना चाहिए। इस कथन पर विचार करने के पहले लालसा या अभिलाष का स्वरूप निश्चित कर लेना चाहिए। लालसा ऐसी वस्तुओं की प्रति होती है जिसकी प्राप्ति या साक्षात्कार से सुख और आनंद होता है। इस जगत् में सुख या आनंद दुःख और क्लेश के साथ मिलाजुला पाया जाता है। दूसरी बात यह है कि जितना सुख सौंदर्य इस जगत् में देखा जाता है उतने से मनुष्य की भावना परितृप्त नहीं होती। वह सुख सौंदर्य को अधिक पूर्ण रूप में देखना चाहती है। भावना या कल्पना को इस पूर्णता के अवस्थान के लिए चार क्षेत्र मिल सकते हैं–

(1) इस भूलोक के बाहर, पर व्यक्त जगत् के भीतर ही किसी अन्य लोक में।
(2) इस भूलोक के भीतर ही, पर अतीत के क्षेत्र में।
(3) इस भूलोक के भीतर ही, पर भविष्य के गर्भ में।
(4) इस गोचर जगत् के परे अभौतिक और अव्यक्त के क्षेत्र में।

1. इन चारों क्षेत्रों के भीतर ले जाकर मनुष्य अपनी सौंदर्य और मंगल की भावना को पूर्णता या पराकाष्ठा तक पहुँचाने का थोड़ा या बहुत प्रयत्न करता रहा है। इनमें से प्रथम क्षेत्र की ओर मनुष्य जाति का ध्यान स्वभावतः सबसे पहले गया। पृथ्वी पर रहकर भी मनुष्य ने व्यक्त जगत् की अनंतता का प्रत्यक्ष अनुभव किया। अनंत आकाश के बीच नक्षत्रों के रूप में अनंत लोकों का निश्चय उसे सहज में हो गया। वहीं पर कहीं उसकी भावना ने स्वर्ग आदि पुण्य लोकों का अवस्थान किया जहाँ जरा मृत्यु का भय नहीं, दुःख, क्लेश, भय का नाम नहीं, आनंद ही आनंद है–आनंद भी ऐसा वैसा नहीं, नंदनकानन का विहार। लोकसामान्य धर्म व्यवस्था और काव्य दोनों में इस भावना का उपयोग हुआ।

2. द्वितीय क्षेत्र में सुख सौंदर्य की पूर्णता की भावना उस समय से हुई जब प्राचीन इतिहास, कथा पुराण आदि का मौखिक प्रचार मनुष्य जाति के बीच हुआ। इन कथाओं में पूर्वकाल की वीरता, धीरता धर्मपरायणता, सुख समृद्धि आदि का बहुत ही मनोरंजक और अत्युक्त वर्णन रहता था जिसे सुनते सुनते भूतकाल के बीच सुख

सौंदर्य की पूर्णता की सामान्य धारणा और पुष्ट होती रही। यह धारणा पूरबी (एशियाई) जातियों में अब तक मूलबद्ध है।

3. तृतीय क्षेत्र में सुख सौंदर्य की पूर्णता की भावना बिलकुल आधुनिक है। इसका प्रादुर्भाव मनुष्य जाति की स्थिति पर व्यापक दृष्टि से विचार करने की वर्तमान प्रवृत्ति के साथ साथ हुआ है। धर्म नीति, राजनीति, व्यापार नीति आदि के कारण मनुष्य जाति के भीतर फैली हुई विषमता, क्लेश, ताप, अन्याय, अत्याचार इत्यादि के परिहार की भावना और प्रयत्न के साथ आशा और उत्साह का संयोग करने के लिए कवियों की वाणी भी अग्रसर हुई। इस प्रकार की कविता का प्रचार योरपीय देशों में सुख समृद्धि और स्वातंत्र्य के संगीत के रूप में शेली के समय से लेकर अब तक जारी है। भविष्य का सुख स्वप्न वर्तमान योरपीय कविता के प्रधान लक्षणों में हैं। यह मंगलाशा बहुत ही प्रशस्त भाव है, इसमें संदेह नहीं, पर इसके संबंध में कुछ अस्वाभाविक और कृत्रिम चर्चा का प्रचार भी देखा जाता है। यह सुख स्वप्न 'भविष्य की उपासना या भविष्य का प्रेम' कहा जाता है। वास्तव में यह प्रस्तुत जीवन का प्रेम है। आशा इसी प्रेम के संचारी के रूप में उठकर इस जीवन के पूर्ण सौंदर्य का दर्शन इसे भविष्य के क्षेत्र में ले जाकर कराती है। भविष्य के सुख सौंदर्य के चित्रण की प्रवृत्ति का यही मूल है।

यह चित्रण भी उसी हद तक पहुँचा दिया जाता है जिस हद तक किसी परलोक के सुख सौंदर्य का चित्रण। अबरक्रोंबे ने इस जीवन के साथ 'नित्य का संयोग' (दि एटर्नल वेडिंग) किसी भविष्य काल में निर्विशेष और निरपेक्ष आनंद का स्वप्न देखते हुए, इस प्रकार कराया है–

...सी वी आर ड्रिबेन
आनवर्ड एंड अपवर्ड, इन ए विंड आव ब्यूटी,
अन्टिल मैन्स रेस बी बील्डेड बाइ इट्स जाय
इनटु सम हाइ इनकंपेयरेबुल डे,
ह्वेअर परफेक्ट्ली डिट्लाइट मे नो इटसेल्फ–
नो लांगर नीड ए स्ट्राइफ टु नो इटसेल्फ
ओन्ली बाइ प्रिवेलिंग ओवर पेन।

'हम सौंदर्य की वायु में पड़े बराबर आगे और ऊँचे बढ़ते जाते हैं। इस प्रकार मनुष्य जाति अंत में वह अनुपम दिन देखेगी जब आनंद अपनी अनुभूति आप अकेले कर लेगा–इस अनुभूति के लिए उसे किसी प्रकार द्वंद्व की अपेक्षा न होगी।' आनंद स्वयंप्रकाश होगा केवल क्लेश के परिहार के रूप में न होगा।'

पर यह कहना कि अब 'भूत के प्रेम' के स्थान पर 'भविष्य के प्रेम' ने घर किया है, एक प्रकार की रूढ़ि (कनवेंशन) या बनावट ही है। हृदय की दीर्घ वंश परंपरागत वासना का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। इस वासना के संघटन में इतिहास,

कथा, आख्यान आदि का भी बहुत कुछ योग रहता है। एक भावुक योरपियन के लिए एथंस, रोम आदि नामों में तथा एक भावुक भारतीय के लिए अयोध्या, मथुरा, दिल्ली, कन्नौज, चित्तौड़, पानीपत इत्यादि नामों से कितना मधुर प्रभाव भरा है! अतीत का यह राग कहाँ तक उपयोगी है, इसका विचार करने हम नहीं बैठे हैं। उपयोगिता अनुपयोगिता का विचार छोड़ शुद्ध कला की दृष्टि से हम मनुष्य की रागात्मिका प्रकृति के स्वरूप का विचार कर रहे हैं। मनुष्य का हृदय वास्तव में जैसा है वैसा मानकर हम चल रहे हैं। हमारे कहने का अभिप्राय केवल यही है कि 'अतीत का राग' एक बहुत ही प्रबल भाव है। उसकी सत्ता का अस्वीकार किसी दशा में हम नहीं कर सकते। मनुष्य शरीर यात्रा के संकीर्ण मार्ग में मैले पड़े हुए अपने भावों को अतीत की पुनीत धारा में अवगाहन कराकर न जाने कब से निर्मल और स्वच्छ करता चला आ रहा है। अतीत का और हमारा साहचर्य बहुत पुराना है। उसे हम जानते हैं, पहचानते हैं; इसीलिए प्यार करते हैं। भविष्य को हम नहीं जानते, उसकी हमारी जान पहचान तक नहीं। उसके साथ प्रेम कैसा? परिचय के बिना प्रेम हम नहीं मानते। प्रेम के लिए परिचय चाहिए चाहे पूरा, चाहे अधूरा।

4. अब इस गोचर जगत् के परे अभौतिक, अव्यक्त और अज्ञात क्षेत्र को लीजिए। सुख सौंदर्य की पूर्ति के लिए जो तीन क्षेत्र ऊपर निर्दिष्ट किए गए उनमें सबसे अज्ञात भविष्य का क्षेत्र है। उसके अंतर्गत हम दिखा चुके हैं कि जो 'भविष्य का प्रेम' कहा जाता है वह वास्तव में प्रस्तुत जीवन का प्रेम है जो आशा का संचरण कराके कवि को भविष्य सुख सौंदर्य के चित्रण में प्रवृत्त करता है। वही बात यहाँ भी है। वास्तव में यह जगत् सुख के सौंदर्य की आसक्ति या प्रेम है जो संचारी के रूप में आशा या अभिलाष का उन्मेष करके, इसी सुख सौंदर्य को किसी अज्ञात या अव्यक्त क्षेत्र में ले जाकर पूर्ण करने की ओर प्रवृत्त करता है। अतः तत्त्वदृष्टि से, मनोविज्ञान की दृष्टि से, साहित्य की दृष्टि से 'अज्ञात की लालसा' कोई भाव ही नहीं है। यह केवल 'ज्ञात की लालसा' है जो भाषा की छिपानेवाली वृत्ति के सहारे 'अज्ञात की लालसा' कही जाती है।

अपने सुख सौंदर्य की भावना को पूर्णता पर पहुँचाने के लिए इस क्षेत्र की ओर पहले पहल दृष्टि करनेवाले सूफी थे। उनकी भावुकता इस जगत् की ऐसी विचित्र और रमणीय रूपविभूति को केवल ईश्वर की कृति या रचना मानने से तृप्त नहीं हुई। किसी के बनाए खिलौने की सुंदरता देख हम चाहे जितने मुग्ध हों—इतने मुग्ध हों कि बनानेवाले का हाथ चूमने को जी चाहे—पर हमारा प्रेम उस (बनानेवाले) से दूर ही दूर रहेगा। इससे सूफियों ने इस प्रत्यक्ष रूपविभूति को ईश्वर की कृति न कहकर उसकी छाया या प्रतिबिंब कहा। किस प्रकार इस 'प्रतिबिंब' के साथ 'अभिव्यक्तिवाद' का संयोग करके उन्होंने अपने काव्यक्षेत्र में कृत्रिमता न आने दी, इसका वर्णन हम आगे चलकर करेंगे। यहाँ प्रस्तुत विषय है, सुख सौंदर्य की भावना

को अव्यक्त और अभौतिक क्षेत्र में ले जाकर पूर्णता को पहुँचाना। इस संबंध में यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि सूफी कविता इस काया के बीच में ही—इस दृश्य जगत् के भीतर ही—उस प्रियतम की झलक देखने दिखाने में प्रवृत्त रही है। अव्यक्त के क्षेत्र में सौंदर्य का अनंत सागर, आनंद की अपरिमित राशि, प्रेम वासना की असीम तृप्ति का विवरण देने बहुत ही कम गई है। भारतवर्ष में निर्गुण संप्रदाय के भीतर जो सूफी भावना प्रकट हुई उसमें अलबत यह प्रवृत्ति कुछ दिखलाई पड़ती है। कारण यह है कि भारतीय काव्यक्षेत्र में उसे अरबी फारसी के काव्यक्षेत्र की अपेक्षा अधिक रमणीय और प्रचुर रूपविधान मिला। पर 'कलावाद' के सहारे अव्यक्त और अज्ञात की सबसे अधिक झांकियाँ विलायती 'रहस्यवाद' में ही खोली गईं।

विलायती काव्यक्षेत्र में सुख सौंदर्य की भावना को अज्ञात और अव्यक्त के क्षेत्र में ले जाकर पूर्णता पर पहुँचाने का इशारा किधर से मिला, थोड़ा यह भी देख लेना चाहिए। यह इशारा जर्मन दार्शनिकों के 'प्रत्ययवाद' (आइडियलिज्म) से मिला, जिसके प्रवर्तक काँट थे। उन्होंने मनुष्य के ज्ञान की विस्तृत परीक्षा करके यह प्रतिपादित किया कि इंद्रियों की सहायता से मन को जिन रूपों का बोध होता है वे उसी के रूप हैं किसी वाह्य वस्तु के नहीं। परमार्थ पक्ष(क्रीटिक आव प्योर रीजन) में ईश्वर, जगत् और आत्मा का पक्ष विपक्ष दोनों के प्रमाणों के खंडन द्वारा, असिद्ध ठहराकर, व्यवहार पक्ष (क्रीटिक आव प्रैक्टिकल रीजन) में उन्होंने ईश्वर, अमर आत्मा और अनंत जीवन सबका प्रतिपादन किया। उन्होंने कहा कि शुद्ध अमर आत्मा और ईश्वर का अस्तित्व मिल जाता है। जीवन का चरम मंगल क्या है? न अकेला धर्म, न अकेला सुख। धर्म का सुख से कोई स्वतःसिद्ध संबंध नहीं। जीवन के चरम मंगल में धर्म और सुख दोनों की पराकाष्ठा है। अब इन दोनों का संयोग कैसे होता है। कोई मध्यस्थ चाहिए। इसलिए ईश्वर का अस्तित्व मानना पड़ता है। ईश्वर दोनों के बीच संयोग स्थापित करता है। इसी विचारपद्धति से आत्मा का अमरत्व भी मानना पड़ता है। धर्म की पराकाष्ठा और सुख की पराकाष्ठा के साधन के लिए यह अल्पकालिक जीवन काफी नहीं है। अतः अनंत जीवन मानकर चलना पड़ता है।[1]

कट्टर दार्शनिक काँट के इस व्यवहार पक्ष निरूपण पर वैसी आस्था नहीं रखते। काँट अपने परमार्थ पक्ष निरूपण के लिए ही प्रसिद्ध हैं। विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि काँट का व्यवहार पक्ष निरूपण उसी दृष्टि से हुआ है जिस दृष्टि से शंकराचार्य का; पर दोनों में उतना ही अंतर है जितना भारत और योरप में। व्यवहारपक्ष में शंकराचार्य ने जिस उपासनागम्य ब्रह्म का अवस्थान किया है वह सोपाधि या सगुण ब्रह्म है; अव्यक्त पारपार्थिक सत्ता नहीं। अव्यक्त, निर्गुण, निर्विशेष (ऐब्सोल्यूट) ब्रह्म उपासना के व्यवहार में सगुण ईश्वर हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि उपासना

1. विशेष देखिए, 'विश्वप्रपंच' की भूमिका।

जब होगी तब व्यक्त और सगुण की ही होगी; अव्यक्त और निर्गुण की नहीं। 'ईश्वर' शब्द ही सगुण और विशेष का द्योतक है, निर्गुण और निर्विशेष का नहीं। उसके भीतर सेव्य सेवक भाव छिपा हुआ है। स्थूल आकार मात्र हटाकर दया, अनुग्रह, प्रेम, सौंदर्य इत्यादि में योरपवाले चाहे अभौतिक, अगोचर, अव्यक्त या पूरी सत्ता की प्राप्ति समझ लें; पर सूक्ष्म भारतीय दार्शनिक दृष्टि इन सबको प्रकृति के भीतर ही लेगी। दया, अनुग्रह, औदार्य, माधुर्य आदि भूतों के गुण हैं। ये सब गोचर के अंतर्भूत हैं, क्योंकि मन, जो इनका बोध करता है, भीतरी इंद्रिय ही है। भारतीय और योरोपीय दृष्टि के इस भेद को ध्यान में रखना चाहिए।

भारतीय दृष्टि के अनुसार अज्ञात और अव्यक्त के प्रति जिज्ञासा हो सकती है, अभिलाष या लालसा नहीं। यदि कहा जाय कि 'मोक्ष' की इच्छा का फिर क्या अर्थ होगा? इसका उत्तर यह है कि मोक्ष या मुक्ति केवल अभावसूचक (निगेटिव) शब्द है, जिसका अर्थ है छुटकारा। जिससे मोक्षार्थी छुटकारा चाहता है वह दुःख, क्लेशादि का संघात उसे ज्ञात होता है। छुटकारे के पीछे क्या दशा होगी, इसका न तो उसे कुछ ज्ञान होता है, न अभिलाष हो सकता है। इसी से हमारे यहाँ के भक्त लोग, ब्रह्म के सगुण रूप में आसक्त होते हैं, मुक्ति के मुँह में धूल डाला करते हैं। जिज्ञासा और लालसा में बड़ा भेद है। जिज्ञासा केवल जानने की इच्छा है। उसका ज्ञेय वस्तु के प्रति राग, द्वेष, प्रेम, घृणा इत्यादि का कोई लगाव नहीं होता। उसका संबंध शुद्ध ज्ञान के साथ होता है। इसके विपरीत लालसा या अभिलाष रतिभाव का एक अंग है। अव्यक्त ब्रह्म की जिज्ञासा और व्यक्त सगुण ईश्वर या भगवान के सान्निध्य का अभिलाष, यही भारतीय पद्धति है। अव्यक्त, अभौतिक और अज्ञात का अभिलाष यह बिलकुल विदेशी कल्पना है और मजहबी रुकावटों के कारण पैगंबरी मत माननेवाले देशों में की गई है। इसकी सांप्रदायिकता हम आगे चलकर दिखाएँगे। यहाँ इतना ही कहने का प्रयोजन है कि अव्यक्त, अगोचर ज्ञानकांड का विषय है। हमारे यहाँ न वह उपासनाक्षेत्र में घसीटा गया है, न काव्यक्षेत्र में। ऐसी बेढब जरूरत ही नहीं पड़ी।

उपासना के लिए इंद्रिय और मन से परे ब्रह्म को पास लाने की जरूरत हुई। कहीं तो वह ईश्वर के रूप में केवल मन के पास लाया गया अर्थात् उसमें रूप, आकार आदि की भावना न करके केवल दया, दाक्षिण्य, प्रेम, औदार्य आदि की ही भावना की गई। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह केवल अंतःकरणग्राह्य भावना भी गोचर भावना ही है। कहीं इसके आगे बढ़कर विष्णु, शिव इन देवरूपों में--अर्थात्--मनुष्य से ऊँची कोटि में—वाह्यकरणग्राह्य भावना भी हुई। भारतीय भक्तिभावना यहीं तक पुष्ट न हुई। बड़े साहस के साथ आगे बढ़कर उसने नर में ही नारायणत्व का दर्शन किया। राम और कृष्ण को लेकर भक्तिकाव्य का प्रवाह बड़े वेग से चल पड़ा। सारांश यह कि सान्निध्य का अभिलाष व्यक्त और ज्ञात की

ओर ही आकर्षित होता हुआ बढ़ा है और उसी को उसने अपना चरम लक्ष्य भी रखा है। यहाँ के भक्तों का साध्य कैवल्य नहीं रहा।

अब यह देखना चाहिए कि मनुष्य अपनी सुख सौंदर्य भावना को जब पूर्णता के लिए चरम सीमा पर पहुँचाता है तब क्या वह सचमुच व्यक्त, भौतिक या प्राकृतिक के परे हो जाता है? उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वह इसके भीतर ही रहता है। भावना या कल्पना में आई हुए संघटित रूपयोजना चाहे वह कितनी ही दूरारूढ़ हो, व्यक्त प्रकृतिविकार ही रहेगी। अब रही असीम ससीम और नित्य अनित्य की बात। हम पहले कह चुके हैं कि समष्टि रूप में यह विश्व या व्यक्त जगत् अनंत और शाश्वत है। ब्रह्म के मूर्त, अमूर्त दो रूपों में मूर्त और सत्[1] को जो मर्त्य कहा है वह केवल सतत गतियुक्त या परिवर्तनशील के अर्थ में, सत्ता के अभाव के अर्थ में नहीं। अतः असीम और नित्य के लिए अव्यक्त और अगोचर में जाने की कोई जरूरत नहीं। ब्रह्म के दोनों रूप असीम और नित्य हैं। इस मूर्त विराट् के भीतर न जाने कितने लोक, ब्रह्मांड, सौरचक्र, बनते बिगड़ते रहते हैं, पर इसकी रूपसत्ता ज्यों की त्यों रहती है। अबरक्रोंबे ने अपनी 'निकास' (ऐन एस्केप) नाम की कविता में असीम के अभिलाष के जिस द्वंद्व का वर्णन बड़े स्मरणीय रूपविधान के साथ किया है, वह वास्तव में—भारतीय दृष्टि से—व्यक्त और गोचर के भीतर ही है।[2]

हमारा कहना यही है कि हृदय का अव्यक्त और अगोचर से कोई संबंध नहीं हो सकता। प्रेम, अभिलाष जो प्रकट किया जायगा वह व्यक्त और गोचर ही के प्रति होगा। प्रतिबिंबवाद, कल्पनावाद आदि वादों का सहारा लेकर इन भावों को अव्यक्त और अगोचर के प्रति कहना और अपने काल्पनिक रूपविधान को ब्रह्म या पारमार्थिक सत्ता की अनुभूति बताना काव्यक्षेत्र में एक अनावश्यक आडंबर खड़ा करना है। यदि यह कहा जाय कि सदा बदलते रहनेवाले इस दृश्यप्रसार की तह में सदा एकरस

---

1. द्वेवाव ब्रह्मणोरूपं मूर्तञ्चैवामूर्तञ्च, मर्त्यञ्चामृतञ्च, स्थितञ्च यच्च, सच्च, त्यच्च।—मूर्तमूर्त्ताब्राह्मण (बृहदारण्यकोपनिषद्)। दृश्य या मूर्त के लिए 'सत्' शब्द का प्रयोग उपनिषदों में बहुत जगह हुआ है।
2. डिजायर आव इनफिनिट थिंग्ज, डिजायर आव फाइन इट—टिज दि रेसज आव दि ट्वेन मेक्स मेन।
—ऐज टू यंग विङ्स स्कूल्ड अमंग दि स्लोप्स ऐंड वोब्ज आव राइवल
हिल्स दैट ईच टू अदर लुक।
ऐक्रास एसंकेन टार्न ए स्टिल डे,
रन फोर्थ फ्राम देयर संडर्ड नर्सरीज, एंड मीट
इन दि मिडिल एअर
ऐंड ह्वेन दि क्लोज, देअर स्ट्रगल इज काल्ड मेन।
डिस्ट्रेसिंग विद हिज स्ट्राइफ ऐंड फ्लरी दि ब्लैड
पूल आव ऐक्जिस्टेंस, दैट ले क्वाएट बिफोर
होल्डिंग दि काम वाच आव एटर्निटी।

रहनेवाली अव्यक्त सत्ता ही है, अतः जिस अनुराग के साथ प्रकृति की भव्य रूपयोजना की जाती है उसे उसी अव्यक्त शक्ति या सत्ता के प्रति कहने में क्या हर्ज है, तो इसका उत्तर यह है कि इससे भावक्षेत्र में असत्य का प्रचार होता और पाखंड का द्वार खुलता है। यदि कोई चटोरा आदमी कोई बहुत ही मीठा फल खाकर जीभ चटकारता हुआ उसका बड़े प्रेम से वर्णन करे और पूछने पर कहे कि मेरा लक्ष्य उस फल की ओर नहीं, उस वृक्ष के मूल या बीज की ओर है जिसका फल है, तो उसके इस कथन का क्या मूल्य होगा? जो यह भी नहीं जानता कि 'ब्रह्मवाद' और 'कविता' किन चिड़ियों के नाम हैं, जो अँगरेजी की अंधी नकल पर बनी बँगला की कविताओं तथा वैष्णव कवियों की बंग समीक्षाओं तक ही सारी दुनिया खतम समझता है, वह यदि मुँह बना बनाकर कहने लगे कि 'जब मैं ब्रह्मवाद की कोई कविता देखता हूँ तब हर्ष से नाच उठता हूँ' तो एक सुशिक्षित सुननेवाले पर क्या असर होगा?

अब यहाँ पर थोड़ा यह भी विचार करने की आवश्यकता प्रतीत होती है कि भाव के क्षेत्र में परोक्ष की 'जिज्ञासा' का क्या उपयोग हो सकता है। स्वाभाविक रहस्यभावना में—जिसका किसी वाद के साथ कोई संबंध नहीं—इसका कभी कभी बहुत सुंदर उपयोग होता है। वहाँ पर यह प्रकृति के क्षेत्र के किसी अभिव्यक्त सौंदर्य या माधुर्य से उठे हुए आह्लाद की अनुभूति की व्यंजना करता है, जैसे— शिशु की मधुर मुसकान पर मुग्ध होकर यदि कोई कवि कहे कि 'इसके अधरों पर किस आनंदलोक की मधुर स्मृति संचरित हो रही है?' सौरभपूर्ण कुसुमविकास देख यदि कहा जाय कि 'यह सुख सौंदर्य की अनंत राशि से चोरी करके भाग आया है', तो प्रस्तुत माधुर्य या सुख सौंदर्य के प्राचुर्य के निमित्त बड़ा सुंदर औत्सुक्य व्यंजित होगा। यह औत्सुक्य या अभिलाष अव्यक्त या अज्ञात प्रेम के प्रति कभी नहीं कहा जा सकता, यह व्यक्त या ज्ञात के प्रति ही होगा। कवि को अपने सामने उपस्थित माधुर्य या सुख सौंदर्य इतना अच्छा लग रहा है कि भूलोक के अतिरिक्त किसी और—व्यक्त और गोचर ही—लोक की भावना करता है जहाँ इस प्रकार के सुख सौंदर्य का दर्शन इतना विरल न हो; बराबर चारों ओर देखने को मिला करे। इसमें न कहीं असीम का अभिलाष है, न अज्ञात की लालसा। यह उसी पुरानी स्वर्ग भावना का आधुनिक सभ्यता के अनुकूल पड़ता हुआ रूप है। स्वर्ग के पुराने निश्चित विवरण में, आधुनिक परिष्कृत रुचि के अनुसार, जो भद्दापन है वह इस अनिश्चित भावना में दूर हो जाता है।

शेली ने अपनी 'जिज्ञासा' (दि क्वेश्चन) नाम की कविता बड़ी सुंदर जिज्ञासा के साथ समाप्त की है। स्वप्न में वह वसंत विकास और सौरभ से पूर्ण एक अत्यंत रमणीय नदी तट पर पहुँचते हैं। उस व्यक्त और गोचर स्थल का ही बहुत संबद्ध और संश्लिष्ट चित्रण सारी कविता में हुआ है। अंत में जाकर वे कहते हैं कि मैंने

फूलों को चुन चुनकर बहुत सुंदर स्तबक तैयार किया और बड़े आह्लाद के साथ वहाँ दौड़ा गया जहाँ से आया था कि उसे अर्पित करूँ। 'पर अरे! किसे?' इस 'किसे' में अद्वैत का कैसा सुंदर आभास मात्र है। 'वाद' का कोई विस्तार नहीं है।'

आइ मेड ए नोजगे...
केप्ट दीज इंप्रिजंड चिल्ड्रेन आव दि हाउस
विदिन माइ हैंड;–ऐंड देन इलेट ऐंड गे;
आइ हेसेंड टु स्पाट फ्राम ह्वेन्स आइ हैड कम,
दैट आइ माइट देअर प्रेजेंट इट–ओ! टु हूम?

इस प्रकार की स्वाभाविक और सच्ची रहस्य भावना का माधुर्य प्रत्येक सहृदय स्वीकार करेगा। पर जब किसी वाद के सहारे वेदना की तरी पर सवार होकर अंधड़ और अंधकार के बीच असीम की ओर यात्रा होगी, सामने अलौकिक ज्योति फूटती दिखाई देगी, लोकलोकांतर और कल्पांतर के समाहृत अरुणोदय में असीम ससीम के मिलन पर विश्व हृदय की तंत्री के सब तार झंकारोत्सव करने लगेंगे, आप ही आपको खोजने का स्वप्न टूटने पर अट्टहास होने लगेगा, तब सहृदयता भावुकता तो कोई और ठिकाना ढूँढ़ेंगी; हाँ अज्ञानोपासना सिद्धता का मुकुट या पैगंबरी का चौगोशिया ताज पहनने के लिए ठहरे तो ठहरे।

सारांश यह कि जहाँ तक अज्ञात की ओर अनिश्चित संकेत मात्र रहता है वहाँ तक तो प्रकृत काव्यदृष्टि रहती है पर जब उसके आगे बढ़कर उस अज्ञात को अव्यक्त और अगोचर कहकर उसका चित्रण होने लगता है, उसका पूरा ब्योरा दिया जाने लगता है, तब लोकोत्तर दिव्य दृष्टि का दावा सा पेश होता हुआ जान पड़ता है। इस दावे का हृदय पर बड़ा बुरा प्रभाव है। एक ओर–श्रोता या पाठक के पक्ष में–इससे अज्ञानप्रियता का अनुरंजन होता है; दूसरी ओर–कवि के पक्ष में–उस अज्ञानप्रियता से लाभ उठा अहंकारतुष्टि का अभ्यास पड़ता है। पहुँचे हुए सिद्ध या ब्रह्मदर्शी बननेवाले बहुत से साधु शास्त्रों की सुनी सुनाई बातों को–उनकी कुछ अगाड़ी पिछाड़ी खोल–पहेली के रूप में करके गँवारों को चकित किया करते हैं। यह प्रवृत्ति शिक्षितों और पढ़े लिखे लोगों में और भी अनर्थ खड़ा करती हैं। यदि कोई व्यक्ति अभिज्ञानशाकुंतल की आध्यात्मिक व्याख्या करे, मेघ की यात्रा को जीवात्मा का परमात्मा में लीन होने का साधन बताए, तो कुछ लोग तो विरक्ति से मुँह फेर लेंगे, पर बहुत से लोग आँखें फाड़कर काष्ठ कौशिक की तरह ताकते रह जायँगे।

कौन कविता सच्ची रहस्यभावना को लेकर चली है और कौन वादग्रस्त आडंबर मात्र है, यह पहचानना कुछ कठिन नहीं है। ऊपर जो पहचान बताई गई है वह वर्ण्य वस्तु (मैटर) के संबंध में है। वर्णन प्रणाली (फार्म) की कुछ पहचान आगे कही जायगी।

एक ही कवि कभी वादग्रस्त होकर अपने को लोक से परे प्रकट करने का शब्दप्रयत्न करता है, कभी भाव की स्वच्छ भूमि पर विचरण करता है। वही अबरक्रोंबे जो कभी वादग्रस्त होकर 'चेतना नामक कोने से बाहर' की बात कहने जाता है, जब लोकवादी (ह्यूमैनिटेरिअन) के रूप में हमारे सामने आता है विशुद्ध काव्यदृष्टि का प्रमाण देता है, तब उसकी सच्चाई में संदेह करने की कोई जगह नहीं रह जाती। यही बात श्री रवींद्रनाथ ठाकुर के संबंध में भी ठीक समझनी चाहिए। उनकी रहस्यवाद की वे ही कविताएँ स्मरणीय हैं जो लोकपक्षसमन्वित हैं, जैसे—'गीतांजलि' का यह पद—

जो कुछ दे तू हमें उसी से काम हमारा सरता है।
कभी न होती उसमें कुछ वह पीछे तुझपर फिरता है।
सरिताएँ सब बहती बहती जग हित आर्ती जार्ती।
अविच्छिन्न धारा से तेरे पद धोने को फिर आर्ती।
सभी कुसुम अपने सौरभ से सकल सृष्टि को महकाते।
तेरी पूजा में वे अपना महायोग हैं रच पाते।
जग वंचित हो जिससे ऐसी तेरी पूजनवस्तु नहीं।
जग हित में आई न वस्तु जो तव पूजन की नहीं, नहीं।

'तू ने मुझे असीम बनाया है' ऐसी कविताओं में यह बात नहीं है। इस ढंग की कविताओं के स्वरूप का कुछ उद्‌घाटन स्वर्गीय द्विजेंद्रलाल राय ने अपनी समीक्षाओं में किया था।

भारतीय काव्यदृष्टि के निरूपण में हम दिखा चुके हैं कि भारतवर्ष में कविता इस गोचर अभिव्यक्ति को लेकर ही बराबर चलती रही है और यह अभिव्यक्ति उसकी प्रकृत भूमि है। मनुष्य के ज्ञानक्षेत्र के भीतर ही उसका संचार होता है। 'चेतना के कोने के बाहर' न वह झाँकने जाती है, न जा ही सकती है। वहीं पर हम यह भी कह चुके हैं कि अभिव्यक्ति के क्षेत्र में स्थिर और निर्विशेष (स्टैटिक एंड ऐब्सोल्यूट) सौंदर्य या मंगल कहीं नहीं है। वह केवल किसी वाद के भीतर ही मिल सकता है। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में गत्यात्मक सौंदर्य गत्यात्मक मंगल ही है। सौंदर्यमंगल की यह गति नित्य है! गति की यही नित्यता जगत् की नित्यता है। रवींद्र बाबू के दोस्त ईट्स एक ओर कट्टर देशभक्त और आयरलैंड की अनन्य आराधना प्रवर्तित करनेवाले हैं, दूसरी ओर ब्लेक के सांप्रदायिक और सिद्धांती रहस्यवाद का पूरा समर्थन करनेवाले। वे भी जब वादमुक्त होकर काव्य की शुद्ध सामान्य भूमि पर आए हैं तब भारतीय दृष्टि के अनुसार सापेक्ष गत्यात्मक (डाइनैमिक) सौंदर्य की नित्यता और अनंतता का अनुभव करते हैं। अपनी 'गुलाब' शीर्षक कविता में एक स्थान पर वे साफ कहते हैं—

रेड रोज, प्राउड रोज, सैड रोज आव आल माइ डेजन।

× × ×

कम नियर, दैट नो मोर ब्लाइंडेड बाइ मैन्स फेट,
आइ फाइंड अंडर दि बाउज आव लव ऐंड हैड हेट,
इन आल पुअर फूलिश थिंग्स दैट लिव ए डे,
एटर्नल ब्यूटी वांडरिंग आन हर वे।

'लाल गुलाब, गर्वीले गुलाब, मेरे सब दिन के उदास गुलाब! पास आओ, जिसमें मनुष्य की गति देखकर मुझमें जो अंधापन आ जाता है वह दूर हो और मैं राग और द्वेष की नाना शाखाओं के तले बैठा हुआ बेचारा इन सब क्षण भर रहनेवाली मुग्ध वस्तुओं में अनंत सौंदर्य की अनंत गति का दर्शन करूँ।'

कविता के मूल में भाव या मनोविकार ही रहते हैं, काव्य की आत्मा रस ही है, यह बात इतनी पुरानी पड़ गई है कि नवीनता के बहुत से अभिलाषी तथ्यातथ्य की बहुत परवा छोड़; इसके स्थान पर कोई और बात कहने का प्रयत्न करते आ रहे हैं। जगन्नाथ पंडितराज ने रस के स्थान पर 'अर्थ की रमणीयता' ग्रहण की; पर रमणीयता भी रसात्मकता से संबद्ध है। मन का रमना किसी भाव में लीन होना ही है। हृदय के प्रभावित होने का नाम ही रसानुभूति है। विलायती साहित्य में 'कल्पना' शब्द की बड़ी धूम देख कुछ लोग कभी कभी कह देते हैं कि 'रसात्मक वाक्य काव्य होता है' इस लक्षण में कल्पना पक्ष बिलकुल छूट गया है; केवल भावपक्ष (इमोशन) आया है। पर जो लोग रसपद्धति को अच्छी तरह समझते हैं और आधुनिक मनोविज्ञान द्वारा निरूपित भाव (इमोशन, सेंटिमेंट) के स्वरूप से भी परिचित हैं, उनके निकट इस कथन का कोई अर्थ नहीं है, यह ठीक वृत्तिचक्र (सिस्टम) है जिसके अंतर्गत प्रत्यय (काग्निशन); अनुभूति (फीलिंग), इच्छा (कोनेशन), गति या प्रवृत्ति (टेंडेंसी), शरीरधर्म (सिंप्टम्स), सबका योग रहता है। हमारे यहाँ रस निष्पन्न करनेवाली पूर्ण भावपद्धति में ये सब अवयव रखे हुए हैं। विभावों और अनुभावों की प्रतिष्ठा कवि की कल्पना द्वारा ही होती है और श्रोता या पाठक भी उनकी मूर्ति या रूप का ग्रहण अच्छी कल्पना के बिना पूरा पूरा नहीं कर सकता। विभाव और अनुभाव कल्पनासाध्य हैं।

किसी भाव की रसात्मक प्रतीति उत्पन्न करने के लिए कविकर्म के दो पक्ष होते हैं—अनुभावपक्ष और विभावपक्ष। अनुभावपक्ष में आश्रय के रूप, चेष्टा और वचन का और विभावपक्ष में आलंबन के रूप, चेष्टा और वचन का विन्यास होता है। इस दृष्टि से शृंगाररस में स्त्रियों के जो हाव या अलंकार माने गए हैं वे विभावपक्ष के अंतर्गत होंगे; अनुभावपक्ष के नहीं। नायिकाओं में अलंकार की योजना उनकी मनमोहकता बढ़ाने के लिए—उन्हें और मनोहर रूप प्रदान करने के लिए होती है, भाव की व्यंजना के उद्देश्य से नहीं। नायिका को आलंबन मानकर, उद्दीपन की दृष्टि से ही, उसमें उन चेष्टाओं का विधान होता है जो हाव और अलंकार कहलाती हैं। अनुभाव और विभाव दोनों पक्षों के विधान के लिए भी और सम्यक् ग्रहण के

लिए भी कल्पना शक्ति अपेक्षित है। विधान के लिए कवि में 'विधायक कल्पना' अपेक्षित होती है और सम्यक् ग्रहण के लिए पाठक या श्रोता में 'ग्राहक कल्पना'।

रसात्मक प्रतीति एक ही प्रकार की नहीं होती। दो प्रकार की अनुभूति तो लक्षणग्रंथों की रसपद्धति के भीतर ही सूक्ष्मता से विचार करने से मिलती है। भारतीय भावुकता काव्य के दो प्रकार के प्रभाव स्वीकार करती है–

(1) जिस भाव की व्यंजना हो, उसी भाव में लीन हो जाना।

(2) जिस भाव की व्यंजना हो उसमें लीन न होना; पर उसकी व्यंजना की स्वाभाविकता और उत्कर्ष का हृदय से अनुमोदन करना।

दूसरे प्रकार के प्रभाव को मध्यम स्थान प्राप्त है। पूर्णरस की अनुभूति प्रथम प्रकार का प्रभाव है। जिन्हें साहित्य में स्थायी भाव कहते हैं केवल उन्हीं की अनुभूति पूर्णरस के रूप में होती है। वे ही ऐसे भाव हैं जो व्यंजित होने पर पाठक या श्रोता के हृदय में भी उत्पन्न होते हैं। यह नहीं है कि चाहे जिस भाव का विभाव, अनुभाव और संचारी द्वारा विधान किया जाय, वह पूर्णरस के रूप में अनुभूत होगा। असूया या ब्रीड़ा को यदि हम स्वतंत्र भाव के रूप में लेकर उसका विभाव, अनुभाव और संचारी के द्वारा वर्णन करें तो भी सुननेवाले को ईर्ष्या या लज्जा का अनुभव न होगा। इनकी अच्छी से अच्छी व्यंजना को भी वह उसी रूप में ग्रहण करेगा कि 'हाँ! बहुत ठीक है। ईर्ष्या या ब्रीड़ा में ठीक ऐसे ही वचन मुँह से निकलते हैं, ऐसी ही चेष्टाएँ होती हैं, ऐसी ही वृत्ति हो जाती है।' सारांश यह कि श्रोता या पाठक भाव की व्यंजना का अनुमोदन मात्र करेगा, उस भाव की अनुभूति में मग्न न होगा।

पूर्णरस की अनुभूति–अर्थात् जिस भाव की व्यंजना हो उसी भाव में लीन हो जाना–क्यों उत्तम या श्रेष्ठ है, इसका भी कुछ विवेचन कर लेना चाहिए। काव्यदृष्टि में जब हम जगत् को देखते हैं तभी जीवन का प्रकृत रूप प्रत्यक्ष होता है। जहाँ व्यक्ति के भावों के पृथक् विषय नहीं रह जाते, मनुष्यमात्र के भावों के आलंबनों में हृदय लीन हो जाता है, जहाँ हमारी भावसत्ता का सामान्य भावसत्ता में लय हो जाता है, वही पुनीत रसभूमि है। आश्रय के साथ वह तादात्म्य, आलंबन का वह साधारणीकरण, जो स्थायी भावों में होता है, दूसरे भावों में–चाहे वे स्वतंत्र रूप में भी आएँ–नहीं होता। दूसरे भावों की व्यंजना का हम अनुमोदन मात्र करते हैं। इस अनुमोदन में भी रसात्मकता रहती है, पर उस कोटि की नहीं।

आश्रय के साथ तादात्म्य और आलंबन के साथ साधारणीकरण सर्वत्र व्यंजना की प्रगल्भता और प्रचुरता पर ही अवलंबित नहीं होता। या तो आलंबन स्वभावतः ऐसा हो, या उसका चित्रण इस रूप में हो अथवा लोक में उसकी ख्याति ऐसी हो कि वह मनुष्यमात्र के किसी भाव को आकर्षित कर सके तभी पूर्ण रसानुभूति के उपयुक्त साधारणीकरण होगा। अधिकतर कविता स्वभावतः अत्यंत सामान्य

आकर्षणवाले विषयों या आलंबनों को लेकर होती है। दांपत्य प्रेम या शृंगार की कविता की अधिकता का एक यह भी कारण है कि अत्यंत सामान्य रूप में उनका आलंबन--पुरुष के लिए स्त्री, स्त्री के लिए पुरुष—मनुष्य क्या प्राणिमात्र को आकर्षित करता है। उसकी आलंबनता स्त्री जाति और पुरुष जाति के बीच नैसर्गिक आकर्षण की बड़ी चौड़ी नींव पर ठहरी है। यहाँ तक कि वर्णन न होने पर भी उनका आक्षेप सहज में हो जाता है। दूसरे भावों के आलंबनों में कुछ विशिष्टता अपेक्षित होती ही, पर साधारणीकरण शीघ्र हो जाता है। क्रोध के आलंबन का साधारणीकरण सब दशाओं में नहीं होता। यह आवश्यक नहीं है कि सर्वत्र आश्रय के क्रोध का पात्र मनुष्यमात्र के क्रोध का पात्र हो। रौद्ररस में आलंबन का साधारणीकरण पूरा तभी हो सकता है जबकि वह अपनी क्रूरता, अन्याय, अत्याचार आदि के कारण मनुष्यमात्र के क्रोध का पात्र बनाया जा सके।

पूर्णरस में लीन करनेवाले वाग्विधान में भी यह बात देखी जाती है कि जहाँ वह धारा के रूप में कुछ दूर तक चलता है वहीं पूरी तन्मयता प्राप्त होती है। जहाँ सहृदय और सुकंठ कथावाचक सहस्रों श्रोताओं को किसी भाव में बहुत देर तक मग्न किए रहते हैं, जहाँ आल्हा गानेवाले सैकड़ों सुननेवालों को घंटों वीरदर्प से पूर्ण किए रहते हैं, वहाँ भेदभूमि से परे एक सामान्य हृदयसत्ता की झलक दिखाई पड़ती है। भावों का ऐसा ही अभ्यास शीलनिर्माण में सहायक होता है। रामायण, भागवत आदि की कथा सुनकर लौटे हुए लोगों के हृदयों पर भावों का कुछ प्रभाव कुछ काल तक रहता है। खेद है कि हृदय के व्यायाम और परिष्कार के लिए जो संस्थाएँ हमारे समाज में प्रतिष्ठित थीं उनकी ओर से हम उदासीन हो रहे हैं।

मुक्त कविताओं में इस प्रकार मग्न करनेवाली रसधारा नहीं चलती, छींटें उछलते हैं। उनका प्रभाव क्षणिक, अतः अधिकतर मनोरंजन या दिलबहलाव के रूप में होता है। राजाओं की सभा में जाकर जब से कवि लोग उनके मनबहलाव का काम करने लगे तब से हमारे साहित्य में उक्तिवैचित्र्यपूर्ण मुक्तकों का प्रचार बढ़ने लगा। भोज ऐसे राजाओं के सामने बात बनानेवाले पद्यकार बातों की फुलझड़ी छोड़कर लाखों रुपये पाने लगे। जब क्षणिक मनोरंजन या दिलबहलाव मात्र उद्‌देश्य रह गया तब कुछ अधिक कुतूहलवर्धक सामग्री अपेक्षित हुई। फारसी की महफिली शायरी का सा ढंग यहाँ की कविता ने भी पकड़ा। पर फारस की शायरी अत्युक्तिपूर्ण होने पर भी संवेदनात्मक रही, उसमें भावपक्ष की प्रधानता रही। किंतु यहाँ बाहरी आडंबरों की अधिकता हुई; हृदयपक्ष बहुत कुछ दब गया, फुटकल कविता अधिकतर सूक्ति रूप में आ गई।

इसी संबंध में लगे हाथों यह भी विचार कर लेना चाहिए कि रीति, लक्षणा, अलंकार आदि काव्य में किस रूप में सहायक हो सकते हैं और किस रूप में बाधक। पहली बात तो ध्यान देने की यह है कि लक्षणग्रंथों के बनने के बहुत पहले से

कविता होती आ रही थी। उन्हीं कविताओं को लक्ष्य करके लक्षण बनाए गए। इससे स्पष्ट है कि वाक्य की रचना उनपर अवलंबित नहीं। ये लक्षण आदि वास्तव में काव्य चर्चा की सुगमता के लिए बने। पर बहुत सी काव्यरचना हमारे यहाँ इन्हीं लक्षणों के भीतर आ जाने को ही सब कुछ मानकर होने लगी। कुछ सजीवता न रहने पर भी श्लेष, यमक, उपमा, उत्प्रेक्षा इत्यादि की कसी हुई भरती तथा विभाव, अनुभाव और संचारी की रस्मअदाई पर ही वाह वाह करने की चाल पड़ गई। कुछ कुछ इसी प्रकार की दशा जब योरप में हुई और किसी काव्य की उत्तमता का निर्णय साहित्य की बँधी हुई रीतिविधि के अनुसार होने लगी तब प्रभाववादी (इंप्रेशनिस्ट्स) उठ खड़े हुए, जिन्होंने सुझाया कि किसी काव्य की उत्तमता की सच्ची परख यही है कि वह हृदय पर कैसा प्रभाव डालता है, उससे किस प्रकार की अनुभूति उत्पन्न होती है।

प्रभाववादियों के अनुसार किसी वाक्य की ऐसी आलोचना कि 'यहाँ पद्य का निर्वाह बहुत अच्छा हुआ है, यहाँ गतिभंग है, यहाँ रसविरोध है, यहाँ पूर्णरस है, यहाँ च्युतसंस्कृति या पतत्प्रकर्ष है' कोई आलोचना नहीं। मान लीजिए कि कोई सुंदर काव्य हमारे सामने है। उसे पढ़ने में हमें आनंद की गहरी अनूभूति हो रही है। बस यही हमारा आनंद ही हमारा निर्णय है। इससे बढ़कर और निर्णय क्या हो सकता है? इसके आगे हम बहुत करेंगे तो उस आनंद की विवृत्ति करेंगे कि उक्त काव्य का हमारे हृदय पर यह प्रभाव पड़ता है, उससे ये अनुभूतियाँ उत्पन्न होती हैं। यह ठीक है कि दूसरे लोग उसी काव्य से दूसरे प्रकार की अनुभूतियाँ प्राप्त करेंगे और उन्हें और ही ढंग से प्रकट करेंगे। करें; प्रत्येक सहृदय को अधिकार है कि वह उसके संबंध में अपनी अनूभूतियाँ प्रकट करे। इस प्रकार एक ही काव्य पर भिन्न भिन्न प्रकार के और कई कला ग्रंथ तैयार हो जायँगे। वे सब ग्रंथ उस काव्य से और ही वस्तु होंगे, यह अवश्य है। पर यही आलोचना कला है। इनके आगे आलोचना जायगी कहाँ?

प्रभाववादी के उपर्युक्त कथन पर यदि कोई कहे तो कह सकता है कि हमें तुमसे प्रयोजन नहीं, उस काव्य से है। तुम्हारे भीतरी स्वास्थ्य को जानने में हमें उस काव्य के रसानुभव में क्या सहायता पहुँचेगी। तुम्हारी आलोचना तो हमारा ध्यान उस काव्य पर से हटाकर तुम पर और तुम्हारी अनुभूतियों पर ले जाती है।' इस पर शायद वह यह कहे कि 'इसी प्रकार तो और ढंग की समालोचनाएँ—निर्णयात्मक (ज्यूडिशियल), ऐतिहासिक (हिस्टारिकल), मनोवैज्ञानिक (साइकोलाजिकल) इत्यादि[1] भी ध्यान हटाती हैं।' यों यह वाद प्रतिवाद और भी आगे बढ़ सकता है। पर हम

1. इन सब प्रकार की आलोचनाओं के विवरण के लिए देखिए हमारा 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'।

समझते हैं कि उसे यहाँ पर आकर रुक जाना चाहिए कि समालोचना के लिए विद्वता और प्रशस्त रुचि दोनों अपेक्षित हैं। न रुचि के स्थान पर विद्वता काम कर सकती है और न विद्वता के स्थान पर रुचि। अतः विद्वता से संबंध रखनेवाली निर्णयात्मक आलोचना (ज्यूडिशल क्रिटिसिज्म) और रुचि से संबंध रखनेवाली प्रभावात्मक समीक्षा दोनों आवश्यक हैं। एक पुरुष है, दूसरी स्त्री। एक सक्रिय है, दूसरी निष्क्रिय, एक प्रतिष्ठित आदर्श को लेकर किसी काव्य की परीक्षा में प्रवृत्त होता है और उसके भाव में न आकर अपनी क्रिया में तत्पर रहता है। दूसरा उस काव्य के प्रभाव को चुपचाप ग्रहण करती हुई उसी में मग्न हो जाती है।[1]

यह तो आवश्यक है कि काव्य में अनुभूति या प्रभाव ही मुख्य है। पर इस अनुभूति को एक हृदय से दूसरे हृदय तक पहुँचाना रहता है अतः साधनों की अपेक्षा होती है। निर्णयात्मक आलोचना इन साधनों की उपयुक्तता की दृष्टि से परीक्षा करती है कि जब साधन ही ठीक न होंगे तब सिद्ध कहाँ से हो सकता है! प्रभावात्मक आलोचना केवल यही कहती है कि साध्य सिद्ध हो गया है। यदि एक ओर साधन के संबंध में जो रीति, लक्षण, नियम आदि बने हैं उनमें पूर्णता होती और दूसरी ओर आलोचना के समय यदि हृदय लोक सामान्य भाव भूमि पर सदा पहुँच जाया करता—अपनी विशेष प्रकृति के बद्ध न रहता—तो इन दोनों प्रकार की आलोचनाओं में कोई झगड़ा न होता। पर ऐसा प्रायः होता है कि एक का निर्णय दूसरी के अनुमोदन से भिन्न पड़ता है। हृदय और बुद्धि दोनों के साथ साथ चलने से ही इन दोनों का सामंजस्य हो सकता है। सभ्य और शिक्षित समाज में निर्णयात्मक आलोचना का व्यवहारपक्ष भी है। उसके द्वारा साधनहीन अधिकारियों की यदि कुछ रोकटोक न रहे तो साहित्यक्षेत्र कूड़ा करकट से भर जाय।

जैसा कि हम पहले कह आए हैं, साहित्य के शास्त्रपक्ष की प्रतिष्ठा काव्य चर्चा की सुगमता के लिए माननी चाहिए, रचना के प्रतिबंध के लिए नहीं। इस दृष्टि से जब हम अपने साहित्यशास्त्र को देखते हैं, तब उसकी अत्यंत व्यापक और प्रौढ़ व्यवस्था स्वीकार करनी पड़ती है। शब्दशक्ति और रसपद्धति का निरूपण तो अत्यंत गंभीर है। उसकी तह में एक ऐसे स्वतंत्र और विशाल भारतीय समीक्षाभवन के निर्माण की संभावना छिपी हुई है जिसके भीतर लाकर हम सारे संसार के सारे साहित्य की आलोचना अपने ढंग पर कर सकते हैं।

---

1. इन ऐव्री एज इंप्रेशनिज्म (आर एंजायमेंट) ऐंड डायमैटिज्म (आर जजमेंट) हैव ग्रैपल्ड विद वन ऐनदर। दे आर दि टू सेक्सेज आव क्रिटिसिज्म; + + + + दि मैस्क्युलिन क्रिटिसिज्म, दैट मे आर मे नाट फोर्स इट्स ओन स्टैंडर्ड आन लिटरेचर, बट दैट नेवर; ऐट आल ईवेंट्स इज डामिनेटेड बाइ दि आब्जेक्ट आव इट्स स्टडीज, ऐंड दि क्रेमिनिन क्रिटिसिज्म, दैट रेस्पांड्स टु दि ल्योर आव आर्ट विद ए काइंड आव पैसिव एक्स्टैसी।

—जें. इ. स्पिनगर्न, दि न्यू क्रिटिसिज्म।

कई प्रकार के साहित्यवाद—साहित्य के बाहर के 'वाद' नहीं—हमारे यहाँ भी चले हैं; जैसे—रसवाद, अलंकारवाद, ध्वनिवाद, रीतिवाद इत्यादि। बहुत से बालरुचिवाले चमत्कारवादी कवि भी हुए हैं और आचार्य भी। नारायण पंडित ने तो यहाँ तक कह डाला है कि—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः॥

'जबकि रस में चमत्कार ही सार है, काव्य में सर्वत्र अनूठापन ही अच्छा लगता है, तब सर्वत्र अद्भुतरस ही क्यों न कहा जाय?' पंडितजी ने इस बात पर ध्यान न दिया कि रस के भेद प्रस्तुत वस्तु या भाव के विचार से किए गए हैं; अप्रस्तुत या साधन के विचार से नहीं। श्रृंगाररस की किसी उक्ति में उनके शब्दविन्यास आदि में जो विचित्रता होगी वह वर्णन प्रणाली की विचित्रता होगी, प्रस्तुत वस्तु या भाव की नहीं। अद्भुतरस के लिए स्वतः आलंबन विचित्र या आश्चर्यजनक होना चाहिए। श्रृंगार का वर्णन कौतुकी कवि लोग कभी कभी वीररस की सामग्री—अलंकार रूप में रखकर किया करते हैं। क्या ऐसे स्थलों पर श्रृंगाररस न मानकर वीररस मानना चाहिए?

उक्ति वैचित्र्य या अनूठेपन पर जोर देनेवाले हमारे यहाँ भी हुए हैं और योरप में भी आजकल बहुत जोर पर हैं, जो कहते हैं कि कला या काव्य में अभिव्यंजना (एक्सप्रेशन) ही सब कुछ है, जिसकी अभिव्यंजना की जाती है वह कुछ नहीं। इस मत के प्रधान प्रवर्तक इटली के क्रोचे महोदय हैं। अभिव्यंजनावादियों (एक्सप्रेशनिस्ट्स) के अनुसार जिस रूप में अभिव्यंजना होती है उससे भिन्न अर्थ आदि का विचार कला में आवश्यक है। जैसे वाल्मीकि रामायण की इस उक्ति में—

न स सङ्कुचितः पन्था येन बाली हतो गतः।

कवि का कथन यही वाक्य है, 'यह नहीं कि जिस प्रकार बाली मारा गया उसी प्रकार तुम भी मारे जा सकते हो।' एक और नया उदाहरण लीजिए। यदि हम पर कभी कविता करने की सनक सवार हो और हम कहें कि—

भारत के फूटे भाग्य के टुकड़ो! जुड़ते क्यों नहीं?

तो हमारा कहना यही होगा, यह नहीं कि 'हे फूट से अलग अभागे भारतवासियो! एकता क्यों नहीं रखते? यदि तुम एक हो जाओ तो भारत का भाग्योदय हो जाय।'

अभिव्यंजनावादियों के काव्यसंबंधी उपर्युक्त कथन में जो वास्तविक तथ्य है उसकी ओर हमारे यहाँ के आचार्यों ने अपने इस ढंग पर पूरा ध्यान दिया है। रसवादियों ने रस को और ध्वनिवादियों ने काव्यवस्तु को व्यंग्य कहा है। उनके अनुसार रस की या वस्तु की व्यंजना होनी चाहिए, अभिधा द्वारा सीधे कथन नहीं। 'रस व्यंग्य होता है' यह कथन कुछ भ्रामक अवश्य है। इससे यह भ्रम होता है कि जिस भाव

की व्यंजना होती है वही भाव रस है। वही बात वस्तु व्यंजना के संबंध में भी समझिए। 'व्यंजना में अर्थात् व्यंजक वाक्य में रस होता है' यही कहना ठीक है और यही समझा भी जाता है। केशव की यह उक्ति लीजिए--

क्रूर कुठार निहारि तज्यो, फल ताको यहै जो हियो जरई।
आज ते तो कहँ, बन्धु! महाधिक, छत्रिन पै जो दया करई।।

यह उक्ति ही कविता है; न कि 'परशुराम ने क्रोध किया' यह व्यंग्य या अभिप्राय। व्यंजक वाक्य ही काव्य होता है; व्यंग्य भाव या वस्तु नहीं। 'व्यंग्य' शब्द के प्रयोग में कहीं गड़बड़ी होने पर भी इस बात को सब लोग जानते हैं। पर इसका मतलब यह नहीं कि व्यंग्य अर्थ या लक्ष्य अर्थ का कोई विचार ही नहीं होता। व्यंजक या लक्षक वाक्य का जब तक व्यंग्यार्थ के साथ सामंजस्य न होगा तब तक यह उन्मत्त प्रलाप या जानबूझकर खड़ा किया हुआ धोखा ही होगा।

'अभिव्यंजनावाद' अनुभूति या प्रभाव का विचार छोड़ केवल वाग्वैचित्र्य को पकड़कर चला है; पर वाग्वैचित्र्य का हृदय की गंभीर वृत्तियों से कोई संबंध नहीं है। यह केवल कुतूहल उत्पन्न करता है। अभिव्यंजनावाद के अनुसार ही यदि कविता बनने लगे तो उसमें विलक्षण वाक्यों के ढेर के सिवा और कुछ न होना चाहिए—न विचारधारा, न भावों की रसधारा। पर इस प्रकार की ऊटपटांग कविता योरप में भी न बनी है, न बनती है।

योरप के समीक्षा क्षेत्र में उठते रहनेवाले वादों के संबंध में यह बात पक्की समझनी चाहिए कि वे एकांगदर्शी होते हैं। वे या तो प्रतिवर्तन (रिएक्शन) के रूप में अथवा प्रचलित मतों में कुछ अपनी विलक्षणता या नवीनता दिखाने की झोंक में, जोर शोर के साथ प्रकाशित किए जाते हैं, इससे उनमें अत्युक्ति की मात्रा बहुत अधिक होती है। वे प्रायः अव्याप्ति या अतिव्याप्तिग्रस्त होते हैं। अपनी कसौटी पर बिना उनकी कड़ी परीक्षा किए उनका राग अलापना अंधेपन का प्रचार करना है। 'प्रभाववाद' (इंप्रेशनिज्म) और 'अभिव्यंजनावाद (एक्सप्रेशनिज्म) दोनों की एकांगदर्शिता ऊपर के विवरणों से स्पष्ट है। यही स्वरूप वहाँ के और वादों का भी समझिए।

हमारे यहाँ के पुराने ध्वनिवादियों के समान आधुनिक 'अभिव्यंजनावादी' भी भावव्यंजना और वस्तुव्यंजना दोनों में काव्यतत्त्व मानते हैं। उनके निकट अनूठे ढंग से की हुई वस्तुव्यंजना भी काव्य ही है। इस संबंध में हमारा यही वक्तव्य है कि अनूठी से अनूठी उक्ति काव्य तभी हो सकती है जबकि उसका संबंध—कुछ दूर का सही—हृदय के किसी भाव या वृत्ति से होगा। मान लीजिए कि अनूठे भंग्यंतर से कथित किसी लक्षणापूर्ण उक्ति में सौंदर्य का वर्णन है। उस उक्ति में चाहे कोई भाव सीधे सीधे व्यंग्य न हो, पर उसकी तह में सौंदर्य को ऐसे अनूठे ढंग से कहने की प्रेरणा करनेवाला रतिभाव या प्रेम छिपा हुआ है। जिस वस्तु की सुंदरता के वर्णन

में हम प्रवृत्त होंगे वह हमारे रतिभाव का आलंबन होगी। आलंबन मात्र का वर्णन भी रसात्मक माना जाता है और वास्तव में होता है।

योरप का यह 'अभिव्यंजनावाद' हमारे यहाँ के पुराने 'वक्रोक्तिवाद'—वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्—का ही नया रूप बिलायती उत्साह है। अंतर इतना ही है कि भंग्यंतर के लिए हमारे यहाँ व्यंजना का अधिक सहारा लिया जाता है और योरप में लक्षणा का। योरप की भाषाओं में लाक्षणिक चपलता अधिक होती है। अनूठेपन का वाक्य में क्या स्थान है, यह बात अब विचार के लिए सामने आती है।

जगत् की नाना वस्तुओं, व्यापारों और बातों को ऐसे रूप में रखना कि वे हमारे भावचक्र के भीतर आ जायँ, यही काव्य का लक्ष्य होता है। विश्व की अनंतता के बीच जिस प्रकार ज्ञान अपना प्रसार चाहता है, उसी प्रकार हृदय भी। वह भी अपने रमने के लिए नई भूमि चाहता है। अनूठापन कहीं तो किसी भाव या मनोवृत्ति की व्यंजना में—अर्थात् जिन वाक्यों में उस भाव की व्यंजना होती है उनमें—और कहीं उस वस्तु या तथ्य में ही जिसकी ओर कवि अपने चित्रणकौशल में भाव को प्रवृत्त करता है, होता है। सुबीते के लिए एक को हम भावपक्ष का अनूठापन कह सकते हैं, दूसरे को विभावपक्ष का।

अनूठापन काव्य के नित्य स्वरूप के अंतर्गत नहीं है, एक अतिरिक्त गुण है जिसमें मनोरंजन की मात्रा बढ़ जाती है। इसके बिना भी तन्मय करनेवाली कविता बराबर हुई है और होती है। पद्माकर की इस सीधी सादी उक्ति में—'नैन नचाय कह्यो मुसकाय, लला! फिर अइयो खेलन होरी'—पूरी रमणीयता है जो लोग मनोरंजन को ही—किसी भाव में लीन होने को नहीं—काव्य का चरम समझते हैं, वे सब जगह कुछ कुतूहल की सामग्री ढूँढ़ते हैं। पर काव्य केवल कुतूहल उत्पन्न करनेवाली वस्तु नहीं है। भिन्न भिन्न भावों में लीन करनेवाली, रमानेवाली वस्तु है। अतः वही वक्रोक्ति (वक्रोक्ति अलंकार नहीं, उक्ति का बाँकपन या अनूठापन), वही वचनभंगी जो किसी न किसी भाव या मनोवृत्ति द्वारा प्रेरित होगी, काव्य के अंतर्गत होगी। ऐसी वस्तुव्यंजना जिसकी तह में कोई भाव न हो, चाहे कितने ही अनूठे ढंग से की गई हो, चाहे उसमें कितना ही लाक्षणिक चमत्कार हो, प्रकृत कविता न होगी, सूक्ति मात्र होगी। सारांश यह कि भाव या मनोविकार की नींव पर कविता की इमारत खड़ी हो सकती है। कुतूहल भी एक मनोवृत्ति है, पर वह अकेले काव्य का आधार नहीं हो सकती। तमाशा देखना और कविता सुनना एक ही बात नहीं है।

इस 'अभिव्यंजनावाद' के प्रभाव से मूर्तविधान का बड़ा ही दुरुपयोग होने लगा है। अँगरेजी में तो कम, पर बँगला में—जो हर एक विलायती ताल सुर पर नाचने के लिए तैयार रहती है—यह बात बहुत भद्दी हद तक पहुँची। कहीं लालसा मधुपात्र लिए हृत्तंत्री के नीरव तार झनझना रही है; कहीं स्मृतिवेदना करवटें बदलकर आँखें मल रही है, इत्यादि इत्यादि। इस प्रकार लड़कों के खेल से निराधार विधान वहाँ

चल पड़े, जिनकी नकल हिन्दी में भी बड़ी धूम से हो रही है। 'छायावाद' समझकर जो कविताएँ हिन्दी में लिखी जाती हैं उनमें से अधिकांश का 'छायावाद' या 'रहस्यवाद' से कोई संबंध नहीं होता। इनमें से कुछ तो विलायती 'अभिव्यंजनावाद' के आदेश पर रची हुई बँगला कविताओं की नकल पर, और कुछ अँगरेजी कविताओं के लाक्षणिक चमत्कारपूर्ण वाक्य शब्द प्रतिशब्द उठाकर, जोड़ी जाती हैं। इनके जोड़नेवाले यह नहीं जानते कि 'छायावाद' या 'रहस्यवाद' शब्द काव्यवस्तु (मैटर) का सूचक हैं, अतः जहाँ काव्यवस्तु में कोई 'वाद' नहीं है, केवल व्यंजनाशैली के वैचित्र्य का अनुकरण है, वहाँ 'अभिव्यंजनावाद' की नकल—जैसे और सब नकलें—बँगला में शुरू हुई। अतः हिन्दीवालों में कुछ बेचारे तो बंग पदावली के अवतरण से ही संतुष्ट रहते हैं और कुछ—जिन्हें अँगरेजी का भी थोड़ा बहुत परिचय रहता है—सीधे अँगरेजी से, जहाँ से बंगाली लेते हैं, लाक्षणिक पदावली बैठाया करते हैं। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में उस अन्विति (यूनिटी) का सर्वथा अभाव रहता है, जिसके बिना कला की कोई कृति खड़ी ही नहीं हो सकती। इधर उधर से बटोरे वाक्यों का एक असंश्लिष्ट और असंबद्ध ढेर सा लगा दिखाई पड़ता है। बात यह है कि अपनी किसी अनुभूति, भावना या तथ्य की व्यंजना के लिए अपने उद्भावित वाक्य ही एक में समन्वित हो सकते हैं।

भिन्न भिन्न देशों की प्रवृत्ति की पहचान यदि हम काव्य के भाव और विभाव दो पक्ष करके करते हैं तो बड़ी सुगमता हो जाती है। 'भाव' से अभिप्राय संवेदना के स्वरूप की व्यंजना से है; विभाव से अभिप्राय उन वस्तुओं या विषयों के वर्णन से है जिनके प्रति किसी प्रकार का भाव या संवेदना होती है। भारतीय साहित्य में दोनों पक्षों का समविधान पाया जाता है। वन, पर्वत, नदी, निर्झर, मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि जगत् की नाना वस्तुओं का वर्णन आलंबन और उद्दीपन दोनों की दृष्टि से होता रहा है। प्रबंध काव्यों में बहुत से प्राकृतिक वर्णन आलंबन रूप में ही हैं। कुमारसंभव के आरंभ का हिमालयवर्णन और मेघदूत के पूर्वमेघ का नाना प्रदेश वर्णन उद्दीपन की दृष्टि से नहीं कहा जा सकता। इन वर्णनों में कवि ही आश्रय है जो प्राकृतिक वस्तुओं के प्रति अपने अनुराग के कारण उनका रूप निवृत्त करके अपने सामने भी रखता है और पाठकों के भी। जैसा पहले कहा जा चुका है, केवल आलंबन का वर्णन ही रसात्मक होता है। नखशिख वर्णनों में आलंबनों के रूप का वर्णन रहता है पर वे रसात्मक होते हैं। विभाव के समान भावपक्ष का भी पूरा विधान हमारे यहाँ मिलता है। उक्ति, चेष्टा और शरीरधर्म तीनों प्रकार के अनुभावों द्वारा भावों की व्यंजना होती आई है।

फारस की शायरी भाव पक्ष प्रधान है। उसमें विभाव पक्ष का विधान नहीं या नहीं के बराबर हुआ। भावपक्ष में भी केवल रतिभाव का ही सम्यक् ग्रहण पाया जाता है। इसी के अलौकिक उत्कर्ष की व्यंजना अलग अलग एक एक पद्य की गँठी

हुई उक्ति में होती है। वेदना की विवृति की चाल फारसी और उर्दू की शायरी में बहुत अधिक है। विभाव और भाव के संबंध का स्पष्टीकरण न होने से—इस बात का ध्यान न होने से कि मन में लाए हुए रूप किस प्रकार रस में सहायक या बाधक होते हैं—वेदना की यह विवृति कभी कभी बड़े बीभत्स दृश्य सामने लाती है। आबले फूटना, मवाद बहना, कलेजा चिरना, खून के कतरे टपकना, कबाब की तरह इधर उधर भुनना—वेदना का इस प्रकार का ब्योरा श्रृंगार का पोषक नहीं हो सकता। खेद है कि उर्दू की देखादेखी वेदना की ऐसी विवृति की नकल हिन्दी की कविताओं में भी कुछ हुई है और अब भी कुछ नए ढंग पर होती है। संस्कृत के कवियों में वेदना की विवृति भवभूति में ही सबसे अधिक पाई जाती है; पर वह भारतीय काव्यशिष्टता की मर्यादा के भीतर है। वेदना की अधिक विकृति हम काव्यशिष्टता के विरुद्ध समझते हैं। हमें तो वेदना का अधिक ब्योरा पढ़ने पर ऐसा ही जान पड़ता है जैसे कोई भारी रोगी किसी वैद्य के सामने अपने पेट के भीतर की शिकायतें बता रहा हो। प्रेम को व्याधि के रूप मे देखने की अपेक्षा हम संजीवनी शक्ति के रूप में देखना अधिक पसंद करते हैं।

अश्रु, स्वेद आदि का उल्लेख हमारे काव्य में भी हुआ है, पर जमीन से आसमान तक उनकी गंदी नदी नहीं बहाई गई है। जैसे अपनी प्रकृति का, अपने शरीरधर्मों का बहुत अधिक वर्णन बातचीत की सभ्यता के विरुद्ध समझा जाता है वैसे ही अब काव्य की शिष्टता के विरुद्ध समझा जाना चाहिए।

हम विभावपक्ष को कविता में प्रधान स्थान देते हैं। 'विभाव' से अभिप्राय लक्षणग्रंथों में गिनाए हुए भिन्न भिन्न रसों के आलंबन मात्र से नहीं है, यह पहले सूचित किया जा चुका है। जगत् की जो वस्तुएँ, जो व्यापार या प्रसंग हमारे हृदय में किसी भाव का संचार कर सकें उन सब का वर्णन आलंबन का ही वर्णन माना जाना चाहिए। विश्व की अनंतता के भीतर, मनुष्य जाति के ज्ञानप्रसार के बीच, ऐसे वस्तु व्यापार योग और ऐसे प्रसंग भी हमारी पहुँच के हिसाब से अनंत ही हैं। जिस मर्मस्पर्शिणी वस्तु व्यापार योजना का ज्ञानेंद्रियों द्वारा या कल्पना के सहारे हमने साक्षात्कार किया हो उसे अपना प्रभाव उत्पन्न करने के लिए औरों तक ठीक ठीक पहुँचाकर यदि हम अलग हो जायँ, तो भी कविकर्म कर चुके। यदि लोक के मर्मस्थलों की पहचान हममें होगी तो हमारी उपस्थित की हुई योजना सहृदय मात्र को भावमग्न करेगी। यदि उस योजना में लोकहृदय को स्पर्श करने की क्षमता न होगी, तो भावानुभूति का हमारा सारा प्रदर्शन भाँड़ों की नकल सा होगा। भावप्रधान कविता में—ऐसी कविता में जिसमें संवेदना की विवृति ही रहती है—आलंबन का आक्षेप पाठक के ऊपर छोड़ दिया जाता है। विभावप्रधान कविता में—ऐसी कविता में जिसमें आलंबन का ही विस्तृत रमणीय चित्रण रहता है—संवेदना पाठक के ऊपर छोड़ दी जाती है।

अपनी अनुभूति या संवेदना का लंबा चौड़ा ब्योरा पेश करने की अपेक्षा उन तथ्यों या वस्तुओं को पाठक की कल्पना में ठीक ठीक पहुँचा देना, जिन्होंने यह अनुभूति या संवेदना जगाई है कवि के लिए हम अधिक आवश्यक समझते हैं। सहृदय या भावुक पाठक अपनी अनुभूति का पथ बहुत कुछ आप से आप निकाल लेते हैं। इसी प्रकार सच्चे कवियों की अनुभूति का आभास बहुत कुछ उनकी वस्तुयोजना की शब्दभंगी में ही मिल जाता है।

भावों के लिए आलंबन आरंभ में ज्ञानेंद्रियाँ उपस्थित करती हैं; फिर ज्ञानेंद्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री से कल्पना उनकी योजना करती है। अतः यह कहा जा सकता है कि ज्ञान ही भावों के संचार के लिए मार्ग खोलता है। ज्ञानप्रसार के भीतर ही भावप्रसार होता है। आरंभ में मनुष्य की चेतन सत्ता इंद्रियज ज्ञान की समष्टि के रूप में ही अधिकतर रही। पीछे ज्यों ज्यों सभ्यता बढ़ती गई है त्यों त्यों मनुष्य की ज्ञानसत्ता बुद्धिव्यवसायात्मक होती गई है। अब मनुष्य का ज्ञान क्षेत्र बुद्धिव्यवसायात्मक या विचारात्मक होकर बहुत विस्तृत हो गया है। अतः उसके विस्तार के साथ हमें अपने हृदय का विस्तार भी बढ़ाना पड़ेगा। विचारों की क्रिया से वैज्ञानिक विवेचन और अनुसंधान द्वारा उद्‌घाटित परिस्थितियों और तथ्यों के मर्मस्पर्शी पक्ष का मूर्त और सजीव चित्रण भी—उसका इस रूप में प्रत्यक्षीकरण कि वह हमारे किसी भाव का आलंबन हो सके—कवियों का काम होगा।

ये परिस्थितियाँ बहुत ही व्यापक होंगी, ये तथ्य न जाने कितनी बातों की तह में छिपे होंगे। यदि अत्याचार होगा तो उसका फैलाव औरंगजेब के अत्याचार का सा न होगा, रावण के अत्याचार का सा होगा। हाहाकार होगा तो जगद्‌व्यापी होगा। हाय होगी तो पृथ्वी के एक कोने से दूसरे कोने तक होगी, पर एक हाय करनेवाला दूसरे हाय करनेवाले से इतनी दूर होगा कि सम्मिलित हाय की दारुणता केवल बाहरी आँखों की पहुँच के बाहर होगी। यदि प्राणियों की किसी सामान्य प्रवृत्ति का चित्रण होगा, तो सामग्री कीटाणुओं की दुनिया तक ले जाई जा सकती है। जगत् रूपी घनचक्कर और गोरखधंधे की महत्ता और जटिलता से चकित होने की चाह में हम अपनी अंतर्दृष्टि के सामने एक ओर अणुओं परमाणुओं और दूसरी ओर ज्योतिष्क पिंडों के भ्रमणचक्रों तक को ला सकते हैं।

रूखे और (वाह्य कारणों को) अगोचर को सरस और गोचर रूप में लाने का व्यवसाय काव्यक्षेत्र में बढ़ेगा। ये गोचर रूप झूठे रूपक न होंगे किसी तथ्य के मार्मिक मूर्त उदाहरण होंगे। कितने गूढ़, ऊँचे और व्यापक विचारों के साथ हमारे किसी भाव या मनोविकार का संयोग कराया जा सका है, कितने भव्य और विशाल तथ्यों तक हमारा हृदय पहुँचाया जा सका है, इसका विचार भी कवियों की उच्चता स्थिर करने में हुआ करेगा।

काव्य के संबंध में भाव और कल्पना, ये दो शब्द बराबर सुनते सुनते कभी कभी यह जिज्ञासा होती है कि ये दोनों समकक्ष हैं या इनमें कोई प्रधान है। यह

प्रश्न या इसका उत्तर, जरा टेढ़ा है, क्योंकि रसकाल के भीतर इसका युगपद् अन्योन्याश्रित व्यापार होता है। रस की स्थिति श्रोता या पाठक में मानी जाती है। अतः श्रोता या पाठक की दृष्टि से यदि विचार करते हैं तो उनमें सहृदयता या भावुकता अधिक अपेक्षित होती है, कल्पनाक्रिया कम। कवि की विधायक कल्पना रस की तैयार सामग्री उनके सामने रख देती है। कविकर्म में कल्पना की बहुत आवश्यकता होती है, पर यह कल्पना विशेष प्रकार की होती है; इसकी क्रिया कवि की भावुकता के अनुरूप होती है। कवि अपनी भावुकता की तुष्टि के लिए ही कल्पना को रूपविधान में प्रवृत्त करता है। रस की प्रतीति, पूर्ण व्यंजना होने पर ही, काव्य के पूर्ण हो जाने पर ही, मानी गई है, व्यंजना के पहले नहीं। अतः कवि अपनी स्वभावगत भावुकता की जिस उमंग में रचना करने में प्रवृत्त होता है और उसके विधान में तत्पर रहता है, उसे यदि हम कुछ कहना चाहें तो रसप्रवणता या रसोन्मुखता कह सकते हैं।

जब भाव की उमंग ही कल्पना को प्रेरित करती है तब कवि का मूल गुण भावुकता अर्थात् अनुभूति की तीव्रता है। कल्पना उसकी सहयोगिनी है। पर ऐसी सहयोगिनी है जिसके बिना कवि अपनी अनुभूति को दूसरे तक पहुँचा ही नहीं सकता। अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाना ही कविकर्म है। अतः हम कह सकते हैं कि कल्पना और भावुकता कवि के लिए दोनों अनिवार्य हैं। भावुक जब कल्पना संपन्न और भाषा पर अधिकार रखनेवाला होता है तभी कवि होता है। पर यह भी निश्चय समझना चाहिए कि जिस रूप में अनुभूति कवि के हृदय में होती है, उसी रूप में व्यंजना कभी हो नहीं सकती। उसे प्रेषणीय बनाने के लिए—दूसरों के हृदय तक पहुँचाने के लिए—भाषा का सहारा लेना पड़ता है। शब्दों में ढलते ही अनुभूति बहुत विकृत हो जाती है, और की और हो जाती है। इसी से बहुत सी दिव्य और सुंदर अनुभूतियों को कवि यों ही छोड़ देते हैं, उनकी व्यंजना का प्रयास नहीं करते। वे जीवन भर एक प्रकार के मूक कवि बने रहते हैं। बहुत सी कविता अनुभूति दशा में नहीं होती, स्मृति दशा में होती है। जो यह कहे कि जो कुछ हमारे भीतर था सब हमारी कविता में आ गया है, उसमें काव्यानुभूति का अभाव समझना चाहिए और उसकी कविता को कवियों की वाणी का अनुकरण मात्र।

जैसे कवि वैसे ही पाठक या श्रोता भी कभी कभी रसप्रवण होते हैं। लोग कभी कहते हैं कि 'वीर रस की कोई कविता सुनाइए', कभी कहते हैं 'शृंगार रस की कोई कविता सुनाइए', इसका मतलब यही है कि कभी उनमें उत्साह का उन्मेष रहता है, कभी प्रेम का, कभी किसी और भाव का। इस प्रकार रसोन्मुख होने पर वे अपने अंतस् में ऐसी वस्तु लाना चाहते हैं जिसपर भावविशेष टिके; उस वस्तु के ऐसे विवरणों में अंतर्दृष्टि रमाना चाहते हैं जिनसे वह भाव उद्दीप्त रहे; ऐसी उक्तियाँ सुनाना चाहते हैं जो उस भाव द्वारा प्रेरित या अनुप्राणित समझ पड़ें।

'अभिव्यंजना ही कला या काव्य है' इसका अर्थ यहाँ तक कभी नहीं घसीटा जा सकता कि व्यंजना या व्यंजक उक्ति से भिन्न काव्यानुभूति कोई वस्तु ही नहीं। काव्यानुभूति ही वह प्रधान वृत्ति है जो व्यंजना की प्रेरणा करती है। बात यह है कि पाठक या श्रोता के पास कवि की अंतर्वृत्ति तक पहुँचने का कोई अचूक साधन नहीं होता जिससे वह यह देख सके कि अनुभूति के अनुरूप व्यंजना हुई है या नहीं। इससे वह व्यंजना या उक्ति से ही प्रयोजन रखता है। पर जब हम पूरे कविकर्म पर विचार करते हैं—केवल उसके फल पर ही नहीं—तब उसके मूल में काव्यानुभूति की सत्ता माननी पड़ती है। यह दिव्य अनुभूति समय समय पर थोड़ी बहुत सबको हुआ करती है : इसका प्रधान लक्षण है अपने खास सुख दुःख, हानि लाभ आदि से उद्विग्न न होना, अपनी शरीरयात्रा से संबद्ध न होना। प्रेमियों के प्रेमव्यापार, दुखियों के दुःख, अत्याचारियों की क्रूरता देख सुनकर जो रति, करुणा और क्रोध जागृत होता है, छूटे हुए स्वदेश की अतीत काल के दृश्यों की जो प्रीतिस्निग्ध स्मृति जागृत होती है, लोकरंजक महात्माओं के प्रति जिस श्रद्धा भक्ति का उदय होता है, उन सबकी अनुभूति शुद्ध भावक्षेत्र की अनुभूति है। जब तक इस प्रकार की अनुभूति में कोई लीन रहे, तब तक उसपर अव्यक्त काव्य का आवेश समझना चाहिए।

रसानुभूति या काव्यानुभूति की उपर्युक्त विशेषता के कारण उसे लोकोत्तर, जीवन से परे आदि कहने की चाल चल पड़ी है। पर वास्तव में वह जीवन के भीतर की ही अनुभूति है; आसमान से उतरी हुई कोई वस्तु नहीं है। इसी प्रकार कविता और कवि की स्मृति में जो बहुत से अलंकारपूर्ण वाक्य इधर कुछ दिनों से कहे, सुने और लिखे जाने लगे हैं, उन्होंने अर्थशून्य शब्दों का एक ऐसा झूठा परदा खड़ा कर दिया है जिनके कारण काव्यभूमि बहुत कुछ अंधकार में पड़ती जाती है। कविता स्वर्ग से गिरती हुई सुधाधारा है। नंदनवन के कुसुमों से टपकी मकरंद की बूँद है; अनंत के दिव्य संगीत की स्वरलहरी है; कवि इस लोक का जीव ही नहीं है; वह पार्थिव जीवन से परे है; उसका एक दूसरा ही जगत् है; वह पैगंबर है, औलिया है, रहस्यदर्शी है—ऐसी ऐसी लचर बातें काव्य समीक्षा के नाम से कही जाने लगी हैं। बुद्धि को रुग्ण करनेवाली, पाखंड का प्रचार करनेवाली यह हवा अँगरेजी से बँगला में और बँगला से हिन्दी में आई। आजकल मासिक पत्रिकाओं में किसी कवि या काव्य की समीक्षा के वेश में कभी कभी बहुत सी ऐसी अर्थशून्य पदावली—जो अँगरेजी या बँगला से उठाई हुई होती है—छपा करती है। निरर्थक शब्दों की इस आँधी से ऊबकर एक सूक्ष्मदर्शी अँगरेज समालोचक को यहाँ तक कहना पड़ा कि "भाषा अभी तक उन सब वस्तुओं के स्वरूप को छिपाने ही में कृतकार्य हुई है जिनकी हम चर्चा किया करते हैं।"[1]

---

1. लैंग्वेज हैज सक्सीडेड अनटिल रीसेंट्ली इन हाइडिंग फ्राम अस आलमोस्ट आल दि थिंग्ज वी टाक एबाउट।

—आई. ए. रिचर्ड्स, प्रिंसिपल्स आव लिटरेरी क्रिटिसिज्म।

कविता के संबंध में कई प्रवाद जो कुछ दिनों से योरप में प्रचलित चले आ रहे हैं, उनकी नकल हिन्दी में भी इधर उधर सुनाई पड़ने लगी है। इन प्रवादों में एक यह भी है कि कला का उद्देश्य कला ही है, या 'काव्य का उद्देश्य काव्य ही है' इस उक्ति के अनुसार कविता का क्षेत्र जीवनक्षेत्र से बिलकुल अलग है। कविता का विचार करते समय जीवन की बातों को तो लाना ही नहीं चाहिए। कला की कृति का मूल्य निर्धारित करने में बाहरी बातों के मूल्य का विचार व्यर्थ है।[1] कला का तो अपना मूल्य अलग ही है। कला संबंधी यह वाद सन् 1866 ई. से फ्रांस में चला। साहित्यसमीक्षा के नए नए वाद फ्रांस ही में सबसे अधिक उठाए गए हैं। इस क्षेत्र में वही एक प्रकार से योरप का गुरु रहा है। अँगरेजी में उपर्युक्त मत का बहुत स्पष्ट प्रतिपादन डॉक्टर ब्रैडले ने अपनी पुस्तक (आक्सफर्ड लेक्चर्स आन पोएट्री) में किया है। हर्ष की बात है कि इस मत का तथा इसी प्रकार के और प्रचलित प्रवादों का, निराकरण रिचर्ड्स ने अपने 'काव्यसमीक्षा के सिद्धांत' में बहुत अच्छी तरह कर दिया है।[2] जो काव्यों का अनुशीलन और जनता पर उनके प्रभाव का अन्वीक्षण करते आ रहे हैं, वे अच्छी तरह जानते हैं कि कविता जीवन ही से उत्पन्न है और जीवन के भीतर ही अपनी विभूति का प्रकाश करती है। उसे जीवन से विच्छिन्न बताना कहीं की बात कहीं लगाना है।

हम कह चुके हैं कि योरप में जो साहित्यिक वाद या प्रवाद चलते हैं उनमें से अधिकतर प्रतिवाद की धुन में अर्थात् प्रतिवर्तन (रिऐक्शन) के रूप में उठते हैं। सबमें कोई स्थायी मूल्य या तत्त्व नहीं होता; होता भी है तो बहुत थोड़ा। इसी से बहुत से 'वाद' जिनका कुछ दिनों तक फैशन रहता है, आगे चलकर हवा हो जाते हैं। विज्ञान के वादों में ईमानदारी और सच्चाई से काम लिया जाता है, साहित्यिक वादों में नहीं। साहित्य के क्षेत्र में हर एक अपनी अलग हवा बहाने के फेर में रहता है और जरा सा बढ़ावा पाने पर किसी एक बात को लेकर हद से बहुत दूर निकल जाता है। 'कला का उद्देश्य कला है' इस वाद का प्रसार भी फ्रांस में प्रतिवर्तन के रूप में ही हुआ था। काव्य की पुरानी बँधी रूढ़ियों को हटाकर, केवल मुक्त कल्पना और भावों की अप्रतिबद्ध गति को लेकर योरप में स्वच्छंदतावाद (रोमैंटिसिज्म) का प्रचार हुआ। वह जब हद के बाहर जाने लगा और काव्य के विषय ऊटपटाँग तथा वर्णनशैली शिथिल और अशक्त होने लगी तब सन् 1866 ई. में उसके प्रतिवाद के रूप में 'कला का उद्देश्य कला' का सिद्धांत लेकर कुछ लोग खड़े हुए। ये लोग पारनेसियन कहलाए। इनका उद्देश्य काव्य में अधिक समीचीन प्रेरणा, सुडौल योजना और चित्ताकर्षक शैली का प्रचार करना था।

---

1. टु ऐप्रिशिएट ए वर्क आव आर्ट वी नीड ब्रिंग विद अस नथिंग फ्राम लाइफ, नो नालेज इट्स आइडियाज ऐंड अफेयर्स, नो फैमिलिऐरिटी विद इट्स इमोशंस। —क्लाइव बेल आर्ट।
2. इस मत के विशेष विवरण और खंडन के लिए देखिए हमारा 'हिन्दी साहित्य का इतिहास।'

इन पारनेसियनों के पीछे सन् 1885 ई. में 'प्रतीकवादियों' (सिंबलिस्ट्स या डीकेडेंट्स) का एक संप्रदाय फ्रांस में खड़ा हुआ जिसने अनूठे 'रहस्यवाद' और 'भावोन्मादमयी भक्ति' का सहारा लिया[1]। हमारे यहाँ के श्री रवींद्रनाथ ठाकुर ने अपनी 'गीतांजलि' का अँगरेजी अनुवाद प्रकाशित करके इस संप्रदाय के सुर में सुर मिलाया था। कहने की आवश्यकता नहीं कि बंग भाषा के प्रसाद से हिन्दी में इस वर्ग की प्रवृत्ति का अनुकरण खूब चल पड़ा है। बंग भाषा के काव्यक्षेत्र के तो एक कोने ही में इस रहस्यवाद या छायावाद की तंत्री बजी, मराठी, गुजराती को हर एक विलायती तालसुर पर नाचने की आदत नहीं, पर हिन्दी में तो इसकी नकल पर तूफान सा आ गया।

यह 'प्रतीकवाद' सिद्धांत रूप में यद्यपि आध्यात्मिक 'रहस्यवाद' के साथ संबद्ध होकर उठा है, पर प्रतीक रूप में वस्तुओं का व्यवहार अच्छी कविता में बराबर होता आया है।[2] किसी देवता का प्रतीक सामने आने पर जिस प्रकार उसके स्वरूप और उसकी विभूति की भावना चट मन में आ जाती है उसी प्रकार काव्य में आई हुई कुछ वस्तुएँ विशेष मनोविकारों या भावनाओं को जागृत कर देती हैं; जैसे—'कमल' माधुर्यपूर्ण कोमल सौंदर्य की भावना जागृत करता है; 'कुमुदिनी' शुभ्र हास की; 'चंद्र' मृदुल आभा की; 'समुद्र' प्राचुर्य विस्तार, 'सर्प' से क्रूरता और कुटिलता का, 'अग्नि' से तेज और क्रोध का, वीणा से वाणी या विद्या का, 'चातक' से निःस्वार्थ प्रेम का संकेत मिलता है। प्रतीक दो प्रकार के होते हैं। कुछ तो मनोविकारों या भावों को जगाते हैं (इमोशनल सिंबल्स) और कुछ भावनाओं या विचारों को (इंटेलेक्चुअल सिंबल्स)। भावना या कल्पना जगानेवाले प्रतीकों के साथ भाव या मनोविकार भी प्रायः लगे रहते हैं।

ऊपर जिन प्रतीकों के नाम आए हैं वे सब ऐसे हैं जिनके स्वरूप में ही कुछ न कुछ व्यंजना है। पर उनमें इतनी अधिक शक्ति के संचय का कारण यह भी है कि वे कई सहस्र वर्षों से कम से कम भारतीय जनता की कल्पना के अंग और भावों के विषय रहते आए हैं। वे परंपरागत प्रतीक हैं। काव्य में ऐसे ही प्रतीकों का व्यवहार होता आया है और हो सकता है। यह तो प्रत्यक्ष है कि थोड़े से ही प्रतीक सार्वभौम हो सकते हैं। भिन्न भिन्न देशों की परिस्थिति और संस्कृति के

---

1. फालोइंग अपान दि पारनेसिअंस, एबाउट 1885 केम दि सिंबलिस्ट्स आर डीकेडेंट्स—ए मूवमेंट आव डेक्स्वरस मिस्टिसिज्म ऐंड 'सेंटिमेंटल रेलिजासिटी' टू रीसेंट फार सैटिस्फेक्टरी हिस्टारिकलइन्वेस्टिगेशन।

—गेली ऐंड कुट्‌र्जः मेथड्स ऐंड मैटीरिअल्स आव लिटरेरी क्रिटिसिज्म।

2. सिंबलिज्म ऐज सीन इन दि राइटर्स आव अवर डे, वुड हैव नो वैल्यू इफ इट वेअर नाट सीन आल्सो, अंडर वन गाइज आर ऐनदर, इन एव्री ग्रेट इमैजिनेटिव राइटर।

—आर्थर साइमन्स : दि सिंबलिस्ट मूवमेंट इन लिटरेचर।

अनुसार प्रतीक भी भिन्न भिन्न हुआ करते हैं। 'गुल बुलबुल' से जिस भावना का संकेत फारसवाले को मिलता है उस भावना का संकेत भारतवासी को नहीं; 'चातक' से जिस भावना का संकेत भारतवासी को मिलता है उस भावना का योरोपीय को नहीं। क्रूस से जैसी पवित्रता और स्वर्गीय शांति का संकेत एक ईसाई को मिलेगा, हिंदू या बौद्ध को नहीं। प्रकृति के नाना रूपों को भिन्न भिन्न देशों ने भिन्न भिन्न भावों से देखा है। सघन वन, पर्वत आदि भारतीय या योरोपीय हृदय को चाहे रमावें पर फारसी दृष्टिवाले को वे कष्ट या विपत्ति ही के सूचक होंगे। अधिकतर कुहरे और बदली से आच्छन्न रहनेवाले योरप में 'चमचमाती धूप' आनंद और सुख समृद्धि का संकेत हो, पर भारत के लिए नहीं हो सकती। 'स्निग्ध श्यामल घटा में जो उदार और शीतल माधुर्य भारतीय देखता है, योरोपीय नहीं। जाड़े की संध्या कुछ मनहूस और उदासी लिए होती है; इससे विलायतवाले उसे शोक और उदासी का प्रतीक मानें तो ठीक है। पर हिंदुस्तान में जाड़ा बहुत थोड़े दिनों रहता है। यहाँ तो दिन में आँख तिलमिलाने वाली चमक के पीछे संध्या की मधुर आभा मृदुलता का संकेत करती है। हाँ! 'अंधकार' या 'अँधेरी रात' शोक और उदासी का प्रतीक अवश्य मानी जाती है। जायसी ने रत्नसेन के परलोकवास पर अँधेरी रात ही ली है—

सूरुज छपा रैनि होइ गई। पूनो ससि सो अमावस भई।

यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि प्रतीकों का व्यवहार हमारे यहाँ के काव्य में बहुत कुछ अलंकार प्रणाली के भीतर ही हुआ है। पर इसका मतलब यह नहीं कि उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा इत्यादि के उपमान और प्रतीक एक ही वस्तु है। प्रतीक का आधार सादृश्य या साधर्म्य नहीं, बल्कि भावना जागृत करने की निहित शक्ति है। पर अलंकार में उपमान का सादृश्य या साधर्म्य ही माना जाता है। अतः सब उपमान प्रतीक नहीं होते। पर जो प्रतीक भी होते हैं वे काव्य की बहुत अच्छी सिद्धि करते हैं। अलंकारों में कभी कभी किसी एक विषय के सादृश्य या साधर्म्य के विचार से ही बहुत से उपमान ऐसे रख दिए जाते हैं जिनमें कुछ भी प्रतीकत्व नहीं होता, जैसे—कटि की उपमा के लिए सिंह या भिड़ की कमर। ऐसे उपमानों से हम सच्चे काव्य की कुछ भी सिद्धि नहीं मानते। किसी वस्तु के मेल में उपमान खड़ा करने का उद्देश्य यही होता है कि उस वस्तु के सौंदर्य आदि की जो भावना हो उसे और उत्कर्ष प्राप्त हो। अतः सच्ची परखवाले कवि अप्रस्तुत या उपमान के रूप में जो वस्तुएँ लाते हैं उनमें प्रतीकत्व होता है। हंस, चातक, मेघ, सागर, दीपक, पतंग इत्यादि कुछ विशेष वस्तुओं पर अन्योक्तियाँ क्यों इतनी मर्मस्पर्शिणी हुई हैं? इसलिए कि उनमें प्रतीकत्व है। उनके नाम मात्र हमारे हृदय में कुछ बँधी हुई भावनाओं का उद्बोधन करते हैं। इसी प्रकार फारसी की शायरी में बुलबुल, शमा, परवाना, शराब, प्याला आदि सिद्ध प्रतीक हैं।

यहाँ तक तो काव्य में प्रतीकों के सर्वसम्मत सामान्य व्यवहार का उल्लेख हुआ; पर यह कायदे की बात है कि जब कोई बात 'वाद' के रूप में किसी संप्रदाय विशेष के भीतर ग्रहण की जाती है तब वह बहुत दूर तक घसीटी जाती है—इतनी दूर कि वह सबके काम की नहीं रह जाती—और उसे कुछ विलक्षणता प्रदान की जाती है। रहस्यवाद को लेकर जो 'प्रतीकवादी' संप्रदाय योरप में खड़ा हुआ उसने परोक्षवाद (आकल्टिज्म) का सहारा लिया। प्रतीक के रूप में गृहीत वस्तुओं में भावों के उद्बोधन की शक्ति कैसे संचित हुई इसका वैज्ञानिक उत्तर यही होगा कि कुछ तो उन वस्तुओं के स्वरूपगत आकर्षण से, कुछ चिरपरिचित आरोप के बल से और कुछ वंशानुगत वासना की दीर्घ परंपरा के प्रभाव से। पर रहस्यवादी इसका उत्तर दूसरे ढंग से देंगे।

वे कहेंगे कि 'हमारे मन का विस्तार घटता बढ़ता रहता है और कभी कभी कई मन संचरित होकर एक दूसरे में मिल जाते हैं और इस प्रकार एक मन या एक शक्ति का उद्घाटन करते हैं। हमारी स्मृति का विस्तार भी ऐसे ही घट्ता बढ़ता रहता है और उस महास्मृति का, प्रकृति की स्मृति का एक अंग है।[1] इस महामन और महास्मृति का आह्वान प्रतीकों द्वारा उसी प्रकार हो सकता है जिस प्रकार तांत्रिकों के विविध चक्रों या यंत्रों द्वारा देवताओं का[2]। इस प्रवृत्ति के अनुसार वे रचना में प्रवृत्त करनेवाली कवियों की प्रतिभा के जगने को वही दशा कहते हैं, जिसे सूफी 'हाल आना' कहते हैं, जिसमें कुछ घड़ियों के लिए कवि की अंतस्सत्ता ईश्वरीय सारसत्ता (डिवाइन एसेंस) में मिल जाती है।

इस धारणा के अनुसार काव्य का लक्ष्य इस जगत् और जीवन से अलग हो जाता है। प्रकृति के जिन रूपों और व्यापारों का कवि सन्निवेश करेगा वे 'प्रतीक' मात्र होंगे। कवि की दृष्टि वास्तव में उन प्रतीकों के प्रति न मानी जाकर उन अज्ञात और परोक्ष शक्तियों या सत्ताओं के प्रति मानी जायगी जिनके वे प्रतीक होंगे। यदि वे प्रकृति का वर्णन करें तो उनका अनुराग प्रकृति पर न समझना चाहिए, प्रकृति के नाना रूपों के परदे के भीतर छिपी हुई अज्ञात और अव्यक्त सत्ता के प्रति समझना चाहिए। वे भरसक इस बात का प्रदर्शन करेंगे कि उनके भावोद्गार और उनके वर्णन व्यक्त और पार्थिव के संबंध में नहीं हैं, अव्यक्त और अपार्थिव के संबंध में हैं।

---

1. (1) दैट दि बार्डर्स आव अवर माइंड एवर शिफ्टिंग, दैट मेनी माइंड्स कैन फ्लो इंटू वन ऐनदर, ऐज इट वेअर, ऐंड क्रिएट ऐंड रिवील ए सिंगल माइंड, ए सिंगल एनर्जी।
   (2) दैट दि बार्डर्स आव अवर मेमरीज आर ऐज शिफ्टिंग, ऐंड दैट अवर मेमरीज आर ए पार्ट आव वन ग्रेट मेमरी आव नेचर हरसेल्फ।
2. दैट दिस ग्रेट माइंड ऐंड ग्रेट मेमरी कैन बी इवोक्ड बाई सिंबल्स।

—डब्ल्यू. बी. ईट्स : आइडियाज आव गुड ऐंड ईविल।

समझनेवाले चाहे जो समझें। यदि कोई बाबाजी किसी रमणी के प्रेम में उसके रूप माधुर्य आदि का बड़े अनूठेपन के साथ वर्णन करके कहें कि 'मेरा प्रेम उसके व्यक्त भौतिक शरीर से–उसकी रूपरेखा, वर्ण चेष्टा आदि से–नहीं है बल्कि उस भौतिक शरीर के भीतर छिपी अव्यक्त आत्मसत्ता से है जो नित्य अनंत और सर्वव्यापक है', तो कह सकते हैं। पर कहाँ तक लोग ऐसा समझेंगे यह बात दूसरी है। हाफिज के शराब और प्याले को सूफी चाहे जो कहें, पर बहुत से पहुँचे हुए विद्वान् उन्हें शराब और प्याला ही मानते हैं।

बात यह है कि हृदय का कोई भाव यदि व्यंजित किया जायगा तो वह ज्ञात को ही लेकर होगा और गोचर के ही प्रति होगा। मनोविज्ञान की दृष्टि से यदि 'भाव' (इमोशन) के स्वरूप पर विचार किया जाय, तो उसके अंतर्गत ज्ञानात्मक अवयव का विशिष्ट विन्यास पाया जायगा। उसके बिना भाव का स्वरूप ही न पूर्ण होगा। यदि यह कहा जाय कि ईश्वर को किसी ने नहीं देखा है, पर ईश्वर भक्ति बराबर होती आई है और उसकी सच्चाई में कोई संदेह नहीं हुआ है, तो इसका उत्तर यह है कि ईश्वर को ज्ञेय बनाकर ही उसकी उपासना और भक्ति का आरंभ हुआ है। ईश्वर को प्रेमपूर्ण दयालु पिता या स्वामी के रूप में अंतःकरण के सामने रखकर ही प्रेम या भक्ति का चरम आलंबन मनुष्य जाति ने खड़ा किया है। रही मूर्त भावना, वह भी इतने गुणों का आरोप हो जाने के कारण प्रेमानुभूति के समय भक्त के मन में कुछ न कुछ हो ही जाती है। तात्पर्य यह है कि भाव के पूर्ण परिपाक के लिए आलंबन की निर्दिष्ट भावना आवश्यक है।

अभिव्यक्ति को ही काव्यदृष्टि के भीतर माननेवाले विशुद्ध कवि और सांप्रदायिक या रहस्यवादी कवि की मनोवृत्ति में यही भेद है कि एक बड़ी सच्चाई के साथ जिसपर उसका भाव टिका होगा उसे स्वीकार करेगा और दूसरा उसे स्वीकार न करके, इधर उधर ताक झाँक करेगा। वह वेदांतियों के 'प्रतिबिंबवाद' का सहारा लेकर कहेगा कि ये सब रूप तो छाया हैं; हम जो प्रेम प्रकट करते हैं उसे इस छाया पर न समझो, जिसकी वह छाया है उसपर समझो। शायद वह यह दृष्टांत भी दे कि जैसे पूर्वराग में चित्र देखकर ही अनुराग उत्पन्न होता है, पर उस चित्र के प्रति जो अनुराग प्रकट किया जाता है वह उस चित्र के प्रति न होकर, जिसका वह चित्र होता है उसके प्रति होता है। पर पूर्वराग में जो अभिलाष होता है वह इस बात का होता है कि जिसे चित्र आदि छाया के रूप में देखते हैं उसे पूर्ण गोचर रूप में–दर्शन, श्रवण, स्पर्श आदि सबके विषय के रूप में–देखें। पर रहस्यवाद पूर्णगोचर को सामने पाकर अगोचर, अभौतिक आदि की ओर अपना अभिलाष बनाता है, जो वास्तव में अभिलाष के स्वरूप के सर्वथा विरुद्ध है। जिस प्रकार पूर्वराग में आलंबन अज्ञात नहीं रहता, चित्र आदि द्वारा अंशतः ज्ञात रहता है, उसी प्रकार जिसे रहस्यवादी अज्ञात कहता है वह भी, छाया या प्रतिबिंब के द्वारा सही, अंशतः ज्ञात रहता है। पर यदि रहस्यवादी

'अज्ञात', 'अगोचर', 'अभौतिक' का नाम न ले तो उसका 'वाद' कहीं नहीं रह जाता, जो उसे इतना प्रिय है। इस अज्ञात या अभौतिक के कारण उसे अपनी रचना में आडंबर खड़ा करना पड़ता है, बात बात में असीम राग अलापना पड़ता है।

अनिर्दिष्ट और धुँधली झलक या भावना में भी एक विशेष प्रकार का आकर्षण होता है जो स्निग्ध विस्मय औत्सुक्य या अभिलाष उत्पन्न करता है। घने कुहरे या जाली के बीच किसी के रूपमाधुर्य की हलकी सी झलक मात्र पाकर हम केवल उत्सुक होंगे। इसी औत्सुक्य की सतत प्रेरणा से उसका रूप निर्दिष्ट करने के लिए हमारी कल्पना प्रवृत्त रहा करेगी। रहस्यवादी अपनी यही स्थिति बतलाते हैं। वे भी प्रकृति के क्षेत्र से कुछ रूपों को चुनकर उनकी विलक्षण और दूरारूढ़ योजना कल्पना के भीतर करते हैं। अपना यह प्रयत्न वे 'अज्ञात के औत्सुक्य' द्वारा प्रेरित बताते हैं। यहीं तक कहकर रह जाते तो ज्यादा खटकने की बात न थी। इसके आगे बढ़कर वे यह भी सूचित करते हैं कि अपनी दूरारूढ़ रूपयोजना या भावना में वे अगोचर और अव्यक्त सत्ता का साक्षात्कार करते हैं। कुहरे या जाली के बीच में किसी के रूपमाधुर्य की हलकी झलक पानेवाला पीछे मन से उसके रूप की जो तरह तरह की कल्पना किया करता है, उसे उसी का रूप न समझता है, न कहता है। यदि कल्पना में आया हुआ रूप ही बिंब या पारमार्थिक वस्तु है तब तो कल्पनात्मक रूप ही आलंबन ठहरे। सारा अभिलाष, सारा औत्सुक्य उन्हीं के लिए समझना चाहिए।

कल्पनात्मक रूपों के इसी आलंबनत्व की प्रतिष्ठा करके सांप्रदायिक 'रहस्यवाद' काव्यक्षेत्र में खड़ा हुआ। इंगलैंड के पूर्ववर्ती रहस्यवादी कवि ब्लेक (विलियम ब्लेक 1757–1827) ने कल्पना का बड़े जोर से पल्ला पकड़ा और उसे नित्य पारमार्थिक सत्ता के रूप में ग्रहण करके कहा–

'कल्पना का लोक नित्य लोक है। यह शाश्वत और अनंत है। उस नित्य लोक में उन सब वस्तुओं की नित्य और परमार्थ सत्ताएँ हैं जिन्हें हम प्रकृतिरूपी दर्पण में प्रतिबिंबित देखते हैं।'[1]

इस प्रकार ब्लेक ने भक्तिरस में दृश्यजगत् की रूपयोजना को आलंबन न कहकर, कल्पनाजगत् की रूपयोजना को आलंबन कहा। इस युक्ति से एक बड़ी भारी मजहबी रुकावट दूर हुई। इधर कविता प्रकृति के क्षेत्र में नाना रूप, रंग और मूर्त पदार्थ लिए बिना एक कदम आगे बढ़ने को तैयार नहीं। इधर मजहब कागजी आँखें निकाले काले अक्षरों में घूर रहा था कि 'खबरदार! स्थूल इंद्रियार्थों के प्रलोभन

---

1. दि वर्ल्ड आव इमैजिनेशन इज दि वर्ल्ड आव एटर्निटी...दि वर्ल्ड आव इमैजिनेशन इज इनफाइनाइट ऐंड एटर्नल ह्वेअरऐज दि वर्ल्ड आव जेनरेशन आर वेजिटेशन इज फाइनाइट ऐंड टेंपोरल। देअर एक्जिस्ट इन दि एटर्नल वर्ल्ड रिऐलिटीज आव एव्रीथिंग ह्विच वी सी रिफ्लेक्टेड इन दि वेजिटेबुल ग्लास आव नेचर।

में न पड़ना। मूर्त पूजा का पाप मन में न लाना।' ब्लेक को कल्पना में वस्तुओं का सूक्ष्म रूप (यहाँ के पुराने लोगों के 'लिंगशरीर' के समान) मिल गया। स्थूलता के दोष का परिहार हो गया। मन भी छठी इंद्रिय है, यह भावना स्पष्ट होने से इंद्रियासक्ति (सेंसुऐलिज्म) के दोषारोपण की संभावना भी दूर हुई समझी गई । भक्त कवियों को नाना मनोहर रूपों के प्रति अनुराग प्रकट करने का लाइसेंस मिल गया। पूछताछ होने पर वे कह सकते थे कि 'वाह! हम तो छाया के प्रेम द्वारा सारसत्ता का प्रेम प्रकट कर रहे हैं। एक हिसाब से बड़ा भारी काम हुआ। पर खुदा का कौन सा ऐसा काम है जिसमें शैतान न कूदे? कल्पना की ईश्वरीय सारसत्ता के समान ही शैतानी सारसत्ता का आना जाना भी रहता ही है। अपने सूक्ष्म रूप के कारण दोनों नित्य ही होंगी।

यह सब जाने दीजिए। यह देखिए की कल्पना की नित्यता के प्रतिपादन में उसे पारमार्थिक सत्ता बनाने में, प्रकृति और कल्पना के प्रत्यक्ष संबंध में कितना विपर्यय करना पड़ा है। यह तो प्रत्यक्ष बात है कि कल्पना के भीतर जो कुछ रहता है या आता है वह प्रकृति के ही विशाल क्षेत्र से प्राप्त होता है। अतः जब तक हम किसी 'वाद' का सहारा न लें तब तक यही कहेंगे कि कल्पना में आए हुए रूप ही प्रकृति के नाना रूपों के प्रतिबिंब हैं; प्रकृति के रूप कल्पना के प्रतिबिंब नहीं। इस 'कल्पनावाद' का कोई आभास न तो वेदांत के प्रतिबिंबवाद में है; न कांट से लेकर हेगल तक जर्मन दार्शनिकों के 'प्रत्ययवाद' (आइडियालिज्म) में। 'प्रत्ययवाद' इस दृश्यगोचर जगत् को ही प्रत्यय या भावना (आइडिया) कहता है। यह 'कल्पनावाद' वास्तव में सूफियों के यहाँ से गया है, यह हम आगे चलकर दिखाएँगे।

सूफियों के कल्पनावाद की गंध पाकर ब्लेक ने, कुछ बर्कले के इशारे पर 'परम आत्मा' के समान दृश्य जगत् से परे 'परम कल्पना' का प्रतिपादन किया और मनुष्य कल्पना को उस 'परम कल्पना' का अंग या अंशलब्धि माना, प्रकृति के नाना रूप जिसकी छाया हैं। कल्पना को उसने इलहाम बनाया और कवियों को खासे पैगंबर। इस प्रकार उसने काव्य के परम पुनीत क्षेत्र में पाखंड का रास्ता सा खोल दिया।

साहित्यपक्ष भी कुछ देखना चाहिए। रचना के समय कवि के हृदय में कल्पना के रूप में आलंबन आदि रहते या आते ही हैं। जबकि यही काल्पनिक रूप ही वस्तुओं की सारसत्ता है, ब्रह्म का रूप है, तब अभिलाष की जगह कहाँ रही? अभिलाष को साक्षात्कार की इच्छा है। वह साक्षात्कार हो ही जाता है। प्रकृति के क्षेत्र में जिसकी हम छाया मात्र देखते हैं, उसे हम कल्पना में मूल रूप में देख ही लेते हैं। भली बुरी किसी प्रकार की कल्पना मन में आई कि ईश्वर का दर्शन हुआ। इस प्रकार रहस्यवादी कवि के लिए वियोगपक्ष—जिसकी इतनी दूरारूढ़ व्यंजना हुआ करती है—रह ही न गया।

अब संयोग पक्ष में व्यंजित भावों की सच्चाई की परीक्षा कीजिए। यह हम बार बार कह चुके हैं कि कल्पना में आए हुए रूप प्रकृति ही के हैं, बाहर ही के

हैं और गोचर हैं। कल्पना की सारी रूपसामग्री वाह्य जगत् की होती है। कल्पना उसकी केवल तरह तरह की योजना किया करती है। प्रकृति के बाहरी रूप, रंग आदि हमें मुग्ध कर चुके रहते हैं तभी उनकी काल्पनिक योजना में हमारी वृत्ति रमती है। यदि कोई मनुष्य जन्म से ही एक घर में बंद रखा जाय, तो उसकी कल्पना में दीवारों और खंभों के 'सिवा' और कुछ नहीं आ सकता। इससे सिद्ध है कि हमारे भाव वास्तव में वाह्य प्रकृति के गोचर रूपों ही के प्रति होते हैं, इसलिए कल्पना में उनकी छाया भी हमें भावमग्न करती है। हमारे हृदय का सीधा लगाव वाह्य प्रकृति के गोचर रूपों से ही होता है।

इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो रहस्यवादी जो कुछ सुंदर, रमणीय और भव्य रूपयोजना करेगा वह वास्तव में या तो वाह्य प्रकृति के प्रेम द्वारा प्रेरित होगी अथवा प्रेम द्वारा प्रेरित ही न होगी। पर उसमें इस बात को स्वीकार करने का साहस ही नहीं होता। इससे पाठक के मन में वह यह झूठी प्रतीति उत्पन्न करना चाहेगा कि उसके भाव इन छायात्मक रूपों के प्रति बिलकुल नहीं हैं; इनके परे जो अगोचर और अव्यक्त पारमार्थिक सत्ता है उसके प्रति है। वह यह कहकर ही रह जाता तब तो कला के क्षेत्र में वैसी गड़बड़ी न होती पर यह प्रतीति उत्पन्न करने के लिए वह अपनी रचना का स्वरूप भी कुछ विशेष प्रकार का रखेगा, उसमें कुछ अलौकिकता, अस्वाभाविकता, देश काल का अतिक्रम, अनुभूति की विचित्रता—जो बिलकुल झूठी होगी—लाने का भरपूर प्रयत्न करेगा। बातचीत में वह इस प्रयत्न तक को अस्वीकार करेगा; कहेगा कि सब भावना इसी रूप में परोक्ष जगत् से आकर मेरे हृदय में जबरदस्ती घुस गई है। पर वह वास्तव में इसकी प्रतीति उत्पन्न करने के लिए भी कि भावना इसी रूप में एकबारगी आई है, उसे पूरा श्रम करना पड़ता है, जैसे कि घोर रहस्यवादी कवि ईट्स तक ने कहा है।[1]

हमारे हृदय का सीधा लगाव गोचर जगत् से है, इसी बात के आधार पर सारे संसार में रसपद्धति चली है और सच्चे स्वाभाविक रूप में चल सकती है। मजहबी सुबीते के लिए अनुभूति के स्वाभाविक क्रम का विपर्यय करने से—मूल आलंबनों को छाया और छाया को मूल आलंबन बनाने से—कला के क्षेत्र में कितना आडंबर खड़ा हुआ है, इसका अंदाजा ऊपर के ब्योरे से लग सकता है।

---

1. आइ सेड 'ए लाइन विल टेक अस आवर्स मे बी;
येट्‌ इफ इट डज नाट सीम ए मोमेंट्स थाट,
अवर स्टिचिंग ऐंड अनस्टिचिंग हैज बीन नाट।'
ईट्स ने इस बात का खंडन जोर के साथ किया है कि कवियों में भावना एकबारगी आती जाती है और वे लिखते जाते हैं। स्वयं ईट्स अपनी कविताओं की बहुत काट छाँट किया करते हैं; यहाँ तक कि दूसरे संस्करण में बहुत सी कविताएँ बदली हुई मिलती हैं।

कल्पना की यह लोकोत्तर व्याख्या ब्लेक की अपनी उपज नहीं है, यह हम पहले कह आए हैं। यह उसने सूफियों से ज्यों की त्यों ली थी। शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह ने सूफियों के सिद्धांत पर जो एक छोटी सी पुस्तक (रिसालए हकनुमा) संकलित की थी उसमें साफ यही बात लिखी है; देखिए—

'दृश्य जगत् में जो नाना रूप दिखाई पड़ते हैं वे तो अनित्य हैं, पर उन रूपों की जो भावनाएँ या कल्पनाएँ होती हैं वे अनित्य नहीं हैं। वे कल्पनाचित्र नित्य हैं। इसी कल्पनारूपी चित्र जगत् (आलमे मिसाल) से इस आत्मजगत् को जान सकते हैं जिसे 'आलमेगैब' और 'आलमेख्वाब' भी कहते हैं। आँख मूँदने पर किसी वस्तु का जो रूप दिखाई पड़ता है वही उस वस्तु की आत्मा या सारसत्ता है। अतः यह स्पष्ट है कि मनुष्य की आत्मा उन्हीं रूपों की है जो रूप बाहर दिखाई पड़ते हैं। भेद इतना ही है कि अपनी सारसत्ता में स्थित रूप पिंड या शरीर से मुक्त होते हैं। सारांश यह कि आत्मा और वाह्य रूपों का विंबप्रतिबिंब संबंध है। स्वप्न की अवस्था में आत्मा का यही सूक्ष्म रूप दिखाई पड़ता है उस अवस्था में आँख, कान, नाक सबकी वृत्तियाँ रहती हैं, पर स्थल रूप नहीं रहते। 'ब्लेक ने पैगंबरी झोंक में रहस्यवाद की बहुत सी कविताएँ लिखी जिनमें 'येरूशलम' मुख्य है इसके संबंध में उसने लिखा—'इसके रचयिता तो नित्यलोक में हैं, मैं तो केवल सेक्रेटरी या खासकलम हूँ। मैं इसे संसार का सबसे भव्य काव्य समझता हूँ।' पर दुनिया की राय इससे उलटी हुई और वही राय ठीक ठहरी। ब्लेक की और कविताएँ अच्छी हुईं; पर रहस्यवाद की रचनाएँ निकम्मी ठहराई गईं।[1]

ब्लेक के 58 वर्ष पीछे सन् 1885 में जो नया 'प्रतीकरहस्यवाद' उठा उसकी प्रवृत्ति भी प्रायः यही चली आती है। कल्पना को एक प्रकार का इलहाम कहना, एक की कल्पना का दूसरे के अंतःकरण में अज्ञात रूप में प्रवेश बताना, बैठे बैठे अन्य देश और अन्य काल की घटनाएँ देखना, असीम ससीम का राग अलापना, ये सब बातें आजकल के रहस्यवादी कवि ईट्स की पुस्तक (आइडियाज आव गुड ऐंड ईविल) में मौजूद हैं। यह सांप्रदायिक प्रवृत्ति कहाँ तक शुद्ध काव्यदृष्टि प्रदान करने में सहायक हो सकती है, विचारने की बात है।

यह ठीक है कि भिन्न भिन्न रहस्यवादी कवियों की दृष्टि में थोड़ा बहुत भेद रहता है, कुछ कवि 'लोकवाद' भी लिए रहते हैं पर यह भी उतना ही ठीक है कि सब इस

---

1. आव दिस, ही सेड, ही वाज मियर्ली दि सेक्रेटरी; 'दि आथर्स आर इन एटर्निटी। आइ कंसिडर इट दि ग्रैंडेस्ट पोएम दिस वर्ल्ड कंटेन्स'।
अनफार्चुनेट्ली दि वर्ल्ड्स ओपीनियन वाज रैडिकली डिफरेंट, ऐंड इट्स ओपीनियन वाज एंटायर्ली करेक्ट। दि मिस्टिक राइटिंग्ज ह्विच फार्म सो लार्ज ए पार्ट आव ब्लेक्स आउटपुट वेयर वैल्यूलेस।
—ए. बी. डी.—मिल : लिटरेचर इन दि सेंचुरी।
(दि नाइनटींथ सेंचुरी सीरीज)

दृश्य और गोचर जगत् से परे एक अभौतिक जगत् की ओर झाँकने का दावा करते हैं। इस संप्रदाय के वर्तमान कवियों में एक मिस मकाले (रोज मकाले) हैं जिन्होंने सन् 1913 ई. में 'दो अंध देश' (दि टू ब्लाइंड कंट्रीज) नाम की एक छोटी सी पुस्तक में अपनी कविताओं का संग्रह निकाला है। इसमें उन्होंने नाना सुंदर रूपों और व्यापारों से जगमगाते हुए इस भौतिक जगत् का बड़ी सहृदयता से निरीक्षण किया है, पर इसे चारों ओर वेष्ठित किए हुए एक दूसरा मंडल या जगत् भी उन्हें दिखाई पड़ा है, जो भौतिक न होने पर भी सत्य है। इस अभौतिक जगत् का उन्हें इतना प्रत्यक्ष आभास मिलता है कि कभी कभी वे संदेह में पड़ जाती हैं कि वे दोनों में से किस जगत् की हैं। उनके देखने में नाना कौतुकपूर्ण रूपों से युक्त इस छायामय जगत् में आत्मा एक परदेसी की तरह घूमती फिरती आ जाती है। यहाँ वह ज्ञानद्वार की दूसरी ओर से (अर्थात् अगोचर जगत् से) किसी और ही जगत् के लोगों की परदे में दबी हुई सी वाणी आती हुई सुना करती है।[1]

हम समझते हैं कि इतने से इस प्रकार की कविता का सांप्रदायिक रूप स्पष्ट हो गया होगा। अतः रहस्यवाद की कविता के संबंध में हिन्दीवालों के बीच यह भ्रांति फैलाना कि सारे योरप में इसी प्रकार की कविता हो रही है, यही वर्तमान युग की कविता का स्वरूप है, घोर साहित्यिक अपराध है। रहस्यवाद की कविता एक छोटे से संप्रदाय के भीतर की वस्तु है। इंगलैंड आयरलैंड को ही लीजिए। मेरी स्टर्जन ने अभी वर्तमान अँगरेजी कवियों का जो परिचय (स्टडीज आव कंटेंपरेरी पोएट्स) प्रकाशित किया है, उसमें बीस बाईस कवि–जिसमें सरोजनी नायडू भी हैं–विशेष विवरण के साथ लिए गए हैं। इनमें रहस्यवादी केवल दो या तीन हैं।

पाश्चात्य साहित्यक्षेत्र में रहस्यवाद किस प्रकार एक सांप्रदायिक वस्तु समझा जाता है और उसके प्रति अधिकांश साहित्यिकों और शिक्षित पाठकों की कैसी धारणा

---

1. ओन्ली थ्रू ऐ क्रीक इन दि डोर्स ब्लाइंड फेस
ही वुड रीच ए थीविंग हैंड,
टु ड्रा सम क्ल्यू टु हिज ओन स्ट्रेंज प्लेस
फ्राम दि अदर लैंड।
बट हिज क्लोज्ड हैंड केम बैक एंप्टिली,
ऐज ए ड्रीम ड्राप्स फ्राम हिम हू वेक्स;
एंड नाट माइट ही नो बट हाउ ए मफल्ड सी
इन ह्विस्पर्स ब्रेक्स।
आन आइदर साइड आव ए ग्रे बैरिअर,
दि टू ब्लाइंड कंट्रीज लाइ;
बट ही न्यू नाट ह्विच हेल्ड हिम प्रिजनर,
नार येट नो आई।

रहती है, इसका पता एक इसी बात से लग सकता है कि मेरी स्टर्जन की उपर्युक्त पुस्तक (स्टडीज आव कंटेंपरेरी पोएट्स) में मिस मकाले की कविता के परिचय के आरंभ में उसे 'रहस्यवाद' की बताकर यह भी कहना पड़ा है कि–

'पर इससे (रहस्यवाद की कविता होने से) किसी को यह आशंका न होनी चाहिए कि अब निम्न कोटि की कविता का पाखंड सामने रखा जायगा।[1]

रहस्यवाद की कविताओं में सबसे अधिक विरक्तिजनक दो बातें होती हैं–भावों में सच्चाई का अभाव (इनसिनसिऐरिटी) और व्यंजना की कृत्रिमता (आर्टिफिशैलिटी)। उनमें व्यंजित अधिकांश भावों को कोई हृदय के सच्चे भाव नहीं कह सकता। अतः उनकी व्यंजना की उछलकूद भी एक भद्दी नकल सी जान पड़ती है। भावों की झूठी नकल का पता जल्दी लग जाता है। प्रत्येक सहृदय सच्ची कविता पढ़ते समय कवि या आश्रय के साथ तादात्म्य का अनुभव करता है। जहाँ अधिकांश पाठकों में इस प्रकर तादात्म्य का अभाव देखा गया कि बनावट का निश्चय स्वभावतः हो जाता है। पर साथ ही यह बात भी है कि चाहे किसी प्रकार की रचना हो, वह एक फैशन के रूप में चला दी जाती है तब कुछ लोग बिना किसी प्रकार की अनुभूति के यों ही रसज्ञ समझे जाने के लिए ही, वाह वाह कर दिया करते हैं। इस प्रकार के लोग सब दिन रहे और रहेंगे। ऐसे ही लोगों के लिए उर्दू के एक पुराने शायर–शायद नासिख–ने कुछ ऊटपटाँग शेर बना रखे थे। जो उनके पास शेर सुनने की इच्छा से जाता था, उसे पहले वे ही शेर सुनाते थे। यदि सुननेवाला 'वाह वाह' कहने लगता तो वे जान लेते थे कि वह मूर्ख है और उठकर चले जाते थे।

मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है। उसका अपनी सत्ता का ज्ञान तक लोकबद्ध है। लोक के भीतर ही कविता क्या किसी कला का प्रयोजन और विकास होता है। एक की अनुभूति को दूसरे के हृदय तक पहुँचाना, यही कला का लक्ष्य होता है। इसके लिए दो बातें अपेक्षित होती हैं। भावपक्ष में तो अनुभूति का कवि के अपने व्यक्तिगत संबंधों या योगक्षेम की वासनाओं से मुक्त या अलग होकर लोक सामान्य भावभूमि पर प्राप्त होना (इंपर्सनैलिटी एंड डीटैचमेंट); कला या विधानपक्ष में उस अनुभूति के प्रेषण के लिए उपयुक्त भाषाकौशल। प्रेरणा के लिए कवि में अनुभूति का होना पहली बात है, इसमें संदेह नहीं; पर उस अनुभूति को जिस रूप में कवि प्रेषित करता है वह रूप उसे बहुत कुछ इस कारण दिया जाता है कि उसे प्रेषित

1. इट (दि बुक) इज क्यूरिअस्ली इंटरेस्टिंग; सिंस इट मे बी रिगार्डेड ऐज दि टेस्टामेंट आव मिस्टिसिज्म फार दि इयर आव इट्स ऐपिअरेंस, नाइनटीन हंड्रेड फोर्टीन। दैट इज इनडीड दि मोस्ट इंपार्टेंट फैक्ट एबाउट इट; नो वन नीड बिगिन टु फिअर दैट ही इज टू बी फाब्ड आव विद इनफीरिअर पोएट्री आन दैट एकाउंट।

करना रहता है।[1] यह हम पहले कह चुके हैं कि जिस रूप में कवि के हृदय में अनुभूति होती है, ठीक उसी रूप में शब्दों द्वारा प्रेषित नहीं की जा सकती।

इस विलायती 'प्रतीकरहस्यवाद' के क्षेत्र में प्रकृति का क्या स्थान है, यह स्पष्ट है। जबकि प्रकृति के नाना रूपों और व्यापारों को हम उसकी छाया मानकर चलेंगे, जिसके प्रति हमारा प्रेम उमड़ रहा है, तब वे रूप और व्यापार उद्दीपन मात्र होंगे। काव्य में उद्दीपन दो प्रकार के होते हैं—वाह्य और आलंबनगत। यदि हम छाया को वस्तु के बाहर न मानकर, उसी का कुछ मानें, तो भी वह आलंबनगत उद्दीपन मात्र होगी। इस प्रकार प्रकृति के साथ हमारा सीधा प्रेमसंबंध योरप के इस रहस्यवाद के काव्य में न माना जायगा।

यह समझ रखना चाहिए कि काव्यगत रहस्यवाद की उत्पत्ति भक्ति की व्यापक व्यंजना के लिए ही फारस, अरब तथा योरप में हुई जहाँ पैगंबरी मतों के कारण मनुष्य का हृदय बँधा बँधा ऊब रहा था। जिस प्रकार मनुष्य की बुद्धि का रास्ता रुका हुआ था, उसी प्रकार हृदय का भी। प्रकृति के प्रति भक्तों के भाव जिस हद तक और जिस गहराई तक जाना चाहते थे, नहीं जाने पाते थे। प्रकृति के मूर्त पदार्थों के प्रति अपने गहरे से गहरे भाव की व्यंजना पूरे धार्मिक या भक्त ऐसे ही शब्दों में कर सकते थे—'उस परमात्मा की कारीगरी भी क्या ही अद्भुत है कि कैसे कैसे रूप, कैसे कैसे रंग उसने सजाए हैं।' अपने भावों को सीधे अर्पित करते हुए उन्हें नरपूजा, वस्तुपूजा या मूर्तिपूजा के पाप का ध्यान होता था। पर उक्त प्रकार की व्यंजना से ही मनुष्य की भावतुष्टि कहाँ तक हो सकती थी? यहूदियों और पुराने ईसाइयों में धर्मसंबंधी बातों को मूर्त रूप में प्रकट करने के लिए साध्यवसान रूपकों (एलिगरीज) का प्रचार था। पर साध्यवसान रूपक एक भद्दा विधान है। इसी से अद्वैतवाद, सर्ववाद (पैनथेइज्म), प्रतिबिंबवाद आदि कई वादों का मिलाजुला सहारा लेकर उन्होंने अपने हृदय की स्वाभाविक वृत्तियों के लिए गोचर भूमि तैयार की। उन्होंने प्रकृति के नाना रूपों के साथ परमात्मा के कर्तृत्वसंबंध के स्थान पर थोड़े बहुत स्वरूपसंबंध की स्थापना की—पर किस प्रकार डरते डरते, यह पूर्व विवरण से स्पष्ट है।

फारस की सूफी शायरी में वाह्य जगत् की सुंदर वस्तुओं का प्रतीक 'बुत' (देवमूर्ति) रहा। बुतपरस्ती के इल्जाम के डर से भक्त कवि लोग अपने प्रेम को सीधे बुतों (प्रकृति की सुंदर वस्तुओं) के प्रति न बताकर 'बुतों के परदे में छिपे हुए खुदा' के प्रति बताया करते थे। फारस में वाह्य प्रकृति के सौंदर्यप्रसार की

---

1. ऐन एक्स्पीरिऐंस हैज टु बी फार्म्ड, नो डाउट बिफोर इट इज कम्युनिकेटेड; बट इट टेक्स दि फार्म इट इज, बिकाज इट मे हैव टु बी कम्युनिकेटेड।

—आई. ए. रिचर्ड्स : प्रिंसिपुल्स आव लिटरेरी क्रिटिसिज्म

ओर दृष्टि बहुत परिमित रही। इससे वहाँ प्रतीक इने गिने रहे। सुंदर मनुष्य का ही प्रतीक लेकर वे अधिकतर चले। पर योरपवालों के प्रकृतिनिरीक्षण का विस्तार बहुत बड़ा था। इससे वहाँ जब रहस्यवाद गया तब वहाँ की विस्तृत काव्यदृष्टि के अनुसार उसमें मूर्त विधान अधिक वैचित्र्यपूर्ण हुआ। ब्लेक को रूपात्मक वाह्य जगत् और मनुष्य की कल्पना के प्रत्यक्ष संबंध के विपर्यय का सिद्धांत रूप में, जोर शोर से प्रतिपादन करना पड़ा। भक्तिकाव्य में रहस्यवाद की उत्पत्ति के धार्मिक और सामाजिक कारण पर जो विचार करेगा उसे यह लक्षित हो जायगा कि यह सब द्राविड़ी प्राणायाम मजहवी तहजीब, धार्मिक शिष्टता (रेलिजस कर्टसी) के अनुरोध से करना पड़ा।

भारतीय भक्तिकाव्य को 'रहस्यवाद' का आधार लेकर नहीं चलना पड़ा। यहाँ भक्त अपने हृदय से उठे सच्चे भाव भगवान् की प्रत्यक्ष विभूति को बिना किसी संकोच और भय के—बिना प्रतिबिंबवाद आदि वेदांती वादों का सहारा लिए—सीधे—अर्पित करते रहे। मुसलमानी अमलदारी में रहस्यवाद को लेकर जो 'निर्गुण भक्ति' की बानी चली वह बाहर से—अरब और फारस की ओर से—आई थी। वह देशी वेश में एक विदेशी वस्तु थी। इधर अँगरेजों के आने पर ईसाइयों के आंदोलन के बीच जो ब्रह्मसमाज बंगाल में स्थापित हुआ उसमें भी 'पौत्तलिकता'[1] का भय कुछ कम न रहा। अतः उसकी विनय और प्रार्थना जब काव्योन्मुख हुई तब उसमें भी 'रहस्यवाद' का सहारा लिया गया। सारांश यह है कि रहस्यवाद एक सांप्रदायिक वस्तु है; काव्य का कोई सामान्य सिद्धांत नहीं।

भारत में काव्यक्षेत्र इस प्रकार के वादों से बिलकुल अलग रखा गया। यहाँ 'रहस्य' और 'गुह्य' योग, तंत्र आदि के भीतर ही रहे। भक्तिमार्ग के सिद्धांत प्रतिपादन में भी इधर उधर इनकी झलक रही। पर कविता में भक्तों की वाग्धारा ने स्वाभाविक भावपद्धति का ही अनुसरण किया। उसके भीतर न तो उन्होंने रहस्यवाद का सहारा लिया, न प्रतिबिंबवाद का—यद्यपि वेदांत के और वादों के साथ प्रतिबिंबवाद का निरूपण पहले भारतीय दर्शन में ही हुआ। महाभारत के समय में ही यहाँ भक्ति की प्रतिष्ठा हुई। वासुदेव या भागवत संप्रदाय के भीतर नरनारायण या भगवान् के

1. इस शब्द का प्रचार ब्रह्मसमाज में खूब था। यह अँगरेजी के 'आइडोलेट्री' शब्द का अनुवाद है। इसी प्रकार महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर द्वारा प्रवर्तित 'सत्यं, शिवं, सुंदरम्' भी—जिसे आजकल कुछ लोग उपनिषद्वाक्य समझकर 'हमारे यहाँ भी कहा है' कहकर उद्धृत किया करते हैं—अँगरेजी के 'दि ट्रुथ, दि गुड ऐंड दि ब्यूटिफुल' का अनुवाद है। इस पदावली का प्रचार योरप के काव्य समीक्षा क्षेत्र में पहले बहुत रहा है, जैसा कि रिचर्ड्स ने कहा है—
'दस ऐराइजेज दि फैंटम प्राब्लेम आव दि ए इस्थेटिक मोड आर ए इस्थेटिक स्टेट—ए लिगैंसी फ्राम दि डेज आव ऐब्स्ट्रेक्ट इनवेस्टिगेशन इंटू दि गुड, दि ब्यूटिफुल ऐंड दि ट्रयू।'
हमें तो सब प्रकार की गुलामी से 'साहित्यिक गुलामी' का दृश्य सबसे खेदजनक प्रतीत होता है।

अवतार श्रीकृष्ण की उपासना चली। नर में नारायण की पूर्ण कला का दर्शन आरंभ में 'गुह्य' या रहस्य के रूप में ही कुछ लोगों ने किया, यह ठीक है। पर 'रहस्य' की समाप्ति वहीं पर हो गई। अवतारवाद मूल में तो रहस्यवाद के रूप में रहा, पर आगे चलकर वह पूर्ण प्रकाशवाद के रूप में पल्लवित हुआ। रहस्य का उद्घाटन हुआ, राम और कृष्ण के निर्दिष्ट रूप और लोकविभूति का विकास हुआ। उसी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति या कला को लेकर हमारा भक्तिकाव्य अग्रसर हुआ; छिपे रहस्य को लेकर नहीं।

श्रीकृष्ण ने नर या नरोत्तम के रूप में आकर कहा कि सब भूतों के भीतर रहनेवाली आत्मा मैं हूँ।[1] अर्जुन को इस रहस्य पर विस्मय हुआ। पर एक ओर का वह रहस्य और दूसरी ओर का वह विस्मय, भक्ति या काव्यमयी उपासना के आधार नहीं हुए। उसके लिए भगवान् को फिर कहना पड़ा कि 'मैं पर्वतों में मेरु हूँ, ऋतुओं में वसंत हूँ और यादवों में वासुदेव हूँ'[2] इस प्रकार जब प्रकृति की विशाल वेदी पर—अव्यक्त रूप में उसके भीतर (इंमैनेंट) या बाहर (ट्रेंसेंडेंट) नहीं—भगवान् के व्यक्त और गोचर रूप की प्रतिष्ठा हो गई तब काव्यमयी उपासना या भक्ति की धारा फूटी जिसने मनुष्यों के संपूर्ण जीवन को—उसके किसी एक खंड या कोने को ही नहीं—रसमय कर दिया।

श्रीकृष्ण के पूर्वोक्त दोनों कथनों के भेद पर सूक्ष्म विचार करने पर भारतीय भक्तिकाव्य का स्वरूप खुल जायगा। पहले कथन में दो बातें हैं—'सब भूतों के भीतर मैं हूँ' और 'अव्यक्त रूप में हूँ। ये दोनों बातें मनुष्यहृदय के संचरणक्षेत्र से दूर की थीं। जिज्ञासापूर्ण नर ने पूछा, 'जिसके भीतर आप हैं, जो नाना रूपों में हमें आकर्षित किया करता है, वह क्या है?' उत्तर मिला 'वह मैं ही हूँ—मैं छिपा हुआ भी हूँ और तुम्हारे सामने भी हूँ। मेरे दोनों रूप शाश्वत और अनंत हैं!' नर ने कहा 'बस इसी सामनेवाले रूप की नित्यता और अनंतता जरा मुझे दिखा दीजिए'। नारायण ने दिक्काल का परदा हटाकर अपना व्यक्त, गोचर और अव्यक्त विश्वरूप सामने कर दिया।[3]

सारा वाह्य जगत् भगवान् का व्यक्त स्वरूप है। समष्टि रूप में वह नित्य है, अतः 'सत्' है; अत्यंत रंजनकारी है, अतः आनंद है। अतः इस 'सदानंद' स्वरूप का वह प्रत्यक्ष अंश जो मनुष्य की रक्षा में (बना रहने देने अर्थात् सत् को चरितार्थ करने में) और रंजन में (सुख और रंजन का विधान करने में) अपार शक्ति के साथ प्रवृत्त दिखाई पड़ा, वही उपासना के लिए, हृदय लगाने के लिए, लिया गया।

---

1. अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।—गीता, 10। 20।
2. मेरुः शिखरिणामहम् ऋतूनां कुसुमाकरः। वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि। —गीता, 10।
3. देखिए, गीता, अध्याय 11, विश्वदर्शनयोग।

जिसमें शक्ति, शील और सौंदर्य तीनों का योग चरमावस्था में दिखलाई पड़ा वही प्राचीन भारतीय भक्तिरस का आलंबन हुआ। कर्मक्षेत्र में प्रतिष्ठित यह आलंबन मनुष्य के अनेक भावात्मक हृदय के साथ पूरा पूरा बैठ गया, कोई कोना छूटने न पाया। 'मैं ऋतुओं में वसंत हूँ, शास्त्रधारियों में राम हूँ,[1] यादवों में कृष्ण हूँ' का संकेत यही है। राम और कृष्ण की व्यक्त और प्रत्यक्ष कला को लेकर ही भारतीय भक्तिकाव्य अब तक चला आ रहा है, ब्रह्म की अव्यक्त या परोक्ष सत्ता को लेकर नहीं।

इस संबंध में यह भी ध्यान देने की बात है कि भक्तिक्षेत्र में राम या कृष्ण की प्रतिष्ठा का रहस्य बतानेवाले 'सद्गुरु' या स्वर्ग का संदेशा लानेवाले पैगंबर के रूप में नहीं है, लोक के भीतर अपनी शक्तिमयी, शीलमयी और सौंदर्यमयी कला का प्रकाश करनेवाले के रूप में है। इसी लोकरक्षक और लोकरंजक रूप पर भारतीय भक्त मुग्ध होते आए हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी से जब किसी ने पूछा कि 'आप कृष्ण की उपासना क्यों नहीं करते जो सोलह कला के अवतार हैं?—राम की उपासना क्यों करते हैं जो बारह ही कला के अवतार हैं?' तब उन्होंने बड़े भोलेपन के साथ कहा कि 'हमारे राम अवतार भी हैं, यह हमें आज मालूम हुआ?' इस प्रकार (अपने) उत्तर द्वारा गोस्वामीजी ने भारतीय भक्ति का स्वरूप अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि यहाँ भक्तिकाव्य के क्षेत्र में भी अभिव्यक्तिवाद ही रहा, रहस्यवाद, प्रतिबिंबवाद आदि नहीं। जो तुलसी, सूर आदि भारतीय पद्धति के भक्तों में भी रहस्यवाद सूँघा करते हैं उन्हें रहस्यवाद के स्वरूप का अध्ययन करना चाहिए, उसके इतिहास को देखना चाहिए। व्यक्ताव्यक्त, मूर्तामूर्त—ब्रह्म के इन दो रूपों या पक्षों—में से भारतीय भक्तिरस के भीतर व्यक्त और मूर्तपक्ष ही, जिसका हृदय के साथ सीधा लगाव है, लिया गया। इस रसविधान में जगत् या प्रकृति ब्रह्म का रूप ही रही है, छाया, प्रतिबिंब, आवरण आदि नहीं। जो मनोहर रूपयोजना सामने लाई जाती है, हृदय के भाव ठीक उसी के प्रति होते हैं, उसके भीतर (इंमैनेंट) या उसके बाहर (ट्रैंसेंडेंट) रहनेवाले किसी हाव के प्रति नहीं।

यह दिखाया जा चुका है कि यह योजना प्रकृति के रूपों को लेकर ही होती है। कल्पना भी वाह्य जगत् के रूपों या उनके संवेदनों की छाया है। सीधे उन रूपों से या रूपात्मक संवेदनों से हम प्रेम कर चुके रहते हैं तभी उनकी छाया अर्थात् कल्पना में हमारा हृदय रमता है। जगत् का यह व्यक्त प्रसार ही भाव के संचरण का वास्तविक क्षेत्र है। इससे अलग मनुष्यकल्पना की कोई वास्तव सत्ता नहीं, वह असत् है। क्षणिक विज्ञानवादी ह्यूम का यह सिद्धांत बहुत पक्का है कि इंद्रियज ज्ञान (इंप्रेशंस) ही सब प्रकार के ज्ञान के मूल हैं, वे ही विचार होते हैं जो उनके आधार पर संघटित होते हैं। भाव के क्षेत्र में भी व्यक्त प्रसार की अनुभूति ही मूल है।

---

1. रामोशस्त्रभृतामहम्—गीता 10।31।

यदि 'कल्पना' शब्द बहुत प्रिय हो तो यों कह सकते हैं कि यह नित्य और अनंत गत्यात्मक दृश्य जगत् ही ब्रह्म की कल्पना है। मनुष्य की कल्पना तो इसी की एक विकृत और परिमित छाया है। अनंत का जितना अंश पृथ्वी से लेकर आकाश तक बिना दूरबीन के दृष्टि दौड़ाने में ही हमारे सामने आ जाता है, उसका शतांश भी एक बार में कल्पना के भीतर नहीं आ सकता। केवल 'असीम' और 'अनंत' शब्द रखने या रटने से यह कभी नहीं कहा जा सकता कि असीम या अनंत कल्पना के भीतर आया हुआ है, उसकी सचमुच अनुभूति हो रही है।

यह ठीक है कि किसी के सामने न रहने पर उसके प्रति जो प्रेमानुभूति है उसमें आलंबन के स्थान पर उसकी कल्पनात्मक मूर्ति ही रहती है; पर उस मूर्ति या रूप का ग्रहण चित्रवत् होता है। उसके प्रत्यक्ष अर्थात् अधिक गोचर रूप में दर्शन, स्पर्श आदि की वासना बनी रहती है जिसकी अभिव्यक्ति कभी कभी अभिलाष के रूप में होती है। राम या कृष्ण का ध्यान करनेवाले भक्त को भी ध्यान में आई हुई काल्पनिक मूर्ति का आना ही साक्षात्कार नहीं समझ पड़ता। यदि ऐसा होता तो ध्यानपूर्वक अभिलाष का कुछ अर्थ ही नहीं होता। सारांश यह कि भारतीय भक्तिकाव्य अनुभूति की स्वाभाविक और वास्तविक पद्धति को लेकर ही चला है, उसमें किसी 'वाद' के द्वारा विपर्यय करके नहीं : वह अभिव्यक्त या प्रकाश की ओर उन्मुख है, रहस्य या छिपाव की ओर नहीं।

अच्छी तरह विचार करने पर यह प्रकट होगा कि 'अज्ञान का राग' ही अंतःवृत्ति को रहस्योन्मुख करता है। मनुष्य की रागात्मिका प्रकृति में इस अज्ञान के राग का भी ठीक उसी प्रकार एक विशेष स्थान है जिस प्रकार ज्ञान के राग का। ज्ञान का राग बुद्धि को नाना तत्त्वों के अनुसंधान की ओर प्रवृत्त करता और उनकी सफलता पर तुष्ट होता है। अज्ञान का राग मनुष्य के ज्ञान प्रसार के बीच बीच में छँटे हुए अंधकार या धुँधलेपन की ओर आकर्षित करता है तथा बुद्धि की असफलता और शांति पर तुष्ट होता है। अज्ञान के राग की इस तुष्टि की दशा में मानसिक श्रम से कुछ विराग सा मिलता जान पड़ता है और उस अंधकार या धुँधलेपन के भीतर मन के भीतर चिरपोषित रूपों की अवस्थिति के लिए दृश्य सागर के बीच अवकाश मिल जाता है। शिशिर के अंत में उठी हुई धूल छाई रहने के कारण किसी भारी मैदान में क्षितिज से मिले हुए छोर पर वृक्षावली की जो धुँधली श्यामल रेखा दिखाई पड़ती है उसके उस पार किसी अज्ञात दूर देश का बहुत सुंदर और मधुर आरोप स्वभावतः आपसे आप होता है। मनुष्य की सुंदर आशा के गर्भ में भरी हुई रमणीयता की वैसी मनोहर और गोचर व्यंजना उसके द्वारा होती है—

धुँधले दिगंत में विलीन हरिदाभ रेखा,
किसी दूर देश की सी झलक दिखाती है।
जहाँ स्वर्ग भूतल का अंतर मिटा है चिर,
पथिक के पथ की अवधि मिल जाती है।

भूत और भविष्यत् की भव्यता भी सारी छिपी,
दिव्य भावना सी वही भासती भुलाती है।
दूरता के गर्भ में जो रूपता भरी है वही,
माधुरी ही जीवन की कटुता मिटाती है॥

इसी प्रकार दूर से दिखाई पड़ती हुई पर्वतों की धुँधली नीली चोटियाँ भी मनोवृत्ति को रहस्योन्मुख करती हैं और अपने भीतर कल्पना को रूपविन्यास करने का अवसर देती हैं। पश्चिम दिगंचल की सांध्य स्वर्णधारा के बीच धूम्र, कपिश घनद्वीपों से होकर आता हुआ स्वर्ग का मार्ग सा खुला दिखाई पड़ता है। विश्व की विशाल विभूति के भीतर न जाने कितने ऐसे दृश्य हमारी अंतःवृत्ति को रहस्योन्मुख करते हैं।

स्वाभाविक रहस्यभावना बड़ी रमणीय और मधुर भावना है, इसमें संदेह नहीं। रसभूमि में इसका एक विशेष स्थान हम स्वीकार करते हैं। उसे हम अनेक मधुर और रमणीय मनोवृत्तियों में से एक मनोवृत्ति या अंतर्दशा (मूड) मानते हैं। जिसका अनुभव ऊँचे कवि और अनुभूतियों के बीच कभी कभी प्रकरण प्राप्त होने पर, किया करते हैं। पर किसी 'वाद' के साथ संबद्ध करके उसे हम काव्य का एक सिद्धांतमार्ग (क्रीड) स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं।

योरप के जिस 'रहस्यवाद' का संक्षिप्त परिचय हमने दिया है वह सिद्धांती या सांप्रदायिक रहस्यवाद है : स्वाभाविक रहस्यभावना उक्त वाद से सर्वथा भिन्न है। किसी 'वाद' के ध्यान से, सांप्रदायिक सिद्धांत के ध्यान से, जो कविता रची जायगी उसमें बहुत कुछ अस्वाभाविकता और कृत्रिमता होगी। 'वाद' की रक्षा या प्रदर्शन के ध्यान में कभी कभी क्या, प्रायः रससंचार का प्रकृत मार्ग किनारे छूट जायगा।

सिद्धांती या सांप्रदायिक रहस्यवादियों के अतिरिक्त योरप के प्रसिद्ध कवियों में भी बहुत से ऐसे कवि हुए हैं जिनकी कुछ रचनाओं के बीच बीच में बड़ी सुंदर स्वाभाविक रहस्यभावना पाई जाती है। वर्ड्सवर्थ और शेली इसी प्रकार के कवि थे। इनकी रहस्यभावना स्वाभाविक पद्धति पर होने के कारण हृदय में सच्ची अनुभूति उत्पन्न करती है। जिन तथ्यों या दृश्यों को लेकर इनकी वृत्ति रहस्योन्मुख हुई है उनके समक्ष सहृदय मात्र रहस्य का अनुभव कर सकते हैं। बात यह है कि ये कवि रहस्यवादी नहीं। ये रहस्य को 'वाद' के रूप में लेकर नहीं चले हैं। इन्होंने सच्ची स्वाभाविक रहस्यभावना की व्यंजना की है। इनकी भावना अभिव्यक्ति का सूत्र ग्रहण करके ही कभी कभी रहस्योन्मुख हुई है। जगत् रूपी अभिव्यक्ति से तटस्थ कल्पना की झूठी कलाबाजी, भावों की नकली उछल कूद और वैचित्र्यविधायक कृत्रिम शब्दभंगी–जो आधुनिक रहस्यवादियों में अभिव्यंजनावादियों (एक्स्प्रेशनिस्ट्स) के प्रभाव से आई है–वर्ड्सवर्थ और शेली की कविता का लक्षण नहीं है।

वर्ड्सवर्थ की कविता ब्रह्म की प्रत्यक्ष विभूति प्रकृति से सीधा प्रेमसंबंध रखती है। कहीं कहीं उसमें सर्ववाद (पेनथेइज्म) की भी झलक है, परोक्ष जगत् की ओर भी इशारा है, पर उसकी विचरण भूमि प्रकृति का प्रकाशित क्षेत्र ही है। दूर तक फैले मैदान में कहीं धूप कहीं छाया बारी बारी से पड़ती देख वर्ड्सवर्थ ने अपने लिए प्रकाश का क्षेत्र चुना और उनके साथ कालरिज ने छाया का। पर कालरिज की छाया इस जगत् पर, इस जीवन पर, पड़ी हुई छाया थी। वह किसी 'वाद' के अनुरोध से सारे जगत् को छाया और अपनी कल्पना को ईश्वरीय सत्ता बताता हुआ नहीं चला। उसका कहना यह था कि मनुष्य चारों ओर एक अज्ञात रहस्य से घिरा हुआ है, जिसका परोक्ष रहस्य उसके जीवन का रंग बदला करता है। कालरिज का प्रस्तुत विषय जीवन है; परोक्ष रहस्य उसके बदलते हुए रंगों की हेतुभावना के रूप में है। इससे कालरिज को भी हम सिद्धांती रहस्यवादी न कहकर स्वाभाविक रहस्यभावना संपन्न कवि मानते हैं।

इधर हिन्दी में कभी कभी रहस्यवाद के संबंध में जो लेख निकलने लगे हैं उनमें से बहुतों में एक साथ बहुत से नामों की उद्धरणी, जैसे—वर्ड्सवर्थ, शेली, कालरिज, ब्राउनिंग यहाँ तक कि कीट्स भी—मिलती है। इसमें वर्ड्सवर्थ तो प्रकृति के सच्चे उपासक थे। वे प्रकाश या अभिव्यक्ति को लेकर चले थे। उसका 'रहस्यवाद' से कोई संबंध नहीं। प्राकृतिक दृश्यों के प्रति जैसी सच्ची भावुकता उनकी थी, अँगरेजी के पिछले कवियों में किसी की न थी। एक छोटी सी कविता में उन्होंने इस बात पर बहुत खेद प्रकट किया है कि ऐसे मधुर और प्रिय रूपों को नित्य प्रति सामने पाकर भी अब लोगों के हृदय उनकी ओर आकर्षित नहीं होते। उन्होंने यहाँ तक कहा है कि 'इससे अच्छा तो यह था कि हम लोग ईसाई न होकर पुराने मूर्तिपूजक ही रहते और प्रकृति के नाना रूपों के साथ अपने हृदय के योग का अनुभव करते।' उनका प्रकृतिप्रेम कुतूहल, विस्मय और सुखविलास की मनोवृत्ति से संबद्ध न था। वे अलौकिक, असामान्य अद्भुत और भव्य चमत्कार ढूँढ़नेवाले न थे। नित्यप्रति सामने आनेवाले चिरपरिचित सीधे सादे सामान्य दृश्यों के प्रति अपने सच्चे अनुराग की व्यंजना जैसी वर्ड्सवर्थ ने की है, और जगह नहीं मिलती। जो एक पुरानी गढ़ी के आसपास लगे पेड़ों के झुरमुट के कटवाने पर दुखी होता है, ऐसे सच्चे प्रकृतिप्रेमी कवि को 'रहस्यवादी' कहना उसकी अप्रतिष्ठा करना है। 'एक पथिक की शिक्षा' (ऐडमानिशन टु ए ट्रैवेलर) नाम की एक छोटी सी कविता में वर्ड्सवर्थ ने एक नागरिक पथिक की किसी ग्राम में छोटे से नाले के तट पर, थोड़ी सी गोचारण भूमि के बीच खड़े एक छोटे से झोंपड़े को ललचाती आँखों से देखते देखकर कहा है—'उस घर का लालच न कर। बहुत से तेरे ऐसे लोग इसी तरह ताकते और सोचते विचारते रह जाते हैं। उनकी चले तो वे प्रकृति की पुस्तक के इस बहुमूल्य पन्ने को अपवित्र निष्ठुरता से नोंच फेंकें। यह समझ रख कि यह यदि आज तेरा हो जाय तो जो कुछ

आकर्षण इसमें है वह सब हवा हो जाय। इसकी छत, खिड़की, दरवाजे, चढ़ी हुई फूल की लताएँ सब दोनों की पवित्र वस्तुएँ हैं।' प्रकृति के प्रति जो भाव वर्ड्सवर्थ का था उसी को मैं सच्चे कवि का भाव मानता हूँ : सदा असामान्य, अद्भुत और भव्य चमत्कार ढूँढ़नेवाली दृष्टि को मैं मार्मिक काव्यदृष्टि नहीं मानता।

जैसा पहले कहा जा चुका है, केवल कहीं कहीं वर्ड्सवर्थ ने प्रकृति की अंतरात्मा[1] (स्पिरिट आव नेचर) की ओर संकेत किया है; एक आध जगह प्रकृति के ही किसी तथ्य के भीतर परोक्ष जगत् का भी आभास दिया है, जैसे–'बाल्यावस्था की स्मृति द्वारा अमरत्व का संकेत' (ओड आन इंटिमेशंस आव इंमार्टैलिटी फ्राम रिकलेक्शंस आव अर्ली चाइल्डहुड) नाम की कविता में कवि कहता है–

'हमारा जन्म एक प्रकर की निद्रा या विस्मृति है। जीवन के नक्षत्र हमारी आत्मा का–जिसका उदय हमारे साथ होता है–विधान कहीं अन्यत्र ही हुआ करता है, वह किसी दूर देश से आती है। आने में न तो हममें एकदम विस्मृति ही रहती है, न शुद्धरूपता ही। ईश्वर के पास से हम दिव्य और भव्य घनखंडों में से होते हुए आते हैं। बचपन में हमारे चारों ओर स्वर्ग का आभास कुछ कुछ बना रहता है। पर ज्यों ज्यों बालक बढ़ता जाता है त्यों त्यों इस भव्य कारागार की छाया में

---

1. अवर बर्थ इज बट ए स्लीप ऐंड फारगटिंग
दि सोल दैट राइजेज विद अस, अवर लाइफ्स स्टार।
हैथ हैड एल्सव्हेयर इट्स सेटिंग,
ऐंड कमेथ फाम ए फार,
नाट इन एंटायर फरगेंटफुलनेस,
ऐंड नाट इन अटर नेकेडनेस,
बट ट्रेलिंग क्लाउड्स आव ग्लोरी डू वी कम
फ्राम गाड हु इज अवर होम :
हेवेन लाइज ऐबाउट अस इन अवर इनफैंसी!
शेड्स आव दि प्रिजन हाउस बिगिन टु क्लोज
अपान दि ग्रोइंग बाइ,
बट ही बिहोल्ड्स दि लाइट ऐंड हेंस इट फ्लोज
ही सीज इट इन हिज ज्वाय;
दि यूथ, हू डेली फार्दर फ्राम दि ईस्ट
मस्ट ट्रैवेल, स्टिल इन नेवर्स प्रीस्ट
ऐंड बाइ दि विजन स्प्लेंडिड।
इन आन हिज वे ऐटेंडेड,
ऐट लेंथ दि मैन पर्सीब्स इट डाई अवे,
ऐंड फेड इंटु दि लाइट आव कामन डे।

बंद होता जाता है। फिर भी उस ज्योति का आभास कुछ कुछ बना रहता है। युवावस्था की ओर बढ़ता हुआ वह यद्यपि अपने उदय की दिशा से दूर होता जाता है, पर प्रकृति का पुजारी तब तक भी बना रहता है। उसका मार्ग दिव्य सौंदर्य की भावना से जगमगाता है। अंत में जब वह बढ़कर पूरा मनुष्य हो जाता है तब आनंद की वह आभा जीवन के मध्याह्न के प्रखर ताप में विलीन हो जाती है।

कैसी स्वाभाविक रहस्य भावना है! इसका संकेत कवि को अभिव्यक्ति के क्षेत्र के भीतर ही मिला है इसमें किसी 'वाद' के भीतर निरूपित तथ्य की व्यंजना प्रकृति के रूपों और व्यापारों से जबरदस्ती नहीं कराई गई है। न असीम और ससीम का द्वंद्व दर्शन है; न अव्यक्त और अगोचर की झाँकी है; न वेदना का अट्टहास और उन्मत्त नृत्य है। जिस आनंदलोक की ओर संकेत है वह केवल लोकोत्तर है। यह संकेत जीवन के जिस वास्तव तथ्य से कवि को मिला है, उसका स्पष्ट उल्लेख आगे चलकर है—

'अपने लड़कपन के दिनों का स्मरण कीजिए! वे ही हरे भरे मैदान, अमराइयाँ और नाले आदि जो अब साधारण दृश्य जान पड़ते हैं, कैसी आनंदमयी दिव्य प्रभा से मंडित दिखाई पड़ते थे! फूल अब भी सुंदर लगते हैं, चंद्रमा अब भी शरदाकाश में सुहावना लगता है, पर इन सबकी वह दिव्य आभा अब पृथ्वी पर कहाँ जो लड़कपन में हृदय को आनंदोल्लास में भर देती थी।'

शेली की मनोवृत्ति वर्ड्सवर्थ की मनोवृत्ति से बहुत भिन्न थी। उनकी वृत्ति प्रकृति के असामान्य, अद्भुत, भव्य और अधिक प्राचुर्यपूर्ण खंडों में रमती थी, इसी से उनमें कल्पना का आधिक्य है। सामान्य से सामान्य चिरपरिचित दृश्यों के माधुर्य की मार्मिक अनुभूति उनमें न थी। दूसरी बात यह है कि वे कुछ अपने बँधे हुए विचार मन में लेकर प्रकृति के क्षेत्र में प्रवेश करते थे। वे मनुष्य जाति की वर्तमान स्थिति में सिर से पैर तक उलट फेर चाहते थे। राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक सब प्रकार की व्यवस्थाओं और बंधनों को वे छिन्न भिन्न देखना चाहते थे। पर इस प्रकार की कुछ विशेष प्रवृत्तियाँ रहते हुए भी प्रकृति की रूपविभूति का ऐसा शृंखलाबद्ध और संश्लिष्ट चित्रण थोड़े से इने गिने कवियों में ही मिल सकता है।

'अ लास्टर' (लास्टर या स्पिरिट आव सालिट्यूड) में एकांत सुख शांति का अन्वेषी एक कवि सारे भूमंडल पर अकेला भ्रमण करता है। शेली उसे ऐसी ऐसी भव्य विशाल, अदृश्यपूर्व और अद्भुत चमत्कारपूर्ण दृश्यावली के बीच से ले गए हैं कि पाठक पढ़कर उनमें गड़ सा जाता है। प्रकृति के ऐसे गूढ़ गह्वरों तथा अनुपम और कमनीय क्रीड़ाक्षेत्रों में वह कवि द्वारा पहुँचाया गया है जहाँ मनुष्य ने कभी पैर नहीं रखा। एक नमूना देखिए—

'प्रकृति के गुप्त से गुप्त पथों में वह उसकी छाया की तरह जाता है—जहाँ ज्वालामुखी से उठी लपट की रक्त आभा तुषारमंडित पर्वतशिखर के ऊपर छाई हुई है।...जहाँ ऐसी अँधेरी गुप्त गुफाएँ हैं, जो ज्वलंत और विषाक्त धाराओं के बीच

चक्कर खाती बड़ी दूर तक चली गई हैं और जिनमें अब तक न लोभ मनुष्य को ले गया है, न साहस का अभिमान। गुफा के भीतर बड़े बड़े दीवानखाने पड़े हैं, जिनके ऊपर फैली हुई छत हीरे और सोने से जड़ी है। स्फटिक के ऊँचे ऊँचे खंभे खड़े हैं? बीच बीच में उज्ज्वल मुक्तामयी वेदियाँ दिखाई पड़ती हैं। पुष्पराग के सिंहासन इधर उधर पड़े झलकते हैं।'

कोहकाफ (काकेशस) की ऐसी ऐसी दुर्गम घाटियों के भीतर घूमती फिरती उस कवि की छोटी सी नाव बहती जाती है जिसके दोनों ओर ऊपर तो गगनस्पर्शी शिखर और नीचे जल में घुसी बेडौल चट्टानों पर अपनी जड़ों का जाल फैलाए हुए वृक्षों की निविड़ और सघन राशि! प्रकृति के खंडों के ऐसे ऐसे संश्लिष्ट और शृंखलाबद्ध चित्रण उनके 'इस्लाम का विप्लव' (रि रिवोल्ट आव इस्लाम) आदि काव्यों में भरे पड़े हैं जैसे कहीं किसी रहस्यवादी कवि की रचना में नहीं मिल सकते। रहस्यवादी की काव्यदृष्टि एक बार में इतने विस्तार तक पहुँचती ही नहीं या पहुँचाई ही नहीं जाती।

शेली की पिछली रचनाओं में ही कहीं कहीं रहस्यभावना का उन्मेष पाया जाता है। 'सौंदर्यबुद्धि की स्तुति' (हाइम टु इनटेलेक्चुअल ब्यूटी) नाम की कविता में शेली ने उस नित्य गतिशील सौंदर्यसत्ता का स्तवन किया है जो समय समय पर वाह्य प्रकृति को वसंतविकास के रूप में अपने नाना रंगों से जगमगाया करती है और मनुष्य के हृदय को प्रेम, आशा और गर्व से प्रफुल्ल किया करती है। कहने की जरूरत नहीं कि यह भावना गत्यात्मक सौंदर्य की अभिव्यक्ति को ही लेकर चली है। स्त्रीत्व का आध्यात्मिक आदर्श व्यंजित करनेवाली 'एपिसिडियन' नाम की कविता भी इसी ढंग की है। 'जिज्ञासा' का उल्लेख पहले हो चुका है। ऐसी ही कुछ थोड़ी सी छोटी छोटी कविताओं में रहस्यभावना पाई जाती है; पर ऐसी नहीं जो रहस्यवादियों के काम की हो। मेरे ध्यान में तो शेली की एक ही ऐसी छोटी सी कविता आती है जिसमें रहस्यवादियों के काम की कुछ सामग्री है। वह है– 'कविस्वप्न' (दि पोएट्स ड्रीम) जिसमें कवि के संबंध में कहा गया है कि–

'वह प्रभात से सायंकाल तक झील में झलमलाती धूप और इश्कपेचों के फूलों पर बैठी पीली मधुमक्खियों को देखता रहेगा। इसकी परवा न करेगा कि इन वस्तुओं की सत्ता क्या है। वह इन रूपों के द्वारा ऐसे रूप (कल्पना में) संघटित करेगा जो अमरत्व के अंगज होंगे और जिनकी सत्ता मनुष्यसत्ता में भी वास्तविक होगी।'[1]

---

1. ही विल वाच फ्राम डान टु ग्लुम
        दि लेक रिफ्लेक्टेड सन इल्युम,
    दि येलो बीज इन दि आइवीब्लुम,
        नार हीड नार सी ह्वाट थिंग्स दे बी;
    बट फ्राम दीज क्रिएट ही कैन,
        फार्म्स मोर रिअल दैन लिविंग मैन
    नर्सलिंग्स आव इंमार्टेलिटी।

पर एक आध जगह मिलनेवाली 'वाद' की ऐसी सामग्री शेली को रहस्यवादी कवियों में नहीं ढकेल सकती। शेली पर जो समीक्षा पुस्तकें निकली हैं उनमें शेली रहस्यवादी कवि नहीं निरूपित हुए हैं।

इधर समय समय पर हिन्दी पत्रपत्रिकाओं में रहस्य या छायावाद की जानकारी कराने के लिए जो लेख निकलने लगे हैं उनमें से किसी किसी में बेचारे कीट्स तक का नाम घसीटा जाता है, जिनसे रहस्यवाद का नाममात्र का भी लगाव नहीं। अँगरेजी साहित्य का थोड़ा परिचय रखनेवाला भी जानता है कि कीट्स प्राचीन यूनानी काव्य का आदर्श लेकर नए ढंग (रोमैंटिक) पर चले हैं जिसमें रहस्यवाद की गंध तक नहीं। यह दिखाया जा चुका है कि रहस्यवाद की उत्पत्ति पैगंबरी (सेमिटिक) मतों के भीतर हुई है। प्राचीन आर्य काव्य में—क्या भारत के, क्या योरप के—रहस्यवाद का नाम तक नहीं, सीधा देववाद है। कीट्स की कल्पना बहुत ही तत्पर थी इससे उनमें मूर्तविधान (इमैजरी) का विलक्षण प्राचुर्य है। वे अपने इंद्रियार्थवाद (सेंचुऐलिज्म) के लिए प्रसिद्ध हैं; रहस्यवाद के साथ तो उनका नाम कहीं लिया ही नहीं जाता। कहीं ईट्स के धोखे में उनका नाम न आ जाता हो?

एक दूसरी कोटि के कवि भी होते हैं जिन्हें कभी कभी भ्रांतिवश कुछ लोग रहस्यवादी कह दिया करते हैं। अँगरेजी कवि ब्राउनिंग इसी तरह के कवि थे। उनकी कविता में बुद्धिव्यापार का बहुत योग है। विचारों की ऐसी सघनता बहुत कम कवियों में पाई जाती है। कहीं कहीं विचारों की गति इतनी क्षिप्र होती है कि पाठक साथ साथ नहीं चल पाता और उसे दुर्बोधता या अस्पष्टता का अनुभव होता है। कहीं कहीं इसी प्रकार की अस्पष्टता की प्रतीति के कारण स्थूल दृष्टि से देखनेवालों को रहस्यवाद का धोखा होता है। पर ब्राउनिंग की अस्पष्टता में और रहस्यवादी की बनावटी अस्पष्टता में कौड़ी मुहर का फर्क है। दोनों की उत्पत्ति सर्वथा भिन्न कारणों से है। एक ही अस्पष्टता विचारशृंखला की सघनता और जटिलता के कारण होती है और दूसरे की विचारशृंखला के सर्वथा अभाव के कारण। एक में बुद्धित्व (इंटेलेक्चुऐलिटी) के साथ पूरा साहचर्य और दूसरे में विच्छेद। दोनों एक दूसरे के विरुद्ध हैं।

काव्यक्षेत्र में ब्राउनिंग का लक्ष्य बहुत ही उच्च था। उनका लक्ष्य था गूढ़ और ऊँचे विचारों के साथ हृदय के भावों का संयोग करना। जैसा हम पहले कह आए हैं अब मनुष्य का ज्ञानक्षेत्र बुद्धि व्यवसायात्मक या विचारात्मक होकर अत्यंत विस्तृत हो गया है। अतः उसके विस्तार के साथ हमें अपने हृदय का विस्तार भी बढ़ाना पड़ेगा। कितने गहरे ऊँचे और व्यापक विचारों के साथ हमारे किसी भाव या मनोविकार के संयोग कराया जा सका है, कितने भव्य और विशाल तथ्यों तक हमारा हृदय पहुँचाया जा सका है, इसका विचार भी कवियों की उच्चता स्थिर करने में बराबर रखना पड़ता है। ब्राउनिंग का आदर्श यही था। वे कविकर्म को बहुत गंभीर समझते थे, मनबहलाव

या कुतूहल की सामग्री नहीं। चित्रकला, मूर्तिकला आदि हलकी कलाओं के साथ कविता के बिलकुल मिलाकर जो काव्य समीक्षा योरप में चली उसने काव्य के लक्ष्य की धारणा बहुत हल्की और संकुचित कर दी।

सच्ची स्वाभाविक रहस्यभावनावाले कवि और सांप्रदायिक या सिद्धांती रहस्यवादी की पहचान के लिए काव्यवस्तु (मैटर) का भेद आरंभ में ही हम दिखा आए हैं। विधानविधि (फार्म) का भेद ऊपर सूचित किया गया। स्वाभाविक रहस्यभावनासंपन्न कवि प्रकृति का कोई खंड लेकर व्यापार की संश्लिष्ट और शृंखलाबद्ध योजना द्वारा पूर्ण दृश्य का विधान करते चलते हैं। उनकी रूपयोजना विस्तीर्ण और जटिल होती है तथा कुछ दूर तक अखंड चलती है, पर सांप्रदायिक या सिद्धांती रहस्यवादी कुछ बँधी हुई और इनी गिनी वस्तुओं की ठीक उसी प्रकार अलग अलग झलक दिखाकर रह जाते हैं जिस प्रकार हमारे पुराने शृंगारी कवि, ऋतुओं के वर्णन में, उद्दीपन सामग्री दिखाया करते हैं। इसीलिए स्वाभाविक रहस्यभावनावाले कवि चरितकाव्य वा प्रबंध काव्य का भी बराबर आश्रय लेते हैं; पर सांप्रदायिक रहस्यवादी मुक्तकों या छोटे छोटे रचनाखंडों पर ही संतोष करते हैं। प्रथम कोटि के कवियों में दृश्य के संश्लिष्ट प्रसार के साथ साथ विचार और भाव बड़ी दूर तक मिली हुई एक अखंड धारा के रूप में चलते हैं। पर दूसरी कोटि के कवियों में यह अन्विति (यूनिटी) और मनोहर प्रसार अत्यंत अल्प या नहीं के बराबर होता है। अतः इस दूसरी कोटि में वर्ड्सवर्थ और शेली क्या कालरिज भी नहीं आ सकते जिनकी रचनाओं में बहुत ही संश्लिष्ट और जटिल दृश्यविधान प्रस्तुत रूप में—रहस्यवादियों के समान अप्रस्तुत रूप में नहीं—पूरी मूर्तिमत्ता के साथ दूर तक चलते पाए जाते हैं।

पाश्चात्य रहस्यवाद और पाश्चात्य स्वाभाविक रहस्यभावना का थोड़ा विस्तृत उल्लेख इसीलिए करना पड़ा कि आजकल विचारों की पराधीनता के कारण योरप ही 'जगत्' समझा और कहा जाता है। जो कुछ अब तक कहा गया उससे इतना स्पष्ट हो गया होगा कि योरप का सिद्धांती रहस्यवाद, जो ब्लेक और ईट्स आदि में पाया जाता है, वह अरब और फारस के सूफियों के यहाँ से गया है। उसके पहले यहूदियों और कैथलिक संप्रदाय के ईसाइयों में जो रहस्यभावना प्रचलित थी वह ईश्वरवाद (थेइज्म) के भीतर थी। उसमें उस प्रेमपूर्ण परमपिता के दया दाक्षिण्य का आभास जगत् की नाना वस्तुओं और व्यापारों में रहस्यपूर्ण दृष्टि से देखा जाता था। सूफियों के रहस्यवाद में सर्ववाद (पैनथेइज्म) या अद्वैतवाद (मोनिज्म) के साथ प्रतिबिंबवाद का योग था। वेदांत में सर्ववाद और प्रतिबिंबवाद एक ही नहीं हैं। सर्ववाद वेदांत का पुराना रूप है। उसके उपरांत विवर्तवाद, दृष्टिसृष्टिवाद, अजातवाद आदि जो कई वाद ब्रह्म और जगत् के संवंधनिरूपण में चले, उनमें प्रतिबिंबवाद भी एक है।

सर्ववाद का अभिप्राय यह है कि व्यक्ताव्यक्त, मूर्तामूर्त, चिदचित् जो कुछ है सब ब्रह्म ही है। पुराने वाद के अनुसार जगत् जिस रूप में हमारे सामने है उसमें ब्रह्म ही का प्रसार है। प्रतिबिंबवाद के अनुसार जिस रूप में जगत् हमारे सामने है उस रूप में ब्रह्म तो नहीं है, हाँ उसकी छाया या प्रतिबिंब अवश्य है। सूफियों ने आत्मा और ब्रह्म के संबंध में प्रतिबिंबवाद को अपनाया। इस प्रतिबिंबवाद को लेकर सिद्धांतपक्ष में उन्होंने उस 'कल्पनावाद' की उद्भावना की जिसका वर्णन हम कर आए हैं और जिसे काव्यपक्ष में लेकर ब्लेक आदि विलायती रहस्यवादियों ने साहित्य में एक विलक्षण आडंबर खड़ा किया। पर सूफियों ने अपने उस 'कल्पनावाद' को केवल ध्यान के लिए साधना या सिद्धांतपक्ष में ही रखा, काव्यक्षेत्र में नहीं घसीटा। काव्यक्षेत्र में उन्होंने प्रतिबिंबवाद के साथ 'अभिव्यक्तवाद' का मेल किया जिससे उनकी कविता का रंग वैसा ही स्वाभाविक और हृदयग्राही रहा जैसा और कविता का।

सूफी कवि इस बाहर फैले हुए परदे के बीच बीच में ही—छाया के बीच बीच में ही—अपने प्रियतम की झलक पाते रहे; अपने भीतर की उल्टी सीधी, अव्यवस्थित कल्पना में नहीं। बाहरी जगत् के जिस रूप में उन्हें उसके सौंदर्य, हास, औदार्य, प्रेम क्रीड़ा इत्यादि की छटा का आभास मिला उसे वे पीछे कल्पना में धारण करके भी रसमग्न होते रहे। सारांश यह कि सबके सामने वाह्य जगत् के रूपों और व्यापारों में कुछ सच्चा आभास या संकेत पाकर, तब वे उसके अनुरूप भावव्यंजना करते थे। इसमें सामान्य भावभूमि पर प्राप्त होकर श्रोता या पाठक का हृदय भी उनके भाव को अपना लेता था। इसके विपरीत विलायती या रहस्यवादी या उनके अनुयायी वाह्य जगत् की स्वच्छ और सच्ची अभिव्यक्ति से जो मनुष्य मात्र के लिए कल्पना और भाव ग्रहण करने का सामान्य और अक्षय्य भंडार है, आँखें मूँदकर अपनी वात पित्तग्रस्त कल्पना के कोने में इकट्ठे किए हुए रोड़े अकस्मात् लुढ़काकर भावों के उन्मादभार से हलके होने का अभिनय किया करते हैं।

क्यों सूफी भाव की कविता हृदय को विकसित करनेवाली होती है और विलायती रहस्यवाद की कविता का अनुकरण, या उसके अनुकरण का अनुकरण हृदय की अनुभूति से दूर अपनी लपक झपक दिखाया करती है, इसके एक बड़े भारी कारण का पता तो ऊपर लिखी बातों से लग जाता है। पर कुछ और कारण भी हैं। योरप के काव्य समीक्षा क्षेत्र में प्रचलित 'अभिव्यंजना' (एक्स्प्रेशनिज्म) और 'कला का उद्देश्य कला ही है' का पूरा प्रभाव आधुनिक विलायती रहस्यवाद पर है। प्रभाव है क्या, कहना चाहें तो कह सकते हैं कि उक्त रहस्यवाद तीनों वादों के मेल से—ब्लेक द्वारा अंगीकृत 'कल्पनावाद' के साथ 'अभिव्यंजनावाद' और 'कला का उद्देश्य' कलावाद के मेल से—संघटित है।

'कल्पनावाद' के अवलंबन से उत्पन्न विषमता का उल्लेख तो हो चुका। रहा पिछले दो वादों से ग्रस्त विलायती रहस्यवाद के अनुकरण, या अनुकरण के अनुकरण

का फल, वह भी सुगमता से अनुमान में आ जाता है। 'अभिव्यंजनावाद' की प्रवृत्ति वाग्वैचित्र्य या शब्दभंगी की ओर अधिक है। वाग्वैचित्र्य का उचित स्थान काव्य में क्या है, यह हम पहले दिखा आए हैं। यहाँ हिन्दी में उसके अनुकरण में जो और विशेष विरूपता दिखाई पड़ती है उसी का यहाँ विचार करना है। योरोपीय भाषाओं में वाग्वैचित्र्य का विधान अधिकतर उन भाषाओं की लाक्षणिक चपलता के बल पर होता है। प्रत्येक भाषा की लाक्षणिक प्रवृत्ति उसके बोलनेवालों की अंतःप्रकृति और संस्कारों के अनुरूप हुआ करती है अतः एक भाषा के लाक्षणिक प्रयोग दूसरी भाषा में बहुत कम काम दे सकते हैं।

विलायती रहस्यवाद की कविताओं में बाहरी विशेषता जो दिखाई पड़ी, वह थी लाक्षणिक प्रगल्भता और वाग्वैचित्र्य। अतः उनका अनुकरण सबसे पहले और अधिक उतावली से हुआ; इससे ठीक ढंग पर न चला। अधिकतर तो अनुकरण न होकर अवतरण हुआ जिससे वैचित्र्य की तत्काल सिद्धि दिखाई पड़ी। एक भाषा के पदविन्यास, लाक्षणिक प्रयोग और मुहावरे इत्यादि यदि शब्द प्रतिशब्द दूसरी भाषा में रख दिए जायँ तो यों ही एक तमाशा खड़ा हो जाता है। अँगरेजी के किसी एक साधारण पैराग्राफ का शब्द प्रतिशब्द अनुवाद करके सामने रखिए और उसकी विचित्रता देखिए। तुर्की या चीनी का ऐसा ही अवतरण सामने रखिए तो और बहार दिखाई दे। विलायती रहस्यवाद जब बंग भाषा साहित्य के एक कोने से होता हुआ हिन्दी में आ निकला तब उसपर दो भाषाओं के अजनबीपन की छाप दिखाई पड़ी। बहुत कुछ वैचित्र्य तो इस अजनबीपन में ही मिल गया। पर यदि लाक्षणिक विधान अपनी भाषा की गतिविधि के अनुसार होता तो क्या अच्छी बात होती!

अभिव्यंजनावाद के प्रसंग में हम दिखा चुके हैं कि उसके अनुकूल विलायती रचना के अनुकरण को हद से बाहर घसीटने के कारण छायावाद समझकर लिखी जानेवाली कविताओं में अप्रस्तुत वस्तु व्यापारों की बड़ी लंबी लड़ी के अतिरिक्त और कुछ सार नहीं होता। सब मिलाकर पढ़ने से न कोई सुसंगत और नूतन भावना मिलेगी, न कोई विचारधारा और न किसी उद्भावित सूक्ष्म तथ्य के साथ भाव संयोग, जिसका कुछ स्थायी संस्कार हृदय पर रहे। अप्रस्तुत विधान, चाहे वे किसी रूप में रखे जायँ, वास्तव में अलंकार मात्र होंगे। अतः ऐसी कविताओं की परीक्षा करने पर उपमान वाक्यों के ढेर से अतिरिक्त और कुछ नहीं बचता। किसी एक कविता के भीतर विचारों या भावनाओं का इधर उधर भिन्न दशाओं में प्रसार न होते चलने के कारण अप्रस्तुत वस्तुओं में भी पूरी विभिन्नता नहीं होती। एक प्रकार से ढेर भी समान रंग ढंग की वस्तुओं का ही होता है। अतः एकान्विति (यूनिटी) और संबंध (कोहेरेंस) की, सच पूछिए तो, जगह ही नहीं होती।

पर इन दोनों के बिना अच्छी से अच्छी सामग्री का बिखरा हुआ ढेर कला की कृति नहीं कहला सकता। सामग्री परस्पर जितनी ही भिन्न और अनेकांगस्पर्शिणी

होगी उतना ही उनका सामंजस्यपूर्वक अन्वय कला का उत्कृष्ट विधान कहा जायगा। 'छायावाद' का पास लेकर काव्यक्षेत्र में आनेवाली अधिकांश रचनाओं में कोई भावना उठकर कुछ दूर तक सांगोपांग चलती नहीं दिखाई पड़ती। यह वास्तव में उपर्युक्त अवतरण व्यापार का ही परिणाम है। वैचित्र्य के लोभ में भिन्न भिन्न स्थलों से संगृहीत वाक्यों और पदविन्यासों को एक में समन्वित करना भी तो कठिन ही है।

किसी प्रकृत आलंबन से सीधा लगाव न रखने के कारण भावों में जो सच्चाई का अभाव (इनसिनसिऐरिटी) या कृत्रिमता (आर्टिफिशैलिटी) रहती है वह तो मूल ही से आई है। यह बात मैं उन रचनाओं के संबंध में कहता हूँ जो वास्तव में रहस्यवाद या छायावाद के अंतर्गत होती हैं।

एक चौथी बात जिसकी चर्चा छायावाद की कविता के साथ हुआ करती है, वह छंदबंधन का त्याग और लय (रिद्म) का अवलंबन है। पर यह एक बिलकुल दूसरी हवा है जो अमेरिका की ओर से आई है। इसका रहस्यवाद या छायावाद से कोई संबंध नहीं है। इसे एक आंदोलन के रूप में खड़ा करनेवाला अमेरिका का वाल्ट ह्विटमैन था जिसने सन् 1855 ई. में 'घास के पत्ते' (लीब्ज आव ग्रास) नाम की एक कविता केवल लय पर चलनेवाली बिना छंद की पंक्तियों में निकाली। इसके पीछे इस तरह की और बहुत सी कविताएँ उसने लिखीं जिनमें समीक्षकों ने काव्यत्व, कलाविधान और साहित्यिक शिष्टता की बहुत कमी बताई। एक समीक्षक ने बहुत थोड़े में अपनी राय इस प्रकार दी–

'अनुभूतियों का गड़बड़झाला, भावों और विचारों का बिखरा हुआ ढेर, सामने रख दिया गया है–बिना तुक तुकांत के, जो कोई त्रुटि नहीं; बिना छंद के, जो त्रुटि है।

'यह सूचित करना आवश्यक है कि उत्तम काव्य के सब लक्षणों की दृष्टि से उसका विधान दूषित है। जैसा कि किसी ने कहा है, यदि शेक्सपियर, कीट्स और गेटे कवि हैं तो ह्विटमैन कदापि नहीं।'[1] और विलायती हवाओं की तरह यह हवा भी बँगला से होती हुई हिन्दी में आई है और छायावाद के साथ उसकी विलक्षणता बढ़ाने के लिए जोड़ी गई है। पर यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि इसका रहस्यवाद से कोई संबंध नहीं। अतः इसके संबंध में हम यहाँ कुछ अधिक नहीं कहना चाहते। छंद और लय (रिद्म के विषय में विचार करते समय इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि कविता एक बहुत ही पूर्ण कला है। इस पूर्णता के लिए

---

1. ए केआस आव इंप्रेशन, थाट आर फीलिंग्स थ्रोन टुगेदर विदाउट राइम, ह्विच मैटर्स लिटिल, विदाउट मीटर ह्विच मैटर्स मोर, ऐंड आफेन विदाउट रीजन ह्विच मैटर्स मच।
इट मस्ट बी प्वाइंटेड आउट, हाउएवर, दैट आल दि कैनन्स आव गुड पोएट्री कनडेम हिज मेथड्स। ऐज सम हैज सेड, शेक्सपियर, कीट्स ऐंड गेटे वेअर पोएट्स ह्विटमैन नाट।
–ए. बी. डि–मिल : लिटरेचर इन दि सेंचुरी (दि नाइनटींथ सेंचुरी सीरीज)

वह संगीत और चित्रकला दोनों की पद्धति का थोड़ा बहुत सहारा लेती है। दोनों की रमणीयता का योग उसकी रमणीयता के भीतर रहता है। जिस प्रकार रूप विधान में वह चित्रविधा का कुछ अनुसरण करती है, उसी प्रकार नादविधान में संगीत का। छंद वास्तव में बँधी हुई लय के भीतर भिन्न भिन्न ढाँचों (पैटर्न्स) का योग है जो निर्दिष्ट लंबाई का होता है। लय स्वर के चढ़ाव उतार के छोटे छोटे ढाँचे ही हैं जो किसी छंद के चरण के भीतर व्यस्त रहते हैं।

छंद द्वारा होता यह है कि इन ढाँचों की मिति और इसके योग की मिति दोनों श्रोता को ज्ञात हो जाती है जिससे वह भीतर ही भीतर पढ़नेवाले के साथ ही साथ उसकी नाद की गति में योग देता चलता है। गाना सुनने के शौकीन गवैये के मुँह से किसी पद के पूरे होते उसे किस प्रकार लोक लेते हैं, यह बराबर देखा जाता है। लय तथा लय के योग की मिति बिलकुल अज्ञात रहने से यह बात नहीं हो सकती। जब तक कवि आप ही गाकर अपनी लय का ठीक ठीक पता न देगा तब तक पाठक अपने मन में उसका ठीक ठीक अनुकरण न कर सकेगा। अतः छंद के बंधन के सर्वथा त्याग में हमें तो अनुभूत नादसौंदर्य की प्रेषणीयता (कम्युनिकेबिलिटी आव साउंड इंपल्स) का प्रत्यक्ष ह्रास दिखाई पड़ता है। हाँ! नए नए छंदों के विधान को हम अवश्य अच्छा समझते हैं।

प्रेष्य भाव या विचारधारा की छोटाई बड़ाई के हिसाब से छोटे बड़े चरणों की पूर्वापर स्थिति होनी चाहिए, यह प्रायः कहा जाता है, इसपर पहली बात तो यह पेश हो सकती है कि किसी भाव या विचार की पूर्णता का संबंध वाक्य से होता है और वाक्य के लिए आजकल की पद्यपद्धति के अनुसार यह आवश्यक नहीं कि वह चरण के अंत में ही पूरा हो। वह बीच में भी पूरा हो सकता है। यह आवश्यक है कि चरण के बीच में एक वाक्य का अंत और दूसरे का आरंभ होने से कविता चुपचाप बाँचने के ही अधिक उपयुक्त होती है; लय के साथ जोर से सुनाने के उपयुक्त नहीं होती। जिन्होंने अच्छी लय के साथ किसी सुकंठ के मुँह से कविता का पाठ सुना है वे मानते हैं कि किसी कविता का पूर्ण सौंदर्य उसके जोर से पढ़े जाने पर ही प्रकट होता है। छंदों की चलती लय में कुछ विशेष माधुर्य होता है। हमें तो यह माधुर्य उस्तादों के पक्के गाने से, जिसके 'आ आ आ' के आगे बड़े बड़े आलसियों का आसन डिग जाता है, कहीं अधिक आनंदमग्न करता है। प्रसिद्ध रहस्यवादी कवि ईट्स ने भी अपनी ऐसी ही रुचि प्रकट की है–

'पक्के गाने में कुछ ऐसी बात होती है जो मुझे सब दिन से बुरी लगती आई है। इसी तरह कोई कविता कागज पर छपी हुई मुझे अच्छी नहीं लगती है। अब इसका कारण खुला। मैंने एक व्यक्ति को ऐसी सुंदर लय और भाव के पूरे अनुसरण के साथ कविता पढ़ते सुना है कि यदि मेरे कहने के अनुसार कुछ लोग

कविता पढ़ने की कला सीख लेते तो मैं कोई कविता की पुस्तक बाँचने के लिए कभी खोलता ही न।'[1]

जिन्होंने स्वर्गीय श्री सत्यनारायण कविरत्न को कभी 'या लकुटी अरु कामरिया' पढ़ते सुना है वे यह अवश्य समझ गए होंगे कि किसी कविता का पूर्ण सौंदर्य उसके सुंदर लय के साथ पढ़े जाने पर ही प्रकट होता है। हाँ, ऊपर छोटे बड़े चरणों की बात चली थी। छोटे बड़े चरणों की योजना करनी हो तो भिन्न भिन्न छंदों के दो दो चरण रखते हुए बराबर चले चलने में हम कोई हर्ज नहीं समझते। यह हमारा प्रस्ताव मात्र है।

लय भी तो एक प्रकार का बंधेज ही है। जब तक नादसौंदर्य का कुछ भी योग कविता में हम स्वीकार करेंगे तब तक बंधेज कुछ न कुछ रहेगा ही। नादसौंदर्य की जितनी मात्रा आवश्यक समझी जायगी उसी के हिसाब से यह प्रतिबंध रहेगा। इस बात का अनुभव तो बहुत से लोगों ने किया होगा कि संस्कृत के मंदाक्रांता, स्रग्धरा, मालिनी, शिखरिणी, इंद्रवज्रा, उपेंद्रवज्रा इत्यादि वर्णवृत्तों में नादसौंदर्य की पराकाष्ठा है पर उनका बंधन बहुत कड़ा होता है। अतः भावधारा या विचारधारा पूरी स्वच्छंदता के साथ कुछ दूर तक उनमें नहीं चल सकती इसी से हिन्दी में मात्रिक छंदों का ही अधिक प्रचार रहा है। वर्णवृत्तों में सवैये इसलिए ग्रहण किए गए कि उनमें लय के हिसाब से गुरुलघु का बंधन बहुत कुछ शिथिल हो जाता है।

जो कविता में उतने ही नादसौंदर्य की जरूरत समझते हैं जितना केवल लय (रिद्म) के द्वारा सिद्ध हो जाता है उनसे हमें कुछ कहना नहीं है। हम अधिक की जरूरत समझते हैं और शायद बहुत से लोग ऐसा ही समझते हों। रही यह बात कि छंद के बंधन से विचार के पैर बँध जाते हैं और कल्पना के पर सिमट जाते हैं। इसकी जाँच के लिए कवियों की रचना का इतना बड़ा मैदान खुला हुआ है। हिंदुस्तानी कवियों की बात छोड़िए--क्योंकि विलायत की अंधाधुंध नकल से घबराकर ही यह सारा निबंध लिखा गया है--अँगरेजी के कवियों को लीजिए। क्या वर्ड्सवर्थ और शेली की ऊँची से ऊँची छंदोमुक्त कविता उनके टक्कर में रखी जा सकती है?

अब तक जो कुछ लिखा गया उससे यह स्पष्ट हो गया कि हिन्दी में आ

---

1. आइ हैव आलवेज नोन दैट देअर वाज समथिंग आइ डिस्लाइक्ड ऐबाउट सिंगिंग ऐंड आइ नैचुरली डिसलाइक प्रिंट ऐंड पेपर, बट नाउ ऐट लास्ट आइ अंडरस्टैंड ह्वाई, फार आइ हैव फाउंड समथिंग बेटर। आइ जस्ट हर्ड ए पोएम स्पोकेन विद से डेलिकेट एसेस आव इट्स रिद्म विद सो परफेक्ट ए रेस्पेक्ट फार इट्स मीनिंग, दैट इफ आइ वेअर वाइज मैन ऐंड कुड परसुएड ए फ्यू पीपुल टु लर्न दि आर्ट आइ कुड नेवर ओपेन ए बुक आव वर्सेज अगेन।

—आइडियाज आव गुड ऐंड ईविल

निकला हुआ यह 'छायावाद' कितनी विलायती चीजों का मुरब्बा है। जैसा हम पहले दिखा आए हैं, 'रहस्यवाद' या 'छायावाद' काव्यवस्तु (मैटर) से संबंध रखता है और 'अभिव्यंजनावाद' का संबंध विधानविधि (फार्म) से होता है। 'अभिव्यंजनावाद' के साथ संयुक्त होकर बँगला से हिन्दी में आने के कारण साधारणतः 'छायावाद' के स्वरूप की ठीक भावना बहुत से रचयिताओं को भी नहीं होती। वे केवल ऊपरी रूपरंग (फार्म) का अनुकरण करके समझते हैं कि हम 'रहस्यवाद' या 'छायावाद' की कविता लिख रहे हैं। पर वास्तव में उनकी रचना में केवल अभिव्यंजनावाद' का अनुसरण रहता है। 'छायावाद' या 'रहस्यवाद' के अंतर्गत उन्हीं रचनाओं को समझना चाहिए जिनकी काव्यवस्तु 'रहस्यवाद' के अनुसार हो। रहस्यवादी काव्यवस्तु की पहचान हम पहले बता आए हैं।

यहाँ पर यह सूचित कर देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि छायावाद के अंतर्गत बहुत सी रचनाएँ ऐसी भी हुई हैं जिसमें 'अभिव्यंजनावाद' के अज्ञात अनुकरण के कारण बहुत सुंदर लाक्षणिक चमत्कार स्थान स्थान पर मिलता है। भावना का वहुत ही साहसपूर्ण संचालन, मूर्तिमत्ता का बहुत ही आकर्षक विधान और व्यंजना की पूरी प्रगल्भता पाई जाती है। ऐसी रचना करनेवाले कवियों से आगे चलकर बहुत कुछ आशा है। अपनी इस आशा की सफलता के लिए हम अत्यंत प्रेमपूर्वक उनसे दो तीन बातों का अनुरोध करते हैं। पहली बात तो यह कि वे 'वाद' का सांप्रदायिक पथ छोड़कर, अपनी सब विशेषताओं के सहित, प्रकृत काव्यभूमि पर आएँ जिसपर संसार के बड़े बड़े कवि रहे हैं और हैं। दूसरी बात यह कि अनुकरण के लिए वे बँगला, अँगरेजी आदि दूसरी भाषाओं की ओर ताकना बिलकुल छोड़ दें और अपनी भाषा की स्वाभाविक शक्ति से पूरा काम लें। इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि जिस भाव से कोई शब्द लाया गया है उसके साथ वह ठीक बैठता है या नहीं।

इसी 'छायावाद' के भीतर कुछ लोगों की कविताएँ ऐसी भी मिलती हैं जिनका स्वरूप विलायती नहीं होता, जो कुछ थोड़ा सा बँगलापन लिए हुए सूफियों के तर्ज पर होती हैं। इनमें लाक्षणिकता भी पूरी रहती है, पर वह अपनी भाषा की प्रकृति के अनुसार होती है अँगरेजी से उठाई हुई नहीं होती। ऐसी कविता लिखनेवाले वे ही हैं जो हिन्दी काव्य परंपरा से पूर्णतया परिचित हैं, जिन्हें अपनी भाषा पर पूरा अधिकार है और जो हिन्दी में 'छायावाद' प्रकट होने के पहले से अच्छी कविता करते थे। इनकी 'छायावाद' की रचनाओं में भी भावुकता और रमणीयता रहती है। थोड़ा खटकनेवाली बात जो मिलती है वह है फारसी शायरी के ढंग पर वेदना की अरुचिकर और अत्युक्त विवृति। शरीरधर्मों का अधिक विन्यास (ऐनिमैलिटी) काव्यशिष्टता के विरुद्ध पड़ता है, यह शायद हम पहले कहीं कह आए हैं। जो हो, कोरे विलायती तमाशे से हम इसे सौ दर्जे अच्छा समझते हैं। यद्यपि रहस्य की ओर भारतीय काव्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं, पर हिन्दी काव्यक्षेत्र में उसकी प्रतिष्ठा बहुत दिनों पहले

से बड़े हृदयग्राही रूप में हो चुकी है। इसके प्रवर्तक यद्यपि मुसलमान थे, पर वे सूफी 'रहस्यवाद' को भारतीय रूप देने में पूर्णतया सफल हुए थे। कबीर आदि निर्गुणपंथियों और जायसी आदि सूफी प्रेममार्गियों ने 'रहस्यवाद' की जो व्यंजना की है वह भारतीय भावभंगी और शब्दभंगी को लेकर।

अँगरेजी लाक्षणिक वाक्यों के अवतरण द्वारा विलायती तमाशा खड़ा करनेवालों का आदि रूप बीस बाईस वर्ष पीछे मुझे आज स्मरण आ रहा है। उस समय हिन्दी के प्रेम में बहुत से छात्र मेरे तथा मेरे साहित्यप्रेमी मित्रों के पास भी कविता सीखने की उत्कंठा प्रकट करते हुए, अँगरेजी की स्कूली किताबों में आई हुई कविताओं का प्रायः पद्यबद्ध शब्दानुवाद लेकर दिखाने आया करते थे। मैं उनसे बराबर यही कहता था कि 'कविता के अभ्यास का यह मार्ग नहीं है। पहले खड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों की कविताएँ पढ़कर अपनी काव्यभाषा की प्रकृति से पूर्णतया परिचित हो जाओ और इस प्रकार क्रमशः अपनी भाषा पर अधिकार प्राप्त करो। इसके पीछे रचना में हाथ लगाओ। अँगरेजी कविताओं के अनुवाद से हिन्दी कविता करना नहीं आ सकता। अँगरेजी कविता करना क्या कोई हिन्दी कविताओं का अनुवाद करके सीख सकता है? ऐसे छात्रों को मैं बराबर उनके अनुवाद सहित लौटा दिया करता था। पर कुछ दिनों पीछे उन पद्यानुवादों में से कई एक मासिक पत्रिकाओं में छपे दिखाई पड़ते थे। जब यह प्रवृत्ति कुछ बढ़ती दिखाई पड़ने लगी तब मेरे मन में यह बात आई थी कि इसका परिणाम आगे चलकर अच्छा न होगा। आज वही परिणाम 'गद्यमय जीवन' (प्रोजेइक लाइफ), 'सुवर्णस्वप्न' (गोल्डेन ड्रीम), 'स्वप्न अनिल' (ड्रीमी ऐटमास्फिअर), 'स्वप्निल आभा' (ड्रीमी स्प्लेंडर) आदि के रूप में झलक रहा है।

अतः हिन्दी काव्यक्षेत्र में यदि 'रहस्यवाद' के लिए कुछ अधिक स्थान करना है तो स्वाभाविक रहस्यभावना का—उसके वादग्रस्त या सांप्रदायिक रूप का नहीं—अवलंबन करना चाहिए और उसकी व्यंजना के लिए अपनी भाषा की—विदेशी भाषा की नहीं—सब शक्तियाँ लगानी चाहिए। भद्दे अनुकरण के अभ्यास का अनिष्ट प्रभाव कई तरफ पड़ता है। यहाँ पर हमसे बिना यह कहे आगे नहीं बढ़ा जाता है कि 'छायावाद' की कविताओं की अपेक्षा हमें तो रहस्यभावनापूर्ण जो दो एक गद्यकाव्य निकले हैं वे अधिक भावुकतापूर्ण और रमणीय जान पड़ते हैं, विशेषतः राय कृष्णदासजी की 'साधना'। इसमें न तो सांप्रदायिक 'रहस्यवाद' के शाबर मंत्र हैं, न 'अभिव्यंजनावाद' का अभिनय और न शब्दों की विलायती कलाबाजी। इसका हृदय भी भारतीय है, वाणी भी भारतीय है। जिन अनुभूतियों की व्यंजना है वे कहीं भीतर से आती हुई जान पड़ती हैं; आसमान से उतारी जाती हुई नहीं। पदविन्यास में जो सरलता और प्रांजलता है वह भी हमारी है। जिन मधुर 'प्रतीकों' का व्यवहार हुआ है वे भी हमारे हृदय के सगे हैं।

अब तो कदाचित् इस बात के विशेष विवरण की आवश्यकता न होगी कि जो 'छायावाद' नाम प्रचलित है वह वेदांत के पुराने 'प्रतिबिंबवाद' का है। यह 'प्रतिबिंबवाद' सूफियों के यहाँ से होता हुआ योरप में गया जहाँ कुछ दिनों पीछे 'प्रतीकवाद' से संश्लिष्ट होकर धीरे धीरे बंगसाहित्य के एक कोने में आ निकला और नवीनता की धारणा उत्पन्न करने के लिए 'छायावाद' कहा जाने लगा। यह काव्यगत 'रहस्यवाद' के लिए गृहीत दार्शनिक सिद्धांत का द्योतक शब्द है। इसके इतिहास की ओर ध्यान न देने के कारण अनेक प्रकार की मनमानी व्याख्याएँ हिन्दी पत्र पत्रिकाओं में समय समय पर निकला करती हैं, जिनमें कहीं 'रहस्यवाद' और 'छायावाद' का कल्पित भेद समझाया जाता है; कहीं छायावाद ही के अर्थ में एक और 'बिंबवाद' खड़ा करके दोनों का 'वस्तुवाद' (?) के साथ विरोध कुछ शब्दाडंबर के साथ दिखाया जाता है। ऐसे लोगों को शब्दों का प्रयोग करते समय शास्त्रपक्ष का कुछ पता रखना या कम से कम लगा लेना चाहिए। उन्हें समझना चाहिए कि 'बिंब' 'छाया' का बिलकुल उल्टा है और उसी अर्थ में आता है जिस अर्थ में उन्होंने 'वस्तु' शब्द का प्रयोग किया है। जो मूल वस्तु प्रतिबिंब या छाया फेंकती है शास्त्रीय भाषा में वही बिंब कहलाती है। जिस रियलिज्म शब्द के लिए उन्होंने 'वस्तुवाद' शब्द बनाया है वह दार्शनिक भाषा में 'वाह्यार्थवाद' कहलाता है।

यहाँ पर हम यह स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि हिन्दी काव्य क्षेत्र में हम 'रहस्यवाद' की भी एक शाखा चलने के विरोधी कभी नहीं हैं। हमारा कहना केवल यही है कि वह वाद के रूप में न चले; स्वाभाविक रहस्य भावना का आश्रय लेकर चले। छायावाद का रूप रंग बनाकर आजकल जो बहुत सी कविताएँ निकली हैं उनमें कुछ तो बहुत ही सुंदर, स्वाभाविक और सच्ची रहस्य भावना लेकर चली हैं; कुछ वादग्रस्त और कृत्रिम हैं और अधिकांश कुछ भी नहीं हैं। शुद्ध काव्य दृष्टि का प्रचार हो जाने पर पूर्ण आशा है कि कूड़े करकट के ढेर में सच्ची स्वाभाविक रहस्य भावना अपना मार्ग अवश्य निकाल लेगी और हिन्दी काव्य क्षेत्र की यह शाखा भी अपनी एक स्वतंत्र भारतीय विभूति का प्रकाश करेगी। अनुकरण युग का अंत होगा, इसका हमें पक्का भरोसा है।

'अभिव्यंजनावाद' किस प्रकार व्यंजनाप्रणाली की एकता और विलक्षणता पर ही जोर देता है, यह हम देख चुके। यह हमारे यहाँ का पुराना 'वक्रोक्तिवाद' ही है, यह भी हम निरूपित कर आए। उसके कारण शब्दाडंबर की कितनी अधिकता हुई है, यह बात भी हम देख रहे हैं। यह कई बार हम सूचित कर चुके हैं कि योरप के समीक्षा क्षेत्र में जितने 'वाद' निकलते हैं सब एकांगदर्शी होते हैं; किसी एक ही दिशा में आँख मूँदकर हद के बाहर बढ़ते चले जाते हैं। उनमें सामंजस्यबुद्धि का अभाव होता है। अतः इस 'अभिव्यंजनावाद' से हम केवल इतना ही तथ्य ग्रहण कर

सकते हैं कि हमारी काव्यभाषा में व्यंजना प्रणाली के और अधिक प्रसार और चित्ताकर्षक विकास की बहुत आवश्यकता है।

हमारी पुरानी कविता में व्यंजनाप्रणाली के प्रसार और चमत्कार के लिए अलंकारों का ही विधान अधिकतर होता था। पर अलंकारों के अधिक प्रयोग से कविता इतनी भाराक्रांत और कहीं कहीं कितनी भद्दी हो जाती है, इसके उदाहरण केशवदासजी की रचनाओं में बिना ढूँढ़े मिलेंगे। अलंकार बहुत जगह लेते हैं और बहुत दूर तक भावना को एक ढाँचे के भीतर बंद किए रहते हैं। अतः उनका संयत प्रयोग वहीं होना चाहिए जहाँ विचार या भावना के पूर्ण प्रसार या भाव की यथेष्ट व्यंजना के लिए व्यासविधान अपेक्षित हो। अब इस समय हिन्दी काव्यभाषा में मूर्तिमत्ता की समासशक्ति का, लक्षणाशक्ति का अधिक विकास अपेक्षित है। काव्य में अधिकतर सादृश्य या साधर्म्यमूलक अलंकारों का व्यवहार होता है। पर बहुत से स्थलों पर उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा इत्यादि के बँधे हुए लंबे चौड़े ढाँचे की अपेक्षा लक्षणा से बहुत अधिक रमणीयता और वाग्वैचित्र्य का संपादन हो सकता है। लाक्षणिकता के सम्यक् और स्वाभाविक विकास द्वारा भाषा भावक्षेत्र और विकासक्षेत्र दोनों में बहुत दूर तक, बहुत ऊँचाई तक और बहुत गहराई तक प्रकाश फेंक सकती है। छायावाद समझकर लिखी हुई कविताओं में से बहुतों में, अनुकरणवश सही, लाक्षणिकता की ओर अधिक प्रवृत्ति देख बड़ी प्रसन्नता होती है।

लाक्षणिकता के अधिक विधान की आवश्यकता किसी शाखाविशेष के भीतर ही नहीं, समूचे हिन्दी काव्यक्षेत्र के भीतर है। पर यह विधान खूब समझ बूझकर होना चाहिए। न तो अपनी भाषा की प्रकृति की इतनी अवहेलना होनी चाहिए कि अँगरेजी के लाक्षणिक प्रयोग शब्द प्रति शब्द रख लिए जायँ और न उर्दूवालों की तरह मुहावरे से फिसलने का इतना डर छाया रहना चाहिए कि बिलकुल उड़ने से कुछ पहले की अवस्था सूचित करने के लिए 'खबर फड़फड़ा रही है' लिखते हाथ रुक जाय। सामंजस्यबुद्धि से काम लेते हुए अग्रसर होना होगा। मुहावरे लाक्षणिक प्रयोग ही हैं, पर बँधे हुए। उनसे किसी भाषा की लाक्षणिक प्रवृत्ति के स्वरूप का पता चलता है। अतः उनका सूत्र पकड़े हुए लक्षणा इधर उधर अच्छी तरह बढ़ सकती है। उदाहरण के लिए 'लालसा जगना' लीजिए। इसके इशारे पर 'लालसा सोती है' हम बेधड़क कह सकते हैं। पर बहुत आगे बढ़कर 'लालसा का आँख मलना, करवट बदलना, अँगड़ाइयाँ लेना', मुँह का कमल को लात मारना हो जाएगा। लाक्षणिक मूर्तिमत्ता गुड़ियों का खेल न होने पाए। हमारा मतलब यह नहीं कि मुहावरों के रास्ते के भीतर ही लक्षणा अपने हाथ पैर फैलाए। तात्पर्य इतना है कि अपनी भाषा की प्रकृति परखकर और सुरुचि का ध्यान रखकर चला जाय।

'छायावाद' या 'रहस्यवाद' के संबंध में जानबूझकर अज्ञानवश तरह तरह की भ्रांति हिन्दी पाठकों के बीच फैलाने की चेष्टा की जाती है, वह असभ्यतासूचक है।

यह कहना कि 'रहस्यवाद' ही वर्तमान युग की कविता है और योरप में चारों ओर यही कविता हो रही है, या तो घोर अज्ञान है या छल। ब्लेक आदि के पीछे सन् 1885 में जो प्रतीकवादमिश्रित नूतन रहस्यवाद फ्रांसीसी साहित्यक्षेत्र के एक कोने में प्रकट हुआ जिसकी नकल बँगला से होती हुई हिन्दी में आई—यह किस दृष्टि से देखा जाता है, यह हम अच्छी तरह दिखा चुके हैं। दूसरी बात लीजिए। हम नहीं समझते कि बिना हिन्दीवालों की खोपड़ी को एकदम खोखली माने उसके बीच इस प्रकार के अर्थ शून्य वाक्य छायावाद के संबंध में कैसे कहे जाते हैं कि 'यह नवीन जागृति का चिह्न है, देश के नवयुवकों के हृदय की दहकती हुई आग है इत्यादि, इत्यादि'। भला देश की नई 'जागृति' से देशवासियों की दारुण दशा की अनुभूति से और असीम ससीम के मिलन, अव्यक्त और अज्ञात की झाँकी आदि का क्या संबंध! क्या हिन्दी के वर्तमान साहित्यक्षेत्र में शब्द और अर्थ का संबंध बिलकुल टूट गया है? क्या शब्दों की गर्दभरी आँधी विलायत के कलाक्षेत्र से धीरे धीरे हटती हुई अब हिन्दीवालों का आँख खोलना मुश्किल करेगी?

यदि ऐसा नहीं है तो मासिक पत्रिकाओं में कभी कभी योरप की काव्यसमीक्षा की पुस्तकों की केवल आलंकारिक पदावली बिना किसी विचारसूत्र के काव्य या कला की आलोचना के नाम से कैसे निकला करती है? किसी अँगरेजी या बँगला के कवि के संबंध में लिखी हुई लच्छेदार उक्तियाँ किसी नए-पुराने हिन्दी कवि के संबंध में नई आलोचनाओं के रूप में कैसे भिड़ा दी जाती है? ऐसी कार्रवाइयाँ हिन्दी साहित्य के स्वतंत्र विकास में बाधक हो रही हैं। हिन्दी पाठकों को इस प्रकार अंधा मान लेना हम बड़े अपमान की बात समझते हैं।

यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि हमारे काव्य का, हमारे साहित्यशास्त्र का, एक स्वतंत्र रूप है जिसके विकास की क्षमता और प्रणाली भी स्वतंत्र है। उसकी आत्मा को, उसकी छिपी हुई भीतरी प्रकृति को पहले हम जब सूक्ष्मता से पहचान लेंगे तभी दूसरे देशों के साहित्य के स्वतंत्र पर्यालोचन द्वारा अपने साहित्य के उत्तरोत्तर विकास का विधान कर सकेंगे। हमें अपनी दृष्टि से दूसरे देशों के साहित्य को देखना होगा, दूसरे देशों की दृष्टि से अपने साहित्य को नहीं। जब तक हम इस विचारसामर्थ्य का संपादन न कर लेंगे तब तक अफ्रीका के जंगलियों की तरह जो अँगरेजों के उतारे कपड़े बदन पर डालकर स्ववर्गियों के बीच बड़ी ऐंठ से चला करते हैं—भद्दी नकल को ही नवीनता मानकर संतोष करते रहेंगे और सभ्यजगत् के उपहासभाजन बने रहेंगे। हमारी आँख अपना स्वरूप तक न देख सकेगी, विदेशी दर्पण की आवश्यकता होगी। विदेशी लोग जैसा हमें बतावेंगे वैसा ही अपने को मानकर हम उसके प्रमाण उनके सामने रखा करेंगे। योरप ने कहा 'भारतवासी बड़े आध्यात्मिक होते हैं, उन्हें भौतिक सुख समृद्धि की परवा नहीं होती'। बस, दिखा चले अपनी आध्यात्मिकता।

देखिए, हमारे काव्य में भी आध्यात्मिकता है; यह देखिए हमारी चित्रविद्या की आध्यात्मिकता, यह देखिए हमारी मूर्तिकला की आध्यात्मिकता।

जितनी बातें आजकल काव्यक्षेत्र में 'नवीनता' कहकर पेश की जाती हैं, एक एक करके सबका मूल हम योरप के नए पुराने प्रचलित प्रवादों में दिखा चुके हैं। सब नकल की नकल हैं। इस नकल की प्रवृत्ति बंगाल में ही सबसे अधिक रही। वहीं के साहित्य में एक एक बात की नकल शुरू हुई। नकल से किसी जाति के साहित्य का असली गौरव नहीं हो सकता। इससे उसकी अपनी संस्कृति, अपनी सभ्यता और अपनी उद्भावना का अभाव ही व्यंजित होता है। जिसकी नकल की जाती है वह और भी उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। बंग भाषा के साहित्य में योरपीय साहित्य की प्रवृत्तियों की यह भद्दी नकल देखकर जार्ज ग्रियर्सन ने अपनी 'भाषाओं की जाँच' में स्पष्ट विरक्ति प्रकट की है। एक जगह की प्रचलित और सामान्य वस्तुओं को दूसरी जगह विकृति रूप में रखकर नवीनता की विज्ञप्ति करना किसी सभ्य जाति को शोभा नहीं देता। यह नवीनता नहीं है—अपने स्वरूप का घोर अज्ञान है, अपनी शक्ति का घोर अविश्वास है, अपनी बुद्धि और उद्भावना का घोर आलस्य है, पराक्रांत हृदय का घोर नैराश्य है, कहाँ तक कहें? घोर साहित्यिक गुलामी है। जब तक इस गुलामी से छुटकारा न होगा तब तक नवीनता के दर्शन कहाँ? नकल के भीतर की नवीनता भी नकल ही के पेट में समा जाती है।

दुनिया जानती है कि जब से फारसी और संस्कृत के काव्यों के अनुवाद योरप के भिन्न भिन्न देशों में होने लगे तभी से पूरबी रंग (ओरिएंटलिज्म) की बहुत कुछ झलक वहाँ की कविताओं में दिखाई पड़ने लगी। इस पर बाहरी रंग को उन्होंने अपने रंग में ऐसा मिला लिया कि इसकी पृथक् सत्ता कहीं से लक्षित नहीं होती। उनके अपने विचारों का ऐसा स्वतंत्र और सघन प्रसार था कि बाहर से आते हुए विचार उसी में समाते गए। उनकी अपनी विचारधारा इतनी सबल थी कि बाहर से आकर मिले हुए सोते अपनी उछलकूद अलग न दिखाकर, उसी के वेग को बढ़ाते रहे। इसका नाम है स्वतंत्र 'प्रगति' और स्वतंत्र 'विकास'।

अंत में हम इतना ही कहकर अलग होते हैं कि हम सारा काव्यक्षेत्र देव, मतिराम और बिहारी आदि के घेरे के भीतर देखनेवाले पुरानी लकीर के फकीर न कभी रहे हैं और न हैं। हम अपने हिन्दी काव्य को विश्व की नित्य और अनंत विभूति में स्वच्छंदतापूर्वक, अपनी स्वाभाविक प्रेरणा के अनुसार, अपनी आँख खोल कर विचरण करते देखना चाहते हैं। पर वह दिन तभी आ सकता है जब हमारी अंतर्दृष्टि को आच्छन्न करनेवाले परदे हटेंगे और हमारे विचारों में बल आएगा। इसके पहले हम बाहर के न नाना वादों और प्रवादों की ओर आँखें मूँदकर लपका करेंगे; अपने विचार के परीक्षालय में उनकी पूरी जाँच न करके उनके अनुकरण में ही अपने को धन्य माना करेंगे।

इस परीक्षालय की नूतन प्रतिष्ठा के लिए हमें अपनी रसनिरूपण पद्धति का आधुनिक मनोविज्ञान आदि की सहायता से खूब प्रसार संस्कार करना पड़ेगा। इस पद्धति की नींव बहुत दूर तक डाली गई है। इसके ढाँचों का नए नए अनुभवों के अनुसार, अनेक दिशाओं में फैलाव बहुत जरूरी है। योरप के साहित्यिक वादों और प्रवादों के संबंध में यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि ये प्रतिवर्तन (रिऐक्शन) की झोंक में उठते हैं और किसी ओर हद के बाहर बढ़ते चले जाते हैं। उनमें सत्य की मात्रा कुछ न कुछ रहती अवश्य है; पर किसी हद तक ही। हमें देखना चारों ओर चाहिए, पर सब देखी हुई बातों का सामंजस्यबुद्धि से समन्वय करना चाहिए। जैसा हम आरंभ ही में कह चुके हैं, यही सामंजस्य भारतीय काव्यदृष्टि की विशेषता है। यही सामंजस्य अनेक रूपात्मक जीवन और अनेक भावात्मक काव्य की सफलता का मूलमंत्र है।

(साहित्यभूषण कार्यालय, काशी से 1929 ई. में पुस्तकाकार प्रकाशित)

[चिन्तामणि, भाग-2]

प्रेम आनंद स्वरूप है

काव्य की उस भूमि में जहाँ आनंद अपनी पूर्णावस्था को प्राप्त दिखाई पड़ता है, प्रवर्तक भाव 'प्रेम' रहता है। इसी भाव के विविध प्रकार के आलम्बनों और उद्दीपनों का चित्रण इस भूमि के विभाव पक्ष में पाया जाता है। दीप्ति, माधुर्य और कोमलता के नाना रूप यहाँ मिलते हैं। बाहर नयनाभिराम रूपरेखा, विकसित वर्ण वैचित्र्य, विभूति, प्रभूति, चमक दमक, शीतल स्निग्ध छाया; कलकंठ स्वर स्पंदित, सौरभ समन्वित समीर, स्मित आनन, चपल भू विलास, हास परिहास, संगीत सज्जा, वीणा की झंकार इत्यादि हैं तो भीतर सौन्दर्य की मादक अनुभूति, प्रेमोल्लास स्वप्न, स्मृति विस्मृति, व्रीडा क्रीड़ा, दर्शन पिपासा, उत्कंठा, मुग्धता इत्यादि।

इस भूमि के मानस या आभ्यन्तर पक्ष की खाली उलझन हमारे पुराने आचार्य सुलझा गए हैं। यद्यपि प्रेम दशा के भीतर सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों प्रकार के भाव पाए जाते हैं; पर कान में 'प्रेमानंद' शब्द ही पड़ता है, 'प्रेमापन्न' नहीं। इससे, प्रेम आनंद स्वरूप है, यह लोकधारणा प्रकट होती है, जो साहित्य मीमांसकों को भी मान्य है। वियोग काल की सारी अश्रुधारा के तल में आनंद की रेखाएँ दिखाई पड़ती रहती हैं। विरह में आनंद नष्ट नहीं हुआ रहता; केवल 'आवृत' रहता है। विरहियों का रोना एक प्रकार हँसना ही है। उनके तीव्र ताप और ज्वाला की जड़ में एक रसमयी शीतलता रहती है। जब तक प्रिय इस जगत् में रहता है, तब तक, कहीं दूर चले जाने पर भी, उसका कहीं पता न रहने पर भी, जो दुःख और वेदना होती है, वह प्रेम भाव की ही अनुभूति समझी जाती है और साहित्य में विप्रलम्भ शृंगार के ही अंतर्गत मानी जाती है।

बात यह है कि वियोग काल चाहे कितना ही दारुण हो, उसके बीच बीच में मिलने की लालसा जगती रहती है, संयोग की कल्पना के सुख का अनुभव होता रहता है, प्रिय के रूप आदि का ध्यान आने पर मन लुब्ध होता रहता है। यह लालसा, यह लुब्धता आनंद के ढंग की चीज है; दुःख के ढंग की नहीं। आनंद के रूप में ही प्रेम का उदय होता है और उसका यह रूप भीतर भीतर बराबर बना रहता है। किसी के रूप सौंदर्य और शील सौंदर्य का पहले पहल साक्षात्कार या परिचय होते

ही सबसे पहली अनुभूति आनंद की होती है। सबसे पहले हृदय विकसित और लुब्ध होता है। सारांश यह कि प्रेम काल जीवन का आनंद काल ही है। इसी से भक्तगण भक्ति या प्रेम को ही साध्य कहा करते हैं।

प्रेम वास्तव में 'राग' का ही पूर्ण विकसित रूप है। राग और द्वेष दोनों की स्थिति वासना के रूप में प्रत्येक प्राणी में होती है। वासनात्मक अवस्था में इन दोनों के विषय सामान्य रहते हैं। सामान्यतः सुख देनेवाली या चिरकाल से साथ रहनेवाली वस्तुओं के प्रति राग और दुःख देनेवाली वस्तुओं के प्रति द्वेष का बीज सबके हृदय क्षेत्र में ढँका रहता है। यही राग जब अंकुरित या व्यक्त होकर किसी व्यक्ति विशेष की ओर पहले पहल उन्मुख होता है, तब 'लुभाना' कहलाता है और जब उस विशेष में जाकर स्थिर हो जाता है, तब 'प्रेम' कहा जाता है। सीधी बात यह है कि वासनात्मक अवस्था से भावात्मक अवस्था में हुआ आया राग ही 'अनुराग' या प्रेम है। किसी के रूप गुण आदि का उत्कर्ष सुनकर जो 'पूर्वराग' होता है, वह भी उत्तेजित 'राग' ही रहता है, प्रेम नहीं। यद्यपि उत्तेजना व्यक्ति विशेष के ही उत्कर्ष का परिचय पाकर होती है, पर पूर्व राग की दशा में प्रेम की अनन्यता और पूर्ण एकनिष्ठता नहीं रहती, वह पीछे प्राप्त होती है। किसी के प्रति पूर्वराग उत्पन्न होने पर यह संभावना रहती है कि अन्य समय उससे अधिक उत्कर्षवाले किसी दूसरे का परिचय पाकर वह उस पर हो जाय।

राग मिलानेवाली वासना है और द्वेष अलग करनेवाली। रासायनिक मूल द्रव्यों के राग से ही पिंड सृष्टि का विकास होता है। राग की अभिव्यक्ति विशेष दाम्पत्य और वात्सल्यभाव में ही होती है जिससे प्राणियों की परंपरा चिरकाल से चलती आ रही है। अतः प्रेम में पालन और रंजन दोनों की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष है।

('प्रेमा', अप्रैल-मई 1932)
[चिन्तामणि, भाग-3]

साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद

किसी काव्य का श्रोता या पाठक जिन विषयों को मन में लाकर रति, करुणा, क्रोध, उत्साह इत्यादि भावों तथा सौंदर्य, रहस्य, गांभीर्य आदि भावनाओं का अनुभव करता है, वे अकेले उसी के हृदय से संबंध रखनेवाले नहीं होते; मनुष्य मात्र की भावात्मक सत्ता पर प्रभाव डालनेवाले होते हैं। इसी से उक्त काव्य को एक साथ पढ़ने या सुननेवाले सहस्रों मनुष्य उन्हीं भावों या भावनाओं का थोड़ा बहुत अनुभव कर सकते हैं। जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबसे उसी भाव का आलंबन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' कहलाता है। यह सिद्धांत यह घोषित करता है कि सच्चा कवि वही है जिसे लोक हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस दशा है।

किसी काव्य में वर्णित किसी पात्र का किसी कुरूप और दुःशील स्त्री पर प्रेम हो सकता है, पर उसी स्त्री के वर्णन द्वारा शृंगार रस का आलंबन नहीं खड़ा हो सकता। अतः ऐसा काव्य केवल भाव प्रदर्शक ही होगा, विभाव विधायक कभी नहीं हो सकता। इसी प्रकार रौद्र रस के वर्णन में जब तक आलंबन का चित्रण इस रूप में न होगा कि वह मनुष्य मात्र के क्रोध का पात्र हो सके, तब तक यह वर्णन भाव प्रधान मात्र रहेगा, उसका विभाव पक्ष या तो शून्य अथवा अशक्त होगा। पर भाव और विभाव दोनों पक्षों के सामंजस्य के बिना पूरी और सच्ची रसानुभूति नहीं हो सकती। केवल भाव प्रदर्शक काव्यों में भी होता यह है कि पाठक या श्रोता अपनी ओर से अपनी भावना के अनुसार आलंबन का आरोप किए रहता है।

काव्य का विषय सदा 'विशेष' होता है, 'सामान्य' नहीं, वह 'व्यक्ति' सामने लाता है, 'जाति' नहीं। यह बात आधुनिक कला समीक्षा के क्षेत्र में पूर्णतया स्थिर हो चुकी है। अनेक व्यक्तियों के रूपगुण आदि के विवेचन द्वारा कोई वर्ग या जाति ठहराना, बहुत सी बातों को लेकर कोई सामान्य सिद्धांत प्रतिपादित करना, यह सब तर्क और विज्ञान का काम है—निश्चयात्मिका बुद्धि का व्यवसाय है। काव्य का काम

है कल्पना में 'बिम्ब' (Images) या मूर्त भावना उपस्थित करना, बुद्धि के सामने कोई विचार (Concept) लाना नहीं। 'बिम्ब' जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा, सामान्य या जाति का नहीं।[1]

इस सिद्धांत का तात्पर्य यह है कि शुद्ध काव्य की उक्ति सामान्य तथ्य कथन या सिद्धांत के रूप में नहीं होती। कविता वस्तुओं और व्यापारों का बिम्ब ग्रहण कराने का प्रयत्न करती है, अर्थ ग्रहण मात्र से उसका काम नहीं चलता। बिम्ब ग्रहण जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा, सामान्य या जाति का नहीं। जैसे, यदि कहा जाय कि क्रोध से मनुष्य बावला हो जाता है तो यह काव्य की उक्ति न होगी। काव्य की उक्ति तो किसी क्रुद्ध मनुष्य के उग्र वचनों और उन्मत्त चेष्टाओं को कल्पना में उपस्थित भर कर देगी। कल्पना में जो कुछ उपस्थित होगा वह व्यक्ति या वस्तु विशेष ही होगा। सामान्य या 'जाति' की तो मूर्त भावना हो ही नहीं सकती।[2]

अब यह देखना चाहिए कि हमारे यहाँ विभावन व्यापार में जो 'साधारणीकरण' कहा गया है, उसके विरुद्ध तो यह सिद्धांत नहीं जाता। विचार करने पर स्पष्ट हो जाएगा कि दोनों में कोई विरोध नहीं पड़ता। विभावादिक साधारणतया प्रतीत होते हैं, इस कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि रसानुभूति के समय श्रोता या पाठक के मन में आलंबन आदि विशेष व्यक्ति या विशेष वस्तु की मूर्त भावना के रूप

---

1. अभिव्यंजनावाद (Expressionism) के प्रवर्तक क्रोचे (Benedetto Croce) ने कला के बोध पक्ष और तर्क के बोध पक्ष को इस प्रकार अलग अलग दिखाया है—(क) Intutive knowledge—knowledge obtained through the imagination, knowledge of the individual or individual things. (ख) Logical knowledge—knowledge obtained through the intellect; knowledge of the universal knowledge of the relations between individual things. —Aesthetics by Benedetto Croce.
2. साहित्य शास्त्र में नैयायिकों की बातें ज्यों की त्यों ले लेने से काव्य के स्वरूप निर्णय में जो बाधा पड़ी है, उसका एक उदाहरण 'शक्तिग्रह' का प्रसंग है। उसके अंतर्गत कहा गया है कि संकेतग्रह 'व्यक्ति' का नहीं होता है, 'जाति' का होता है। तर्क में भाषा के संकेत पक्ष (Symbolic aspect) से ही काम चलता है जिसमें अर्थग्रहण मात्र पर्याप्त होता है। अतः न्याय में तो जाति का संकेतग्रह कहना ठीक है। पर काव्य में भाषा के प्रत्यक्षीकरण (Presentative aspect) से काम लिया जाता है जिसमें शब्द द्वारा सूचित वस्तु का बिंब ग्रहण होता है—अर्थात् उसकी मूर्ति कल्पना में खड़ी हो जाती है। काव्य मीमांसा के क्षेत्र में न्याय का यह हाथ बढ़ाना डॉ. सतीशचंद्र विद्याभूषण को भी खटका है। उन्होंने कहा है—It is however, to be regretted that during the last 500 years the Nyaya has been mixed up with Law, Rhetoric, etc. and thereby has hampered the growth of those branches of knowledge upon which it has grown up as a sort of parasite.

—Introduction (The Nyaya Sutras)

में न आकर सामान्यतः व्यक्ति मात्र या वस्तु मात्र (जाति) के अर्थ संकेत के रूप में आते हैं। 'साधारणीकरण' का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलंबन होती है, वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलंबन हो जाती है। जिस व्यक्ति विशेष के प्रति किसी भाव की व्यंजना कवि या पात्र करता है, पाठक या श्रोता की कल्पना में यह व्यक्ति विशेष उपस्थित रहता है। हाँ कभी कभी ऐसा भी होता है कि पाठक या श्रोता की मति या संस्कार के कारण वर्णित व्यक्ति विशेष के स्थान पर कल्पना में उसी के समान धर्मवाली कोई मूर्ति विशेष आ जाती है, जैसे—यदि किसी पाठक या श्रोता का किसी सुंदरी से प्रेम है तो शृंगार रस की फुटकल उक्तियाँ सुनने के समय रह रहकर आलंबन रूप में उसकी प्रेयसी की मूर्ति ही उसकी कल्पना में आएगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह कल्पित मूर्ति भी विशेष ही होगी—व्यक्ति की ही होगी।

कल्पना में मूर्ति तो विशेष ही की होगी, पर वह मूर्ति ऐसी होगी जो प्रस्तुत भाव का आलंबन हो सके, जो उसी भाव को पाठक या श्रोता के मन में भी जगाए जिसकी व्यंजना आश्रय अथवा कवि करता है। इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलंबनत्व धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है। तात्पर्य यह है कि आलंबन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाववाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण, सबके भावों का आलंबन हो जाता है। 'विभावादि सामान्य रूप में प्रतीत होते हैं'—इसका तात्पर्य यही है कि रसमग्न पाठकों के मन में यह भेदभाव नहीं रहता कि यह आलंबन मेरा है या दूसरे का। थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है। उसका अपना हृदय अलग नहीं रहता।

'साधारणीकरण' के प्रतिपादन में पुराने आचार्यों ने श्रोता या पाठक और आश्रय (भाव व्यंजना करनेवाला पात्र) के तादात्म्य की अवस्था का ही विचार किया है जिसमें आश्रय किसी काव्य या नाटक के पात्र के रूप में आलंबन रूप किसी दूसरे पात्र के प्रति किसी भाव की व्यंजना करता है और श्रोता (या पाठक) उसी भाव का रस रूप में अनुभव करता है। पर रस की एक नीची अवस्था और है जिसका हमारे यहाँ के साहित्य ग्रंथों में विवेचन नहीं हुआ है। उसका भी विचार करना चाहिए। किसी भाव की व्यंजना करनेवाला, कोई क्रिया या व्यापार करनेवाला पात्र भी शील की दृष्टि से श्रोता (या दर्शक) के किसी भाव का, जैसे—श्रद्धा, भक्ति, घृणा, रोष, आश्चर्य, कुतूहल या अनुराग का—आलंबन होता है। इस दशा में श्रोता या दर्शक उसी भाव का अनुभव नहीं करता जिसकी व्यंजना पात्र अपने आलंबन के प्रति करता है, बल्कि व्यंजना करनेवाले उस पात्र के प्रति किसी और ही भाव का अनुभव करता

है। यह दशा भी एक प्रकार की रस दशा ही है—यद्यपि इसमें आश्रय के साथ तादात्म्य और उसके आलंबन का साधारणीकरण नहीं रहता, जैसे—कोई क्रोधी या क्रूर प्रकृति का पात्र यदि किसी निरपराध या दीन पर क्रोध की प्रबल व्यंजना कर रहा है तो श्रोता या दर्शक के मन में क्रोध का रसात्मक संचार न होगा, बल्कि क्रोध प्रदर्शित करनेवाले उस पात्र के प्रति अश्रद्धा, घृणा आदि का भाव जागेगा। ऐसी दशा में आश्रय के साथ तादात्म्य या सहानुभूति न होगी, बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पात्र के शील द्रष्टा या प्रकृति द्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा। और यह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा पर इस रसात्मकता को हम मध्यम कोटि का ही मानेंगे।

जहाँ पाठक या दर्शक किसी काव्य या नाटक में सन्निविष्ट पात्र या आश्रय के शील द्रष्टा के रूप में स्थित होता है वहाँ भी पाठक या दर्शक के मन में कोई न कोई भाव थोड़ा बहुत अवश्य जगा रहता है। अंतर इतना ही पड़ता है कि उस पात्र का आलंबन पाठक या दर्शक का आलंबन नहीं होता बल्कि वह पात्र पाठक या दर्शक के किसी भाव का आलंबन रहता है। इस दशा में भी एक प्रकार का तादात्म्य और साधारणीकरण होता है। तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है। जो स्वरूप कवि अपनी कल्पना में लाता है उसके प्रति उसका कुछ न कुछ भाव अवश्य ही रहता है। वह उसके किसी भाव का आलंबन अवश्य होता है। अतः पात्र का स्वरूप कवि के जिस भाव का आलंबन रहता है, पाठक या दर्शक के भी उसी भाव का आलंबन प्रायः हो जाता है। जहाँ कवि किसी वस्तु (जैसे हिमालय, विंध्याटवी) या व्यक्ति का केवल चित्रण करके छोड़ देता है वहाँ कवि ही आश्रय के रूप में रहता है। उस वस्तु या व्यक्ति का चित्रण वह उसके प्रति कोई भाव रखकर ही करता है। उसी के भाव के साथ पाठक या दर्शक का तादात्म्य रहता है, उसी का आलंबन पाठक या दर्शक का आलंबन हो जाता है।

आश्रय की जिस भाव व्यंजना को श्रोता या पाठक का हृदय कुछ भी अपना न सकेगा, उसका ग्रहण केवल शील वैचित्र्य के रूप में होगा और उसके द्वारा घृणा, विरक्ति, अश्रद्धा, क्रोध, आश्चर्य, कुतूहल इत्यादि में से ही कोई भाव उत्पन्न होकर अपरितुष्ट दशा में रह जाएगा। उस भाव की तुष्टि तभी होगी जब कोई दूसरा पात्र आकर उसकी व्यंजना वाणी और चेष्टा द्वारा उस बेमेल या अनुपयुक्त भाव की व्यंजना करनेवाले प्रथम पात्र के प्रति करेगा। इस दूसरे पात्र की भाव व्यंजना के साथ श्रोता या दर्शक की पूर्ण सहानुभूति होगी। अपरितुष्ट भाव की आकुलता का अनुभव प्रबंध काव्यों, नाटकों और उपन्यासों के प्रत्येक पाठक को थोड़ा बहुत होगा। जब कोई असामान्य दुष्ट अपनी मनोवृत्ति की व्यंजना किसी स्थल पर करता है तब पाठक के मन में बार बार यही आता है कि उस दुष्ट के प्रति उसके मन में जो घृणा या क्रोध है उसकी भरपूर व्यंजना, वचन या क्रिया द्वारा कोई पात्र आकर करता। क्रोधी

परशुराम तथा अत्याचारी रावण की कठोर बातों का जो उत्तर लक्ष्मण और अंगद देते हैं उससे कथा श्रोताओं की अपूर्व तुष्टि होती है।

इस संबंध में सबसे अधिक ध्यान देने की बात यह है कि शील विशेष के परिज्ञान से उत्पन्न भाव की अनुभूति और आश्रय के साथ तादात्म्य दशा की अनुभूति (जिसे आचार्यों ने रस कहा है) दो भिन्न कोटि की रसानुभूतियाँ हैं। प्रथम में श्रोता या पाठक अपनी पृथ्क सत्ता अलग सँभाले रहता है, द्वितीय में अपनी पृथक् सत्ता का कुछ क्षणों के लिए विसर्जन कर आश्रय की भावात्मक सत्ता में मिल जाता है। उदात्त वृत्तिवाले आश्रय की भाव व्यंजना में भी यह होगा कि जिस समय तक पाठक या श्रोता तादात्म्य की दशा में पूर्ण रसमग्न रहेगा उस समय तक भाव व्यंजना करने वाले आश्रय को अपने से अलग रखकर उसके शील आदि की ओर दत्तचित्त न रहेगा। उस दशा के आगे पीछे ही वह उसकी भावात्मक सत्ता से अपनी भावात्मक सत्ता को अलग कर उसके शील सौंदर्य की भावना कर सकेगा। भाव व्यंजना करनेवाले किसी पात्र या आश्रय के शील सौंदर्य की भावना जिस समय रहेगी, उस समय वही श्रोता या पाठक का आलंबन रहेगा और उसके प्रति श्रद्धा भक्ति या प्रीति टिकी रहेगी।

हमारे यहाँ के आचार्यों ने श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य दोनों में रस की प्रधानता रखी है, इसी से दृश्य काव्य में भी उनका लक्ष्य तादात्म्य और साधारणीकरण की ओर रहता है। पर योरप के दृश्य काव्यों में शील वैचित्र्य या अंतःप्रकृति वैचित्र्य की ओर ही प्रधान लक्ष्य रहता है जिसके साक्षात्कार से दर्शक को आश्चर्य और कुतूहल मात्र की अनुभूति होती है। अतः इस वैचित्र्य पर थोड़ा विचार कर लेना चाहिए। वैचित्र्य के साक्षात्कार से केवल तीन बातें ही हो सकती हैं—

1. आश्चर्यपूर्ण प्रसादन, 2. आश्चर्यपूर्ण अवसादन, और 3. कुतूहल मात्र।

आश्चर्यपूर्ण प्रसादन शील के चरम उत्कर्ष अर्थात् सात्त्विक आलोक के साक्षात्कार से होता है। भरत का राम की पादुका लेकर विरक्त रूप में बैठना, राजा हरिश्चंद्र का अपनी रानी से आधा कफन माँगना, नागानंद नाटक में जीमूतवाहन का भूखे गरुड़ से अपना मांस खाने के लिए अनुरोध करना इत्यादि शील वैचित्र्य के ऐसे दृश्य हैं जिनसे श्रोता या दर्शक के हृदय में आश्चर्य मिश्रित श्रद्धा या भक्ति का संचार होता है। इस प्रकार के उत्कृष्ट शील वाले पात्रों की भाव व्यंजना को अपनाकर वह उसमें लीन भी हो सकता है। ऐसे पात्रों का शील विचित्र होने पर भी भाव व्यंजना के समय उनके साथ पाठक या श्रोता का तादात्म्य हो सकता है।

आश्चर्यपूर्ण अवसादन शील के अत्यंत पतन अर्थात् तामसी घोरता के साक्षात्कार से होता है। यदि किसी काव्य या नाटक में हूण सम्राट मिहिरकुल पहाड़ की चोटी पर से गिराए जाते हुए मनुष्य के तड़पने, चिल्लाने आदि की भिन्न भिन्न चेष्टाओं पर भिन्न भिन्न ढंग से आह्लाद की व्यंजना करे तो उसके आह्लाद में किसी श्रोता या दर्शक का हृदय योग न देगा बल्कि उसकी मनोवृत्ति की विलक्षणता और घोरता

पर स्तम्भित, क्षुब्ध या कुपित होगा। इसी प्रकार दुःशीलता की ओर और विचित्रताओं के प्रति श्रोता की आश्चर्य मिश्रित विरक्ति, घृणा आदि जगेगी।

जिन सात्त्विकी और तामसी प्रकृतियों की चरम सीमा का उल्लेख ऊपर हुआ है। सामान्य प्रकृति से उनकी आश्चर्यजनक विभिन्नता केवल उनकी मात्रा में होती है। वे किसी वर्ग विशेष की सामान्य प्रकृति के भीतर समझी जा सकती है, जैसे– भरत आदि की प्रकृति शीलवानों की प्रकृति के भीतर और मिहिरकुल की प्रकृति क्रूरों की प्रकृति के भीतर मानी जा सकती है। पर कुछ लोगों के अनुसार ऐसी अद्वितीय प्रकृति भी होती है जो किसी वर्ग विशेष की भी प्रकृति के भीतर नहीं होती। ऐसी प्रकृति के साक्षात्कार से न स्पष्ट प्रसादन होगा, न स्पष्ट अवसादन–एक प्रकार का मनोरंजन या कुतूहल ही होगा। ऐसी अद्वितीय प्रकृति के चित्रण को डंटन (Theodore Watts Danton) ने कवि की नाटकीय या निरपेक्ष दृष्टि (Dramatic or absolute Vision) का सूचक और काव्यकला का चरम उत्कर्ष कहा है। उनका कहना है कि साधारणतः कवि या नाटककार भिन्न भिन्न पात्रों की उक्तियों की कल्पना अपने ही को उनकी परिस्थिति में अनुमान करके किया करते हैं। वे वास्तव में यह अनुमान करते हैं कि यदि हम उनकी दशा में होते तो कैसे वचन मुँह से निकालते। तात्पर्य यह है कि उनकी दृष्टि सापेक्ष होती है, वे अपनी ही प्रकृति के अनुसार चरित्र चित्रण करते हैं। पर निरपेक्ष दृष्टिवाले नाटककार एक नवीन नर प्रकृति की सृष्टि करते हैं। नूतन निर्माणवाली कल्पना उन्हीं की होती है।

डंटन ने निरपेक्ष दृष्टि को उच्चतम शक्ति तो ठहराया पर उन्हें संसार भर में दो ही तीन कवि उक्त दृष्टि से संपन्न मिले जिनमें मुख्य शेक्सपियर हैं। पर शेक्सपियर के नाटकों में कुछ विचित्र अंतःप्रकृति के पात्रों के होते हुए भी अधिकांश ऐसे पात्र हैं जिनकी भाव व्यंजना के साथ पाठक या दर्शक का पूरा तादात्म्य रहता है। 'जूलियस सीजर' नाटक में अंटोनियो के लंबे भाषण से जो क्षोभ उमड़ा पड़ता है उसमें किसका हृदय योग न देगा? डंटन के अनुसार शेक्सपियर की दृष्टि की निरपेक्षता के उदाहरणों में हैमलेट का चरित्र चित्रण है। पर विचारपूर्वक देखा जाए तो हैमलेट की मनोवृत्ति भी ऐसे व्यक्ति की मनोवृत्ति है जो अपनी माता का घोर विश्वासघात और जघन्य शीलच्युति देख अर्द्धविक्षिप्त सा हो गया हो। परिस्थिति के साथ उसके वचनों का सामंजस्य उसकी बुद्धि की अवस्था का द्योतक है। अतः उसका चरित्र भी एक वर्ग विशेष के चरित्र के भीतर आ जाता है। उसके बहुत से भाषणों को प्रत्येक सहृदय व्यक्ति अपनाता है। उदाहरण के लिए आत्मग्लानि और क्षोभ से भरे हुए वे वचन जिनके द्वारा वह स्त्री जाति की भर्त्सना करता है। अतः हमारे देखने में ऐसी मनोवृत्ति का प्रदर्शन जो किसी दशा में किसी की हो ही नहीं सकती, केवल ऊपरी मनबहलाव के लिए खड़ा किया हुआ कृत्रिम तमाशा ही होगा। पर डंटन साहब के अनुसार ऐसी मनोवृत्ति का चित्रण नूतन सृष्टिकारिणी कल्पना का सबसे उज्ज्वल उदाहरण होगा।

'नूतन सृष्टि निर्माणवाली कल्पना' की चर्चा जिस प्रकार योरप में चलती आ रही है, उसी प्रकार भारतवर्ष में भी। पर हमारे यहाँ यह कथन अर्थवाद के रूप में--कवि और कवि कर्म की स्तुति के रूप में ही गृहीत हुआ, शास्त्रीय सिद्धांत या विवेचन के रूप में नहीं। योरप में अलबत यह एक सूत्र सा बनकर काव्य समीक्षा के क्षेत्र में भी जा घुसा है। इसके प्रचार का परिणाम वहाँ यह हुआ कि कुछ रचनाएँ इस ढंग की भी हो चलीं जिनमें कवि ऐसी अनुभूतियों की व्यंजना की नकल करता है जो न वास्तव में उसकी होती हैं और न किसी की हो सकती हैं। इस नूतन सृष्टि निर्माण के अभिनय के बीच 'दूसरे जगत् के पंछियों' की उड़ान शुरू हुई। शेली के पीछे पागलपन की नकल करनेवाले बहुत से खड़े हुए थे; वे अपनी बातों का ऐसा रूप रंग बनाते थे जो किसी और दुनिया का लगे या कहीं का न जान पड़े।[1]

यह उस प्रवृत्ति का हद से बाहर पहुँचा रूप है, जिसका आरंभ योरप में एक प्रकार से पुनरुत्थान काल (Renaissance) के साथ ही हुआ था। ऐसा कहा जाता है कि उस काल के पहले के काव्य की रचना काल को अखंड अनंत और भेदातीत मानकर तथा लोक को एक सामान्य सत्ता समझकर की जाती थी। रचना करनेवाले यह ध्यान रखकर नहीं लिखते थे कि इस काल के आगे आनेवाला काल कुछ और प्रकार का होगा अथवा इस वर्तमान काल का स्वरूप सर्वत्र एक ही नहीं है —किसी जन समूह के बीच पूर्ण सभ्य काल है, किसी के बीच उससे कुछ कम, किसी जन समुदाय के बीच कुछ असभ्य काल है, किसी के बीच उससे बहुत अधिक। इसी प्रकार उन्हें इस बात की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं होती थी कि लोक भिन्न भिन्न व्यक्तियों से बना होता है जो भिन्न भिन्न रुचि और प्रवृत्ति के होते हैं। 'पुनरुत्थान काल' से धीरे धीरे इस तथ्य की ओर ध्यान बढ़ता गया प्राचीनों की भूल प्रकट होती गई। अंत में इशारे पर आँख मूँदकर दौड़नेवाले बड़े बड़े पंडितों ने पुनरुत्थान की कालधारा को मथकर 'व्यक्तिवाद' रूपी नया रत्न निकाला। फिर क्या था? शिक्षित समाज में व्यक्तिगत विशेषताएँ देखने दिखाने की चाह बढ़ने लगी।

---

1. After Shelley's music began to captivate the world certain poets set to work upon the theory that between themselves and the other portion of the human race, there is a wide gulf fixed. Their theory was that they were to sing, as far as possible, like birds of another world. It might also be said that the poetic atmosphere became that of the supreme place of wonder.

—Bedlam

Bailey Dobell and Smith were not Bedlamites, but men of common sense. They only affected madness. The country from which the followers of Shelly sing to our lower world was named "Nowhere".

–Poetry and Rennaissance of wonder by Theodte watts Dunton.

काव्यक्षेत्र में किसी 'वाद' का प्रचार धीरेधीरे उसकी सारसत्ता को ही चर जाता है। कुछ दिनों में लोग कविता न लिखकर 'वाद' लिखने लगते हैं। कला या काव्य के क्षेत्र में, 'लोक' और 'व्यक्ति' की उपर्युक्त धारणा कहाँ तक संगत है, इस पर थोड़ा विचार कर लेना चाहिए। लोक के बीच जहाँ बहुत सी भिन्नताएँ देखने में आती हैं, वहाँ कुछ अभिन्नताएँ भी पाई जाती हैं। एक मनुष्य की आकृति से दूसरे मनुष्य की आकृति नहीं मिलती, पर सब मनुष्यों की आकृतियों को एक साथ लें तो एक ऐसी सामान्य आकृति भावना भी बँधती है जिसके कारण हम सबको मनुष्य कहते हैं। इसी प्रकार सबकी रुचि और प्रकृति में भिन्नता होने पर भी कुछ ऐसी अंतर्भूतियाँ हैं जहाँ पहुँचने पर अभिन्नता मिलती है । वे अंतर्भूतियाँ नर समष्टि की रागात्मिका प्रकृति के भीतर हैं। लोक हृदय की यह सामान्य अंतर्भूमि परखकर हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' सिद्धांत की प्रतिष्ठा की गई है। वह सामान्य अंतर्भूमि कल्पित या कृत्रिम नहीं है। काव्य रचना की रुढ़ि या परंपरा, सभ्यता के न्यूनाधिक विकास, जीवन व्यापार के बदलनेवाले बाहरी रूप रंग इत्यादि पर यह स्थित नहीं है, इसकी नींव गहरी है। इसका संबंध हृदय के भीतरी मूल देश से है, उसका सामान्य वासनात्मक सत्ता से है।

जिस 'व्यक्तिवाद' का ऊपर उल्लेख हुआ है, उसने स्वच्छंदता के आंदोलन (Romantic Movement)के उत्तरकाल से बड़ा ही विकृत रूप धारण किया। यह 'व्यक्तिवाद' यदि पूर्ण रूप से स्वीकार किया जाए तो कविता लिखना व्यर्थ ही समझिए। कविता इसीलिए लिखी जाती है कि एक ही भावना सैकड़ों, हजारों क्या लाखों दूसरे आदमी ग्रहण करें। जब एक के हृदय के साथ दूसरे के हृदय की कोई समानता ही नहीं, तब एक के भावों को दूसरा क्यों और कैसे ग्रहण करेगा? ऐसी अवस्था में तो यही संभव है कि हृदय द्वारा मार्मिक या भीतरी ग्रहण की बात ही छोड़ दी जाए, व्यक्तिगत विशेषता के वैचित्र्य द्वारा ऊपरी कुतूहल मात्र उत्पन्न कर देना ही बहुत समझा जाए, हुआ भी यही। और हृदयों से अपने हृदय की भिन्नता और विचित्रता दिखाने के लिए बहुत से लोग एक एक काल्पनिक हृदय निर्मित करके दिखाने लगे। काव्यक्षेत्र 'नकली हृदयों' का एक कारखाना हो गया।

ऊपर जो कुछ कहा गया उससे जान पड़ेगा कि भारतीय काव्य दृष्टि भिन्न भिन्न विषयों के भीतर से 'सामान्य' उद्घाटन की ओर बराबर रही है। किसी न किसी 'सामान्य' के प्रतिनिधि होकर ही 'विशेष' हमारे यहाँ के काव्यों में आते रहे हैं। पर योरपीय काव्य दृष्टि इधर बहुत दिनों से विरल विशेष के विधान की ओर रही है। हमारे यहाँ कवि उस सच्चे तार की झंकार सुनाने में ही संतुष्ट रहे जो मनुष्य मात्र के हृदय के भीतर से होता हुआ गया है। पर उन्नीसवीं शताब्दी के बहुत से विलायती कवि ऐसे हृदयों के प्रदर्शन में लगे जो न कहीं होते हैं और न हो सकते हैं। सारांश यह है कि हमारी वाणी भावक्षेत्र के बीच 'भेदों के अभेद' को ऊपर करती रही और उनकी वाणी झूठे सच्चे विलक्षण भेद खड़े करके लोगों को चमत्कृत करने में लगी।

'कल्पना' और 'व्यक्तिवाद' की पाश्चात्य समीक्षा क्षेत्र में इतनी अधिक मुनादी हुई कि काव्य के और सब पक्षों से दृष्टि हटकर इन्हीं दो पर जा जमी। 'कल्पना' काव्य का बोधपक्ष है। कल्पना में आई हुई रूप व्यापार योजना का कवि या श्रोता को अंतःसाक्षात्कार या बोध होता है। पर इस बोधपक्ष के अतिरिक्त काव्य का भावपक्ष भी है। कल्पना को रूप योजना के लिए प्रेरित करनेवाले और कल्पना में आई हुई वस्तुओं में श्रोता या पाठक को रमानेवाले रति, करुणा, क्रोध, उत्साह, आश्चर्य इत्यादि भाव या मनोविकार होते हैं। इसी से भारतीय दृष्टि ने भावपक्ष को प्रधानता दी और रस के सिद्धांत की प्रतिष्ठा की। पर पश्चिम में 'कल्पना', 'कल्पना' की पुकार के सामने धीरे धीरे समीक्षकों का ध्यान भावपक्ष से हट गया और बोधपक्ष पर ही भिड़ गया। काव्य की रमणीयता उस हलके आनंद के रूप में ही मानी जाने लगी! जिस आनंद के लिए हम नई नई, सुंदर, भड़कीली और विलक्षण वस्तुओं को देखने जाते हैं। इस प्रकार कवि तमाशा दिखानेवाले के रूप में और श्रोता या पाठक तटस्थ तमाशबीन के रूप में समझे जाने लगे। केवल देखने का आनंद कुछ विलक्षण को देखने का कुतूहल मात्र होता है।

'व्यक्तिवाद' ही को ले उड़ने से जो परिणाम हुआ है उसका कुछ आभास ऊपर दिया जा चुका है। 'कल्पना' और 'व्यक्तित्व' पर एकदेशीय दृष्टि रखकर पश्चिम में कई प्रसिद्ध 'वादों' की इमारतें खड़ी हुईं। इटली निवासी क्रोसे (Benedetto Croce) ने अपने 'अभिव्यंजनावाद' के निरूपण में बड़े कठोर आग्रह के साथ कला की अनुभूति को ज्ञान या बोध स्वरूप ही माना है। उन्होंने उसे स्वयंप्रकाश ज्ञान (Intuition) प्रत्यक्ष ज्ञान तथा बुद्धि व्यवसाय सिद्ध या विचारप्रसूत ज्ञान से भिन्न केवल कल्पना में आई हुई वस्तु व्यापार योजना का ज्ञान मात्र माना है। वे इस ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान और विचार प्रसूत ज्ञान दोनों से सर्वथा निरपेक्ष स्वतंत्र और स्वतः पूर्ण मानकर चले हैं। वे इस निरपेक्षता को बहुत दूर तक घसीट ले गए हैं। भावों या मनोविकारों तक को उन्होंने काव्य की उक्ति का विधायक अवयव नहीं माना है। पर न चाहने पर भी अभिव्यंजना या उक्ति के अनभिव्यक्त पूर्व रूप में भावों की सत्ता उन्हें स्वीकार करनी पड़ी है। उससे अपना पीछा वे छुड़ा नहीं सके हैं।[1]

काव्य समीक्षा के क्षेत्र में व्यक्ति की ऐसी दीवार खड़ी हुई, 'विशेष' के स्थान पर सामान्य या विचार सिद्ध ज्ञान के आ घुसने का इतना डर समाया कि कहीं कहीं आलोचना भी काव्य रचना के ही रूप में होने लगी। कला की कृति की परीक्षा के लिए विवेचन पद्धति का त्याग सा होने लगा। हिन्दी की मासिक पत्रिकाओं में समालोचना

1. Matter is emotivity not aesthetically elaborated i.e. impression. Form is elaboration and expression...Sentiments or impressions pass by means of words from the obscure region of the Soul into the clarity of the contemplative spirits.

—Aesthetic

के नाम पर आजकल जो अद्भुत और रमणीय शब्द योजना मात्र कभी कभी देखने में आया करती है, वह इसी पाश्चात्य प्रवृत्ति का अनुकरण है। पर यह भी समझ रखना चाहिए कि योरप में साहित्य संबंधी आंदोलनों की आयु बहुत थोड़ी होती है। कोई आंदोलन दस बारह वर्ष से ज्यादा नहीं चलता। ऐसे आंदोलनों के कारण वहाँ इस बीसवीं शताब्दी में आकर कार्यक्षेत्र के बीच बड़ी गहरी गड़बड़ी और अव्यवस्था फैली। काव्य की स्वाभाविक उमंग के स्थान पर नवीनता के लिए आकुलता मात्र रह गई। कविता चाहे हो, चाहे न हो, कोई नवीन रूप या रंग ढंग अवश्य खड़ा हो। पर कोरी नवीनता केवल मरे हुए आंदोलन का इतिहास छोड़ जाए तो छोड़ जाए, कविता नहीं खड़ी कर सकती। केवल नवीनता और मौलिकता की बढ़ी चढ़ी सनक में सच्ची कविता की ओर ध्यान कहाँ तक रह सकता है? कुछ लोग तो नए नए ढंग की उच्छृंखलता, वक्रता, असंबद्धता, अनर्गलता इत्यादि का ही प्रदर्शन करने में लगे। थोड़े से ही सच्ची भावनावाले कवि प्रकृति मार्ग पर चलते दिखाई पड़ने लगे। समालोचना की अधिकतर हवाई ढंग से होने लगी।[1]

योरप में इधर पचास वर्ष के भीतर 'रहस्यवाद', 'कलावाद', 'व्यक्तिवाद' इत्यादि जो अनेक 'वाद' चले थे, वे अब वहाँ मरे हुए आन्दोलन समझे जाते हैं। इन नाना 'वादों' से ऊबकर लोग अब फिर साफ हवा में आना चाहते हैं। किसी कविता के संबंध में किसी 'वाद' का नाम लेना अब फैशन के खिलाफ माना जाने लगा है। अब कोई वादी समझे जाने में कवि अपना मान नहीं समझते।[2]

(द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथावली 1933 ई.)

[चिन्तामणि भाग-1]

---

1 Wherever attempts at sheer newness in poetry were made, they merely ended in dead movements...Cricism became more dogmatic and unreal, poetry more eccentric and chastic.

—"A Survey of Modernist poetry" by Laura Riding and Robert Graves (1927)

2. The modernist poet does not have to issue a programme declaring his intentions toward the reader or to issue an announcement of tactics. He does not have to call himself an individualist (as the Imagist poet did) or a mystic (as the poet of Anglo-Irish dead movement did) or a naturalist (as the poet of the Georgian dead movement did). —Ibid

रसात्मक बोध के विविध रूप

संसार सागर की रूप तरंगों से ही मनुष्य की कल्पना का निर्माण और इसी रूप गति से उनके भीतर विविध भावों या मनोविकारों का विधान हुआ है। सौंदर्य, माधुर्य, विचित्रता, भीषणता, क्रूरता इत्यादि की भावनाएँ बाहरी रूपों और व्यापारों से ही निष्पन्न हुई हैं। हमारे प्रेम, भय, आश्चर्य, क्रोध, करुणा इत्यादि भावों की प्रतिष्ठा करनेवाले मूल आलंबन बाहर ही के हैं—इसी चारों ओर फैले हुए रूपात्मक जगत् के ही हैं। जब हमारी आँखें देखने में प्रवृत्त रहती हैं, तब रूप हमारे बाहर प्रतीत होते हैं जब हमारी वृत्ति अंतर्मुख होती है तब रूप हमारे भीतर दिखाई पड़ते हैं। बाहर भीतर दोनों ओर रहते हैं रूप ही। सुंदर, मधुर, भीषण या क्रूर लगनेवाले रूपों या व्यापारों से भिन्न सौंदर्य, माधुर्य, भीषणता या क्रूरता कोई पदार्थ नहीं, सौंदर्य की भावना जगना सुंदर सुंदर वस्तुओं या व्यापारों का मन में आना ही है। इसी प्रकार मनोवृत्तियों या भावों की सुंदरता, भीषणता आदि की भावना करते समय दया या क्रूरता के किसी विशेष व्यापार या दृश्य का मानसिक चित्र ही मन में रहता है, जिसके अनुसार भावना तीव्र या दृश्य का मानसिक रूप विधान का नाम ही संभावना या कल्पना है।

मन के भीतर यह रूप विधान दो तरह का होता है। या तो यह कभी प्रत्यक्ष देखी हुई वस्तुओं का ज्यों का त्यों प्रतिबिंब होता है अथवा प्रत्यक्ष देखे हुए पदार्थों के रूप, रंग, गति आदि के आधार पर खड़ा किया हुआ नया वस्तु व्यापार विधान। प्रथम प्रकार की अभ्यंतर रूप प्रतीति स्मृति कहलाती है और द्वितीय प्रकार की रूप योजना या मूर्ति विधान को कल्पना कहते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों प्रकार के भीतरी रूप विधानों के मूल हैं प्रत्यक्ष अनुभव किए हुए बाहरी रूप विधान। अतः रूप विधान तीन प्रकार के हुए—

1. प्रत्यक्ष रूप विधान,
2. स्मृत रूप विधान और
3. कल्पित रूप विधान।

इन तीनों प्रकार के रूप विधानों में भावों को इस रूप में जागृत करने की शक्ति होती है कि वे रस कोटि में आ सकें, यही हम यहाँ दिखाना चाहते हैं। कल्पित

रूप विधान द्वारा जागृत मार्मिक अनुभूति तो सर्वत्र रसानुभूति मानी जाती है। प्रत्यक्ष या स्मरण द्वारा जागृत वास्तविक अनुभूति भी विशेष दिशाओं में रसानुभूति की कोटि में आ सकती है, इसी बात की ओर ध्यान दिलाना इस लेख का उद्देश्य है।

प्रत्यक्ष रूप विधान

भावुकता की प्रतिष्ठा करनेवाले मूल आधार या उपादान ये ही हैं। इन प्रत्यक्ष रूपों की मार्मिक अनुभूति जिनमें जितनी ही अधिक होती है, वे उतने ही रसानुभूति के उपयुक्त होते हैं। जो किसी मुख के लावण्य, वनस्थली की सुषमा, नदी या शैलतटी की रमणीयता, कुसुम विकास की प्रफुल्लता, ग्राम दृश्यों की सरल माधुरी देख मुग्ध नहीं होता; जो किसी प्राणी के कष्ट व्यंजक रूप और चेष्टा पर करुणार्द्र नहीं होता, जो किसी पर निष्ठुर अत्याचार होते देख क्रोध से नहीं तिलमिलाता, उसमें काव्य का सच्चा प्रभाव ग्रहण करने की क्षमता कभी नहीं हो सकती। जिसके लिए ये सब कुछ नहीं है, उसके लिए सच्ची कविता की अच्छी से अच्छी उक्ति भी कुछ नहीं है। वह यदि किसी कविता पर वाह वाह करे तो समझना चाहिए कि या तो वह भावुकता या सहृदयता की नकल कर रहा है अथवा उस रचना के किसी ऐसे अवयव की ओर दत्तचित्त है जो स्वतः काव्य नहीं है। भावुकता की नकल करनेवाले श्रोता या पाठक ही नहीं, कवि भी हुआ करते हैं। वे सच्चे भावुक कवियों की वाणी का अनुकरण बड़ी सफाई से करते हैं और अच्छे कवि कहलाते हैं। पर सूक्ष्म और मार्मिक दृष्टि उनकी रचना में हृदय की निश्चेष्टता का पता लगा लेती है। किसी काल में जो सैकड़ों कवि प्रसिद्ध होते हैं। उनमें सच्चे कवि—ऐसे कवि जिनकी तीव्र अनुभूति ही वास्तव कल्पना को अनुकूल रूप विधान में तत्पर करती है—दस पाँच ही होते हैं।

'प्रत्यक्ष' से हमारा अभिप्राय केवल चाक्षुषज्ञान से नहीं है। 'रूप' शब्द के भीतर शब्द, गंध, रस और स्पर्श भी समझ लेना चाहिए। वस्तु व्यापार वर्णन के अंतर्गत ये विषय भी रहा करते हैं। फूलों और पक्षियों के मनोहर आकार और रंग का ही वर्णन कवि नहीं करते, उनकी सुगंध, कोमलता और मधुर स्वर का भी वे बराबर वर्णन करते हैं। जिन लेखकों या कवियों की घ्राण शक्ति तीव्र होती है वे ऐसे स्थलों की गंधात्मक विशेषता का वर्णन कर जाते हैं जहाँ की गंधविशेष का थोड़ा बहुत अनुभव तो बहुत से लोग करते हैं पर उसकी ओर स्पष्ट ध्यान नहीं देते। खलिहानों और रेलवे स्टेशनों पर जाने से भिन्न भिन्न प्रकार की गंध का अनुभव होता है। पुराने कवियों ने तुरंत की जोती हुई भूमि से उठी हुई सोंधी महक का, हिरनों के द्वारा चरी हुई दूब की ताजी गमक का उल्लेख किया है। फरांसीसी उपन्यासकार जोला की गंधानुभूति बड़ी सूक्ष्म थी। उसने योरप के कई नगरों और स्थानों की गंध की पहचान बताई है। इसी प्रकार बहुत से शब्दों का अनुभव भी बहुत सूक्ष्म होता है। रात्रि में विशेषतः वर्षा की रात्रि में, झींगुरों और झिल्लियों के झंकारमिश्रित चीत्कार का बँधा तार सुनकर लड़कपन में

मैं यही समझता था कि रात बोल रही है। कवियों ने कलियों के चटकने तक के शब्द का उल्लेख किया है।

ऊपर गिनाए हुए तीन प्रकार के रूप विधानों में से अंतिम (कल्पित) ही काव्य समीक्षकों और साहित्य मीमांसकों के विचार क्षेत्र के भीतर लिए गए हैं और लिए जाते हैं। बात यह है कि काव्य शब्द व्यापार है। वह शब्द संकेतों के द्वारा ही अंतस में वस्तुओं और व्यापारों का मूर्ति विधान करने का प्रयत्न करता है। अतः जहाँ तक काव्य की प्रक्रिया का संबंध है, वहाँ तक रूप और व्यापार कल्पित ही होते हैं। कवि जिन वस्तुओं और व्यापारों का वर्णन करने बैठता है, वे उस समय उसके सामने नहीं होते, कल्पना में ही होते हैं। पाठक या श्रोता भी अपनी कल्पना द्वारा ही उनका मानस साक्षात्कार करके उनके आलंबन से अनेक प्रकार के रसानुभव करता है। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक था कि कवि कर्म का निरूपण करनेवालों का ध्यान रूप विधान के कल्पना पक्ष पर ही रहे, रूपों और व्यापारों के प्रत्यक्ष बोध और उससे संबद्ध वास्तविक भावानुभूति की बात अलग ही रखी जाए।

उदाहरण के रूप में ऊपर लिखी बात यों कही जा सकती है। एक स्थान पर हमने किसी अत्यंत रूपवती स्त्री का स्मित आनन और चंचल भ्रूविलास देखा और मुग्ध हुए अथवा किसी पर्वत के अंचल की सरस सुषमा देख उसमें लीन हुए। इसके उपरांत किसी प्रतिमालय और चित्रशाला में पहुँचे और रमणी की वैसी ही मधुर मूर्ति अथवा उसी प्रकार के पर्वतांचल का चित्र देख लुब्ध हुए। फिर एक तीसरे स्थान पर जाकर कविता की कोई पुस्तक उठाई और उसमें वैसी ही नायिका अथवा वैसे ही दृश्य का सरस वर्णन पढ़ रसमग्न हुए। पिछले दो स्थलों की अनुभूतियों को ही कलागत या काव्यगत मान प्रथम प्रकार की (प्रत्यक्ष या वास्तविक) अनुभूति का विचार एकदम किनारे रखा गया। यहाँ तक कि प्रथम से शेष दो का कुछ संबंध ही न समझा जाने लगा। कोरे शब्द व्यवसायी केशवदासजी को कमल और चंद्र को प्रत्यक्ष देखने में कुछ भी आनंद नहीं आता था। केवल काव्यों में उपमा उत्प्रेक्षा आदि के अंतर्गत उनका वर्णन या उल्लेख ही भाता था—

देखे मुख भावै, अनदेखेई कमल चन्द,
ताते मुख मुखै, सखी! कमलौ न चन्द री।

इतने पर भी उनके कवि होने में कोई संदेह नहीं किया गया।

यही बात योरप में भी बढ़ती बढ़ती बुरी हद को पहुँची। कलागत अनुभूति को वास्तविक या प्रत्यक्ष अनुभूति से एकदम पृथक् और स्वतंत्र निरूपित करके वहाँ कवि का एक अलग 'काल्पनिक जगत्' कहा जाने लगा। कला समीक्षकों की ओर से यह धारणा उत्पन्न की जाने लगी कि जिस प्रकार कवि के 'काल्पनिक जगत्' के रूप व्यापारों की संगति प्रत्यक्ष या वास्तविक जगत् के रूप व्यापारों से मिलाने की आवश्यकता नहीं,

उसी प्रकार उसके भीतर व्यंजित अनुभूतियों का सामंजस्य जीवन की वास्तविक अनुभूतियों में ढूँढ़ना अनावश्यक है। इस दृष्टि से काव्य का हृदय पर उतना ही और वैसा ही प्रभाव स्वीकार किया गया जितना और जैसा किसी परदे के बेलबूटे, मकान की नक्काशी, सरकस के तमाशे तथा भाँड़ों की लफ्फाजी, उछलकूद या रोने धोने का पड़ता है। इस धारणा के प्रचार से जान में या अनजान में, कविता का लक्ष्य बहुत नीचा कर दिया गया। कहीं कहीं तो वह अमीरों के शौक की चीज समझी जाने लगी। रसिक और गुण ग्राहक बनने के लिए जिस प्रकार वे तरह तरह की नई पुरानी, भली बुरी तसवीरें इकट्ठी करते, कलावंतों का गाना बजाना सुनते, उसी प्रकार कविता की पुस्तकें भी अपने यहाँ सजाकर रखते और कवियों की चर्चा भी दस आदमियों के बीच बैठकर करते। सारांश यह है कि 'कला' शब्द के प्रभाव से कविता का स्वरूप तो हुआ सजावट या तमाशा और उद्देश्य हुआ मनोरंजन या मन बहलाव। यह 'कला' शब्द आजकल हमारे यहाँ भी साहित्य चर्चा में बहुत जरूरी सा हो रहा है। इससे न जाने कब पीछा छूटेगा? हमारे यहाँ के पुराने लोगों ने काव्य को 64 कलाओं में गिनना ठीक नहीं समझा था।

अब यहाँ पर रसात्मक अनुभूति की उस विशेषता का प्रचार करना चाहिए जो उसे प्रत्यक्ष विषयों की वास्तविक अनुभूति से पृथक् करती प्रतीत हुई है। इस विशेषता का निरूपण हमारे यहाँ साधारणीकरण के अंतर्गत किया गया है। साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि किसी काव्य में वर्णित आलंबन केवल भाव की व्यंजना करनेवाले पात्र (आश्रय) का ही आलंबन नहीं रहता बल्कि पाठक या श्रोता का भी—एक ही नहीं अनेक पाठकों और श्रोताओं का भी—आलंबन हो जाता है। अतः उस आलंबन के प्रति व्यंजित भाव में पाठकों या श्रोताओं का भी हृदय योग देता हुआ उसी भाव का रसात्मक अनुभव करता है। तात्पर्य यह है कि रस दशा में अपनी पृथक् सत्ता की भावना का परिहार हो जाता है। अर्थात् काव्य में प्रस्तुत विषय को हम अपने व्यक्तित्व से संबद्ध रूप में नहीं देखते, अपनी योगक्षेम, वासना की उपाधि से ग्रस्त हृदय द्वारा ग्रहण नहीं करते, बल्कि निर्विशेष शुद्ध और मुक्त हृदय द्वारा ग्रहण करते हैं। इसी को पाश्चात्य समीक्षा पद्धति में अहं का विसर्जन और निःसंगता (Impersonality and Detachment) कहते हैं। इसी को चाहे रस का लोकोत्तरत्व या ब्रह्मानंद सहोदरत्व कहिए चाहे विभावन व्यापार का अलौकिकत्व। अलौकिकत्व का अभिप्राय इस लोक से संबंध न रखनेवाली कोई स्वर्गीय विभूति नहीं। इस प्रकार के केवल भाव व्यंजक (तथ्य बोधक नहीं) और स्तुति परक शब्दों को समीक्षा के क्षेत्र में घसीटकर पश्चिम में इधर अनेक प्रकार के अर्थशून्य वागाडंबर खड़े किए गए थे। 'कला कला के लिए' नामक सिद्धांत के प्रसिद्ध व्याख्याकार डॉ. ब्रैडले बोले—'काव्य आत्मा है'। डॉ. मकेल साहब ने फरमाया, 'काव्य एक अखंड तत्त्व या शक्ति है जिसकी गति

अमर है'।[1] बंगभाषा के प्रसाद से हिन्दी में भी इस प्रकार के अनेक मधुर प्रलाप सुनाई पड़ा करते हैं।

अब प्रस्तुत विषय पर आते हैं। हमारा कहना यह है कि जिस प्रकार काव्य में वर्णित आलंबनों के कल्पना में उपस्थित होने पर साधारणीकरण होता है उसी प्रकार हमारे भावों के कुछ आलंबनों के प्रत्यक्ष सामने आने पर भी उन आलंबनों के संबंध में लोक के साथ—या कम से कम सहृदयों के साथ—हमारा तादात्म्य रहता है। ऐसे विषयों या आलंबनों के प्रति हमारा जो भाव रहता है वही भाव और भी बहुत से उपस्थित मनुष्यों का रहता है, वे हमारे और लोक के सामान्य आलंबन रहते हैं। साधारणीकरण के प्रभाव से काव्य श्रवण के समय व्यक्तित्व का जैसा परिहार हो जाता है, वैसा ही प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति के समय भी कुछ दशाओं में होता है। अतः इस प्रकार की प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूतियों को रसानुभूति के अंतर्गत मानने में कोई बाधा नहीं। मनुष्य जाति के सामान्य आलंबनों के आँखों के सामने उपस्थित होने पर यदि हम उनके प्रति अपना भाव व्यक्त करेंगे तो दूसरों के हृदय भी उस भाव की अनुभूति में योग देंगे और यदि दूसरे लोग भाव व्यक्त करेंगे तो हमारा हृदय योग देगा। इसके लिए आवश्यकता इतनी ही है कि हमारी आँखों के सामने जो विषय उपस्थित हों वे मनुष्य मात्र या सहृदय मात्र के भावात्मक सत्त्व पर प्रभाव डालनेवाले हों। रस में पूर्णतया मग्न करने के लिए काव्य में भी यह आवश्यक होता है। जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलंबन हो सके तब तक रस में पूर्णतया लीन करने की शक्ति उसमें नहीं होती। किसी काव्य में वर्णित किसी पात्र का किसी अत्यंत कुरूप और दुःशील स्त्री पर प्रेम हो सकता है पर उस स्त्री के वर्णन द्वारा शृंगार रस का आलंबन नहीं खड़ा हो सकता। अतः वह काव्य भाव व्यंजक मात्र होगा, विभाव का प्रतिष्ठापक कभी नहीं होगा। उसमें विभावन व्यापार हो ही न सकेगा। इसी प्रकार रौद्र रस के वर्णन में जब तक आलबंन का चित्रण इस रूप में न होगा कि वह मनुष्य मात्र के क्रोध का पात्र हो सके तब तक वह वर्णन भाव व्यंजक मात्र रहेगा, उसका विभावपक्ष या तो शून्य होगा अथवा अशक्त। पर भाव और विभाव दोनों पक्षों के सामंजस्य के बिना रस में पूर्ण मग्नता हो नहीं सकती। अतः केवल भाव व्यंजक काव्यों में होता यह है कि पाठक या श्रोता अपनी ओर से अपनी कल्पना और रुचि के अनुसार आलंबन का आरोप या आक्षेप किए रहता है।

जैसा कि ऊपर कह आए हैं, रसात्मक अनुभूति के दो लक्षण ठहराए गए हैं—

(1) अनुभूति काल में अपने व्यक्तित्व के संबंध की भावना का परिहार, और

1. Poetry is a Spirit. —Bradley
Poetry is a continuous substance or energy whose progress is immortal. —Maekal

(2) किसी भाव के आलंबन का सहृदय मात्र के साथ साधारणीकरण अर्थात् उस आलंबन के प्रति सारे सहृदयों के हृदय में उसी भाव का उदय।

यदि हम इन दोनों बातों को प्रत्यक्ष उपस्थित आलंबनों के प्रति जगनेवाले भावों की अनुभूतियों पर घटाकर देखते हैं तो पता चलता है कि कुछ भावों में तो ये बातें कुछ ही दशाओं में या कुछ अंशों तक घटित होती हैं और कुछ में बहुत दूर तक या बराबर।

'रति भाव' को लीजिए। गहरी प्रेमानुभूति की दशा में मनुष्य रसलोक में ही पहुँचा रहता है। उसे अपने तन बदन की सुध नहीं रहती, वह सब कुछ भूल कभी फूला फूला फिरता है, कभी खिन्न पड़ा रहता है। हर्ष, विषाद, स्मृति इत्यादि अनेक संचारियों का अनुभव वह बीच बीच में अपना व्यक्तित्व भूला हुआ करता है। पर अभिलाष, औत्सुक्य आदि कुछ दशाओं में अपने व्यक्तित्व का संबंध जितना ही अधिक और घनिष्ठ होकर अंतःकरण में स्फुट रहेगा, प्रेमानुभूति उतनी ही रसकोटि के बाहर रहेगी। 'अभिलाष' में जहाँ अपने व्यक्तित्व का संबंध अत्यंत अल्प या सूक्ष्म रहता है, जैसे—रूप अवलोकन मात्र का अभिलाष; प्रिय जहाँ रहे सुख से रहे इस बात का अभिलाष—वहाँ वास्तविक अनुभूति रस के किनारे तक पहुँची हुई होती है। आलंबन के साधारणीकरण के संबंध में यह समझ रखना चाहिए कि रति भाव की पूर्ण पुष्टि के लिए कुछ काल अपेक्षित होता है। पर अत्यंत मोहक आलंबन को सामने पाकर कुछ क्षणों के लिए तो प्रेम के प्रथम अवयव[1] का उदय एक साथ बहुतों के हृदय में होगा। वह अवयव है, अच्छा या रमणीय लगना।

'हास' में भी यही बात होती है कि जहाँ उसका पात्र सामने आया कि मनुष्य अपना सारा दुःख सुख भूल एक विलक्षण आह्लाद का अनुभव करता है, जिसमें बहुत से लोग एक साथ योग देते हैं।

अपने निज के लाभवाले विकट कर्म की ओर जो उत्साह होगा वह तो रसात्मक न होगा, पर जिस विकट कर्म को हम लोककल्याणकारी समझेंगे, उसके प्रति हमारे उत्साह की गति हमारी व्यक्तिगत परिस्थिति के संकुचित मंडल से बद्ध न रहकर बहुत व्यापक होगी। स्वदेश प्रेम के गीत गाते हुए नवयुवकों के दल जिस साहस भरी उमंग के साथ कोई कठिन या दुष्कर कार्य करने के लिए निकलते हैं, वह वीरत्व की रसात्मक अनुभूति हैं।[2]

---

1. देखिए 'लोभ और प्रीति' नामक प्रबंध।
2. आजकल के बहुत गंभीर अँगरेज समालोचक रिचर्ड्स (I. A. Richards) को भी कुछ दशाओं में वास्तविक अनुभूति के रसात्मक होने का आभास सा हुआ है, जैसा कि इन पंक्तियों से प्रकट होता है—There is no such gulf between poetry and life as overliterary persons sometimes suppose. There is no gap between our every day emotional life and the material of poetry. The verbal expression of this life, at its finest, is forced to use the technique of poetry. ××× If we do not live in consoncance with good poetry, we must live in consonance with bad poetry. I do not see how we can avoid the conclusion that a general insensitivity to poetry does witness a low level of general imaginative life.

—Practical Criticism (Summary)

क्रोध, भय, जुगुप्सा और करुणा के संबंध में साहित्य प्रेमियों को शायद कुछ अड़चन दिखाई पड़े क्योंकि इनकी वास्तविक अनुभूति दुःखात्मक होती है। रसास्वाद आनंदस्वरूप कहा गया है। अतः दुःखरूप अनुभूति रस के अंतर्गत कैसे ली जा सकती है, यह प्रश्न कुछ गड़बड़ डालता दिखाई पड़ेगा। पर 'आनंद' शब्द को व्यक्तिगत सुखभोग से स्थूल अर्थ में ग्रहण करना मुझे ठीक नहीं जँचता। उसका अर्थ मैं हृदय का व्यक्तिबद्ध दशा से मुक्त और हल्का होकर अपनी क्रिया में तत्पर होना ही उपयुक्त समझता हूँ। इस दशा की प्राप्ति के लिए समय समय पर प्रवृत्त होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। करुण रस प्रधान नाटक के दर्शकों के आँसुओं के संबंध में यह कहना कि 'आनंद में भी तो आँसू आते हैं' केवल बात टालना है। दर्शक वास्तव में दुःख ही का अनुभव करते हैं। 'हृदय की मुक्त दशा' में होने के कारण वह दुःख भी रसात्मक होता है।

अब क्रोध आदि को अलग अलग देखिए। यदि हमारे मन में किसी ऐसे के प्रति क्रोध है जिसने हमें या हमारे किसी संबंधी को पीड़ा पहुँचाई है तो उस क्रोध में रसात्मकता न होगी।

पर किसी लोकपीड़क या क्रूरकर्मा अत्याचारी को देख सुनकर जिस क्रोध का संचार हममें होगा वह रसकोटि का होगा जिसमें प्रायः सब लोग योग देंगे। इसी प्रकार यदि किसी झाड़ी से शेर निकलता देख हम भय से काँपने लगें तो यह भय हमारे व्यक्तित्व से इतना अधिक संबद्ध रहेगा कि आलंबन के पूर्ण स्वरूप ग्रहण का अवकाश न होगा और हमारा ध्यान अपनी ही मृत्यु, पीड़ा आदि परिणामों की ओर रहेगा। पर जब हम किसी वस्तु की भयंकरता को, अपना ध्यान छोड़, लोक से संबद्ध देखेंगे तब हम रसभूमि की सीमा के भीतर पहुँचे रहेंगे। इसी प्रकार किसी सड़ी गली दुर्गंधयुक्त वस्तु के प्रत्यक्ष सामने आने पर हमारी संवदेना का जो क्षोभपूर्ण संकोच होगा वह तो स्थूल होगा पर किसी ऐसे घृणित आचरणवाले के प्रति जिसे देखते ही लोक रुचि के विघात या आकुलता की भावना हमारे मन में होगी, हमारी जुगुप्सा रसमयी होगी।

'शोक' को लेकर विचार करने पर हमारा पक्ष बहुत स्पष्ट हो जाता है। अपनी इष्ट हानि या अनिष्ट प्राप्ति से जो 'शोक' नामक वास्तविक दुःख होता है वह तो रस कोटि में नहीं आता, पर दूसरों की पीड़ा, वेदना देख जो करुणा जगती है उसकी अनुभूति सच्ची रसानुभूति कही जा सकती है। 'दूसरों' से तात्पर्य ऐसे प्राणियों से है जिनसे हमारा कोई विशेष संबंध नहीं। 'शोक' अपनी निज की इष्ट हानि पर होता है और 'करुणा' दूसरों की दुर्गति या पीड़ा पर होती है। यही दोनों में अंतर है। इसी अंतर को लक्ष्य करके काव्यगत पात्र (आश्रय) के शोक की पूर्ण व्यंजना द्वारा उत्पन्न अनुभूति को आचार्यों ने शोकरस न कहकर 'करुणरस' कहा है। करुणा ही एक ऐसा व्यापक भाव है जिसकी प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति सब रूपों में और सब दशाओं में रसात्मक होती है। इसी से भवभूति ने करुणरस को ही रसानुभूति

का मूल माना और अँगरेज कवि शेली ने कहा कि 'सबसे मधुर या रसमयी वाग्धारा वही है जो करुण प्रसंग लेकर चले।'[1]

अब प्रकृति के नाना रूपों पर आइए। अनेक प्रकार के प्राकृतिक दृश्यों को सामने प्रत्यक्ष देख हम जिस मधुर भावना का अनुभव करते हैं, क्या उसे रसात्मक मानना चाहिए? जिस समय दूर तक फैले हरे भरे टीलों के बीच से घूम घूमकर बहते हुए स्वच्छंद नालों, इधर उधर उभरी हुई बेडौल चट्टानों और रंग बिरंगे फूलों से गुछी हुई झाड़ियों की रमणीयता में हमारा मन रमा रहता है, उस समय स्वार्थमय जीवन की शुष्कता और विरसता से हमारा मन कितनी दूर रहता है। यह रसदशा नहीं तो और क्या है? उस समय हम विश्वकाव्य के एक पृष्ठ के पाठक के रूप में रहते हैं। इस अनंत दृश्यकाव्य के हम सदा कठपुतली की तरह काम करनेवाले अभिनेता ही नहीं बने रहते, कभी कभी सहृदय दर्शक की हैसियत को भी पहुँच जाते हैं। जो इस दशा को नहीं पहुँचते उनका हृदय बहुत संकुचित या निम्नकोटि का होता है। कविता उनसे बहुत दूर की वस्तु होती है; कवि वे भले ही समझे जाते हों। शब्द काव्य की सिद्धि के लिए वस्तु काव्य का अनुशीलन परम आवश्यक है।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध है कि रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक् कोई अंतर्वृत्ति नहीं है बल्कि उसी का एक उदात्त और अवदात्त स्वरूप है। हमारे यहाँ के आचार्यों ने स्पष्ट सूचित कर दिया है कि वासना रूप में स्थित भाव ही रसरूप में जगा करते हैं। यह वासना या संस्कार वंशानुक्रम से चली आती हुई दीर्घ भावपरंपरा का मनुष्य जाति की अंतःप्रकृति में निहित संचय है।

स्मृत रूप विधान

जिस प्रकार हमारी आँखों के सामने आए हुए कुछ रूप व्यापार हमें रसात्मक भावों में मग्न करते हैं उसी प्रकार भूतकाल में प्रत्यक्ष की हुई कुछ परोक्ष वस्तुओं का वास्तविक स्मरण भी कभी कभी रसात्मक होता है। जब हम जन्मभूमि या स्वदेश का, बाल सखाओं का, कुमार अवस्था के अतीत दृश्यों और परिचित स्थानों आदि का स्मरण करते हैं, तब हमारी मनोवृत्ति स्वार्थ या शरीर यात्रा के रूखे विधानों से हटकर शुद्ध भाव क्षेत्र में स्थित हो जाती है। नीति कुशल लोग लाख कहा करें कि 'बीती ताहि बिसारि दे,' 'गड़े मुर्दे उखाड़ने से क्या लाभ?' पर मन नहीं मानता, अतीत के मधुस्रोत में कभी कभी अवगाहन किया ही करता है। ऐसा स्मरण वास्तविक होने पर भी रसात्मक होता है। हम सचमुच स्मरण करते हैं और रसमग्न होते हैं।

स्मृति दो प्रकार की होती है—(क) विशुद्ध स्मृति और (ख) प्रत्यक्षाश्रित स्मृति या प्रत्यभिज्ञान।

---

1. Our sweetest songs are those that tell of sandest thought—'To a skylark'.

विशुद्ध स्मृति

यों तो नित्य न जाने कितनी बातों को हम स्मरण किया करते हैं पर इनमें से कुछ बातों का स्मरण ऐसा होता है जो हमारी मनोवृत्ति को शरीर यात्रा के विधानों की उलझन से अलग करके शुद्ध मुक्त भाव भूमि में ले जाता है। प्रिय का स्मरण, बाल्यकाल या यौवनकाल के अतीत जीवन का स्मरण, प्रवास में स्वदेश के स्थलों का स्मरण ऐसा ही होता है। 'स्मरण' संचारी भावों में माना गया है। जिसका तात्पर्य यह है कि स्मरण रसकोटि में तभी आ सकता है जबकि उसका लगाव किसी स्थायी भाव से हो। किसी को कोई बात भूल गई हो और फिर याद हो जाए, या कोई वस्तु कहाँ रखी है, यह ध्यान में आ जाए तो ऐसा स्मरण रस क्षेत्र के भीतर न होगा। अब रहा यह कि वास्तविक स्मरण—किसी काव्य में वर्णित स्मरण नहीं—कैसे स्थायी भावों के साथ संबंध होने पर रसात्मक होता है। रति, हास और करुणा से संबद्ध स्मरण ही अधिकतर रसात्मक कोटि में आता है।

'लोभ और प्रीति' नामक निबंध में हम रूप, गुण आदि से स्वतंत्र साहचर्य को भी प्रेम का एक सबल कारण बता चुके हैं। इस साहचर्य का प्रभाव सबसे प्रबल रूप में स्मरण काल के भीतर देखा जाता है। जिन व्यक्तियों की ओर हम कभी विशेष रूप से आकर्षित नहीं हुए थे, यहाँ तक कि जिनसे हम चिढ़ते या लड़ते झगड़ते थे, देश या काल का लंबा व्यवधान पड़ जाने पर हम उनका स्मरण प्रेम के साथ करते हैं। इसी प्रकार जिन वस्तुओं पर आते जाते केवल हमारी नजर पड़ा करती थी, जिनको सामने पाकर हम किसी विशेष भाव का अनुभव नहीं करते थे, वे भी हमारी स्मृति में मधु में लिपटी हुई आती हैं। इस माधुर्य का रहस्य क्या है? जो हो, हमें तो ऐसा दिखाई पड़ता है कि हमारी यह कालयात्रा, जिसे जीवन कहते हैं, जिन जिन रूपों के बीच से होती चली आती है, हमारा हृदय उन सबको पास समेटकर अपनी रागात्मक सत्ता के अंतर्भूत करने का प्रयत्न करता है। यहाँ से वहाँ तक वह एक भावसत्ता की प्रतिष्ठा चाहता है। ज्ञानप्रसार के साथ साथ रागात्मिका वृत्ति का यह प्रसार एकीकरण या समन्विति की एक प्रक्रिया है। ज्ञान हमारी आत्मा के तटस्थ (Transcendent) स्वरूप का संकेत है, रागात्मक हृदय उसके व्यापक (Immanent) स्वरूप का ज्ञान ब्रह्म है तो हृदय ईश्वर है। किसी व्यक्ति या वस्तु को जानना ही वह शक्ति नहीं है जो उस व्यक्ति या वस्तु को हमारी अंतस्सत्ता में सम्मिलित कर दे, वह शक्ति है—राग या प्रेम।

जैसा कह आए हैं, रति, हास और करुणा से संबद्ध स्मरण अधिकतर रस क्षेत्र में प्रवेश करता है। प्रिय का स्मरण, बाल सखाओं का स्मरण, अतीत जीवन के दृश्यों का स्मरण ही प्रायः रतिभाव से संबद्ध स्मरण होता है। किसी दीनदुःखी का पीड़ित व्यक्ति के उसकी विवर्ण आकृति, चेष्टा आदि के स्मरण का लगाव करुणा

से होता है। दूसरे भावों के आलंबनों का स्मरण भी कभी कभी रससिक्त होता है—पर वहीं जहाँ हम सहृदय द्रष्टा के रूप में रहते हैं अर्थात् जहाँ आलंबन केवल हमारी ही व्यक्तिगत भावसत्ता से संबद्ध नहीं, संपूर्ण नरजीवन की भावसत्ता से संबद्ध होते हैं।

प्रत्यभिज्ञान

अब हम उस प्रत्यक्ष मिश्रित स्मरण को लेते हैं जिसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। प्रत्यभिज्ञान में थोड़ा सा अंश प्रत्यक्ष होता है और बहुत सा अंश उसी के संबंध से स्मरण द्वारा उपस्थित होता है। किसी व्यक्ति को हमने कहीं देखा और देखने के साथ ही स्मरण किया कि यह वही है जो अमुक स्थान पर उस दिन बहुत से लोगों के साथ झगड़ा कर रहा था। वह व्यक्ति हमारे सामने प्रत्यक्ष है। उसके सहारे से हमारे मन में झगड़े का वह सारा दृश्य उपस्थित हो गया जिसका वह एक अंग था। 'यह वही है' इन्हीं शब्दों में प्रत्यभिज्ञान की व्यंजना होती है।

स्मृति के समान प्रत्यभिज्ञान में भी रस संचार की बड़ी गहरी शक्ति होती है। बाल्य या कौमार जीवन के किसी साथी के बहुत दिनों पीछे सामने आने पर कितने पुराने दृश्य हमारे मन के भीतर उमड़ पड़ते हैं और हमारी वृत्ति उनके माधुर्य में किस प्रकार मग्न हो जाती है। किसी पुराने पेड़ को देखकर हम कहने लगते हैं कि यह वही पेड़ है जिसके नीचे हम अपने अमुक अमुक साथियों के साथ बैठा करते थे। किसी घर या चबूतरे को देखकर भी अतीत दृश्य इसी प्रकार हमारे मन में आ जाते हैं और हमारा मन कुछ और हो जाता है। कृष्ण के गोकुल से चले जाने पर वियोगिनी गोपियाँ जब जब यमुना तट पर आ जाती हैं तब तब उनके भीतर यही भावना उठती है कि 'यह वही यमुना तट है' और उनका मन काल का परदा फाड़ अतीत के उस दृश्य क्षेत्र में जा पहुँचता है जहाँ श्रीकृष्ण गोपियों के साथ उस तट पर विचरते थे—

मन ह्वै जात अजौं वहै वा जमुना के तीर।

प्राचीन कवियों ने भी प्रत्यभिज्ञान के रसात्मक स्वरूप का बराबर विधान किया है। हृदय की गूढ़ वृत्तियों के सच्चे पारखी भावमूर्ति भवभूति ने शम्बूक का वध करके दंडकारण्य के बीच फिरते हुए राम के मुख से प्रत्यभिज्ञान की बड़ी मार्मिक व्यंजना कराई है—

ऐते त एव गिरयो विरुवन्मयूरा—
स्तान्येवमत्त हरिणानि वनस्थलानि।
आमंजु वंजुललतानि च तान्यमूनि
नीरन्ध्र नील निचुलानि सरित्तटानि।—उत्तररामचरित 2 23

एक दूसरे प्रकार के प्रत्यभिज्ञान का रसात्मक प्रभाव प्रदर्शित करने के लिए ही उक्त कवि ने उत्तररामचरित में चित्रशाला का समावेश किया है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रत्यभिज्ञान की रसात्मक दशा में मनुष्य मन में आई हुई वस्तुओं में ही रमा रहता है, अपने व्यक्तित्व को पीछे डाले रहता है।

दशा की विपरीतता की भावना लिए हुए जिस प्रत्यभिज्ञान का उदय होता है उसमें करुण वृत्ति के संचालन की बड़ी गहरी शक्ति होती है। कवि और वक्ता बराबर उसका उपयोग करते हैं, जब हम किसी ऐसी बस्ती, ग्राम या घर के खंडहर को देखते हैं जिनमें किसी समय हमने बहुत चहल पहल या सुख समृद्धि देखी थी तब 'यह वही है' की भावना हमारे हृदय को एक अनिर्वचनीय करुणस्रोत में मग्न करती है। अँगरेजी के परम भावुक कवि गोल्डस्मिथ ने एक अत्यंत मार्मिक स्वरूप दिखाने के लिए ही 'ऊजड़ ग्राम' की रचना की थी।

स्मृत्याभास कल्पना

अब तक हमने रसात्मक स्मरण और रसात्मक प्रत्यभिज्ञान को विशुद्ध रूप में देखा है अर्थात् ऐसी बातों के स्मरण का विचार किया है जो पहले कभी हमारे सामने हो चुकी हैं। अब हम उस कल्पना को लेते हैं जो स्मृति या प्रत्यभिज्ञान में पहले देखी हुई वस्तुओं या बातों के स्थान पर या तो पहले सुनी या पढ़ी हुई बातें हुआ करती हैं अथवा अनुमान द्वारा पूर्णतया निश्चित। बुद्धि और वाणी के प्रसार द्वारा मनुष्य का ज्ञान प्रत्यक्ष बोध तक ही परिमित नहीं रहता, वर्तमान, के आगे पीछे भी जाता है। आगे आनेवाली बातों से यहाँ प्रयोजन नहीं; प्रयोजन है अतीत से। अतीत की कल्पना भावुकों में स्मृति की सी सजीवता प्राप्त करती है और कभी कभी अतीत का कोई बचा हुआ चिह्न पाकर प्रत्यभिज्ञान का सा रूप ग्रहण करती है। ऐसी कल्पना के विशेष मार्मिक प्रभाव का कारण यह है कि यह सत्य का आधार लेकर खड़ी होती है। इसका आधार या तो आप्त शब्द (इतिहास) होता है अथवा शुद्ध अनुमान।

पहले हम स्मृत्याभास कल्पना के उस स्वरूप को लेते हैं, जिसका आधार आप्त शब्द या इतिहास होता है। जैसे अपने व्यक्तिगत अतीत जीवन की मधुर स्मृति मनुष्य में होती है वैसे ही समष्टि रूप में अतीत नर जीवन की भी एक प्रकार की स्मृत्याभास कल्पना होती है जो इतिहास के संकेत पर जगती है। इसकी मार्मिकता भी निज के अतीत जीवन की स्मृति की मार्मिकता के ही समान होती है। मानव जीवन की चिरकाल से चली आती हुई अखंड परंपरा के साथ तादात्म्य की यह भावना आत्मा के शुद्ध स्वरूप की नित्यता, अखंडता और व्यापकता का आभास देती है। यह स्मृति स्वरूपा कल्पना कभी कभी प्रत्यभिज्ञान का भी रूप धारण करती है। प्रसंग उठने पर जैसे इतिहास द्वारा ज्ञात किसी घटना या दृश्य के ब्योरों को कहीं बैठे बैठे हम मन में लाया करते हैं और कभी कभी उनमें लीन हो जाते हैं, वैसे ही किसी इतिहास प्रसिद्ध स्थल पर पहुँचने पर हमारी कल्पना चट उस स्थल पर घटित किसी मार्मिक

पुरानी घटना अथवा उससे संबंध रखनेवाले कुछ ऐतिहासिक व्यक्तियों के बीच हमें पहुँचा देती है, जहाँ से हम फिर वर्तमान की ओर लौटकर कहने लगते हैं कि 'यह वही स्थल है जो कभी सजावट से जगमगाता था, जहाँ अमुक सम्राट सभासदों के बीच सिंहासन पर विराजते थे, यह वही फाटक है जिस पर ये वीर अद्भुत पराक्रम के साथ लड़े थे इत्यादि।' इस प्रकार हम उस काल से लेकर इस काल तक अपनी सत्ता के प्रसार का आरोप क्या अनुभव करते हैं।

सूक्ष्म ऐतिहासिक अध्ययन के साथ साथ जिसमें जितनी ही गहरी भावुकता होगी, जितनी ही तत्पर कल्पना शक्ति होगी उसके मन में उतने ही अधिक ब्योरे आएँगे और पूर्ण चित्र खड़ा होगा। इतिहास का कोई भावुक और कल्पना संपन्न पाठक यदि पुरानी दिल्ली, कन्नौज, थानेसर, चित्तौड़, उज्जयिनी, विदिशा इत्यादि के खंडहरों पर पहले पहल भी जा खड़ा होता है तो उसके मन में वे सब बातें आ जाती हैं जिन्हें उसने इतिहासों में पढ़ा था या लोगों से सुना था। यदि उसकी कल्पना तीव्र और प्रचुर हुई तो बड़े बड़े तोरणों से युक्त उन्नत प्रसादों की, उत्तरीय और उष्णीषधारी नागरिकों की, अलक्तरंजित चरणों में पड़े हुए नूपुरों की झंकार की, कटि के नीचे लटकती हुई कांची के लड़ियों की, धूप वासित केश कलाप और पत्रभंग मंडित गंडस्थल की भावना उसके मन में चित्र सी खड़ी होगी। उक्त नगरों का यह रूप उसने कभी देखा नहीं है, पर पुस्तकों के पठन पाठन से इस रूप की कल्पना उसके भीतर संस्कार के रूप में जग गई है जो उन नगरों के ध्वंसावशेष के प्रत्यक्ष दर्शन से जग जाती है।

एक बात कह देना आवश्यक है कि आप्त वचन या इतिहास के संकेत पर चलनेवाली कल्पना या मूर्त भावना अनुमान का भी सहारा लेती है। किसी घटना का वर्णन करने में इतिहास इस घटना के समय की रीति, वेशभूषा, संस्कृति आदि का ब्योरा नहीं देता चलता। अतः किसी ऐतिहासिक काल का कोई चित्र मन में लाते समय ऐसे ब्योरों के लिए अपनी जानकारी के अनुसार हमें अनुमान का सहारा लेना पड़ता है।

यह तो हुई आप्त शब्द या इतिहास पर आश्रित स्मृति रूपी या प्रत्यभिज्ञानरूपी कल्पना। एक प्रकार की प्रत्यभिज्ञानरूपी कल्पना और होती है जो बिलकुल अनुमान के सहारे पर खड़ी होती और चलती है। यदि हम एकाएक किसी अपरिचित स्थान के खंडहरों में पहुँच जाते हैं—जिसके संबंध में हमने कहीं कुछ सुना या पढ़ा नहीं है—तो भी गिरे पड़े मकानों, दीवारों, देवालयों आदि को सामने पाकर हम कभी कभी कह बैठते हैं कि 'यह वही स्थान है जहाँ कभी मित्रों की मंडली जमती थी, रमणियों का हास विलास होता था, बालकों का क्रीड़ा रव सुनायी पड़ता था इत्यादि।' कुछ चिह्न पाकर केवल अनुमान के संकेत पर ही कल्पना इन रूपों और व्यापारों की योजना में तत्पर हो गई। ये रूप और व्यापार हमारे जिस मार्मिक रागात्मक

भाव के आलंबन होते हैं उनका हमारे व्यक्तिगत योगक्षेम से कोई संबंध नहीं, अतः उसकी रसात्मकता स्पष्ट है।

अतीत की स्मृति में मनुष्य के लिए स्वाभाविक आकर्षण है। अर्थ परायण लाख कहा करें कि 'गड़े मुर्दे उखाड़ने से क्या फायदा' पर हृदय नहीं मानता, बार बार अतीत की ओर जाया करता है, अपनी यह बुरी आदत नहीं छोड़ता। इसमें कुछ रहस्य अवश्य है। हृदय के लिए अतीत एक मुक्ति लोक है जहाँ वह अनेक प्रकार के बंधनों से छूटा रहता है और अपने शुद्ध रूप में विचरता है। वर्तमान हमें अंधा बनाए रहता है, अतीत बीच बीच में हमारी आँखें खोलता रहता है। मैं तो समझता हूँ कि जीवन का नित्य स्वरूप दिखानेवाला दर्पण मनुष्य के पीछे रहता है; आगे तो बराबर खिसकता हुआ दुर्भेद्य परदा रहता है। बीती बिसारनेवाले 'आगे की सुध' रखने का दावा किया करें, परिणाम अशांति के अतिरिक्त और कुछ नहीं। वर्तमान को सँभालने और आगे की सुध रखने का डंका पीटनेवाले संसार में जितने ही अधिक होते जाते हैं, संघ शक्ति के प्रभाव से जीवन की उलझनें उतनी ही बढ़ती जाती हैं। बीती बिसारने का अभिप्राय है जीवन की अखंडता और व्यापकता की अनुभूति का विसर्जन, सहृदयता और भावुकता का भंग केवल धर्म की निष्ठुर क्रीड़ा।

कुशल यही है कि जिनका दिल सही सलामत है, जिनका हृदय मारा नहीं गया है, उनकी दृष्टि अतीत की ओर जाती है। क्यों जाती है, क्या करने जाती है, यह बताते नहीं बनता। अतीत कल्पना का लोक है, एक प्रकार का स्वप्नलोक है, इसमें संदेह नहीं। अतः यदि कल्पना लोक के सब खंडों को सुखपूर्ण मान लें तब तो प्रश्न टेढ़ा नहीं रह जाता। झट से यह कहा जा सकता है कि वह सुख प्राप्त करने जाती है। पर क्या ऐसा माना जा सकता है? हमारी समझ में अतीत की ओर मुड़ मुड़कर देखने की प्रवृत्ति सुख दुःख की भावना से परे है। स्मृतियाँ हमें केवल सुखपूर्ण दिनों की झाँकियाँ नहीं समझ पड़तीं। वे हमें लीन करती हैं, हमारा मर्म स्पर्श करती हैं, बस इतना ही हम कह सकते हैं। यही बात स्मृत्याभास कल्पना के संबंध में भी समझनी चाहिए। इतिहास द्वारा ज्ञात बातों की मूर्त भावना कितनी मार्मिक, कितनी लीन करनेवाली होती है, न सहृदयों से छिपा है, न छिपाते बनता है। मनुष्य की अंतःप्रकृति पर इसका प्रभाव स्पष्ट है। जैसा कि कहा जा चुका है इसमें स्मृति की सजीवता होती है। इस मार्मिक प्रभाव और सजीवता का मूल है सत्य। सत्य से अनुप्राणित होने के कारण ही कल्पना स्मृति और प्रत्यभिज्ञान का सा रूप धारण करती है। कल्पना के इस स्वरूप की सत्य मूलक सजीवता और मार्मिकता का अनुभव करके ही संस्कृत के पुराने कवि अपने महाकाव्य और नाटक इतिहास पुराण के किसी वृत्त का आधार लेकर रचा करते थे।

'सत्य' से यहाँ अभिप्राय केवल वस्तुतः घटित वृत्त ही नहीं, निश्चयात्मकता से प्रतीत वृत्त भी है। जो बात इतिहासों में प्रसिद्ध चली आ रही है, वह यदि पक्के

प्रमाणों से पुष्ट भी न हो, तो भी लोगों के विश्वास के बल पर उक्त प्रकार की स्मृति स्वरूपा कल्पना का आधार हो जाती है। आवयश्क होता है केवल इस बात का बहुत दिनों से जमा हुआ विश्वास कि इस प्रकार की घटना इस स्थल पर हुई थी। यदि ऐसा विश्वास सर्वथा विरुद्ध प्रमाण उपस्थित होने पर विचलित हो जाएगा तो वैसी सजीव कल्पना न जगेगी। संयोगिता के स्वयंवर की कथा को लेकर कुछ काव्य और नाटक रचे गए। ऐतिहासिक अनुसंधान द्वारा वह सारी कथा अब कल्पित सिद्ध हो गई है। अतः इतिहास के ज्ञाताओं के लिए उन काव्यों या नाटकों में वर्णित घटना का ग्रहण शुद्ध कल्पना की वस्तु के रूप में होगा, स्मृत्याभास कल्पना की वस्तु के रूप में नहीं।

पहले कहा जा चुका है कि मानव जीवन का नित्य और प्रकृत स्वरूप देखने के लिए दृष्टि जैसी शुद्ध होनी चाहिए वैसी अतीत के क्षेत्र के बीच ही वह होती है। वर्तमान में तो हमारे व्यक्तिगत राग द्वेष से वह ऐसी बँधी रहती है कि हम बहुत सी बातों को देखकर भी नहीं देखते। प्रसिद्ध प्राचीन नगरों और गढ़ों के खंडहर, राजप्रासाद आदि जिस प्रकार सम्राटों के ऐश्वर्य, विभूति, प्रताप, आमोद प्रमोद और भोग विलास के स्मारक हैं, उसी प्रकार उनके अवसाद, विशाद, नैराश्य और घोर पतन के। मनुष्य की ऐश्वर्य, विभूति, सुख सौंदर्य की वासना अभिव्यक्त होकर जगत् के किसी छोटे या बड़े खंड को अपने रंग में रंगकर मानुषी सजीवता प्रदान करती है। देखते देखते काल उस वासना के आश्रय मनुष्यों को हटाकर किनारे कर देता है। धीरे धीरे उनका चढ़ाया हुआ ऐश्वर्य विभूति का वह रंग भी मिटता जाता है। जो कुछ शेष रह जाता है वह बहुत दिनों तक ईंट पत्थर की भाषा में एक पुरानी कहानी कहता रहता है। संसार का पथिक मनुष्य उसे अपनी कहानी समझकर सुनता है, क्योंकि उसके भीतर झलकता है जीवन का नित्य और प्रकृत स्वरूप।

कुछ व्यक्तियों के स्मारक चिह्न तो उनके पूरे प्रतिनिधि या प्रतीक बन जाते हैं और उसी प्रकार हमारी घृणा या प्रेम के आलंबन हो जाते हैं जिस प्रकार लोक के बीच अपने जीवनकाल में वे व्यक्ति थे। ऐसे व्यक्ति घृणा या प्रेम को अपने पीछे भी बहुत दिनों तक जगत् में जगाते रहते हैं। ये स्मारक न जाने कितनी बातें अपने पेट में लिए कहीं खड़े, कहीं बैठे, कहीं पड़े हैं।

किसी अतीत जीवन के ये स्मारक या तो यों ही—शायद काल की कृपा से बने रह जाते हैं अथवा जानबूझकर छोड़े जाते हैं। जानबूझकर कुछ स्मारक छोड़े जाने की कामना भी मनुष्य की प्रकृति के अंतर्गत है। अपनी सत्ता के सर्वथा लोप की भावना मनुष्य को असह्य है। अपनी भौतिक सत्ता तो वह बनाए नहीं रख सकता, अतः वह चाहता है कि उस सत्ता की स्मृति ही किसी जनसमुदाय के बीच बनी रहे। वाह्य जगत् में नहीं तो अंतर्जगत् के किसी खंड में ही वह बना रहना चाहता

है। इसे हम अमरत्व की आकांक्षा या आत्मा के नित्यत्व का इच्छात्मक आभास कह सकते हैं। अपनी स्मृति बनाए रखने के लिए कुछ मनस्वी कला का सहारा लेते हैं और उसके आकर्षक सौंदर्य की प्रतिष्ठा करके विस्मृति के खड्ड में झोंकनेवाले काल के हाथों को बहुत दिनों तक—सहस्रों वर्ष तक—थामे रहते हैं। इस प्रकार ये स्मारक काल के हाथों को कुछ थाम्कर मनुष्य की कई पीढ़ियों की आँखों से आँसू बहवाते चले चलते हैं। मनुष्य अपने पीछे होनेवाले मनुष्यों को अपने लिए रुलाना चाहता है।

सम्राटों की अतीत जीवन लीला के ध्वस्त रंगमंच वैषम्य की एक विशेष भावना जगाते हैं। उनमें जिस प्रकार भाग्य के ऊँचे से ऊँचे उत्थान का दृश्य निहित रहता है, वैसे ही गहरे से गहरे पतन का भी। जो जितने ही ऊँचे पर चढ़ा दिखाई देता है, गिरने पर वह उतना ही नीचे जाता दिखाई देता है। दर्शकों को उसके उत्थान की ऊँचाई जितनी कुतूहलपूर्ण और विस्मयकारिणी होती है, उतनी ही उसके पतन की गहराई मार्मिक और आकर्षक होती है। असामान्य की ओर लोगों की दृष्टि भी अधिक दौड़ती है और टकटकी भी अधिक लगती है। अत्यंत ऊँचाई से गिरने का दृश्य कोई कुतूहल के साथ देखता है, कोई गंभीर वेदना के साथ।

जीवन तो जीवन, चाहे राजा का हो चाहे रंक का। उसके सुख और दुःख दो पक्ष होंगे ही। इनमें से कोई पक्ष स्थिर नहीं रह सकता। संसार और स्थिरता? अतीत के लंबे चौड़े मैदान के बीच इन उभय पक्षों की घोर विषमता सामने रखकर कोई भावुक जिस भाव धारा में डूबता है उसी में औरों को डुबाने के लिए शब्द स्रोत भी बहाता है। इस पुनीत भावधारा के अवगाहन करने से वर्तमान की—अपने पराए की लगी लिपटी मैल छँटती है और हृदय स्वच्छ होता है। ऐतिहासिक व्यक्तियों या राजकुलों के जीवन की जिन विषमताओं की ओर सबसे अधिक ध्यान जाता है, वे प्रायः दो ढंग की होती हैं—सुखदुःख संबंधिनी तथा उत्थानपतन संबंधिनी। सुखदुःख की विषमता की ओर जिसकी भावना प्रवृत्त होगी वह एक ओर तो जीवन का भोग पक्ष—यौवन मद, विलास की प्रभूत सामग्री, कला सौंदर्य की जगमगाहट, रागरंग और आमोद प्रमोद की चहल पहल—और दूसरी ओर अवसाद, नैराश्य, कष्ट, वेदना इत्यादि के दृश्य मन में लाएगा। बड़े बड़े प्रतापी सम्राटों के जीवन को लेकर भी वह ऐसा ही करेगा। उनके तेज, प्रताप, पराक्रम इत्यादि की भावना वह इतिहास विज्ञ पाठक की सहृदयता पर छोड़ देगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि सुख और दुःख के बीच का वैषम्य जैसा मार्मिक होता है वैसा ही उन्नति और अवनति, प्रताप और ह्रास के बीच का भी। इस वैषम्य प्रदर्शन के लिए एक ओर तो किसी के पतन काल के असामर्थ्य, दीनता, विवशता, उदासीनता इत्यादि के दृश्य सामने रखे जाते हैं, दूसरी ओर उसके ऐश्वर्यकाल के प्रताप, तेज, पराक्रम इत्यादि के वृत्त स्मरण किए जाते हैं।

इस दुःखमय संसार में सुख की इच्छा और प्रयत्न प्राणियों का लक्षण है। यह लक्षण मनुष्य में सबसे अधिक रूपों में विकसित हुआ है। मनुष्य की सुखेच्छा कितनी प्रबल, कितनी शक्तिशालिनी निकली। न जाने कब से वह प्रकृति को काटती छाँटती संसार का कायापलट करती चली आ रही है। वह शायद अनंत है, 'आनंद' का अनंत प्रतीक है। वह इस संसार में न समा सकी तब कल्पना को साथ लेकर उसने कहीं बहुत दूर स्वर्ग की रचना की। चतुर्वर्ग में इसी सुख का नाम 'काम' है। यद्यपि देखने में 'अर्थ' और 'काम' अलग अलग दिखाई पड़ते हैं, पर सच पूछिए तो 'अर्थ' 'काम' का ही एक साधन ठहरता है, साध्य रहता है काम या सुख ही। अर्थ है संचय, आयोजन और तैयारी की भूमि, काम भोग भूमि है। मनुष्य कभी अर्थभूमि पर रहता है कभी काम भूमि पर। अर्थ और काम के बीच जीवन बाँटता हुआ वह चला चलता है। दोनों का ठीक सामंजस्य सफल जीवन का लक्षण है। जो अनन्य भाव से अर्थ साधन में ही लीन रहेगा वह हृदय खो देगा, जो आँख मूँदकर कामचर्या में ही लिप्त रहेगा, वह किसी अर्थ का न रहेगा। अकबर के जीवन में अर्थ और काम का सामंजस्य रहा। औरंगजेब बराबर अर्थभूमि पर ही रहा। मुहम्मदशाह सदा काम भूमि पर ही रहकर रंग बरसाते रहे।

कल्पना

काव्य वस्तु का सारा रूप विधान इसी की क्रिया से होता है। आजकल तो 'भाव' की बात दब सी गई है, केवल इसी का नाम लिया जाता है, क्योंकि 'कवि की नूतन सृष्टि' केवल इसी की कृति समझी जाती है। पर जैसा कि हम अनेक स्थलों पर कह चुके हैं, काव्य के प्रयोजन की कल्पना वही होती है जो हृदय की प्रेरणा से प्रवृत्त होती है और हृदय पर प्रभाव डालती है। हृदय के मर्मस्थल का स्पर्श तभी होता है जब जगत् या जीवन का कोई सुंदर रूप, मार्मिक दशा या तथ्य मन में उपस्थित होता है। ऐसी दशा या तथ्य की चेतना से मन में कोई भाव जागता है जो उस दशा या तथ्य की मार्मिकता का पूर्ण अनुभव करने और कराने के लिए उसके कुछ चुने हुए ब्योरों की मूर्त भावनाएँ खड़ी करता है। कल्पना का यह प्रयोग प्रस्तुत के संबंध में समझना चाहिए जो विभाव पक्ष के अंतर्गत है। शृंगार, रौद्र, वीर, करुण आदि रसों के आलंबनों और उद्दीपनों के वर्णन, प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन सब इसी विभावपक्ष के अंतर्गत हैं।

सारा रूप विधान कल्पना ही करती है अतः अनुभाव कहे जानेवाले व्यापारों और चेष्टाओं द्वारा आश्रय को जो रूप दिया जाता है वह भी कल्पना ही द्वारा। पर भावों के द्योतक शारीरिक व्यापार या चेष्टाएँ परिमित होती हैं, वे रूढ़ या बँधी हुई होती हैं। उनमें नएपन की गुंजाइश नहीं, पर आश्रय के वचनों की अनेकरूपता की कोई सीमा नहीं। इन वचनों की भी कवि द्वारा कल्पना ही की जाती है।

वचनों द्वारा भाव व्यंजना के क्षेत्र में कल्पना को पूरी स्वच्छंदता रहती है। भाव की ऊँचाई, गहराई की कोई सीमा नहीं। उसका प्रसार लोक का अतिक्रमण कर सकता है। उसकी सम्यक् व्यंजना के लिए प्रकृति के वास्तविक विधान कभी कभी पर्याप्त नहीं जान पड़ते। मन की गति का वेग अबाध होता है। प्रेम के वेग में प्रेमी प्रिय को अपनी आँखों में बसा हुआ कहता है, उसके पाँव रखने के लिए पलकों के पाँवड़े बिछाता है। उसके अभाव में दिन के प्रकाश में भी चारों ओर शून्य या अंधकार देखता है, अपने शरीर की भस्म उड़ाकर उसके पास तक पहुँचाना चाहता है। इसी प्रकार क्रोध के वेग में मनुष्य शत्रु को पीसकर चटनी बना डालने के लिए खड़ा होता है, उसके घर को खोदकर तालाब बना डालने की प्रतिज्ञा करता है। उत्साह या वीरता की उमंग में वह समुद्र पाट देने, पहाड़ों को उखाड़ फेंकने का हौसला प्रकट करता है।

ऐसे लोकोत्तर विधान करनेवाली कल्पना में भी यह देखा जाता है कि जहाँ कार्यकारण विवेचनपूर्वक वस्तु व्यंजना का टेढ़ा रास्ता पकड़ा जाता है, वहाँ वैचित्र्य ही वैचित्र्य रह जाता है, मार्मिकता दब जाती है, जैसे—यदि कोई कहे कि 'कृष्ण के वियोग में राधा का दिन रात रोना सुनकर लोग घर घर में नावें बनवा रहे हैं, तो यह कथन मार्मिकता की हद के बाहर जान पड़ेगा।

विभाव पक्ष के ही अंतर्गत हम उन सब प्रस्तुत वस्तुओं और व्यापारों को भी लेते हैं जो हमारे मन में सौंदर्य, माधुर्य, दीप्ति, कांति, प्रताप, ऐश्वर्य, विभूति इत्यादि की भावनाएँ उत्पन्न करते हैं। ऐसी वस्तुओं और व्यापारों की योजना करनेवाली प्रतिभा भी विभाव विधायिनी ही समझनी चाहिए। कवि कभी कभी सौंदर्य, माधुर्य, दीप्ति इत्यादि की अनूठी सृष्टि खड़ी करने के लिए चारों ओर से सामग्री एकत्र करके पराकाष्ठा को पहुँची हुई लोकोत्तर योजना करते हैं। यह भी कवि कर्म के अंतर्गत है, पर सर्वत्र अपेक्षित उसकी कोई नित्य प्रक्रिया नहीं। मन के भीतर लोकोत्तर उत्कर्ष की झाँकियाँ तैयार करना भी कल्पना का एक काम है। इस काम में कविता उसे प्रायः लगाया करती है। कुछ लोग तो कल्पना और कविता का यही काम ही बताते हैं—खासकर वे लोग जो काव्य को स्वप्न का सगा भाई मानते हैं। जैसे स्वप्न को वे अंतस्संज्ञा में निहित अतृप्त वासनाओं की अंतर्व्यंजना कहते हैं, वैसे ही काव्य को भी। संसार में जितना अद्भुत, सुंदर, मधुर, दीप्त हमारे सामने आता है, जितना सुख, समृद्धि, सद्वृत्ति, सद्भाव, प्रेम, आनंद हमें दिखाई पड़ता है उतने से तृप्त न होने के कारण प्रचंडता, उथल पुथल, ध्वंस इत्यादि को हम जितने बढ़े चढ़े रूप में देखना चाहते हैं उतने बढ़े चढ़े रूपों में कहीं न देख हमारी इच्छा चेतना या संज्ञा के नीचे अज्ञात दशा में दबी पड़ी रहती है। वे ही इच्छाएँ तृप्ति के लिए कविता के रूप में व्यक्त होती हैं और श्रोताओं को भी तृप्त करती हैं।

इस संबंध में हम यहाँ इतना ही कहना चाहते हैं कि काव्य सर्वथा स्वप्न के रूप की वस्तु नहीं है। स्वप्न के साथ यदि उसका कुछ मेल है तो केवल इतना ही कि स्वप्न भी हमारी वाह्य इंद्रियों के सामने नहीं रहता और काव्य वस्तु भी। दोनों के आविर्भाव का स्थान भर एक है। स्वरूप में भेद है। कल्पना में आई हुई वस्तुओं की प्रतीति से स्वप्न में दिखाई पड़नेवाली वस्तुओं की प्रतीति भिन्न प्रकार की होती है। स्वप्न काल की प्रतीति प्रायः प्रत्यक्ष ही के समान होती है। दूसरी बात यह है कि काव्य में शोक प्रसंग भी रहते हैं। शोक की वासना की तृप्ति शायद ही कोई प्राणी चाहता हो।

उपर्युक्त सिद्धांत का ही एक अंग काम वासना का सिद्धांत है जिसके अनुसार काव्य का संबंध और कलाओं के समान, काम वासना की तृप्ति से है। यहाँ पर इतना ही समझ लेना आवश्यक है कि यह मत काव्य को 'ललित कलाओं में गिनने का परिणाम है।' कलाओं के संबंध में, जिनका लक्ष्य केवल सौंदर्य की अनुभूति उत्पन्न करना है, यह मत कुछ ठीक कहा जा सकता है। इसी से चौंसठ कलाओं का उल्लेख हमारे यहाँ कामशास्त्र के भीतर हुआ है। पर काव्य की गिनती कलाओं में नहीं की गई है।

अब तक जो कुछ कहा गया है वह प्रस्तुत के संबंध में है। पर काव्य में प्रस्तुत के अतिरिक्त अप्रस्तुत भी बहुत अधिक अपेक्षित होता है, क्योंकि साम्यभावना काव्य का ही बड़ा शक्तिशाली अस्त्र है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अप्रस्तुत की योजना भी कल्पना ही द्वारा होती है। आधुनिक पाश्चात्य समीक्षा क्षेत्र में तो 'कल्पना' शब्द से अधिकतर अप्रस्तुत विधायिनी कल्पना ही समझी जाती है। अप्रस्तुत की योजना के संबंध में भी यही बात समझनी चाहिए जो प्रस्तुत के संबंध में हम कह आए हैं अर्थात् उसकी योजना भी यदि किसी भाव के संकेत पर होगी—सौंदर्य, माधुर्य, भीषणता, कांति, दीप्ति इत्यादि की भावना में वृद्धि करनेवाली होगी—तब तो वह काव्य के प्रयोजन की होगी; यदि केवल रंग, आकृति, छोटाई, बड़ाई आदि का ही हिसाब किताब बैठाकर की जाएगी तो निष्फल ही नहीं बाधक भी होगी। भाव की प्रेरणा से जो अप्रस्तुत लाए जाते हैं उनकी प्रभविष्णुता पर कवि की दृष्टि इस बात पर रहती है कि इनके द्वारा भी वैसी ही भावना जगे जैसे प्रस्तुत के संबंध में है।

केवल शास्त्रस्थितिसंपादन से कविकर्म की सिद्धि समझ कुछ लोगों ने स्त्री की कटि की सूक्ष्मता व्यक्त करने के लिए भिड़ या सिंहनी की कटि सामने रख दी है, चंद्रमंडल और सूर्यमंडल के उपमान के लिए दो घंटे सामने कर दिए हैं। पर ऐसे अप्रस्तुत विधान केवल छोटाई, बड़ाई या आकृति को ही पकड़कर केवल उसी का हिसाब किताब बैठाकर, हुए हैं; उस सौंदर्य की भावना की प्रेरणा से नहीं जो उस नायिका या चंद्रमंडल के संबंध में रही होगी। यह देखकर संतोष होता है कि हिन्दी की वर्तमान कविताओं में प्रभावसाम्य पर ही विशेष दृष्टि रहती है।

भाषा शैली को अधिक व्यंजक, मार्मिक और चमत्कारपूर्ण बनाने में भी कल्पना ही काम करती है। कल्पना की सहायता यहाँ पर भाषा की लक्षणा और व्यंजना नाम की शक्तियाँ करती हैं। लक्षणा के सहारे ही कवि ऐसी भाषा का प्रयोग बेधड़क कर जाते हैं जैसी सामान्य व्यवहार में नहीं सुनाई पड़ती। व्रजभाषा के कवियों में घनानंद इस प्रसंग में सबसे अधिक उल्लेख योग्य हैं। भाषा को वे इतनी वशवर्तिनी समझते थे कि अपनी भावना के प्रवाह के साथ उसे जिधर चाहते थे बेधड़क मोड़ते थे। कुछ उदाहरण लीजिए—

1. अरसानि गही वह बानि कछू **सरसानि सों** आनि निहोरत है,
2. ह्वै है सोऊ **घरी भाग उघरी अनंदघन,** सुरस बरसि, लाल, देखिहौं हमैं हरी।
3. **उघरो जग,** छाय रहे घनआनंद चातक ज्यों तकिए अब तौ।
4. मिलन न कैहूँ भरे **रावरी अमिलताई,** हिए ये किए विसाल जे बिछोह छत हैं।
5. भूलनि चिन्हारि दोऊ है न हो हमारे ताते, बिसरनि **रावरी हमैं लै बिसरति** है।
6. **उजरनि बसी** है हमारी अँखयानि देखो, सुबस सुदेश जहाँ भावत बसन्त हौ।

ऊपर के उद्धरणों के रेखांकित स्थलों में भाषा की मार्मिक वक्रता एक एक करके देखिए।

(1) बानि धीमी या शिथिल पड़ गई—कहने में उतनी व्यंजकता न दिखाई पड़ी, अतः कवि ने कृष्ण का आलस्य न कहकर उनकी बानि (आदत) का आलस्य करना कहा। (2) अपने को खुले भाग्यवाली न कहकर नायिका ने उस घड़ी को खुले भाग्यवाली कहा, इससे सौभाग्य दशा एक व्यक्ति ही तक न रहकर उस घड़ी के भीतर संपूर्ण जगत् में व्याप्त प्रतीत हुई। विशेषण के इस विपर्यय से कितनी व्यंजकता आ गई। (3) मेघ का छाना और उघड़ना तो बराबर बोला जाता है पर कवि ने मेघ के छाए रहने और कृष्ण की आँखों में छाए रहने के साथ ही साथ जग का उघड़ना (खुलना), तितर बितर होना या तिरोहित होना कह दिया जिसका लक्ष्यार्थ हुआ जगत् के फैले हुए प्रपंच का आँखों के सामने से हट जाना, चारों ओर शून्य दिखाई पड़ना। (4) कृष्ण की अमिलताई (न मिलना) हृदय के घाव में भी भर गई है जिससे उसका मुँह नहीं मिलता और वह नहीं पूजता। भरा भी रहना और न भरना या पूजना में विरोध का चमत्कार भी है। (5) हमें कभी कभी आत्मविस्मृत हो जाती है, इससे जान पड़ता है कि आप हमें लिए दिए भूलते हैं अर्थात् उधर आप हमें भूलते हैं, इधर हमारी सत्ता ही तिरोहित हो जाती है। (6) हमारी आँखों के सामने उजाड़ बसा है अर्थात् आँखों के सामने शून्य दिखाई पड़ता है। इसमें भी विरोध का चमत्कार अत्यंत आकर्षक है।

आजकल हमारी वर्तमान काव्यधारा की प्रवृत्ति इसी प्रकार की लाक्षणिक वक्रता की ओर विशेष है। यह अच्छा लक्षण है। इसके द्वारा हमारी भाषा की अभिव्यंजना

शक्ति के प्रसार की बहुत कुछ आशा है। श्री सुमित्रानंदन पंत की रचना से कुछ उदाहरण लेकर देखिए–

(1) **धूलि की ढेरी** में अनजान। छिपे हैं मेरे **मधुमय गान**।

(2) रुदन, क्रीड़ा **आलिंगन**।
शशि की सी ये कलित **कलाएँ किलक रही हैं** पुर पुर में।

(3) मर्म **पीड़ा के हास**।

(4) अहह! यह मेरा **गीला गान**।

(5) तड़ित सा, सुमुखि! तुम्हारा ध्यान।
प्रभा के पलक मार, उर चीर
गूढ़ गर्जन कर जब गम्भीर।

(6) **लाज** में लिपटी उषा समान।

घनानंद की वाग्विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए अब ऊपर के उद्धरणों के रेखांकित प्रयोगों की लाक्षणिक प्रक्रिया देखिए–

(1) धूलि की ढेरी=तुच्छ या असार कहा जाने वाला संसार। मधुमय गान=मधुमय गान के विषय=मधुर और सुंदर वस्तुएँ। (2) कलाएँ किलक रही हैं=जोर से हँस रही हैं=आनंद का प्रकाश कर रही हैं। (3) पीड़ा के हास=पीड़ा का विकास या प्रसार (विरोध का चमत्कार)। (4) गीला गान=आर्द्र हृदय या अश्रुपूर्ण व्यक्ति की वाणी (सामान्य कथन में जो गुण व्यक्ति का कहा जाता है वह गान का कहा गया, विशेषण विपर्यय)। (5) प्रभा के पलक मार=पल पल पर चमककर। गूढ़ गर्जन=छिपी हुई हृदय की धड़कन। (6) लाज=लज्जा से उत्पन्न ललाई।

इन प्रयोगों का आधार या तो किसी न किसी प्रकार की साम्य भावना है अथवा किसी वस्तु का उपलक्षण या प्रतीक के रूप में ग्रहण। दोनों बातें कल्पना ही के द्वारा होती हैं। उपलक्षणों या प्रतीकों का एक प्रकार का चुनाव है जो मूर्तिमत्ता, मार्मिकता, या अतिशय आदि की दृष्टि से होता है, जैसे–शोक या विषाद के स्थान पर अश्रु, हर्ष और आनंद के स्थान पर हास, प्रिय प्रेमी के लिए मुकुल मधुप, यौवन काल या संयोग काल के लिए मधुमास, शुभ्र के स्थान पर रजत या हंस, दीप्त के स्थान पर स्वर्ण इत्यादि। यह सारा व्यवसाय कल्पना ही का है।

काव्य की पूर्ण अनुभूति के लिए कल्पना का व्यापार कवि और श्रोता दोनों के लिए अनिवार्य है। काव्य की कोई उक्ति कान में पड़ते समय जब काव्य वस्तु के साथ साथ वक्ता या बोधव्य पात्र की कोई मूर्त भावना भी खड़ी रहती है तभी पूरी तन्मयता प्राप्त होती है।

[चिन्तामणि, भाग-1]

काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था

तदेजति तन्नैजति —*ईशावास्योपनिषद्*

आत्मबोध और जगद्‌बोध के बीच ज्ञानियों ने गहरी खाई खोदी पर हृदय ने कभी उसकी परवा न की; भावना दोनों को एक ही मानकर चलती रही। इस जगत् के बीच जिस आनंद मंगल की विभूति का साक्षात्कार होता रहा उसी के स्वरूप की नित्य और चरम भावना द्वारा भक्तों के हृदय में भगवान् के स्वरूप की प्रतिष्ठा हुई। लोक में इसी स्वरूप के प्रकाश को किसी ने 'रामराज्य' कहा, किसी ने 'आसमान की बादशाहत'। यद्यपि मूसाइयों और उनके अनुगामी ईसाइयों की धर्म पुस्तक में आदम को खुदा की प्रतिमूर्ति बताया गया, पर लोक के बीच नर में नारायण की दिव्य कला का सम्यक् दर्शन और उसके प्रति हृदय का पूर्ण निवेदन भारतीय भक्ति मार्ग में ही दिखाई पड़ा।

सत्, चित् आनंद ब्रह्म के इन तीनों स्वरूपों में से काव्य और भक्ति मार्ग 'आनंद' स्वरूप को लेकर चले। विचार करने पर लोक में इस आनंद की अभिव्यक्ति की दो अवस्थाएँ पाई जाएँगी—साधनावस्था और सिद्धावस्था। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में ब्रह्म के 'आनंद' स्वरूप का सतत आभास नहीं रहता, उसका आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। इस जगत् में न तो सदा और सर्वत्र लहलहाता वसंत विकास रहता है, न सुख समृद्धि पूर्ण हास विलास। शिशिर के आतंक से सिमटी और झोंके झेलती वनस्थली की खिन्नता और हीनता के बीच से ही क्रमशः आनंद की अरुण आभा धुँधली धुँधली फूटती हुई अंत में वसंत की पूर्ण प्रफुल्लता और प्रचुरता के रूप में फैल जाती है; इसी प्रकार लोक की पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार के बीच दबी हुई आनंद ज्योति भीषण शक्ति में परिणत होकर अपना मार्ग निकालती है और फिर लोकमंगल और लोकरंजन के रूप में अपना प्रकाश करती है।

कुछ कवि और भक्त तो जिस प्रकार आनंद मंगल के सिद्ध या आविर्भूत स्वरूप को लेकर सुख सौंदर्यमय माधुर्य, सुषमा, विभूति, उल्लास, प्रेम व्यापार इत्यादि उपभोग पक्ष की ओर आकर्षित होते हैं उसी प्रकार आनंद मंगल की साधनावस्था या प्रयत्नपक्ष को लेकर पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार आदि के दमन में तत्पर शक्ति के संचरण

में भी—उत्साह, क्रोध, करुणा, भय, घृणा इत्यादि की गतिविधि में भी—पूरी रमणीयता देखते हैं। वे जिस प्रकार प्रकाश को फैला हुआ देखकर मुग्ध होते हैं उसी प्रकार फैलने के पूर्व उसके अंधकार को हटाना देखकर भी। ये ही पूर्ण कवि हैं, क्योंकि जीवन की अनेक परिस्थितियों के भीतर ये सौंदर्य का साक्षात्कार करते हैं। साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को ग्रहण करनेवाले कुछ ऐसे कवि भी होते हैं जिनका मन सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष की ओर नहीं जाता, जैसे—भूषण। इसी प्रकार कुछ कवि या भावुक आनंद के केवल सिद्धस्वरूप या उपभोग पक्ष में ही अपनी वृत्ति रमा सकते हैं। उनका मन सदा सुख सौंदर्यमय, माधुर्य, दीप्ति, उल्लास, प्रेम क्रीड़ा इत्यादि के प्राचुर्य ही की भावना में लगता है। इसी प्रकार की भावना या कल्पना उन्हें कलाक्षेत्र के भीतर समझ पड़ती है।

उपर्युक्त दृष्टि से हम काव्यों के दो विभाग कर सकते हैं—

(1) आनंद की साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर चलनेवाले।

(2) आनंद की सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष को लेकर चलनेवाले।

डंटन (Theodore Watts Dunton) ने जिसे शक्ति काव्य (Poetry as an energy) कहा है, वह हमारे प्रथम प्रकार के अंतर्गत आ जाता है। जिसमें लोकप्रवृत्ति को परिचालित करनेवाला प्रभाव होता है, जो पाठकों या श्रोताओं के हृदय में भावों की स्थायी प्रेरणा उत्पन्न कर सकता है। पर डंटन ने शक्ति काव्य से भिन्न को जो कलाकाव्य (Poetry as an art) कहा है, वह कला का उद्देश्य केवल मनोरंजन मानकर। वास्तव में कला की दृष्टि दोनों प्रकार के काव्यों में अपेक्षित है। साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर चलनेवाले काव्यों में भी यदि कला में चूक हुई तो लोकगति को परिचालित करनेवाला स्थायी प्रभाव न उत्पन्न हो सकेगा। यहीं तक नहीं, व्यंजित भावों के साथ पाठकों की सहानुभूति या साधारणीकरण तक, जो रस की पूर्ण अनुभूति के लिए आवश्यक है, न हो सकेगा। यदि 'कला' का वही अर्थ लेना है जो कामशास्त्र की चौंसठ कलाओं में है—अर्थात् मनोरंजन या उपभोग मात्र का विधायक—तो काव्य के संबंध में दूर ही से इस शब्द को नमस्कार करना चाहिए। काव्य समीक्षा में फरांसीसियों की प्रधानता के कारण इस शब्द को इसी अर्थ में ग्रहण करने से योरप में काव्यदृष्टि इधर कितनी संकुचित हो गई, इसका निरूपण हम किसी अन्य प्रबंध में करेंगे।

आनंद की साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर चलनेवाले काव्यों के उदाहरण हैं—रामायण, महाभारत, रघुवंश, शिशुपालवध, किरातार्जुनीय। हिन्दी में रामचरितमानस, पद्मावत (उत्तरार्द्ध), हम्मीररासो, पृथ्वीराजरासो, छत्रप्रकाश इत्यादि प्रबंध काव्य; भूषण आदि कवियों के वीर रसात्मक मुक्तक तथा आल्हा आदि प्रचलित वीरगाथात्मक गीत, उर्दू के वीररसात्मक मरसिए। योरपीय भाषाओं में इलियड, ओडेसी, पैराडाइज लास्ट, रिवोल्ट ऑफ इस्लाम इत्यादि प्रबंध काव्य तथा पुराने बैलड (Ballads)।

आनंद की सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष को लेकर चलनेवाले काव्यों के उदाहरण हैं—आर्य्यासप्तशती, गाथासप्तशती, अमरूशतक, गीतगोविंद तथा शृंगाररस के फुटकल

पद्य। हिन्दी में सूरसागर, कृष्ण भक्त कवियों की पदावली, बिहारी सतसई, रीतिकाल के कवियों के फुटकल शृंगारी पद्य, रास पंचाध्यायी ऐसे वर्णनात्मक काव्य तथा आजकल की अधिकांश कविताएँ, फारसी उर्दू के शेर और गजलें। अँगरेजी की लीरिक (Lyrics) कविताएँ तथा कई प्रकार की वर्णनात्मक कविताएँ।

आनंद की साधनावस्था

लोक में फैली दुःख की छाया को हटाने में ब्रह्म की आनंदकला, जो शक्तिमय रूप धारण करती है, उसकी भीषणता में भी अद्भुत मनोहरता, कटुता में भी अपूर्व मधुरता, प्रचंडता में भी गहरी आर्द्रता साथ लगी रहती है। विरुद्धों का यही सामंजस्य कर्मक्षेत्र का सौंदर्य है जिसकी ओर आकर्षित हुए बिना मनुष्य का हृदय नहीं रह सकता। इस सामंजस्य का और कई रूपों में भी दर्शन होता है। किसी कोट पतलून हैटवाले को धारा प्रवाह संस्कृत बोलते अथवा किसी पंडित वेशधारी सज्जन को अँगरेजी की प्रगल्भ वक्तृता देते सुन व्यक्तित्व का जो एक चमत्कार सा दिखाई पड़ता है उसकी तह में भी सामंजस्य का यही सौंदर्य समझना चाहिए। भीषणता और सरसता, कोमलता और कठोरता, कटुता और मधुरता, प्रचंडता और मृदुता का सामंजस्य ही लोकधर्म का सौंदर्य है। आदिकवि वाल्मीकि की वाणी इसी सौंदर्य के उद्‌घाटन महोत्सव का दिव्य संगीत है। सौंदर्य का यह उद्‌घाटन असौंदर्य का आवरण हटाकर होता है। धर्म और मंगल की वह ज्योति अधर्म और अमंगल की घटा को फाड़ती हुई फूटती है। इससे कवि हमारे सामने असौंदर्य, अमंगल, अत्याचार, क्लेश इत्यादि भी रखता है; रोष, हाहाकार और ध्वंस का दृश्य भी लाता है। पर सारे भाव, सारे रूप और सारे व्यापार भीतर भीतर आनंदकाल के विकास में ही योग देते पाए जाते हैं। यदि किसी ओर उन्मुख ज्वलंत रोष है तो उसके और सब ओर करुण दृष्टि फैली दिखाई पड़ती है। यदि किसी ओर ध्वंस और हाहाकार है तो और सब ओर उसका सहगामी रक्षा और कल्याण है। व्यास ने भी अपने 'जयकाव्य' में अधर्म के पराभव और धर्म की जय का सौंदर्य प्रत्यक्ष किया था।

वह व्यवस्था या वृत्ति, जिससे लोक में मंगल का विधान होता है, 'अभ्युदय' की सिद्धि होती है, धर्म है। अतः अधर्म वृत्ति को हटाने में धर्म वृत्ति की तत्परता—चाहे वह उग्र और प्रचंड हो, चाहे कोमल और मधुर—भगवान् की आनंदकला के विकास की ओर बढ़ती हुई गति है। यह गति यदि सफल हुई तो 'धर्म की जय' कहलाती है। इस गति में भी सुंदरता है और इसकी सफलता में भी। यह बात नहीं है जब यह गति सफल होती है तभी इसमें सुंदरता आती है। गति में सुंदरता रहती ही है; आगे चलकर चाहे यह सफल हो, चाहे विफल। विफलता में भी एक निराला ही विषण्ण सौंदर्य होता है। तात्पर्य यह कि गति आदि से अंत तक सुंदर होती है—अंत चाहे सफलता के रूप में हो, चाहे विफलता के। उपर्युक्त दोनों आर्ष कवियों ने पूर्णता

के विचार से धर्म की गति का सौंदर्य दिखाते हुए उसका सफलता में पर्यवसान किया है। ऐसा उन्होंने उपदेशक की बुद्धि से नहीं किया है; धर्म की जय के बीच भगवान् की मूर्ति के साक्षात्कार पर मुग्ध होकर किया है। यदि राम द्वारा रावण का वध तथा कृष्ण के साहाय्य द्वारा जरासंध और कौरवों का दमन न हो सकता तो भी राम कृष्ण की गतिविधि में पूरा सौंदर्य रहता, पर उनमें भगवान् की पूर्ण कला का दर्शन न होता, क्योंकि भगवान् की शक्ति अमोघ है।

आनंदकला के प्रकाश की ओर बढ़ती हुई गति की विफलता में भी सौंदर्य का दर्शन करनेवाले अनेक कवि हुए हैं। अँगरेज कवि शेली संसार में फैले पाषंड, अन्याय और अत्याचार के दमन तथा मनुष्य मनुष्य के बीच सीधे सरल प्रेमभाव के सार्वभौम संसार का स्वप्न देखनेवाले कवि थे। उन्होंने 'इस्लाम का विप्लव' (The Revolt of Islam) नामक द्वादशसर्गबद्ध महाकाव्य में मनुष्य जाति के उद्धार में रत नायक और नायिका (Laon and Cythna) में मंगल शक्ति के अपूर्व संचय की छटा दिखाकर तथा उनके द्वारा एक बार दुर्दांत अत्याचार के पराभव के मनोरम आभास से अनुरंजित करके अंत में उस शक्ति की विफलता की विषदमयी छाया से लोक को फिर आवृत्त दिखाकर छोड़ दिया है।

जैसा ऊपर कह आए हैं, मंगल अमंगल के द्वंद्व में कवि लोग अंत में मंगल शक्ति की जो सफलता दिखा दिया करते हैं उसमें सदा शिक्षावाद (Didacticism) या अस्वाभाविकता की गंध समझकर नाक भौं सिकोड़ना ठीक नहीं। अस्वाभाविकता तभी आएगी जब बीच का विधान ठीक न होगा अर्थात् जब प्रत्येक अवसर पर सत्पात्र सफल और दुष्ट पात्र विफल या ध्वस्त दिखाए जाएँगे पर सच्चे कवि ऐसा कभी नहीं करते। इस जगत् में अधर्म प्रायः दुर्दमनीय शक्ति प्राप्त करता है जिसके सामने धर्म की शक्ति बार बार उठकर व्यर्थ होती रहती है। कवि जहाँ मंगलशक्ति की सफलता दिखाता है, वहाँ कला की दृष्टि से सौंदर्य का प्रभाव डालने के लिए; धर्म शासक की हैसियत से डराने के लिए नहीं कि यदि ऐसा कर्म करोगे तो ऐसा फल पाओगे। कवि कर्म सौंदर्य के प्रभाव द्वारा प्रवृत्ति या निवृत्ति अंतःप्रकृति में उत्पन्न करता है, उसका उपदेश नहीं देता।

कवि सौंदर्य से प्रभावित रहता है और दूसरों को भी प्रभावित करना चाहता है। किसी रहस्यमयी प्रेरणा से उसकी कल्पना में कई प्रकार के सौंदर्यों का जो मेल आप से आप हो जाया करता है उसे पाठक के सामने भी वह प्रायः रख देता है जिस पर कुछ लोग कह सकते हैं कि ऐसा मेल क्या संसार में बराबर देखा जाता है। मंगल शक्ति के अधिष्ठान राम और कृष्ण जैसे पराक्रमशाली और धीर हैं वैसा ही उनका रूप माधुर्य और उनका शील भी लोकोत्तर है। लोक हृदय आकृति और गुण, सौंदर्य और सुशीलता एक ही अधिष्ठान में देखना चाहता है। इसी से 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसंति' सामुद्रिक की यह उक्ति लोकोक्ति के रूप में चल पड़ी। 'नैषध' में नल हंस से कहते हैं–

न तुला विषये तवाकृतिनं वचो वर्त्मनि ते सुशीलता।
त्वदुदाहरणाऽकृतौ गुणा इति सामुद्रिक सार मुद्रणा॥

भीतरी और बाहरी सौंदर्य, रूप सौंदर्य और कर्म सौंदर्य के मेल की यह आदत धीरोदात्त आदि भेद निरूपण से बहुत पुरानी है और बिलकुल छूट भी नहीं सकती। यह हृदय की एक भीतरी वासना की तुष्टि के हेतु कला की रहस्यमयी प्रेरणा है। उन्नीसवीं शताब्दी के कवि शेली—जो राजशासन, धर्मशासन, समाजशासन आदि सब प्रकार की शासन व्यवस्था के घोर विरोधी थे—इस प्रेरणा से पीछा न छुड़ा सके। उन्होंने भी अपने प्रबंध काव्यों में रूप सौंदर्य और कर्म सौंदर्य का ऐसा ही मेल किया है। उनके नायक (या नायिका) जिस प्रकार पीड़ा, अत्याचार आदि से मनुष्य जाति का उद्धार करने के लिए अपना प्राण तक उत्सर्ग करनेवाले, घोर से घोर कष्ट और यंत्रणा से मुँह न मोड़नेवाले, पराक्रमी, दयालु और धीर हैं, उसी प्रकार रूप माधुर्य संपन्न भी।[1]

आज भी किसी कवि से राम की शारीरिक सुंदरता कुंभकर्ण को और कुंभकर्ण की कुरूपता राम को न देते बनेगी। माइकेल मधुसूदन दत्त ने मेघनाद को अपने काव्य का रूप गुण सम्पन्न नायक बनाया पर लक्ष्मण को वे कुरूप न कर सके। उन्होंने जो उलट फेर किया, वह कला या काव्यानुभूति की किसी प्रकार की प्रेरणा से नहीं, बल्कि एक पुरानी धारणा तोड़ने की बहादुरी दिखाने के लिए, जिसका शौक किसी विदेशी नई शिक्षा के पहले पहल प्रचलित होने पर प्रायः सब देशों में कुछ दिन रहा करता है। इसी प्रकार बंगभाषा के एक दूसरे कवि नवीनचंद्र ने अपने 'कुरुक्षेत्र' नामक काव्य में कृष्ण का आदर्श ही बदल दिया है। उसमें वे ब्राह्मणों के अत्याचार से पीड़ित जनता के उद्धार के लिए उठ खड़े हुए एक क्षत्रिय महात्मा के रूप में अंकित किए गए हैं। अपने समय में उठी हुई किसी खास हवा की झोंक में प्राचीन आर्ष काव्यों के पूर्णतया निर्दिष्ट स्वरूपवाले आदर्श पात्रों को एकदम कोई नया मनमाना रूप देना भारती के पवित्र मंदिर में व्यर्थ गड़बड़ मचाना है।

शुद्ध मर्मानुभूति द्वारा प्रेरित कुशल कवि भी प्राचीन आख्यानों को बराबर लेते आए हैं और अब भी लेते हैं। वे उनके पात्रों में अपनी नवीन उद्‌भावना का, अपनी

---

1. Certain it is that with Shelly goodness is ever near to sensuous beauty and passes easily into passion. Hence his choice of heroic type rather than simple ones of laon and Cythna and prometheus rather than Michael, Mathew etc.. Laon Cythna possess youth, strength and beauty no less than courage and instinct for self-sacrifice and their passion for freedom. A further admirable instance of this harmony of goodness and beauty is seen in the description of Lady Beneficient who tended the garden of "The Sensitive Plant."
—Studies in Shelly by A.T.Strong

नई कल्पित बातों का बराबर आरोप करते हैं, पर वे बातें उन पात्रों के चिर प्रतिष्ठित आदर्शों के मेल में होती हैं। केवल अपने समय की परिस्थिति विशेष को लेकर जो भावनाएँ उठती हैं उनके आश्रय के लिए जब नए आख्यानों और नए पात्रों की उद्भावना स्वच्छंदतापूर्वक की जा सकती है, तब पुराने आदर्शों को विकृत या खंडित करने की क्या आवश्यकता है?

कर्म सौंदर्य के जिस स्वरूप पर मुग्ध होना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है और जिसका विधान कवि परंपरा बराबर करती चली आ रही है, उसके प्रति उपेक्षा प्रकट करने और कर्म सौंदर्य के एक दूसरे पक्ष में ही केवल प्रेम और भ्रातृभाव के प्रदर्शन और आचरण में ही काव्य का उत्कर्ष मानने का जो एक नया फैशन टालस्टाय के समय से चला है वह एकदेशीय है। दीन और असहाय जनता को निरंतर पीड़ा पहुँचाते चले जानेवाले क्रूर आततायियों को उपदेश देने, उनसे दया की भिक्षा माँगने और प्रेम जताने तथा उनकी सेवा शुश्रूषा करने में ही कर्त्तव्य की सीमा नहीं मानी जा सकती, कर्मक्षेत्र का एकमात्र सौंदर्य नहीं कहा जा सकता। मनुष्य के शरीर के जैसे दक्षिण और वाम दो पक्ष हैं, वैसे ही उसके हृदय के भी कोमल और कठोर, मधुर और तीक्ष्ण, दो पक्ष हैं और बराबर रहेंगे। काव्य कला की पूरी रमणीयता इन दोनों पक्षों के समन्वय के बीच मंगल या सौंदर्य के विकास में दिखाई पड़ती है।

भावों की प्रक्रिया की समीक्षा से पता चलता है कि उदय से अस्त तक भावमंडल का कुछ भाग तो आश्रय की चेतना के प्रकाश में (Conscious) रहता है और कुछ अंतस्संज्ञा के क्षेत्र (Sub-conscious region) में छिपा रहता है। संचारी भावों के संचरणकाल में कभी कभी उनके स्थायी भाव कारणरूप में अंतस्संज्ञा के भीतर पड़ जाते हैं। रतिभाव में संचारी होकर आई हुई असूया या ईर्ष्या ही को लीजिए। जिस क्षण में वह अपनी चरम सीमा पर पहुँची हुई होती है, उस क्षण में आश्रय को ही रति भाव की कोमल सत्ता का ज्ञान नहीं रहता, उस क्षण में उसके भीतर ईर्ष्या की ही तीक्ष्ण प्रतीति रहती है और बाहर ईर्ष्या के ही लक्षण दिखाई देते हैं। जिस प्रकार किसी आश्रय के भीतर कोई एक भाव स्थायी रहता है और अनेक भाव तथा अंतर्दशाएँ उसके संचारी के रूप में आती हैं उसी प्रकार किसी प्रबंध काव्य के प्रधान पात्र में कोई मूल प्रेरक भाव या बीज भाव रहता है जिसकी प्रेरणा से घटना चक्र चलता है और अनेक भावों के स्फुरण के लिए जगह निकलती चलती है। इस बीजभाव को साहित्य ग्रंथों में निरूपित स्थायी भाव और अंगीभाव दोनों से भिन्न समझना चाहिए।

बीजभाव द्वारा स्फुरित भावों में कोमल और मधुर, कठोर और तीक्ष्ण—दोनों प्रकार के भाव रहते हैं। यदि बीजभाव की प्रकृति मंगलविधायिनी होती है तो उसकी व्यापकता और निर्विशेषता के अनुसार सारे प्रेरित भाव तीक्ष्ण और कठोर होने पर भी सुंदर होते हैं। ऐसे बीजभाव की प्रतिष्ठा जिस पात्र में होती है उसके सब भावों

के साथ पाठकों की सहानुभूति होती है। अर्थात् पाठक या श्रोता भी रसरूप में उन्हीं भावों का अनुभव करते हैं जिन भावों की वह व्यंजना करता है। ऐसे पात्र की गति में बाधा डालनेवाले पात्रों के उग्र या तीक्ष्ण भावों के साथ पाठकों का वास्तव में तादात्म्य नहीं होता, चाहे उनकी व्यंजना में रस की निष्पत्ति करनेवाले तीनों अवयव वर्तमान हों। राम यदि रावण के प्रति क्रोध या घृणा की व्यंजना करेंगे तो पाठक या श्रोता का भी हृदय उस क्रोध या घृणा की अनुभूति में योग देगा। इस क्रोध या घृणा में भी काव्य का पूर्ण सौंदर्य होगा। पर रावण यदि राम के प्रति क्रोध या घृणा की व्यंजना करेगा तो रस के तीनों अवयवों के कारण 'शास्त्र स्थिति संपादन'[1] चाहे हो जाए पर उस व्यंजित भाव के साथ पाठक के भाव का तादात्म्य कभी न होगा। पाठक केवल चरित्र द्रष्टा मात्र रहेगा; उसका केवल मनोरंजन होगा; भाव में लीन करनेवाली प्रथम कोटि की रसानुभूति उसकी न होगी।

ऊपर कहा गया है कि किसी शुभ बीज भाव की प्रेरणा से प्रवर्तित तीक्ष्ण और उग्र भावों की सुंदरता की मात्रा उस बीजभाव की निर्विशेषता और व्यापकता के अनुसार होती है, जैसे—यदि करुणा किसी व्यक्ति की विशेषता पर अवलंबित होगी कि पीड़ित व्यक्ति हमारा कुटुंबी मित्र आदि है, तो उस करुणा के द्वारा प्रवर्तित तीक्ष्ण या उग्र भावों में उतनी सुंदरता न होगी। पर बीजरूप अंतस्संज्ञा में स्थित करुणा यदि इस ढब की होगी कि इतने पुरवासी, इतने देशवासी या इतने मुनष्य पीड़ा पा रहे हैं तो उसके द्वारा प्रवर्तित तीक्ष्ण या उग्र भावों का सौंदर्य उत्तरोत्तर अधिक होगा। यदि किसी काव्य में वर्णित दो पात्रों में से एक तो अपने भाई को अत्याचार और पीड़ा से बचाने के लिए अग्रसर हो रहा है और दूसरा किसी बड़े भारी जनसमूह को, तो गति में बाधा डालनेवालों के प्रति दोनों के प्रदर्शित क्रोध के सौंदर्य के परिणाम में बहुत अंतर होगा।

भावों की छानबीन करने पर मंगल का विधान करनेवाले दो भाव ठहरते हैं—करुणा और प्रेम। करुणा की गति रक्षा की ओर होती है और प्रेम की रंजन की ओर। लोक में प्रथम साध्य रक्षा है। रंजन का अवसर उसके पीछे आता है। अतः साधनावस्था या प्रयत्नपक्ष को लेकर चलनेवाले काव्यों का बीजभाव करुणा ही ठहरता है। इसी से शायद अपने दो नाटकों में रामचरित को लेकर चलनेवाले महाकवि भवभूति ने 'करुण' को ही एकमात्र रस कह दिया। रामायण का बीजभाव करुणा है जिसका संकेत क्रौंच को मारनेवाले निषाद के प्रति वाल्मीकि के मुँह से निकले वचन द्वारा आरंभ ही में मिलता है। उसके उपरांत भी बालकांड के 15वें

---

1. रसव्यक्तिमपेक्ष्यैषामङ्गानां सन्निवेशनम्।
न तु केवलाय शास्त्रस्थिति संपादनेच्छया॥

साहित्यदर्पण

सर्ग में इसका आभास दिया गया है जहाँ देवताओं ने ब्रह्मा से रावण द्वारा पीड़ित लोक की दारुण दशा का निवेदन किया है। उक्त आदि काव्य के भीतर लोकमंगल की शक्ति के उदय का आभास ताड़का और मारीच के दमन के प्रसंग में ही मिल जाता है। पंचवटी से वह शक्ति जोर पकड़ती दिखाई देती है। सीताहरण होने पर उसमें आत्मगौरव और दांपत्य प्रेम की प्रेरणा का भी योग हो जाता है। ध्यान देने की बात यह है कि इस आत्मगौरव और दांपत्य प्रेम की प्रेरणा बीच से प्रकट होकर उस विराट मंगलोन्मुखी गति में समन्वित हो जाती है। यदि राक्षसराज पर चढ़ाई करने का मूल कारण केवल आत्मगौरव या दांपत्य प्रेम होता तो राम के 'कालाग्नि सदृश क्रोध' में काव्य का वह लोकोत्तर सौंदर्य न होता। लोक के प्रति करुणा जब सफल हो जाती है, लोक जब पीड़ा और विघ्नबाधा से मुक्त हो जाता है तब रामराज्य में जाकर लोक के प्रति प्रेम प्रवर्तन का, प्रजा के रंजन का, उसके अधिकाधिक सुख के विधान का अवकाश मिलता है।

जो कुछ ऊपर कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि काव्य का उत्कर्ष केवल प्रेमभाव की कोमल व्यंजना में ही नहीं माना जा सकता जैसा कि टाल्सटाय के अनुयायी या कुछ कलावादी कहते हैं। क्रोध आदि उग्र और प्रचंड भावों के विधान में भी, यदि उनकी तह में करुण भाव व्यक्त रूप में स्थित हो, पूर्ण सौंदर्य का साक्षात्कार होता है। स्वतंत्रता के उन्मत्त उपासक, घोर परिवर्तनवादी शेली के महाकाव्य 'The Revolt of Islam' के नायक नायिका अत्याचारियों के पास जाकर उपदेश देनेवाले, गिड़गिड़ानेवाले, अपनी साधुता, सहनशीलता और शांत वृत्ति का चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन करनेवाले नहीं हैं। वे उत्साह की उमंग में प्रचंड वेग से युद्ध क्षेत्र में बढ़नेवाले, पाषंड, लोक पीड़ा और अत्याचार देख पुनीत क्रोध के सात्त्विक तेज से तमतमानेवाले, भय या स्वार्थवश आततायियों की सेवा स्वीकार करनेवालों के प्रति उपेक्षा प्रकट करनेवाले हैं। शेली ने भी काव्यकला का मूलतत्त्व प्रेम भाव ही माना था, पर अपने को सुख सौंदर्यमय माधुर्य भाव तक ही बद्ध न रखकर प्रबंधक्षेत्र में भी अच्छी तरह घुसकर भावों की अनेकरूपता का विन्यास किया था। स्थिर (static) सौंदर्य और गत्यात्मक (dynamic) सौंदर्य, उपभोग पक्ष और प्रयत्न पक्ष दोनों उनमें पाए जाते हैं।

टाल्सटाय के मनुष्य मनुष्य में भ्रातृ प्रेम संचार को ही एकमात्र काव्यतत्त्व कहने का बहुत कुछ कारण सांप्रदायिक था। इसी प्रकार कलावादियों का केवल कोमल और मधुर की लीक पकड़ना मनोरंजन मात्र की हलकी रुचि और दृष्टि की परिमित के कारण समझना चाहिए। टाल्सटाय के अनुयायी प्रयत्नपक्ष को लेते अवश्य हैं पर केवल पीड़ितों की सेवा शुश्रूषा की दौड़ धूप, आततायियों पर प्रभाव डालने के लिए साधुता के लोकोत्तर प्रदर्शन, त्याग, कष्ट, सहिष्णुता इत्यादि में ही उसका सौंदर्य स्वीकार करते हैं। साधुता की इस मृदुल गति को वे 'आध्यात्मिक शक्ति' कहते हैं। पर भारतीय दृष्टि से हम इसे भी प्राकृतिक शक्ति—मनुष्य की अंतःप्रकृति की सात्त्विक विभूति

मानते हैं। विदेशी अर्थ में इस 'आध्यात्मिक' शब्द का प्रयोग हमारी देश भाषाओं में भी प्रचार पा रहा है। 'अध्यात्म' शब्द की, मेरी समझ में, काव्य या कला के क्षेत्र में कहीं कोई जरूरत नहीं है।

पूर्ण प्रभविष्णुता के लिए काव्य में हम भी सत्त्वगुण की सत्ता आवश्यक मानते हैं, पर दोनों रूपों में—दूसरे भावों की तह में अर्थात् अंतस्संज्ञा में स्थित बीज रूप में भी और प्रकाश रूप में भी। हम पहले कह आए हैं कि लोक में मंगलविधान की ओर प्रवृत्त करनेवाले दो भाव हैं—करुणा और प्रेम। यह भी दिखा आए हैं कि क्रोध, युद्धोत्साह आदि प्रचंड और उग्र वृत्तियों की तह में यदि इन दोनों में से कोई भाव बीजरूप में स्थित होगा, तभी सच्चा साधारणीकरण और पूर्ण सौंदर्य का प्रकाश होगा। उच्च दशा का प्रेम और करुणा दोनों सत्त्वगुण प्रधान हैं। त्रिगुणों में सत्त्वगुण सबके ऊपर है। यहाँ तक कि उसकी ऊपरी सीमा नित्य पारमार्थिक सत्ता के पास तक—व्यक्त और अव्यक्त की संधि तक जा पहुँचती है। इसी से शायद वल्लभाचार्यजी ने सच्चिदानंद के सत् स्वरूप का प्रकाश करनेवाली शक्ति को 'संधिनि' कहा है। व्यवहार में भी 'सत्' शब्द के दो अर्थ लिए जाते हैं—जो वास्तव में हो तथा 'अच्छा या शुभ'।

जबकि अव्यक्तावस्था से छूटी हुई प्रकृति के व्यक्त स्वरूप जगत् में आदि से अंत तक सत्त्व, रजस् और तमस् तीनों गुण रहेंगे तब समष्टिरूप में लोक के बीच मंगल का विधान करनेवाली ब्रह्म की आनंदकला के प्रकाश की यही पद्धति हो सकती है कि तमोगुण और रजोगुण दोनों सत्त्वगुण के अधीन होकर उसके इशारे पर काम करें। इस दशा में किसी ओर अपनी प्रवृत्ति के अनुसार काम करने पर भी समष्टि रूप में और सब ओर वे सत्त्वगुण के लक्ष्य की ही पूर्ति करेंगे। सत्त्वगुण के इस शासन में कठोरता, उग्रता और प्रचंडता भी सात्त्विक तेज के रूप में भासित होगी। इसी से अवतार रूप में हमारे यहाँ भगवान् की मूर्ति एक ओर तो 'वज्रादपि' कठोर और दूसरी ओर 'कुसुमादपि' मृदु रखी गई है—

'कुलिसहु चाहि कठोर अति, कोमल कुसुमहु चाहि।'

[चिन्तामणि भाग 1]

काव्य में अभिव्यंजनावाद

(माननीय विद्वज्जन!

आज मेरे ऐसे अयोग्य और अकर्मण्य व्यक्ति को इस आसन पर पहुँचाकर आप महानुभावों ने केवल अपने अमोघ कृपाबल का परिचय दिया है, यह कहना तो कदाचित् बहुत दिनों से चली आती हुई एक रूढ़ि या परंपरा का पालन मात्र समझा जायगा। पर इसका प्रमाण आपको अभी थोड़ी देर में मिल जायगा। ऐसी जगमगाती विद्वन्मंडली के बीच मेरा कर्त्तव्य केवल अपने दोनों कान खुले रखने का था, न कि मुँह खोलने का। पर आप लोग शायद इधर कार्यभार से थककर कुछ विनोद की सामग्री चाहते थे। मूर्ख हास्यरस के प्राचीन आलंबन हैं। न जाने कब से वे इस संसार की रुखाई के बीच लोगों को खुलकर हँसने का अवसर देते चले आ रहे हैं। यदि मुझसे इतना भी हो सके तो मैं अपना परम सौभाग्य समझूँगा।

सम्मेलन ने जबसे अपने अधिवेशन के साथ वाङ्मय के कुछ विभागों की अलग अलग बैठकों की व्यवस्था की तभी से यह समझा जाने लगा है कि वह प्रचारकार्य के साथ साथ प्रत्येक विभाग की स्थिति की निरंतर समीक्षा का विधान भी करना चाहता है। वाङ्मय के भिन्न भिन्न क्षेत्र किस दशा में हैं इसकी सम्यक् विवृत्ति प्रत्येक क्षेत्र के कार्यकर्त्ताओं द्वारा मिलकर विचार करने से ही हो सकती है। आज जिस विभाग की विचारसभा में सम्मिलित होने का अधिकार आप महानुभावों ने मुझे दिया है, वह है साहित्यविभाग। अतः इस बात का ध्यान मुझे बराबर रखना पड़ेगा कि जो कुछ मैं कहूँ वह उस विभाग के भीतर की बात हो। कहीं उसके बाहर न जा पड़ूँ, इस डर से कुछ हदबंदी मैं कर लेना चाहता हूँ, यह स्थिर कर लेना चाहता हूँ, कि शुद्ध साहित्य के भीतर क्या क्या आता है।[1])

---

1. चौबीसवें हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इंदौर की साहित्य परिषद् के सभापति पद से किया हुआ भाषण।

साहित्य के अंतर्गत वह सारा वाङ्मय लिखा जा सकता है जिसमें अर्थबोध के अतिरिक्त भावोन्मेष अथवा चमत्कारपूर्ण अनुरंजन हो तथा जिसमें ऐसे वाङ्मय की विचारात्मक समीक्षा या व्याख्या हो। भावोन्मेष से मेरा अभिप्राय हृदय की किसी प्रकार की प्रवृत्ति से–रति, करुणा, क्रोध इत्यादि से लेकर रुचि अरुचि तक से है और चमत्कार से अभिप्राय उक्तिवैचित्र्य के कुतूहल से है। अर्थ से मेरा अभिप्राय वस्तु या विषय से है। अर्थ चार प्रकार के होते हैं–प्रत्यक्ष, अनुमित, आप्तोपलब्ध, और कल्पित। प्रत्यक्ष की बात हम अभी छोड़ते हैं। भाव या चमत्कार से निःसंग विशुद्ध रूप में अनुमित अर्थ का क्षेत्र दर्शन विज्ञान है, आप्तोपलब्ध का क्षेत्र इतिहास है, कल्पित अर्थ का प्रधान क्षेत्र काव्य है। पर भाव या चमत्कार से समन्वित होकर ये तीनों प्रकार के अर्थ काव्य के आधार हो सकते हैं और होते हैं। यह अवश्य है कि अनुमित और आप्तोपलब्ध अर्थ के साथ काव्यभूमि में कल्पित अर्थ का योग थोड़ा रहता है, जैसे– दार्शनिक कविताओं में, रामायण, पद्मावत आदि ऐतिहासिक काव्यों में। गंभीर भाव प्रेरित काव्यों में कल्पना प्रत्यक्ष और अनुमान के दिखाए मार्ग पर काम करती है और बहुत प्रधान और बारीक काम करती है। कहने का तात्पर्य यह कि साहित्य के भीतर पहले तो वे सब कृतियाँ आती हैं जिनमें भावव्यंजक या चमत्कार विधायक अंश पर्याप्त होता है, फिर उन कृतियों की रमणीयता और मूल्य हृदयंगम करानेवाली समीक्षाएँ या व्याख्याएँ। अर्थबोध कराना मात्र, किसी बात की जानकारी कराना मात्र, जिस कथन या प्रबंध का उद्देश्य होगा वह साहित्य के भीतर न आएगा और चाहे जहाँ जाय।

इस दृश्य से साहित्यक्षेत्र के भीतर आनेवाली रचनाओं के तीन रूप तो हमारे यहाँ पहले से मिलते हैं–श्रव्यकाव्य, दृश्यकाव्य और कथात्मक गद्यकाव्य। इनमें से पहले दो तो अब तक ज्यों के त्यों बने हैं। कथात्मक गद्यकाव्य का स्थान अब उपन्यासों और छोटी कहानियों ने ले लिया है। चौथा रूप है काव्यात्मक गद्यप्रबंध या लेख। पाँचवाँ है वह विचारात्मक निबंध या लेख जिसमें भावव्यंजना और भाषा का वैचित्र्य या चमत्कार भी हो अथवा जिसमें पूर्वोक्त चारों प्रकार की कृतियों की मार्मिक समीक्षा या व्याख्या हो। काव्यसमीक्षा के अतिरिक्त और प्रकार के विचारपरंपरा द्वारा गृहीत अर्थों या तथ्यों के साथ लेखक का व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य तथा उसके हृदय के भाव या प्रवृत्तियाँ पूरी पूरी झलकती हैं। इस प्रकार मेरे विचार के विषय ठहरते हैं–काव्य, नाटक, उपन्यास, गद्य काव्य और निबंध, जिनमें साहित्यालोचना भी सम्मिलित है। (इन्हीं के संबंध में मैं अपनी कुछ भली या बुरी धारणाएँ क्रम से आप लोगों के सम्मुख प्रकट करूँगा, इस आशा से कि उनका बहुत कुछ संशोधन और परिष्कार इस विद्वन्मंडली के बीच हो जायगा। पहले मैं प्रत्येक का स्वरूप समझने का प्रयास करूँगा, फिर अपने साहित्य में उसके विकास पर कुछ निवेदन करूँगा–'प्रकाश डालना' तो मुझे आता नहीं।)

उपर्युक्त पाँचों प्रकार की रचनाओं में भाव या चमत्कार के परिमाण में ही नहीं, उसकी शासनविधि में भी भेद होता है। कहीं तो वह शासन इतना सर्वग्रासी और कठोर होता है कि भाव या चमत्कार के इशारे पर ही भाषा अनेक प्रकार के रूप रंग बनाकर नाचती दिखाई पड़ती है; अपना खास काम लुक छिपकर करती है। कहीं इतनी कोमल होती है कि वह अपना पहला काम खुलकर करती हुई भाव का कार्यसाधन करती है और अच्छी तरह करती है। भाषा का असल काम यह है कि प्रयुक्त शब्दों के अर्थयोग द्वारा ही—या तात्पर्य वृत्ति द्वारा ही—पूर्वोक्त चार प्रकार के अर्थों में से किसी एक का बोध कराए। जहाँ इस रूप में कार्य न करके वह ऐसे अर्थों का बोध कराती है जो बाधित, असंभव, असंगत या असंबद्ध होते हैं वहाँ वह केवल भाव या चमत्कार की साधना मात्र होती है, उसका वस्तुज्ञापनकार्य एक प्रकार से कुछ नहीं होता। ऐसे अर्थों का मूल्य इस दृष्टि से नहीं आँका जाता कि वे कहाँ तक वास्तविक, संभव या अव्याहत हैं बल्कि इस दृष्टि से आँका जाता है कि वे किसी भावना को कितने तीव्र और बढ़े चढ़े रूप में व्यंजित करते हैं अथवा उक्ति में कितना वैचित्र्य या चमत्कार लाकर अनुरंजन करते हैं। ऐसे अर्थविधान की संभावना काव्य में सबसे अधिक होती है। पर यह समझना चाहिए कि काव्य में अर्थ सदा इसी संक्रमित, अधीन दशा में ही पाया जाता है। बहुत सी अत्यंत मार्मिक और भावपूर्ण कविताएँ ऐसी होती हैं जिनमें भाषा कोई वेशभूषा या रंगरूप नहीं बनाती; अर्थ अपने खुले रूप में ही पूरा रसात्मक प्रभाव डालते हैं।

काव्य की अपेक्षा रूपक या नाटक में भावव्यंजना या चमत्कार के लिए स्थान परिमित होता है। उसमें भाषा अपनी अर्थक्रिया अधिकतर सीधे ढंग से करती है, केवल बीच में ही भाव या चमत्कार उसे दबाकर अपना काम लेते हैं। बात यह है कि नाटक कथोपकथन के सहारे पर चलते हैं। पात्रों की बातचीत यदि बराबर वक्रता लिए अतिरंजित या हवाई होगी तो वह अस्वाभाविक हो जायगी और सारा नाटकत्व निकल जायगा। यह ठीक है कि पश्चिम में कुछ कवियों ने (नाटककारों ने नहीं) केवल कल्पना की उड़ान दिखानेवाले नाटक लिखे हैं, पर वे शुद्ध नाटक की कोटि में नहीं लिए जाते। यही बात मन की भावनाओं या विकारों को मूर्त रूप में—पात्रों के रूप में खड़े करनेवाले नाटकों के संबंध में भी कही जा सकती है।

आख्यायिका या उपन्यास के कथाप्रवाह और कथोपकथन में अर्थ अपने प्रकृत रूप में और भी अधिक विद्यमान रहता है और उसे दबानेवाले भावविधान या उक्तिवैचित्र्य के लिए और थोड़ा स्थान बचता है। उपन्यास में मन बहुत कुछ घटनाचक्र में लगा रहता है। पाठक का मर्मस्पर्श बहुत कुछ घटनाएँ ही करती हैं; पात्रों द्वारा भावों की लंबी चौड़ी व्यंजना की अपेक्षा उतनी नहीं रहती।

काव्यात्मक गद्यप्रबंध या लेख छंद के बंधन से मुक्त काव्य ही है, अतः रचना भेद से उनमें भी अर्थ का उन्हीं रूपों में ग्रहण होता है जिन रूपों में छंदोबद्ध काव्य में होता है अर्थात् कहीं तो वह अपने प्रकृत और सीधे रूप में विद्यमान रहता है और कहीं भाव या चमत्कार द्वारा संक्रमित रहता है।

उपर्युक्त चारों प्रकार की रचनाओं में कल्पनाप्रसूत 'वस्तु' या अर्थ की प्रधानता रहती है, शेष तीन प्रकार के अर्थ सहायक के रूप में रहते हैं। पर निबंध में विचारप्रसूत अर्थ अंगी होता है और आप्तोपलब्ध या कल्पित अर्थ अंग रूप में रहता है। दूसरी बात यह है कि प्रकृत निबंध अर्थप्रधान होता है। व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य अर्थोपहित होता है, अर्थ के साथ के साथ मिलाजुला होता है और हृदय के भाव या प्रवृत्तियाँ बीच बीच में अर्थ के साथ झलक मारती हैं।

साहित्य के अंतर्गत आनेवाली पाँचों प्रकार की रचनाओं का आभास देकर अब मैं सबसे पहले काव्य को लेता हूँ जिसकी परंपरा सभ्य, असभ्य सब जातियों में अत्यंत प्राचीन काल से चली आती है। लोक में जैसे और सब विषयों का प्रकाश मनुष्य की वाणी या भाषा द्वारा होता है वैसे ही काव्य का प्रकाश भी। भाषा का पहला काम है शब्दों के द्वारा अर्थ का बोध कराना। यह काम वह सर्वत्र करती है—इतिहास में, दर्शन में, विधान में, नित्य की बातचीत में, लड़ाई झगड़े में और काव्य में भी। भावोन्मेष; चमत्कारपूर्ण अनुरंजन इत्यादि और जो कुछ वह करती है उसमें अर्थ का बोध अवश्य रहता है। अर्थ जहाँ होगा वहाँ उसकी योग्यता और प्रसंगानुकूलता अपेक्षित होगी। जहाँ वाक्य या कथन में यह 'योग्यता', उपपन्नता या प्रकरण संबद्धता नहीं दिखाई पड़ती वहाँ लक्षणा और व्यंजना नामक शक्तियों का आह्वान किया जाता है और 'योग्य' अथवा 'प्रकरणसंबद्ध' अर्थ प्राप्त किया जाता है। यदि इस अनुष्ठान से भी योग्य या संबद्ध अर्थ की प्राप्ति नहीं होती तो वह काव्य या कथन प्रलाप मात्र मान लिया जाता है। यदि किसी लड़की को दिखाकर कोई किसी से कहे कि 'तुमने इस लड़की को काटकर कुएँ में डाल दिया' तो सुननेवालों के मन में इस वाक्य का अर्थ सीधे न धँसेगा, वह एकदम असंभव या अनुपयुक्त जान पड़ेगा। फिर चट लक्षणा के सहारे वे इस अबाधित या समझ में आनेवाले अर्थ तक पहुँच जायँगे कि 'तुमने इस लड़की को बुरे घर में ब्याहकर अत्यंत कष्ट में डाल दिया।' इसी प्रकार गरमी से व्याकुल लोगों में से कोई बोल उठे कि 'एक पत्ती भी नहीं हिल रही है तो शेष लोगों को शायद पहले यह कथन नितांत अप्रासंगिक जान पड़े, पर पीछे वे व्यंजना के सहारे कहनेवाले के इस सुसंगत अर्थ तक पहुँच जायँगे कि 'हवा बिलकुल नहीं चल रही है।' इससे यह स्पष्ट है कि लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ भी 'योग्यता' या 'उपयुक्तता' को पहुँचा हुआ, समझ में आने योग्य रूप में आया हुआ, अर्थ ही होता है। अयोग्य और अनुपपन्न वाच्यार्थ ही लक्षणा या व्यंजना द्वारा योग्य बुद्धिग्राह्य रूप में परिणत होकर हमारे सामने आता है।

व्यंजना के संबंध में कुछ विचार करने की आवश्यकता है। व्यंजना दो प्रकार की मानी गई–वस्तुव्यंजना और भावव्यंजना। किसी तथ्य या वृत्त की व्यंजना वस्तुव्यंजना कहलाती है और किसी भाव की व्यंजना भावव्यंजना (भाव की व्यंजना ही जब रस के सब अवयवों के सहित होती है तब रसव्यंजना कहलाती है)। यदि थोड़ा ध्यान देकर विचार किया जाय तो दोनों भिन्न प्रकार की वृत्तियाँ ठहरती हैं। वस्तुव्यंजना किसी तथ्य या वृत्त का बोध कराती है पर भावव्यंजना जिस रूप में मानी गई है उस रूप में किसी भाग का संचार करती है, उसकी अनुभूति उत्पन्न करती है। बोध या ज्ञान कराना एक बात हैं और कोई भाव जगाना दूसरी बात। दोनों भिन्न कोटि की क्रियाएँ हैं पर साहित्य के ग्रंथों में दोनों में केवल इतना ही भेद स्वीकार किया गया है कि एक में वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ पर आने का पूर्वापर क्रम श्रोता या पाठक को लक्षित होता है, दूसरी में यह क्रम होने पर भी लक्षित नहीं होता। पर बात इतनी ही नहीं जान पड़ती। रति, क्रोध आदि भावों का अनुभव करना एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर जाना नहीं है, अतः किसी भाव की अनुभूति को व्यंग्यार्थ कहना बहुत उपयुक्त नहीं जान पड़ता। यदि व्यंग्य कोई अर्थ होगा तो वस्तु या तथ्य ही होगा और इस रूप में होगा कि 'अमुक प्रेम कर रहा है, अमुक क्रोध कर रहा है', स्वयं क्रोध या रति भाव का रसात्मक अनुभव करना नहीं है। रसव्यंजना इस रूप में मानी भी नहीं गई है। अतः भावव्यंजना या रसव्यंजना वस्तुव्यंजना से सर्वथा भिन्न कोटि की वृत्ति है।

रसव्यंजना की इसी भिन्नता या विशिष्टता के बल पर 'व्यक्तिविवेक' कार महिमभट्ट का सामना किया गया था जिनका कहना था कि 'व्यंजना अनुमान से भिन्न कोई वस्तु नहीं।' विचार करने पर वस्तुव्यंजना के संबंध में भट्टजी का पक्ष ठीक ठहरता है। व्यंग्य वस्तु या तथ्य तक हम वास्तव में अनुमान द्वारा ही पहुँचते हैं पर रसव्यंजना लेकर जहाँ वे चले हैं वहाँ उनके मार्ग में बाधा पड़ी है। अनुमान द्वारा बेधड़क इस प्रकार के ज्ञान तक पहुँचकर कि 'अमुक के मन में प्रेम है या क्रोध है' उन्हें फिर इस ज्ञान को 'आस्वाद पदवी' तक पहुँचाना पड़ा है। इस 'आस्वाद पदवी' तक इत्यादि का ज्ञान इस प्रक्रिया से पहुँचता है, यह सवाल ज्यों का त्यों रह जाता है। अतः इस विषय को स्पष्ट कर देना चाहिए। या तो हम भाव या रस के संबंध में 'व्यंजना' शब्द का प्रयोग न करें अथवा वस्तु या तथ्य के संबंध में। शब्दशक्ति का विषय बड़े महत्त्व का है। वर्तमान साहित्यसेवियों को इसके संबंध में विचार परंपरा जारी रखनी चाहिए। काव्य की मीमांसा या स्वच्छ समीक्षा के लिए यह बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।

आजकल के प्रसिद्ध अँगरेजी समालोचक रिचर्ड्स जो योरोपीय साहित्य में समीक्षा के नाम पर फैलाए हुए बहुत से अर्थशून्य वाग्जाल को हटाकर शुद्ध विवेचनात्मक समीक्षा का रास्ता निकाल रहे हैं, हमारे यहाँ के शब्दशक्तिनिरूपण के ढर्रे पर अर्थमीमांसा को लेकर चले हैं। उन्होंने व्यावहारिक काव्यसमीक्षा, (प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म) नामक

अपने बड़े ग्रंथ में चार प्रकार के अर्थ माने हैं–(1) प्रस्तुत अर्थ या व्यंग्य वस्तु (सेंस), (2) व्यंग्य भाव (फीलिंग), (3) बोधव्य की विशेषता (टोन) और भीतरी उद्देश्य (इंटेंशन)। जिन्होंने अपने यहाँ के शब्दशक्ति निरूपण का अच्छी तरह मनन किया है, वे देख सकते हैं कि इन चारों में दो ही मुख्य हैं। तीसरे का समावेश हमारे यहाँ आर्थी व्यंजना के कारणों के अंतर्गत हो जाता है–

वक्तृबोद्धव्यवाक्यानामन्यसन्निधिवाच्ययोः।
प्रस्तावदेशकालानां काकोश्चेष्टादिकस्य च॥

चौथे का समावेश अभिधामूलक ध्वन्यार्थ के अंतर्गत हो जाता है जिसका एक उदाहरण यह है–'हे धार्मिक! बेधड़क फिरिए। उस कुत्ते को जो आपको सताता था, गोदावरी तट के उस कुंज में रहनेवाले सिंह ने मार डाला।' इसमें कहनेवाली नायिका का भीतरी उद्देश्य यह है कि भगतजी उस एकांत कुंज के फूल आदि तोड़ने न जाया करें; पर वह और ही ढंग से कहती है कि बेधड़क फिरिए' हमारे यहाँ शब्दशक्तियों के भेदनिरूपण का जैसा स्वच्छ मार्ग है वैसा यदि रिचर्ड्स को मिलता तो उन्हें उक्त पिछले दो प्रकार के अलग अर्थ न रखने पड़ते।

उक्त चार प्रकार के अर्थों का उल्लेख करके रिचर्ड्स ने कहा है कि उक्ति में कभी किसी अर्थ की प्रधानता रहती है, कभी किसी अर्थ की। काव्य में अधिकतर व्यंग्य भाव की प्रधानता रहती है। पर वे कहते हैं कि, इसका यह अभिप्राय नहीं कि काव्य में प्रस्तुत अर्थ या तथ्य ध्यान देने की वस्तु नहीं। कभी कभी सीधी सादी प्रस्तुत वस्तु या अर्थ ही से भाव की व्यंजना हो जाती है। कभी वाच्यार्थ से व्यंजित वस्तु निकालनी पड़ती है। क्या यह कहने की आवश्यकता है कि काव्यमीमांसा की यह वही पद्धति है जो हमारे यहाँ स्वीकृत है।

आजकल पाश्चात्य वादवृक्षों के बहुत से पत्ते–कुछ हरे नोचे हुए, कुछ सूखकर गिरे पाए हुए–यहाँ पारिजातपत्र की तरह प्रदर्शित किए जाने लगे हैं, जिससे साहित्य के उपवन में बहुत गड़बड़ी दिखाई देने लगी है। इन पत्तों की परख के लिए अपनी आँखें खुली रखने और पेड़ों की परीक्षा करने की आवश्यकता है जिनके वे पत्ते हैं पर यह बात हो नहीं रही है। योरप के समीक्षाक्षेत्र में नवीनता और अनूठेपन की झोंक में काव्य के संबंध में न जाने कितनी अत्युक्त बातें चला करती हैं, जैसे–'कला कला ही के लिए,' 'अभिव्यंजना ही सब कुछ है, अभिव्यंग्य कोई वस्तु नहीं', 'काव्य में अर्थ ध्यान देने की कोई वस्तु नहीं', 'काव्य में बुद्धि घातक होती है' इत्यादि इत्यादि। 'कला कला ही के लिए' का शोर योरप में तो बंद हुआ, पर यहाँ उसकी गूँज अब तक सुनाई दिया करती है। और सब बात अभी छोड़कर यहाँ हम प्रसंगवश 'बुद्धि' और 'अर्थ' वाली बात लेते हैं।

ऊपर शब्दशक्तियों के संबंध में हम जो कुछ कह आए हैं उससे इस बात का आभास मिलता है कि भारतीय दृष्टि के अनुसार 'अर्थ' काव्य में क्या काम करता है

और 'बुद्धि' का काव्य में क्या स्थान है। 'अर्थ' से अभिप्राय योग्य और उपपन्न अर्थ से है, यह दिखाया जा चुका है। वाच्यार्थ के अयोग्य या अनुपपन्न होने पर योग्य और उपपन्न अर्थ प्राप्त करने के लिए लक्षणा और व्यंजना का सहारा लिया जाता है। अब प्रश्न यह है कि काव्य की रमणीयता किसमें रहती है? वाच्यार्थ में अथवा लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ में? इसका बेधड़क उत्तर यही है कि वाच्यार्थ में, चाहे वह योग्य और उपपन्न हो अथवा अयोग्य और अनुपपन्न। मेरा यह कथन विरोधाभास का चमत्कार दिखाने के लिए नहीं है, सोलह आने ठीक है। कोई रसात्मक या चमत्कारविधायक उक्ति लीजिए। उस उक्ति में ही अर्थात् उसके वाच्यार्थ ही में, काव्यत्व या रमणीयता होगी, उसके लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ में नहीं। जैसे, यह लक्षणायुक्त वाक्य लीजिए–

जीकर, हाय! पतंग मरे क्या?

इसमें भी यही बात है। जो कुछ वैचित्र्य या चमत्कार है वह इस अयोग्य और अनुपपन्न या उसके वाच्यार्थ में ही है। इनके स्थान पर यदि इसका यह लक्ष्यार्थ कहा जाय कि 'जीकर पतंग क्यों कष्ट भोगें?' तो कोई वैचित्र्य या चमत्कार न रहेगा। अब 'साकेत' में उर्मिला की यह रसात्मक उक्ति लीजिए–

आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ?
मैं अपने को आप मिटाकर, जाकर उनको लाऊँ?

जिसका वाच्यार्थ बहुत ही अत्युक्त, व्याहत और बुद्धि को सर्वथा अग्राह्य है, उर्मिला जब आप मिट ही जायगी तब अपने प्रिय लक्ष्मण को वन से लाएगी क्या? पर सारा रस, सारी रमणीयता; इसी व्याहत और बुद्धि को अग्राह्य वाच्यार्थ में है; इस योग्य और बुद्धिग्राह्य व्यंग्यार्थ में नहीं कि 'उर्मिला को अत्यंत औत्सुक्य हैं'। इससे स्पष्ट है कि वाच्यार्थ की काव्य होता है, व्यंग्यार्थ या लक्ष्यार्थ नहीं। हिन्दी के पुराने कवि देव ने शायद यही समझकर काव्य में केवल वाच्यार्थ माना था।[1] तो फिर लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ का काव्य में प्रयोजन क्या है? वाच्यार्थ बाधित व्याहत या अनुपपन्न होने पर लक्षणा और व्यंजना के सहारे योग्य और बुद्धिग्राह्य अर्थ प्राप्त करने का प्रयास क्यों किया जाता है? इस प्रयास का अभिप्राय यही है कि काव्य की उक्ति चाहे कितनी ही अतिरंजित, दूरारूढ़ और उड़ानवाली हो–उसका वाच्यार्थ चाहे कितना प्रकरणच्युत, व्याहत और असंभव हो–उसकी तह में छिपा हुआ कुछ न कुछ योग्य और बुद्धिग्राह्य अर्थ होना चाहिए। योग्य और बुद्धिग्राह्य अर्थप्राप्त करने के लिए चाहे कितनी ही मिट्टी–मिट्टी मैं तार्किकों की बुद्धि से कह गया, रसज्ञों और सहृदयों की दृष्टि से सोना या रत्न कहना चाहिए–खोदकर हटानी पड़े, उसे प्राप्त करना चाहिए। अब पूछिए कि जो योग्य और बुद्धिग्राह्य अर्थ खोदकर निकाला जाता है उसका काव्य में प्रयोजन क्या है, वह किस काम आता है। काव्य तो वह है नहीं; काव्य तो है

---

1. 'अभिधा' उत्तम काव्य है, मध्य लच्छना लीन।
   अधम व्यंजना रस बिरस, उलटी कहत नवीन॥

अयोग्य, अनुपपन्न बुद्धि को अग्राह्य उक्ति। सुनिए वह काव्य नहीं, 'काव्य को धारण करनेवाला सत्य है जिसकी देखरेख में काव्य मनमानी क्रीड़ा कर सकता है।' व्यंजना करनेवाली उक्ति की साधुता और सच्चाई की परख के लिए उसको सामने रखने की आवश्यकता होती है। यह आवश्यकता अधिकतर समीक्षकों और आलोचकों को पड़ती है। वे उस सत्य के साथ किसी उक्ति का संबंध देखकर यह निर्णय करते हैं कि उस उक्ति का स्वरूप ठीक ठिकाने का है या ऊटपटाँग। इस प्रकार यहाँ के साहित्यमीमांसकों की दृष्टि में काव्य में योग्य अर्थ होना अवश्य चाहिए—योग्यता चाहे खुली हो या छिपी हो; अत्यंत अयोग्य और असंबद्ध प्रलाप के भीतर भी कभी कभी काव्य के प्रयोजन भर की योग्यता छिपी रहती है, जैसे--शोकोन्मत्त या वियोग विक्षिप्त के प्रलाप में शोक की विह्वलता या वियोग की व्याकुलता ही 'योग्यता' है।

काव्य के साथ अर्थ की योग्यता अर्थात् बुद्धि का कितना और किधर से लगाव होता है, इस विषय में हमारे यहाँ का यही विवेचन समझना चाहिए। ऊपर काव्य और कला के संबंध में समय समय पर फैशन की तरह चलनेवाले नाना वादों, प्रवादों और अपवादों की चर्चा की जा चुकी है, जिनके बहुत से वाक्यखंड हमारे वर्तमान साहित्य के क्षेत्र में भी मंत्रों की तरह जपे जाने लगे हैं। इस प्रसंग में एक बात की ओर ध्यान देना सबसे पहले आवश्यक है। योरप में कला और काव्य समीक्षा के बड़े बड़े संप्रदाय इटली और फ्रांस से चलते रहे हैं। इटली बहुत दिनों से चित्रकारी, मूर्तिकारी, नक्काशी, बेलबूटों की इमारती सजावट आदि के लिए प्रसिद्ध चला आ रहा है। इन्हीं इलाकों के बीच काव्य की भी गिनती की गई। फल यह हुआ कि काव्य के स्वरूप के संबंध में भी नक्काशी और बेलबूटों की सी भावना जड़ पकड़ती गई। काव्य का प्रभाव भी उसी प्रकार का समझा जाने लगा जिस प्रकार का बेलबूटों की सजावट और नक्काशी का पड़ता है। इससे अधिक गंभीर श्रेणी का प्रभाव ढूँढ़ने की आवश्यकता धीरे धीरे दूर सी होने लगी। बेलबूटों की सजावट और नक्काशी में जिस ढंग से अनुरंज़न करनेवाला सौंदर्यविधान होता है उसी ढंग से अनुरंजन करनेवाला सौंदर्यविधान काव्य में समझा जाने लगा। अतः जिस प्रकार बेलबूटे और नक्काशी का संबंध जगत् या जीवन की किसी वास्तविक दशा; स्थिति या तथ्य से नहीं होता, उसी प्रकार काव्य का भी नहीं होता। शिल्पकार या कलाकार के मन में सौंदर्य की भावनाएँ जिन रूपरेखाओं या आकारों में प्रस्फुटित होती हैं उन्हीं रूपों और आकारों को वह बेलबूटों और नक्काशियों में अभिव्यंजित कर देता है। वे बेलबूटे कल्पना की स्वतंत्र सृष्टि होते हैं—सृष्टि के किसी खंड से ठीक ठीक अनुकरण नहीं। जीवन के किसी वास्तविक तथ्य, भाव (मनोविकार) या विचार के रूप में उनका अर्थ ढूँढ़ना व्यर्थ है। अपने अर्थ वे आप ही हैं। यही बात काव्य के संबंध में भी समझी जाने लगी।

मेरे देखने में 'कला कला ही के लिए है', 'कला कल्पना की नूतन सृष्टि में है, प्रकृति के ज्यों के त्यों चित्रण में नहीं', 'काव्य कल्पना का लोक है'—ये सब उक्त बेलबूटेवाली हलकी धारणा के कच्चे बच्चे हैं।

इस धारणा को बहुत दूर तक घसीटकर इसे शास्त्रीय रूप देने का सबसे प्रकांड प्रयास इटली के क्रोचे ने अपने 'सौंदर्यशास्त्र' में किया जिसका प्रभाव केवल काव्य चर्चा में ही नहीं, काव्यरचना में भी बहुत कुछ दिखाई पड़ता है। उसने अभिव्यंजनावाद (एक्सप्रेशनिज्म) का प्रवर्तन किया जिसके अनुसार कला में अभिव्यंजना ही सब कुछ है—अभिव्यंजना से अलग कोई और अभिव्यंग्य वस्तु या अर्थ नहीं होता। काव्य की गिनती कलाओं में ही की गई है। अतः काव्य में उक्ति से अलग कोई दूसरा अर्थ—दूसरी वस्तु, तथ्य या भाव—नहीं होता। काव्य की उक्ति किसी दूसरी उक्ति की प्रतिनिधि नहीं। जो अर्थ किसी उक्ति के शब्दों से निकलता है उसका संबंध किसी दूसरे अर्थ से नहीं होता। साहित्य की परिभाषा में इसे यों कह सकते हैं कि काव्य में वाच्यार्थ का कोई व्यंग्यार्थ नहीं होता।

अब यह देखिए कि उक्त 'वाद' के भीतर प्रकृति की नाना वस्तुओं, दृश्यों और व्यापारों तथा हृदय के रति, क्रोध, शोक इत्यादि अनेक भावों का क्या स्थान ठहरता है। वे केवल उपादान मात्र रह जाते हैं। कुछ फूल पत्तियों इत्यादि के रंग और आकार लेकर जिस प्रकार मनमाने बेलबूटे और नक्काशियाँ बनाई जाती हैं, उसी प्रकार काव्य में भी वाह्य प्रकृति से फूल पत्तों, नदी नालों, पर्वत, समुद्र, बुलबुल, कोकिल, चातक, भ्रमर, चाँदनी, समीर इत्यादि; मनुष्य के व्यापारों से रोना, गाना, हँसना, कूदना इत्यादि; शरीर से मुख, कान, नाक, अश्रु, श्वास, उच्छ्वास इत्यादि; मनुष्यों की अंतःप्रकृति से रति, हास, शोक, भय इत्यादि लेकर और उनका मनमाना योग करके एक अनूठी सृष्टि, प्रकृति से सर्वथा स्वतंत्र एक नई रचना, खड़ी की जाती है। इन अनेक पदार्थों का वर्णन या इन अनेक भावों की व्यंजना, काव्य का लक्ष्य नहीं होता। ये तो उपादान मात्र हैं—खिलौने बनानेवाले कुम्हार की मिट्टी और रंग हैं। अतः प्रस्तुत अप्रस्तुत का, अलंकार अलंकार्य का कोई सवाल नहीं।

यहाँ से अब स्पष्ट देखा जा सकता है कि उपर्युक्त वाद बेलबूटों और नक्काशियों के संबंध में तो बिलकुल ठीक घटता है पर काव्य की सच्ची मार्मिक भूमि से बहुत दूर रहता है। उसे दृष्टि में रखकर जो चलेगा उसके निकट काव्य का सहृदयता, भावुकता और मार्मिकता से कोई संबंध नहीं। उक्त वाद के प्रभाव से प्रस्तुत की हुई रचनाओं को देखकर कोई पूछ सकता है कि क्या कवि के लिए अनुभूति सचमुच आवश्यक है। यदि काव्य की तह में जीवन का कोई सच्चा मार्मिक तथ्य, सच्ची भावानुभूति नहीं तो उसका मूल्य मनोरंजन करनेवाली सजावट या खेल तमाशे के मूल्य से कुछ भी अधिक नहीं। पर उक्त वाद के प्रतिपादक ने उसका मूल्य दूसरी दुनिया में ढूँढ़ निकालने की चेष्टा की है। उसके कला की अभिव्यंजना के इस व्यवसाय को वाह्यप्रकृति और

अंतःप्रकृति दोनों से परे जो आत्मा है, उसकी अपनी निज की क्रिया कहा है—इस जगत् और जीवन से स्वतंत्र। यहाँ पर यह सूचित कर देना आवश्यक है कि क्रोचे को यह आत्मावादी बात मिली कहाँ से। यह पुराने ईसाई भक्त संतों से मिली है जिन्हें दिव्य आभास हुआ करता था और जिसका उल्लेख आगे होगा। 'काव्य में रहस्यवाद' नामक पुस्तक में दिखा चुका हूँ कि किस प्रकार ईसा की 19वीं शताब्दी के आरंभ में घोर रहस्यवादी अँगरेज कवि ब्लेक ने संतों के आभासवाली बात पकड़कर मनुष्य की कल्पना को इलहाम के दर्जे तक पहुँचाया था। उसने कहा था—

'कल्पना का लोक नित्यलोक है। यह शाश्वत और अनंत है। उस नित्य लोक में उन सब वस्तुओं की नित्य और पारमार्थिक सत्ताएँ हैं जिन्हें हम प्रकृति रूपी दर्पण में प्रतिबिंबित देखते हैं।'

परीक्षा के लिए क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का संक्षेप में परिचय दे देना, मैं सभझता हूँ, अच्छा होगा। मैं कई जगह दिखा चुका हूँ कि किस प्रकार योरप के समीक्षाक्षेत्र में, इधर बहुत दिनों से काव्य के, कल्पना और भाव इन दोनों अवयवों में से केवल 'कल्पना' 'कल्पना' की ही पुकार सुनाई पड़ती है। कल्पना है काव्य का क्रियात्मक बोधपक्ष जिसका विधान हमारे यहाँ के रसवादियों ने भाव के योग में ही काव्य के अन्तर्भूत माना है। अलंकारवादी या वक्रोक्तिवादी अलबत ज्ञानात्मक अवयव ही से प्रयोजन रखते हैं। जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है, क्रोचे काव्य में कल्पना की क्रिया और उसके बोध ही को सब कुछ मानता है। अतः कलानुभूति या काव्यानुभूति को वह ज्ञान स्वरूप ही मानकर चला है। उसका सिद्धांत संक्षेप में हम नीचे देते हैं, उसने कलासंबंधी ज्ञान को तर्कसंबंधी ज्ञान से इस प्रकार अलग किया है—

(1) कलासंबंधी ज्ञान है—स्वयंप्रकाश ज्ञान (इंट्यूशन), कल्पना में अद्भुत ज्ञान, व्यक्ति का संकेतग्रह अर्थात् किसी एक विशेष वस्तु का ज्ञान।

(2) तर्क संबंधी ज्ञान—प्रमा (कंसेप्ट) निश्चयात्मिका बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान, भिन्न भिन्न व्यक्तियों के परस्पर संबंध का ज्ञान अर्थात् जाति का संकेतग्रह।

स्वयंप्रकाश ज्ञान का अभिप्राय है मन में आपसे आप—बिना बुद्धि की क्रिया या सोच विचार के—उठी हुई मूर्त भावना, जिसकी वास्तविकता अवास्तविकता का कोई सवाल नहीं। वह मूर्त भावना या कल्पना आत्मा की अपनी क्रिया है जो दृश्य जगत् के नाना रूपों और व्यापारों को (अर्थात् मन में संचित उनकी छाया और संस्कारों) द्रव्य या उपादान की तरह लेकर हुआ करती है। दृश्य जगत् के नाना रूप व्यापार है द्रव्य (मैटर)। इसी द्रव्य के सहारे आत्मा की क्रिया मूर्त रूप में अपना प्रकाश करती है। 'द्रव्य' की प्रतीति मात्र तो जड़त्व या निष्क्रियता है—ऐसी प्रतीति है जो विवश होकर चित्रण करनी ही पड़ती है। मनुष्य की आत्मा द्रव्य की प्रतीति मात्र करती है। उसकी सृष्टि नहीं करती। आत्मा की अपनी स्वतंत्र क्रिया है। कल्पना, जो रूप का सूक्ष्म साँचा खड़ा करती है और उस साँचे में स्थूल द्रव्य को डालकर

अपनी कृति को गोचर या व्यक्त करती है। वह 'साँचा' आत्मा की कृति या आध्यात्मिक वस्तु होने के कारण, परमार्थतः एकरस और स्थिर होता है। उसकी अभिव्यंजना में जो नानात्व दिखाई पड़ता है, वह स्थूल 'द्रव्य' के कारण जो परिवर्तनशील होता है। कला के क्षेत्र में यही 'साँचा' (फार्म) सब कुछ है, द्रव्य या सामग्री (मैटर) ध्यान देने की वस्तु नहीं है।[1]

स्वयंप्रकाश ज्ञान (इंट्यूशन) का 'साँचे' में ढलकर व्यक्त होना ही कल्पना है और कल्पना ही मूल अभिव्यंजना (एक्सप्रेशन) है जो भीतर होती है और शब्द, रंग आदि द्वारा बाहर प्रकाशित की जाती है। यदि सचमुच स्वयंप्रकाश ज्ञान हुआ है, भीतर अभिव्यंजना हुई है, तो वह बाहर भी प्रकाशित हो सकती है। लोगों का यह कहना कि कवि के हृदय में बहुत सी भावनाएँ उठती हैं, जिन्हें वह अच्छी तरह व्यक्त नहीं कर सकता क्रोचे नहीं मानता। वह कहता है कि जो भावना या कल्पना बाहर व्यक्त नहीं हो सकती उसे अच्छी तरह उठी हुई ही न समझना चाहिए। प्रत्येक अभिव्यंजना (एक्स्प्रेशन) या उसके बाहरी रूप उक्ति की अपनी अलग विशेष सत्ता होती है। अनेक अभिव्यंजनाओं या उक्तियों के बीच कुछ सामान्य लक्षण ढूँढ़कर काव्य के संबंध में कुछ कहना सुनना व्यर्थ है।[2]

अतः साहित्यशास्त्र में रचनाओं के जो अनेक भेद किए गए हैं, कला की दृष्टि में वे निरर्थक हैं, जैसे—अनेक प्रकार के अलंकार तथा वास्तविक (रियलिस्टिक) और प्रतीकात्मक (सिंबलिक) वाह्यार्थ निरूपक (आब्जेक्टिव) और अंतर्वृत्ति निरूपक (सब्जेक्टिव), रूढ़िबद्ध और स्वच्छंद, अलंकृत अनलंकृत इत्यादि भेद।

अलंकार के संबंध में क्रोचे कहता है कि अलंकार तो शोभा के लिए ऊपर से जोड़ी या पहनाई हुई वस्तु को कहते हैं। अभिव्यंजना या उक्ति में अलंकार जुड़ कैसे सकता है? यदि कहिए बाहर से, तो उसे उक्ति से सदा अलग रहना चाहिए। यदि कहिए भीतर से, तो वह या तो उक्ति के लिए 'दाल भात में मूसरचंद' होगा अथवा उसका एक अंग ही होगा।

रस, अलंकार आदि के नाना भेद क्रोचे के अनुसार, कला की सिद्धि में कोई योग न देकर तर्क या शास्त्रपक्ष में सहायक होते हैं। इन सबका मूल्य केवल 'वैज्ञानिक समीक्षा' में है, कलानिरूपिणी समीक्षा में नहीं। कला संबंधी भाग उस प्रकार का अनुभव भी नहीं जिस प्रकार का सुख दुःख का अनुभव होता है। यदि वह आनंदानुभव माना जाय तो गुलाबजामुन खाने और इत्र सूँघने के आनंद के समान ही ठहरता है और एक तरह का भोगविलास ही है। हाँ, यह अवश्य है कि जैसे और प्रकार आध्यात्मिक भासों के साथ आनंदानुभूति लगी रहती है वैसे ही कलासंबंधी भास के साथ भी।

---

1. ऐन एइस्थेटिक फैक्ट इज फार्म ऐंड नथिंग एल्स।
2. आगे चलकर क्रोचे को कुछ अभिव्यंजनाओं में सजातीय साम्य (फैमिली लाइकनेसेज) स्वीकार करना पड़ा है। सजातीय, विजातीय भेद मान लेना वर्गीकरण की संभावना स्वीकार करना ही है।

पर इस आनुषंगिक वस्तु को मूल वस्तु के अलग समझना चाहिए। आगे चलकर क्रोचे उस रसवाद का भी खंडन करता है, जिसमें रति, क्रोध, शोक आदि भिन्न भिन्न भावों की रस रूप में अनुभूति ही काव्यानुभूति मानी गई है। वह कहता है कि रसवादी रसानुभूति को वास्तविक अनुभूति से इसी बात में विशेष बतलाते हैं कि वह निःस्वार्थ और निर्लिप्त होती है। पर यह भेद व्यर्थ हैं। इस भेद के सहारे लोगों ने कलासमीक्षा के क्षेत्र में किसी जमाने में प्रचलित 'सत्यं शिवं सुंदरम्' (दि ट्रयू, दि गुड एंड दी ब्यूटीफुल)–इन भिन्न भिन्न क्षेत्रों के शब्दों के बीच सामंजस्य स्थापना का प्रकांड प्रयत्न किया पर इसका जमाना लद गया।[1]

अनुभूति तो क्रोचे के अनुसार शरीर के योगक्षेम से संबंध रखनेवाली भीतरी क्रिया है। अतः उसके सुखदायक दुःखदायक, उपयोगी अनुपयोगी, लाभकारी हानिकारी दो पक्ष अवश्य ही होंगे। यदि कला में सुखात्मक भाव (जैसे, रति, हास) का मूल्य होता है तो इसका मतलब यह है कि दुःखात्मक भाव (जैसे, शोक, जुगुप्सा) का कोई मूल्य नहीं। पर काव्य में दोनों प्रकार के भाव बराबर देखे जाते हैं। कला या काव्य का मूल्य तो 'सुंदर' शब्द द्वारा व्यक्त किया जाता है, जैसे–योगक्षेम संबंधी (इकानामिक) मूल्य 'उपयोगी' या 'कल्याणकारी' या 'शुभ' (शिवम्) शब्द द्वारा, बुद्धिसंबंधी मूल्य 'सत्य' शब्द द्वारा, धर्मसंबंधी मूल्य 'उचित' शब्द द्वारा। पर कला के क्षेत्र में, 'सुंदर' शब्द को भी क्रोचे एक विशेष अर्थ में स्वीकार करता है। सौंदर्य से उसका तात्पर्य केवल अभिव्यंजना के सौंदर्य से, उक्ति के सौंदर्य से है, किसी प्रस्तुत वस्तु के सौंदर्य से नहीं। किसी वास्तविक या प्रस्तुत वस्तु में सौंदर्य कहाँ? क्रोचे तो कल्पना की सहायता के बिना प्रकृति में कोई सौंदर्य नहीं मानते। जो कुछ सौंदर्य होता है वह केवल अभिव्यंजना में, उक्तिस्वरूप में। यदि सुंदर कही जा सकती है तो उक्ति ही, असुंदर कही जा सकती है तो उक्ति ही। इस मौके पर अपने पुराने कवि केशवदासजी याद आ गए, जो कह गए हैं कि–'देखे मुख भावै, अनदेखेई कमलचंद ताते मुख मुखै सखी, कमलौ न चंद री।' केशवदासजी को भी कमल चंद इत्यादि

---

1. पर यहाँ अभी तक चल रहा है। योरपीय समीक्षाक्षेत्र की इस पदावली को हिंदुस्तान में सबसे पहले दाखिल करनेवाले ब्रह्मसमाज के प्रवर्तक राजा राममोहन राय थे। उनके पीछे महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने इसकी खूब उद्धरणी की और यह बँगला के साहित्यक्षेत्र में तब से बराबर चलती आ रही है। 'सत्यं शिवं सुंदरम' अँगरेजी के दि ट्रयू, दि गुड ऐंड दि ब्यूटीफुल का अनुवाद है यह मैं 'काव्य में रहस्यवाद' नाम के निबंध में दिखा चुका हूँ। आजकल हिन्दी में भी यह पदावली, शायद उपनिषद्वाक्य समझी जाकर बहुत उद्धृत की जाती है, यद्यपि योरप से इसका फैशन उठे बहुत दिन हुए। प्रसिद्ध आधुनिक समालोचक रिचर्ड्स ने इसका उल्लेख इस प्रकार किया है–दस ऐराइजेज दि फेंटम प्राब्लेम आव दि एइस्थेटिक मोड आर एइस्थेटिक स्टेट–ए लिगैसी फ्राम दि डेज आव ऐब्स्ट्रैक्ट इनवेस्टिगेशन इंटु दि गुड दि ब्यूटीफुल ऐंड दि ट्रयू।

–प्रिंसिपुल्स आव क्रिटिसिज्म।

देखने में कुछ भी अच्छे या सुंदर नहीं लगते थे। हाँ, जब वे उपमा उत्प्रेक्षापूर्ण किसी काव्योक्ति में समन्वित होकर आते थे तब वे सुंदर दिखाई पड़ने लगते थे।

फिर लोग क्यों नाहक 'प्रकृति की सुषमा, शोभा, छटा, सुंदरता इत्यादि कहा करते हैं?' क्रोचे कहता है कि बात यह है कि काव्य की उक्तियों के निर्माण में प्रकृति के क्षेत्र से बहुत सी सामग्री न जाने कितने दिनों से लोग लेते चले आ रहे हैं। इससे उन वस्तुओं को असंख्य उक्तियों में सुंदर देखते देखते उनके संबंध में सुंदरता की भावना बँध गई है और हम उन्हें वास्तविक या प्रत्यक्ष रूप में भी सुंदर समझा करते हैं।

क्रोचे आरंभ में ही कलासंबंधी उद्‌भावना को ज्ञानस्वरूप (भावानुभूतिस्वरूप या आस्वादस्वरूप नहीं) मानकर चला है, यद्यपि आगे चलकर उसने माना है कि इस ज्ञान के साथ एक विशेष प्रकार का आनंद भी बराबर लगा रहता है। उसके मन में यह आनंद और प्रकार के आनंदों से सर्वथा भिन्न होता है। काव्य को ही लीजिए। उसमें सुखात्मक (जैसे, रति, हास) और दुःखात्मक (जैसे, शोक, जुगुप्सा) दोनों प्रकार के भावों की अभिव्यंजना होती है। अतः यह प्रश्न उठता है कि शोक या करुणा की अनुभूति आनंदस्वरूप कैसे होगी। इस उलझन से पीछा छुड़ाने के लिए आधुनिक 'सौंदर्यशास्त्र' में अनुभूत्याभास (एपेरेंट फीलिंग) का सिद्धांत निकाला गया है। इस सिद्धांत के प्रवर्तकों का कहना है कि 'कला संबंधी अनुभूति अनुभूत्याभास मात्र होती है, वह बहुत तीव्र और क्षोभकारिणी नहीं होती।' क्रोचे कहता है कि वह बहुत तीव्र या क्षोभकारिणी इसलिए नहीं होती कि उसका संबंध केवल उक्ति के स्वरूप (फार्म) से होता है। जीवन के वास्तविक मनोविकार जो इतने तीव्र और क्षोभकारक होते हैं वह इस कारण कि उनका संबंध वस्तु या तथ्य (मैटर) से होता है। वास्तविक स्थिति या वस्तु की अनुभूति एक बात है, अभिव्यंजना दूसरी बात। दोनों को भिन्न भिन्न क्षेत्रों के विषय समझना चाहिए। कला में तो विचार की बात है अभिव्यंजना।

कला के क्षेत्र में 'सुंदर असुंदर' का प्रयोग अभिव्यंजना या उक्ति के लिए ही हो सकता है, यह कह आए हैं। अभिव्यंजना या उक्ति को न लेकर यदि हम वर्ण्य वस्तुओं को लेते हैं तो सुंदर असुंदर ही नहीं और भी अनेक प्रकार के भेद ठहरते हैं, जैसे—सुंदर, कुरूप, बीभत्स, भयानक, भव्य, अद्‌भुत, दिव्य, इत्यादि। आलंबनों के इन गुणों के अनुसार साहित्य में अनेक भेद किए भी गए हैं। क्रोचे कहता है कि ये सब भेद कला के काम के नहीं, इनका ठीक स्थान मनोविज्ञान में है। इन अनेक श्रेणियों में विभक्त प्रमेयों या वस्तुओं का कला से केवल इतना लगाव है कि उसकी अभिव्यंजना में ये सब की सब वस्तुएँ जीवनक्षेत्र से संगृहीत उपादान या मसाले का काम देती हैं। अर्थात् काव्य की उक्ति में इनका भी, प्रतिबिंब आ जाया करता है। एक दूसरा आकस्मिक संबंध यह भी है कि वास्तविक जीवन में

अनुभूत होनेवाली इन वस्तुओं की प्रतीति के भीतर कभी कभी कला का आभास भी आ जाया करता है।[1]

इसमें तो कुछ कहना ही नहीं कि कला सौंदर्य का विधान करती है। पर काव्य आदि कलाओं में असुंदर और कुरूप वस्तुओं का वर्णन भी बराबर आया करता है। अतः अभिव्यंजना या उक्ति को न पकड़कर वर्ण्यवस्तु को पकड़नेवालों के लिए सुंदर के भीतर कुरूप या असुंदर वस्तुओं के लिए स्थान निकालने में बड़ी अड़चन पड़ी। कुछ लोगों ने कहा कि काव्य आदि में असुंदर और बीभत्स आदि विरुद्ध वस्तुएँ सुंदर को और झलकाने के लिए रखी जाती हैं पर क्रोचे के अनुसार यह सब बखेड़ा व्यर्थ है और अभिव्यंजना या उक्ति के स्वरूप को ही पकड़ने से दूर हो जाता है।

अब क्रोचे के अनुसार अभिव्यंजना का असल स्वरूप क्या है, यह भी थोड़ा देख लीजिए। वह कहता है कि साधारणतः लोग कवि के शब्दों, गायक के स्वरों, चित्रकार के खींचे हुए आकारों को ही अभिव्यंजना समझा करते हैं। कभी कभी व्यंजना का अर्थ लज्जा से आँखें नीची करना, भय से काँपना, क्रोध से दाँत पीसना इत्यादि समझा जाता है। पर ये कला की अभिव्यंजनाएँ नहीं हैं, भौतिक अभिव्यंजनाएँ हैं। अनेक प्रकार की उग्र चेष्टाएँ करते हुए क्रोध से तिलमिलाते हुए मनुष्य में और कला पक्ष से क्रोध की अभिव्यंजना करते हुए मनुष्य में बड़ा अंतर है। इस प्रकार की भौतिक अभिव्यंजना कलाशून्य होती है। कला की असल अभिव्यंजना तो है कल्पना, जो एक आध्यात्मिक क्रिया है। शब्द, रंग, भौतिक रूप, चेष्टा इत्यादि तो कल्पना को, आध्यात्मिक वस्तु को, प्रकाशित करनेवाली भौतिक अभिव्यंजना है। कला की अभिव्यंजना की प्रक्रिया का यह क्रम कहा जा सकता है—

(1) अंतस्संस्कार (इंप्रेशंस)
(2) अभिव्यंजना अर्थात् कलापरक आध्यात्मिक योजना या कल्पना (एक्स्प्रेशन आव स्पिरिचुअल एइस्थेटिक सिंथेसिस)
(3) सौंदर्य की भावना से उत्पन्न आनुषंगिक आनंद (हेडोनिस्टिक ऐकंपनीमेट आर प्लेजर आव दि ब्यूटीफुल),
(4) कलापरक आध्यात्मिक वस्तु (कल्पना) का स्थूल भौतिक रूपों में अवतरण (शब्द, स्वर चेष्टा, रंग, रेखा आदि)।

इन सबमें मूल प्रक्रिया है नंबर 2 अर्थात् अभिव्यंजना। ये चारों विधान पूरे हो जाने पर अभिव्यंजना का अनुष्ठान पूर्ण हो जाता है।

यहाँ तक तो क्रोचे का 'अभिव्यंजनावाद' हुआ जिसे यहाँ तक संक्षेप में और

1. दि फैक्ट्स बेयर नो रिलेशन टु दि आर्टिस्टिक फैक्ट बियांड दि जेनेरिक वन दैट आल आव देम, इन सो फार ऐज दे डेजिग्नेट दि मैटीरियल आव लाइफ, कैन बी रिप्रजेंटेड बाइ आर्ट, ऐंड दि अदर ऐक्सिडेंटल रिलेशन, दैट एइस्थेटिक फैक्ट आलसो मे समटाइम्स एंटर इंटू दि प्रोसेज ड्रेस्क्राइब्ड।

जहाँ तक स्पष्ट रूप में हो सका मैंने आप महानुभावों के सम्मुख रखा। 'कल्पना आध्यात्मिक जगत् का आभास है', 'कला कला ही के लिए है', 'कल्पना का लोक ही निराला है', 'काव्य नूतन सृष्टि है', 'प्रकृति के किसी खंड का अनुकरण नहीं', 'प्रकृति को भावना के नए रूप रंग में दिखाना ही काव्य है', 'काव्य सौंदर्य की साधना है', इत्यादि अनेक वादों और प्रवादों का समन्वय इसके भीतर मिलता है। इसी से इसका थोड़ा विवरण देकर मैंने आप लोगों का समय लिया। आजकल हमारे साहित्य के समीक्षाक्षेत्र में भी बड़े यत्न से गृहीत जो अनेक चमत्कारपूर्ण वाक्य, शब्द और उक्तियाँ बिखरी हुई मिला करती हैं, उनके मूल स्थान और तात्पर्य का पता ठिकाना भी इसमें मिलेगा। योरप में 'कला' और 'सौंदर्य' की पुकार किस प्रकार काव्यसमीक्षा को भी इस 'वाद की ओर धीरे धीरे घसीटती रही', यह पहले कहा जा चुका है। 'सौंदर्यशास्त्र' में जिस प्रकार चित्रकला, मूर्तिकला आदि शिल्पों का विचार होने लगा उसी प्रकार काव्य का भी। सबसे बेढंगी बात तो यही हुई। अतः इस वाद का प्रतिषेध करने के पहले मैं यही कह देना चाहता हूँ कि 'सौंदर्यशास्त्र', जिसके भीतर इसका निरूपण हुआ है काव्य संबंधी मीमांसा का ठीक स्थान ही नहीं। पहले तो 'सौंदर्यशास्त्र' अभी कोई ठीक ठिकाने का शास्त्र नहीं—कभी होगा, यह भी नहीं कहा जा सकता। यदि हो भी तो काव्य से उसका संबंध नहीं।

सच बात तो यह है कि काव्य के स्वरूपलक्षण में 'सुंदर' शब्द उतने काम का नहीं जितना समझा जाने लगा है। इसी से पंडितराज ने अपने काव्यलक्षण में 'सुंदर' शब्द का प्रयोग न करके 'रमणीय' शब्द का प्रयोग किया है। 'रमणीय' का अभिप्राय है जिसमें मन रमे अर्थात् जिसे मन अपने सामने कुछ देर रखना या बार बार लाना चाहे। कोरी कहानी की अलग अलग घटनाओं में मन रमता नहीं; उसके किसी खंड पर कुछ देर जमा नहीं रहना चाहता। कहानी सुननेवाला कहता है, 'तब क्या हुआ?' कविता सुननेवाला, 'जरा फिर तो कहिए।' अर्थ के मैदान में 'सुंदर शब्द की दौड़ उतनी नहीं जितनी 'रमणीय' शब्द की। दूसरी बात यह है कि 'सुंदर' शब्द वाह्यार्थ की ओर संकेत करता जान पड़ता है और 'रमणीय' शब्द हृदय की ओर। इसी से काव्य की समीक्षाओं में 'सुंदर' शब्द का प्रयोग करके, कभी कभी फिर यह कहने की जरूरत पड़ा करती है कि 'सौंदर्य तो मन की भावना है, किसी बाहरी वस्तु में स्थित कोई गुण नहीं।' यह 'सुंदर' शब्द काव्यानुभूति के स्वरूप को संकुचित करता है। प्रत्येक कविता का ग्रहण सौंदर्यानुभूति के रूप में नहीं होता। क्रोचे या अपने यहाँ के चमत्कारवादी और वक्रोक्तिवादी के अनुसार यदि हम अभिव्यंजना या कल्पना की उड़ान को ही सब कुछ मानें तो भी 'सुंदर' शब्द बिना खींचतान के सर्वत्र काम नहीं देता। बहुत सी उक्तियों से केवल एक प्रकार का चमत्कारपूर्ण प्रसादन होता है।

संसार में मनुष्य जाति के बीच कविता हृदय के भावों को लेकर ही उठी है। प्रेम, उत्साह, आश्चर्य, करुणा आदि की व्यंजना के लिए ही आदिम कवियों ने अपना स्निग्ध कंठ खोला था। तब से आजतक संसार की प्रत्येक सच्ची कविता की तह में भावानुभूति आत्मा की तरह रहती चली आ रही है। काव्य में भाव के आलंबन (कभी कभी उद्दीपन) के रूप में ही जगत् की किसी वस्तु का ग्रहण हो सकता है, और किसी रूप में नहीं। कविता देवी के अंतःपुर में 'सुंदर' 'प्रिय' होकर ही प्रवेश कर सकता है। जो 'सुंदर' प्रेम का आलंबन होता है, जिसकी ओर हमारी रागात्मिका वृत्ति प्रवृत्त होती है, जिसका स्मरण आने पर हृदय द्रवीभूत हो सकता है—चाहे वह व्यक्ति या वस्तु हो, चाहे प्रकृति का कोई खंड—वही काव्य का असली अंग हो सकता है। बेलबूटे या नक्काशी की सौंदर्यभावना भावानुभूति के रूप में नहीं होती। अतः कलावादियों को भावानुभूति से सौंदर्यभावना को अलग करना पड़ा। तबसे तरह तरह के सौंदर्यशास्त्र बनने लगे जिनमें एक दूसरे से भिन्न 'सौंदर्य के पचीसों लक्षण और उसके संबंध में पचीसों मत प्रकाशित होते आ रहे हैं, जो कलाओं पर तो कुछ दूर तक घटते हैं पर काव्य को दूर ही दूर से छूते हैं।'

इन मतों का योरप के अनेक कवियों की रचनाओं पर थोड़ा बहुत प्रभाव पड़ता ही है, पर सच्चे कवियों पर नहीं। अधिकांश की रचनाएँ हृदय की मार्मिकता से ही संबंध रखती हैं। कुछ को यह 'कलावाद' और 'सौंदर्यवाद' का हल्ला खटकता भी है। हाल में इंगलैंड में रूपर्ट ब्रुक नामक एक कवि हुआ है जो कवित्व की सच्ची मार्मिक भावना लेकर इस जगत् में आया था, पर थोड़ी अवस्था में ही सन् 1914 में योरपीय महायुद्ध में मरा। उसने सौंदर्यवादियों के नाना मतों को अपनी भली बुरी रुचि का आलाप मात्र कहा, विशेषतः क्रोचे के वितंडावाद को। वहाँ के और सच्चे कवियों के समान उसे भी उसी प्रकार भाव या हृदय की मार्मिक अनुभूति में ही कविता की आत्मा के दर्शन होते थे जिस प्रकार भारतीय सहृदयों और कवियों को। काव्य में सौंदर्यभावना को एक अलग अनुभूति माननेवालों के इस तर्क को कि 'जब कोई कहता है कि यह वस्तु 'सुंदर' है तब उसका यह मतलब नहीं होता कि वह प्रिय (अर्थात् प्यार करने की वस्तु) है; अतः सिद्ध है कि सौंदर्य की भावना का प्रिय की भावना से अलग अस्तित्व है' उसने लचर कहा था।[1]

सारा उपद्रव काव्य को कलाओं के भीतर लेने से हुआ है। इसी कारण काव्य के स्वरूप की भावना भी धीरे धीरे बेलबूटे और नक्काशी की भावना के रूप में

---

1. इट इज पासिब्ली ट्र्यू, दैट ह्वेन मेन से 'दिस इज ब्यूटीफुल', दे डू नाट मीन 'दिस इज लब्ली'। दे मे मीन दैट एइस्थेटिक इमोशन एक्जिस्ट्स। माइ ओन्ली कमेंट्स आर दैट इट डज नाट फालो दैट दि एइस्थेटिक इमोशन डज एक्जिस्ट; ऐंड दैट, ऐज मैटर आव फैक्ट, दे आर रांग।
—जान वेब्स्टर ऐंड दि एलिजावेथन ड्रामा।

आती गई। हमारे यहाँ 'काव्य' की गिनती चौंसठ कलाओं में नहीं की गई है। इसी से यहाँ वाग्वैचित्र्य के अनुयायियों द्वारा चमत्कारवाद, वक्रोक्तिवाद आदि चलाए जाने पर भी इस प्रकार का वितंडावाद नहीं खड़ा किया गया। इधर हमारी हिन्दी में भी काव्यसमीक्षा के प्रसंग में 'कला' शब्द की बहुत अधिक उद्धरणी होने लगी है। मेरे देखने में तो हमारे काव्य समीक्षा क्षेत्र से जितनी जल्दी यह शब्द निकले उतना ही अच्छा। इसका जड़ पकड़ना ठीक नहीं।

अब मैं क्रोचे की मुख्य मुख्य बातों को, विशेषतः ऐसी बातों को जो काव्य के संबंध में भारतीय भावना के विरुद्ध पड़ती हैं, विचार के लिए लेता हूँ—

पहले इस प्रश्न को लीजिए कि काव्यसंबंधिनी भावना का मूल या प्रधान रूप क्या है? क्रोचे ने कल्पनापक्ष को प्रधानता देकर उसका रूप 'ज्ञानात्मक' कहा है। हमारे यहाँ के रससिद्धांत के अनुसार उसका मूल रूप भावात्मक या अनुभूत्यात्मक है। मनोविज्ञान के अनुसार 'भाव' कोई एक अकेली वृत्ति नहीं, एक वृत्तिचक्र (सिस्टम) है जिसके भीतर बोधवृत्ति या ज्ञान (काग्निशन); इच्छा या संकल्प (कोनेशन), प्रवृत्ति (टेंडेंसी) और लक्षण (सिंप्टम्स)—ये चार मानसिक और शारीरिक वृत्तियाँ आती हैं। अतः भाव का एक अवयव प्रतीति या बोध भी होता है। रसनिरूपण में जो 'विभाव' कहा गया है वही कल्पनात्मक या ज्ञानात्मक अवयव है जो भाव का संचार करता है। कवि और पाठक दोनों के मन में कल्पना कुछ मूर्त रूप या आलंबन खड़ा करती है जिसके प्रति भाव का अनुभव होता है। उस भाव की अनुभूति के साथ साथ आलंबन का बोध या ज्ञान भी बना रहता है। आलंबन चाहे व्यक्ति हो, चाहे वस्तु, चाहे व्यापार या घटना, चाहे प्रकृति का कोई खंड। इससे यह स्पष्ट व्यंजित है कि भावानुभूति के योग में ही कल्पना का स्थान काव्य के विधान में हमारे यहाँ स्वीकार किया गया है। यों तो मूर्त रूप मन में बराबर उठा करते हैं—कभी कभी ये रूप परस्पर अन्वित होकर भी कोई ऐसी योजना मन में नहीं लाते जिसे कोई काव्य कह सके, जैसे—किसी मशीन के सारे कलपुरजों का रूप। कभी कभी मूल भावना या कल्पना वैज्ञानिक या दार्शनिक विचार में प्रयोजनीय होती है जो या तो किसी भाव द्वारा प्रेरित हो अथवा भाव का प्रवर्तन और संचार करती हो। सब प्रकार की कल्पना काव्य की प्रक्रिया नहीं कही जा सकती। अतः काव्य में हृदय की अनुभूति अंगी है, मूर्त रूप अंग—भाव प्रधान है, कल्पना सहयोगिनी।

कल्पना में उठे हुए रूपों की प्रतीति (परसेप्शन) मात्र का 'ज्ञान' कहना उसे ऊँचे दर्जे को पहुँचाना है। योरप में पुराने जमाने के ईसाई संतों को, जब वे ईश्वर प्रेम में बेसुध और उन्मत्त होते थे, अनेक प्रकार के आध्यात्मिक आभास हुआ करते थे जिन्हें वे अटपटी बानी में, अध्यवसित विचित्र रूपकों या अन्योक्तियों द्वारा प्रकट किया करते थे। उनके तरह तरह के अर्थ लगाए जाते थे, पर 'लखै कोई बिरलै'। उन 'आभासों' के संबंध में कहा यह जाता था कि वे सूक्ष्म आध्यात्मिक जगत् की

बातें हैं, अतः स्थूल जगत् के नाना रूपों के सहारे अभिव्यंजित होकर व्यक्त हो सकती हैं। इसी मजहबी रहस्यवाद का संस्कार क्रोचे के निरूपण में छिपा है जिसके कारण वह कल्पना को ज्ञान कहता है। 'ज्ञान' शब्द में एक विशेष गुरुत्व या महत्त्व है। अतः जो अंतर्दशा जिसे बहुत प्रिय होगी उसे यह महत्त्व देना उसके लिए स्वाभाविक ही है। यदि ऐसी अंतर्दशा लोगों की दृष्टि में बेठौर ठिकाने की हुई तो उसे वह उच्च भूमि का ज्ञान आध्यात्मिक या पारमार्थिक ज्ञान कह देगा।[1]

फ्रांस के दार्शनिक बर्गसन पर भी उपर्युक्त संस्करण का प्रभाव पूरा पूरा है। कल्पना रूपी स्वयंप्रकाश ज्ञान (इंट्यूशन) को वह भी 'आत्मा की अपनी सृष्टि' और 'पारमार्थिक ज्ञान' कहता है और बुद्धि की विवेचना द्वारा उपलब्ध ज्ञान या प्रमा को व्यावहारिक ज्ञान। कल्पना को आध्यात्मिक आभास घोषित करने का प्रभाव योरप के काव्य रचना क्षेत्र में भी बहुतों पर पड़ा है, और बुरा पड़ा है। जबकि कल्पना में आई हुई बात आध्यात्मिक जगत् की होती है तब कम से कम उसका रूप रंग तो जगत् से कुछ विलक्षण होना चाहिए। इस धारणा की हद पर पहुँचा हुआ 'दूसरे जगत् के पंछियों' का एक दल अँगरेजी के काव्यक्षेत्र से गुजर चुका है।

दार्शनिकता का यह मजहबी पुट कि मूर्त भावना या कल्पना आत्मा की अपनी क्रिया है। यह तो केवल आवश्यकता पड़ने पर अव्यक्त और अनिर्वचनीय का सहारा लेने के लिए दिया गया है। जिसे क्रोचे आत्मा के कारखाने से निकले हुए रूप कहता है, वे वास्तव में वाह्य जगत् से प्राप्त किए हुए रूप हैं। इंद्रियज ज्ञान के जो संस्कार (छाप) मन में संचित रहते हैं वे ही कभी बुद्धि के धक्के से, कभी यों ही, भिन्न भिन्न ढंग से अन्वित होकर जगा करते हैं। यही मूर्त भावना या कल्पना है। यह अन्विति या योजना वाह्य जगत् से प्राप्त रूपों के ढंग पर होती है जिसमें एक एक रूप की सत्ता अलग अलग बनी रहती है। इस अन्वित रूपसमूह को आध्यात्मिक 'साँचा' कहना और पृथक् पृथक् रूपों को उस साँचे में भरा जानेवाला 'मसाला' बताना वितंडावाद के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? किसी साँचे में जो वस्तुएँ भरी जायँगी, वे घुल मिलकर गीली मिट्टी या गारा हो जायँगी, उनके पृथक् पृथक् रूप कहाँ रह जायँगे? पर कल्पना में जो रूपसमष्टि खड़ी होती है, उसके अंतर्भूत रूपों की अलग अलग प्रतीति होती है।

---

1. एनी स्टेट आव माइंड इन ह्विच एनी वन टेक्स ए ग्रेट इंटरेस्ट इज वेरी लाइक्ली टु बी काल्ड 'नालेज'। इफ दिस स्टेट आव माइंड इज वेरी अनलाइक दोज यूजुअली सो काल्ड, दि न्यू 'नालेज' विल बी सेट इन दि आपोजिशन टु बी ओल्ड ऐज आव सुपीरियर मोर रियल ऐंड मोर एसेंशल नेचर।
—मीनिंग आव मीनिंग (सी. के. आगडेन ऐंड आई. ए. रिचर्ड्स)
देअर थिअरी वाज दैट दे वेअर टुसिंग, ऐज पासिबुल लाइक बर्ड्स आव ऐनदर वर्ल्ड।
—पोएट्री ऐंड रेनेसाँ आव वंडर (टी डब्ल्यू. डंटन)।

कल्पना में आए हुए रूप आध्यात्मिक जगत् के हैं, वाह्य जगत् से प्राप्त नहीं है, पुराने ईसाई संतों और ब्लेक के इसी प्रवाद को ग्रहण करने के कारण 'साँचों' की विलक्षण उद्भावना की गई है। बात यह है कि उक्त प्रवाद को सुनकर एक साधारण समझ का आदमी भी शंका कर सकता है कि यदि कल्पना में आए हुए रूप वाह्य जगत् के रूपों की छाप नहीं है; खास आत्मा से निकले हुए हैं तो उनकी उद्भावना जन्मांधों को भी वैसी ही होनी चाहिए जैसी आँखवालों को। इसके समाधान का प्रयास यह कहकर किया जाएगा कि आत्मा से केवल सूक्ष्म 'साँचे' निकला करते हैं जो वाह्य जगत् से प्राप्त मूर्त द्रव्य भराव के बिना व्यक्त ही नहीं हो सकते। जन्मांधों की आत्मा से भी ये सूक्ष्म साँचे निकलते हैं, पर अव्यक्त ही रह जाते हैं। अब इस अव्यक्त का प्रमाण माँगने कौन जायगा?

क्रोचे ने जिसे वाह्य जगत् या जीवन से इकट्ठा किया हुआ 'द्रव्य' या उपादान (मसाला) कहा है उसके अंतर्गत प्रकृति के नाना रूपव्यापार, जीवन की भिन्न भिन्न घटनाएँ या तथ्य सब कुछ हैं। जबकि ये 'द्रव्य' या उपादान मात्र हैं तब कला की अभिव्यंजना में इनकी वास्तविकता अवास्तविकता, औचित्य अनौचित्य, योग्यता अयोग्यता आदि का विचार अपेक्षित नहीं। योग्यता अयोग्यता का विचार कहाँ तक और किस रूप में अपेक्षित होता है, इसका विचार मैं शब्दशक्ति के प्रसंग में अर्थ की योग्यता के अंतर्गत पहले कर चुका हूँ। अब औचित्य अनौचित्य लीजिए । लोक की रीति नीति, आचार व्यवहार की दृष्टि से अनौचित्य शिल्प अर्थात् बेलबूटे, नक्कासी आदि की सौंदर्यभावना में तो सचमुच कोई बाधा नहीं डालता, पर काव्य का प्रभाव कभी कभी बहुत हलका कर देता है। यही बात हमारे यहाँ 'रसाभास' और भावाभास के अंतर्गत सूचित की गई है। काव्य को हम जीवन से अलग नहीं कर सकते। उसे हम जीवन पर मार्मिक प्रभाव डालनेवाली वस्तु मानते हैं। कला 'कला ही के लिए' वाली बात को जीर्ण होकर मरे बहुत दिन हुए। एक क्या कई क्रोचे उसे फिर जिला नहीं सकते। काव्यानुभूति जीवन क्षेत्र में संचित अनुभूतियों का ही रसात्मक रूप है। अत्यंत अनूठी उक्ति द्वारा कही हुई दुराचार की बात से अनुरंजन हो सकता है, पर उसमें कुछ विरक्ति भी मिली रहेगी। यदि भावव्यंजना में भाव अनुचित है, ऐसे के प्रति हैं जैसे के प्रति न होना चाहिए, तौ 'साधारणीकरण' न होगा, अर्थात् श्रोता या पाठक का हृदय उस भाव की रसात्मक अनुभूति ग्रहण न करेगा; उस भाव में लीन न होगा।

'कला कला ही के लिए' इस पुराने प्रवाद ने कुछ दिनों से यह सवाल खड़ा कर रखा है कि 'सदाचार' का काव्य में कोई स्थान है या नहीं।' सन् 1891 में इंगलैंड के आस्करवाइल्ड ने बड़े धड़ल्ले के साथ कहा 'समालोचना' में सबसे पहली बात तो यह है कि समालोचक को यह परख हो कि 'कला' और 'आचार' के क्षेत्र सर्वथा पृथ्क पृथक् हैं।' तब से कई इसी का अनुवाद करते आए, जैसे–'कला स्वतः न सदाचारपरक हो सकती है, न दुराचारपरक', कला के भीतर नैतिक सदसत् का भेद

आ नहीं सकता। आप लोग फिर देखें कि ये दोनों कथन भी बेलबूटे और नक्काशी पर ही ठीक घटते हैं। उन्हीं की धारणा यहाँ भी काम कर रही है। यह तो स्पष्ट ही है कि 'काव्य और सदाचार' के संबंध में यह मत कला ही के लिए वाले वाद का एक पुछल्ला है। उस वाद को उड़े बहुत दिन हो गए। जो कुछ उसका अवशेष था उसे इंगलैंड के अत्यंत निर्मल दृष्टि वर्तमान समालोचक रिचर्ड्स ने योरपीय समीक्षा क्षेत्र के बहुत से निरर्थक शब्दजाल और कूड़ा करकट के साथ हटा दिया है और साफ कह दिया है कि सदाचार से कला का घनिष्ठ संबंध है।

'कलावाद' और 'अभिव्यंजनावाद' के एक बड़े उत्साही प्रचारक मि. स्पिंगर्न हैं जिन्होंने 'समालोचना की नई पद्धति' (दि न्यू क्रिटिसिज्म) नाम की एक छोटी सी पुस्तिका (जिसे एक पैंफ्लेट कहना चाहिए) में इन वादों की कुछ बातें अधूरे, अनपचे और असंबद्ध रूप में इकट्ठी कर दी हैं। 'काव्य में नैतिक सदसत् का विचार अनपेक्षित है' इस मत का बड़े जोश के साथ उन्होंने उस पुस्तिका में इस प्रकार कथन किया है—'शुद्ध काव्य के भीतर सदाचार दुराचार ढूँढ़ना ऐसा ही है जैसा रेखागणित के समत्रिकोण त्रिभुज को सदाचारपूर्ण कहना और समद्विबाहु त्रिभुज को दुराचारपूर्ण।' पर जिस पेड़ की जड़ ही कट गई, उसकी डालियों को कोई कैसे हरी कर सकता है?

अभी सन् 1929 में कैलिफोर्निया (अमेरिका) विश्वविद्यालय के साहित्य विभाग के आचार्यों के आलोचनासंबंधी निबंधों का जो संग्रह प्रकाशित हुआ है उसमें प्रो. टी. के. ह्विपूल का 'काव्य और सदाचार' (पोएट्री एंड मारल्स) पर एक निबंध है। इस निबंध में इस मत का कि 'काव्य' के भीतर नैतिक सदसत् का भेद आ ही नहीं सकता, कई तरह से निराकरण कर दिया गया है। निबंध के आरंभ में ही उन्होंने स्पिगर्न के उपर्युक्त कथन को यह कहकर लिया है कि, और कुछ कहने के पहले मैं इस पुरानी लकीर के समर्थक मि. स्पिगर्न के कथन को लेता हूँ[1]। प्रो. ह्विपूल ने अपने निबंध में यह दिखा दिया है कि, कला का स्वतः कोई अर्थ नहीं। कविता मनुष्य के हृदय की अनुभूति है जो मनुष्य के ही हृदय में पहुँचाई जाती है। अतः मनुष्य के साथ उसका संबंध नित्य है। मानव जीवन से असंबद्ध उसका कुछ मूल्य नहीं। प्रो. ह्विपूल अंत में उस पक्ष पर आ गए हैं जिसके विचार से हमारे यहाँ 'रसाभास' और 'साधारणीकरण' का निरूपण हुआ है। वह है श्रोता या पाठक का पक्ष। श्रोता

---

1. बिफोर आइ स्पीक फर्दर लेट् मी कोट ह्वाट आइ कंसिडर दि मोस्ट विगरस स्टेटमेंट दि आर्थोडाक्स व्यू, फ्राम मि. स्पिंगर्न्स 'दि न्यू क्रिटिसिज्म।' —एसेस इन क्रिटिसिज्म (बाइ मेंबर्स आव दि डिपार्टमेंट आव इंगलिश, यूनिवर्सिटी आव कैलिफोर्निया 1929)।
यह मैंने यहाँ इसलिए उद्धृत कर दिया है जिससे 'कला में सदाचार का विचार अनपेक्षित है' इसे एक आधुनिक सिद्धांत बताकर गंदी और कुरुचिपूर्ण पुस्तकों की तीव्र आलोचना का रास्ता न रोका जाय।

मनुष्य समाज में रहनेवाला प्राणी है। जीवन में सत् असत् की जो भावना वह प्राप्त किए रहेगा, किसी काव्य द्वारा प्राप्त अनुभूति का सामंजस्य उसके साथ वह अवश्य चाहेगा। यदि यह सामंजस्य न होगा तो उस काव्य का पूरा रसात्मक ग्रहण वह न कर सकेगा। कविता वही सार्थक है जो दूसरे के हृदय में जाकर अपना प्रकाश कर सके, जैसा कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है–

'मनि, मानिक, मुकता छबि जैसी।
अहि, गिरि, गज सिर सोह न तैसी॥
नृप किरीट तरुनी तन पाई।
लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥
तैसई सुकबि कबित बुध कहहीं।
उपजहिं अनत, अनत छबि लहहीं॥'

हमारे यहाँ रस के आरंभ में ही सच्ची रस की अनुभूति कैसे होती है यह बताते हुए 'सत्त्वोद्रेकात्' कहकर झगड़ा साफ कर दिया गया है। रसानुभूति के समय प्रकृति सत्वस्थ रहती है, रजोगुण और तमोगुण का प्रभाव उस समय नहीं रहता।

अब रही यह बात कि काव्य की अनुभूति और वस्तु है, भाव की अनुभूति और। अर्थात् काव्यानुभूति भावानुभूति के रूप में नहीं होती। क्रोचे का तर्क यह है कि भावानुभूति सुखात्मक या दुःखात्मक हुआ करती है। शोक, घृणा, भय आदि दुःखात्मक अनुभूतियाँ हैं, पर इनकी व्यंजना काव्य में होती है। यदि भावानुभूति के रूप में काव्यानुभूति मानें तो इनकी व्यंजना की अनुभूति दुःखात्मक होगी। पर इनकी व्यंजनावाले काव्य भी लोग बराबर पढ़ते हैं, सुनते हैं। क्या लोग व्यर्थ बैठे बिठाए दुःख मोल लेते हैं? क्रोचे द्वारा उपस्थित की हुई बाधा बहुत पुरानी है। हजारों वर्ष से लोग इसके समाधान का प्रयत्न करते आए हैं। हमारे यहाँ के साहित्यग्रंथों में भी ऐसा प्रयत्न हुआ है, पर मुझे यह कहने में संकोच नहीं कि उससे समाधान नहीं होता। शंका का समाधान तो नहीं होता पर यह भासित अवश्य हो जाता है कि काव्यानुभूति भावानुभूति के रूप में ही होती है। बात यह है कि पूर्वपक्ष बहुत ही सटीक है। वह यह कि यदि रसानुभूति आनंदस्वरूप ही है तो करुणरस के नाटक आदि पढ़ने देखने से श्रोताओं या दर्शकों को आँसू क्यों आ जाते हैं? आँसू का आना भावोद्रेक का वाह्य लक्षण (सिंप्टम) है। अतः मनोविज्ञान की दृष्टि से यह तो साफ प्रकट है कि काव्यानुभूति भावानुभूति के रूप में ही होती है। रहा यह कि वह आनंदस्वरूप होती है या नहीं। मुझे इस बात का विशेष आग्रह नहीं।

मनोविज्ञानियों ने भी इस विषय को विचार के लिए लिया है। कुछ ने तो काव्यश्रवण से उत्पन्न भावानुभूति को क्रीड़ावृत्ति (प्ले इंपल्स) मानकर संतोष किया है। कुछ ने अनुभूत्याभास (ऐपेरेंट फीलिंग्स) कहकर। मेरा अपना विचार कुछ और है। मैं इस दिशा को हृदय की मुक्त दशा मानता हूँ–ऐसी मुक्त दशा जिसमें व्यक्ति

बद्ध घेरे से छूटकर वह अपनी स्वच्छंद भावात्मिका क्रिया में तत्पर रहता है। इस दशा को प्राप्त करने की प्रवृत्ति होना कोई आश्चर्य की बात नहीं; चाहे इस दशा को आप 'आनंद' कहिए या न कहिए। 'आनंद' कहिएगा तो उसके पहले 'अलौकिक' लगाना पड़ेगा और कहना न कहना बराबर हो जायगा।

भाव या हृदय को अनुभूति ऐसी वस्तु से, जिसका सच्ची कविता के साथ नित्य संबंध है, पीछा छुड़ाना क्रोचे के लिए सहज न था। एक स्थान पर उसकी सत्ता उसे स्वीकार करनी पड़ी है। वह कहता है, 'द्रव्य' वह भावात्मकता है जो कला के रूप में निरूपित न हुई हो।[1] 'द्रव्य' से उसका अभिप्राय मन के भीतर वाह्य प्रकृति के रूपसंस्कारों (छापों) से है, यह मैं सूचित कर आया हूँ। मन में संचित वाह्य जगत् के नाना रूपों की भावात्मकता का मतलब क्या हो सकता है? बस यही न कि उनमें भावों के उद्‌बोधन की शक्ति होती है। बस, यही तो—मेरा क्या काव्य से वास्तव में प्रभावित होनेवालों मात्र का—पक्ष है। काव्य में उन रूपों का विधान इसीलिए होता है कि वे किसी भाव को, हृदय की किसी मार्मिक वृत्ति को जगाएँ। अतः सच्ची काव्यानुभूति भावानुभूति के ही लय में होती है, यह सिद्ध है।

अब अलंकारों को लीजिए। क्रोचे अलंकार अलंकार्य का भेद न मानकर अलंकार को शाब्दिक अभिव्यंजना या उक्ति से भिन्न कोई पदार्थ नहीं मानता। उसकी यही बात इधर उधर से आकर हमारे नए काव्यक्षेत्र में भी इस रूप में सुनाई पड़ा करती है कि 'अलंकार कोई चीज नहीं, उसका जमाना गया। पर नई रंगत की कविताओं को देखिए तो पता चलता है कि उसी का जमाना आजकल आ गया है। बात यह है कि आजकल इस प्रकार के लटके कि 'रस अलंकार तो पुरानी चीजें हैं, उनका जमाना गया इधर उधर से नोचकर ही दुहराए जाते हैं। वे कहाँ से आए हैं, उनका पूरा मतलब क्या है, यह सब जानने या समझने की कोई जरूरत नहीं समझी जाती। इन वाक्यों को बात बात में दुहरानेवालों में से अधिकांश तो इतना ही जानते हैं कि रस, अलंकार आदि हमारे साहित्य के बहुत काल से व्यवहृत शब्द हैं, अँगरेजी शब्दों के अनुवाद नहीं। इससे इनका नाम लेना फैशन के खिलाफ है। दिन में सैकड़ों बार 'हृदय की अनुभूति, हृदय की अनुभूति' चिल्लाएँगे, पर 'रस' का नाम सुनकर ऐसा मुँह बनाएँगे मानो उसे न जाने कितना पीछे छोड़ आए हैं। भलेमानस इतना भी नहीं जानते कि हृदय की अनुभूति ही साहित्य में 'रस' और 'भाव' कहलाती है। यदि जानते तो कोई नया आविष्कार समझकर 'हृदयवाद' लेकर सामने न आते। संभव है इसका पता पाने पर कि 'हृदयवाद' तो 'रसवाद' ही है, वे इस शब्द को छोड़ दें। शब्दशक्ति, रस और अलंकार ये विषय विभाग काव्यसमीक्षा के लिए इतने उपयोगी हैं कि इनको अंतर्भूत करके संसार की नई पुरानी सब प्रकार की कविताओं

1. मैटर इज ए मोटिविटी नाट एइस्थेटिकली एलाबोरेटेड।

की बहुत सी सूक्ष्म, मार्मिक और स्वच्छ आलोचना हो सकती है। रिचर्ड्स ऐसे वर्तमान अँगरेजी समालोचक किस प्रकार अब समीक्षा में बहुत कुछ भारतीय पद्धति का अवलंबन करके कूड़ा करकट हटा रहे हैं, यह मैं शब्दशक्ति के प्रसंग में दिखा चुका हूँ। खैर, अब प्रस्तुत विषय पर आना चाहिए।

अलंकार अलंकार्य का भेद मिट नहीं सकता। शब्दशक्ति के प्रसंग में हम दिखा आए हैं कि उक्ति चाहे कितनी ही कल्पनामयी हो उसकी तह में कोई 'प्रस्तुत अर्थ' अवश्य ही होना चाहिए। इस अर्थ से या तो किसी तथ्य की या भाव की व्यंजना होगी। इस 'अर्थ' का पता लगाकर इस बात का निर्णय होगा कि व्यंजना ठीक हुई है या नहीं। अलंकारों (अर्थालंकारों) के भीतर भी कोई अर्थ व्यंग्य रहता है, चाहे उसे गौण ही कहिए। उदाहरण के लिए पंतजी की ये पंक्तियाँ लीजिए—

'बाल्य सरिता के कूलों से
खेलती थी तरंग सी नित
इसी में था असीम अवसित।'

इसका प्रस्तुत अर्थ इस प्रकार कहा जा सकता है—'वह बालिका अपने बाल्यजीवन के प्रवाह की सीमा के भीतर उछलती कूदती थी। उसके उस बाल्य जीवन में अत्यंत अधिक और अनिर्वचनीय आनंद प्रकट होता था।

बिना इस प्रस्तुत अर्थ को सामने रखे, न तो कवि की उक्ति की समीचीनता की परीक्षा हो सकती है, न उसकी रमणीयता के स्थल ही सूचित किए जा सकते हैं। अब यह देखिए कि उक्त प्रस्तुत अर्थ को कवि की उक्ति सुंदरता के साथ अच्छी तरह व्यंजित कर सकी हैं या नहीं। पहले 'बाल्य सरिता' यह रूपक लीजिए। कोई अवस्था स्थिर नहीं होती, प्रवाह रूप में बहती चली जाती है, इससे साम्य ठीक है। अब नदी की मूर्त भावना का प्रभाव लीजिए। नदी की धारा देखने से स्वच्छता, द्रुत गति, चपलता, उल्लास आदि की स्वभावतः भावना होती है, अतः प्रभाव भी वैसा ही रम्य है जैसा भोलीभाली, स्वच्छ हृदय प्रफुल्ल और चंचल बालिका को देखने से पड़ता है। अतः कह सकते हैं कि यह रूपक समीचीन और रम्य है। बाल्यावस्था या कोई अवस्था हो, उसकी दो सीमाएँ होती हैं—एक सीमा के पार व्यतीत अवस्था होती है दूसरी सीमा के पार आनेवाली अवस्था। अतः दो 'कूलों' भी बहुत ठीक है। तरंग नदी की सीमा के भीतर ही उछलती है, बालिका भी बाल्यावस्था के बीच स्वच्छंद 'क्रीड़ा' करती है। अतः 'तरंग सी' उपमा भी अच्छी है। असीम अर्थात् ब्रह्म अनंत आनंद स्वरूप है और उस बालिका में भी अपरिमित आनंद का आभास मिलता है। अतः यह कहना ठीक ही है कि मानो उस ससीम बाल्यजीवन के भीतर असीम आनंदस्वरूप ब्रह्म ही आ बैठा है। इसलिए यह प्रतीयमान उत्प्रेक्षा भी अनूठी है क्योंकि इसके भीतर 'अधिक' अलंकार के वैचित्र्य की भी झलक है।

यह सब समीक्षा प्रस्तुत अप्रस्तुत का भेद समझकर प्रस्तुत अर्थ को सामने

रखने से ही संभव है। यह लटका कि कला की अभिव्यंजना का अर्थ क्या? चल नहीं सकता। पुराने कलावाद के प्रचारक मि. स्पिगर्न भी काव्य की समीक्षा में यह देखना आवश्यक समझते हैं कि 'कवि क्या करने बैठा था और कहाँ तक सफलता के साथ उसे वह कर सका।' अब इस प्रकार प्रस्तुत अर्थ तक पहुँचे बिना 'कवि क्या करने बैठा था' इसका पता कैसे लग सकता है? इस प्रस्तुत अर्थ को सामने रखे बिना उस कविता की समालोचना किस रूप में हो सकती है? इसी रूप में न कि 'बाल्यसरिता—वाह! क्या सफलता की स्रोतस्विनी बहाई गई है जिसकी मधुमयी तरंगमाला में मन स्वर्गलोक का अंचल चूम आता है। असीम अवसित—देखिए कल्पना किस प्रकार ससीम की दीवारें फाँदकर असीम से जा भिड़ी और उसे ससीम के भीतर खींच लाई और संपुटित कर दिया।'

रस, अलंकार आदि के नाना भेदनिरूपण क्रोचे के अनुसार कला के निरूपण में कोई योग न देकर तर्क या शास्त्रपक्ष में सहायक होते हैं। उन सबका मूल्य केवल वैज्ञानिक समीक्षा में है, कलानिरूपिणी समीक्षा में नहीं। इस संबंध में मेरा वक्तव्य यह है कि वैज्ञानिक या विचारात्मक समीक्षा ही कलानिरूपिणी समीक्षा है। उसी का नाम समीक्षा है। उसके अतिरिक्त जो कल्पनात्मक या भावात्मक पदावली व्यवहृत होगी वह समीक्षा न होगी। किसी कविता का आधार लेकर खड़ा किया हुआ एक हवाई महल होगा, 'धुएँ का धरहरा' होगा। किसी उक्ति के संबंध में पूछा जायगा कि कैसी है, तो कहा जायगा कि इसे पढ़कर ऐसी भावना होती है कि मानो स्वर्गंगा के सुनहरे तट पर कल्पवृक्ष के नीचे बैठकर पीयूषपान करती हुई किसी अप्सरा ने मेरे ऊपर भूल से कुल्ला कर दिया।' 'कलावाद' और 'अभिव्यंजनावाद' के प्रभाव के योरप में समीक्षा के क्षेत्र में इधर तरह तरह की अर्थशून्य पदावली प्रचलित होती आ रही थी, जैसे—'कला कला के लिए' के बड़े भारी प्रतिपादक डॉ. ब्रैडले की यह प्रशस्ति 'कविता एक आत्मा है। पता नहीं कहाँ से आती है। न तो हमारे आदेश पर वह बोलेगी, न हमारी भाषा में बोलेगी। वह हमारी दासी नहीं, हमारी स्वामिनी है।' इस प्रकार के वाक्यरचना से काव्य के स्वरूपबोध में क्या सहायता पहुँच सकती है? समीक्षा के नाम पर इस प्रकार अर्थशून्य वागाडंबर की चाल निकलती देख अत्यंत सूक्ष्मदर्शी समालोचक रिचर्ड्स बहुत खिन्न हुए और उन्होंने इसका कठोर प्रतिषेध किया।[1]

---

1. (क) बट दोज इनडाइरेक्ट डिवाइसेज फार एक्सप्रेसिंग फीलिंग थ्रू लॉजिकल इर्रेलेवेंस ऐंड नानसेंस, थ्रू स्टेटमेंट्स नाट टु बी टेकेन सिरिअस्ली दो प्री एमिनेट्ली ऐपेरेंट इन पोएट्री, आर नाट पेक्यूलिअर टु इट। ए ग्रेट पार्ट आव ह्वाट पासेज फार क्रिटिसिज्म कम्स अंडर दिस हेड।

—प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म, भाग, 3 अध्याय 1।

(ख) ए फ्यू कंजेक्चर्स, ए सप्लाइ आव ऐडमानिशंस, मेनी ऐक्यूट आइसोलेटेड आब्जर्वेशंस, सम ब्रिलिएंट गेसेज, मच ओरेटरी ऐंड ऐप्लाइड पोएट्री इनएक्लास्टिबुल कन्फ्यूजन, ए सफिशेंसी आव डाग्मा, नो स्माल स्टाक आव प्रेज्यूडिसेज ह्विम्सीज ऐंड क्राचेट्स, ए प्राफ्यूजन आव मिस्टिसिज्म, ए लिटिल जेनुइन स्पेक्यूलेशन, संड्री स्ट्रे इंस्पिरेशंस, आव सच ऐज दीज इज एक्स्टैंट क्रिटिकल थियरी कंपोज्ड।

—प्रिंसिपुल्स आव क्रिटिसिज्म।

खेद है कि यह अर्थशून्य वागाडंबर पहले बंगला की मासिक पत्रिकाओं में पहुँचकर और वहाँ से 'छलना', 'कुहकिनी', 'काकलीं' इत्यादि लेता हुआ हिन्दी के समीक्षाक्षेत्र में घोर रूप में प्रकट हुआ। योरप के साहित्य क्षेत्र की भली बुरी सब प्रकार की प्रवृत्तियों को ग्रहण करने में बंगाल उसके आगे रहता आया है। 'सत्यं शिवं सुंदरम्' की बात पहले कह चुका हूँ। सन् 1885 में फ्रांस में उठा हुआ रहस्यात्मक मजहबी प्रतीकवाद, जिसमें कुछ वस्तुओं, शब्दों और ध्वनियों में तांत्रिकों के ढंग पर विशेष अर्थों का आरोप किया गया था, ब्रह्मसमाज की सांप्रदायिक कविताओं में गृहीत हुआ, फिर श्री रवींद्रनाथ ठाकुर के प्रभाव से और व्यापक होकर हिन्दी में आया। पर यहाँ पर प्रसंग समीक्षा के नाम पर कल्पनात्मक और भावात्मक वागाडंबर का है। इस संबंध में पहली बात समझने की यह है कि 'समीक्षा' अच्छी तरह देखना और विचार करना है। वह जब होगी तब विचारात्मक होगी। कल्पनात्मक या भावात्मक कृति की परीक्षा विचार या विवेचन द्वारा ही हो सकती है, उसके जोड़ में दूसरी कल्पना भिड़ाने से नहीं। भाषा के दो प्रकार के प्रयोग होते हैं—सांकेतिक (सिंबलिक) या तथ्यबोधक तथा भावप्रवर्तक (एमोटिव)[1]। समीक्षा प्रथम प्रकार के प्रयोग से ही हो सकती है दूसरे प्रकार से नहीं।

कलावाद के प्रचारक मि. स्पिंगर्न का उल्लेख ऊपर हो चुका है। उन्होंने विचारात्मक आलोचना और भावात्मक समीक्षा में—जिसे उन्होंने प्रभावात्मक समीक्षा (इंप्रेशनिस्ट क्रिटिसिज्म) कहा है—पुरुष और स्त्री का भेद बताया है। प्रथम को उन्होंने 'मरदानी समीक्षा' कहा है, द्वितीय को 'जनानी समीक्षा'।[2] खैर यही सही। तब भी अपने साहित्य के वर्तमान सहयोगियों से इतना निवेदन करूँगा कि 'भाई कुछ मरदानी समीक्षा भी होनी चाहिए।' केवल इसी प्रकार की समीक्षा से कि एक बार इस कविता के प्रवाह में पड़कर बहना ही पड़ता है। स्वयं कवि को भी विवशता के साथ बहना पड़ा है, 'वह एकाधिक बार मयूर की भाँति अपने सौंदर्य पर आप ही नाच उठा है', काम नहीं चल सकता।

'कलावाद' और 'अभिव्यंजनावाद' का इतना विस्तृत उल्लेख मैंने इस कारण किया कि इनका प्रभाव योरप में समीक्षा के स्वरूप पर तो बहुत अधिक और काव्यरचना के स्वरूप पर भी थोड़ा बहुत पड़ा है। यदि इन दोनों वादों से उत्पन्न प्रवृत्तियाँ वहीं की वहीं रह जातीं, बंगभाषा के प्रसाद से हमारे हिन्दी साहित्य क्षेत्र में भी न प्रकट होतीं तो मुझे इनके उल्लेख द्वारा आप लोगों का अमूल्य समय नष्ट करने की कोई आवश्यकता न होती। अब मैं नीचे संक्षेप में इन प्रवृत्तियों का उल्लेख करता हूँ—

---

1. दि मीनिंग आव मीनिंग (अध्याय 7), सी. के. आगडेन ऐंड आई. ए. रिचर्ड्स।
2. देअर आर टू सेक्सेज आव क्रिटिसिज्म—दि मैस्क्युलिन क्रिटिसिज्म, दैट नेवर, ऐट आल ईवेंट्स इज डामिनेटेड बाइ दि आब्जेक्ट आव इट्स स्टडीज, ऐंड दि फेमिनिन क्रिटिसिज्म, दैट, रेस्पांड्स टु दि ल्योर आव आर्ट विद ए काइंड आव पैसिव एक्सटैसी। —दि न्यूक्रिटिसिज्म।

(1) प्रस्तुत मार्मिक रूपविधान के प्रयत्न का त्याग और केवल प्रचुर अप्रस्तुत रूपविधान में ही प्रतिभा या कल्पना का प्रयोग।
(2) जीवन के किसी मार्मिक पक्ष को लेकर भाव या मार्मिक अनुभूति में लीन करने का प्रयास छोड़ केवल उक्ति में वैलक्षण्य लाने का प्रयास।
(3) जीवन की विविध मार्मिक दशाओं को प्रत्यक्ष करनेवाले प्रबंधकाव्यों की ओर से उदासीनता और प्रेमसंबंधी मुक्तकों या प्रगीत मुक्तकों (लिरिक्स) की ओर अत्यंत अधिक प्रवृत्ति।
(4) 'अनंत', 'असीम' ऐसे कुछ शब्दों द्वारा उनपर आध्यात्मिक रंग चढ़ाने की प्रवृत्ति।
(5) काव्य के स्वरूप के संबंध में शिल्प अर्थात् बेलबूटे और नक्काशीवाली हल की धारणा।
(6) समालोचना हवाई होना और विचारशीलता का ह्रास।

अब इनमें से एक एक को लेकर कुछ विचार करने की आवश्यकता है। आप लोग घबराएँ न, जो कुछ कहना होगा बहुत थोड़े में कहूँगा।

इन छह बातों को अलग अलग लेने के पहले मैं यह प्रतिपादित कर देना चाहता हूँ कि हमारे यहाँ काव्य का लक्ष्य है जगत् और जीवन के मार्मिक पक्ष को गोचर रूप में लाकर सामने रखना जिससे मनुष्य अपने व्यक्तिगत संकुचित घेरे से अपने हृदय को निकालकर उसे विश्वव्यापिनी और त्रिकालवर्तिनी अनुभूति में लीन करे। इसी लक्ष्य के भीतर जीवन के ऊँचे से ऊँचे उद्देश्य आ जाते हैं। इसी लक्ष्य की साधना से मनुष्य का हृदय जब विश्वहृदय, भगवान् के लोकरक्षक और लोकरंजक हृदय, से जा मिलता है तब वह भक्ति में लीन कहा जाता है। उस दशा में धर्म कर्म के साथ उसका पूर्ण सामंजस्य घटित हो जाता है। भक्ति, धर्म और ज्ञान दोनों की रसात्मक अनुभूति है। जिस धर्म की साधना में हृदय का योग नहीं वह शुष्क, नीरस और अधूरा है। इसी प्रकार जिस ज्ञान के साथ हृदय लगा नहीं चलता वह शुष्क, नीरस और अधूरा है—उसमें मिठास न रहने का मतलब यह है कि ब्रह्म के केवल चित्स्वरूप का कुछ स्पर्श हुआ, आनंदस्वरूप छूने को रह गया। यही बात गोस्वामीजी ने इस ढंग से कही है—

ब्रह्मपयोनिधि, मंदरज्ञान, संत सुर आहि।
कथासुधा मथि काढ़ही, भक्तिमधुरता जाहि॥

ब्रह्म से गोस्वामीजी का अभिप्राय व्यक्त ब्रह्म—'सिया राममय सब जग'—से है। यह जगत् ब्रह्म का व्यक्त स्वरूप है और समष्टि रूप में शाश्वत और अनंत है विशेष रूप में अनित्य है, पर रूपपरंपरा नित्य है। ज्ञान इस रूपसागर का मंथन करके अनेक कथाएँ या तथ्य निकालता है और हृदय उनको आलंबन के रूप में सामने रखकर भक्ति की मधुरता का अनुभव करता है। इस प्रकार जब ज्ञान और भक्ति—बुद्धि और हृदय—दोनों सहयोगी होकर काम करें तब अंतःकरण की पूर्णता समझनी चाहिए।

जिस प्रकार हृदय के योग के बिना, भक्ति के बिना, ज्ञान को गोस्वामीजी ने मधुरतारहित और नीरस कहा है, उसी प्रकार धर्माचरण और सदाचार को भी कड़ुवा कहा है—

सूर सुजान सपूत सुलच्छन गनियत गुन गरुवाई।
बिनु हरिभजन इंदारुन के फल तजत नहीं करुवाई॥

उन्होंने स्पष्ट कहा है कि धर्माचरण और शिष्टाचार हृदय के योग के बिना, हर्ष पुलक के बिना, व्यर्थ है—

रामहिं सुमिरत, रन भिरत, देत, परत गुरु पाय।
तुलसी जिनहिं न पुलक तन, ते जग जीवत जाय॥

सारांश यह है कि हृदय की ऐसी भावदशा कभी कभी होती है जिसका न धर्म से विरोध होता है न ज्ञान से, और न किसी दूसरी भावदशा से। यही सामंजस्य हमारे यहाँ का मूल मंत्र है। जिस काव्य में यह सामंजस्य न होगा उसका मूल्य गिरा हुआ होगा।

धर्म के साथ हृदय के भाव या काव्य की अभिव्यंजना के अविरोध की चर्चा पहले हो चुकी है। अब ज्ञान और भाव, बुद्धि और हृदय के सामंजस्य के संबंध में थोड़ा विचार कर लेने की आवश्यकता है। इस सामंजस्य का अभिप्राय यह है कि बुद्धि अपना स्वतंत्र रूप से ज्ञानसंपादन का कार्य करे और हृदय भावप्रदर्शन का। एक दूसरे के कार्य में बाधक न हो, हस्तक्षेप न करे। बुद्धि यह न कहने जाय कि हृदय क्या? वह तो फालतू काम किया करता है। हृदय यह न कहने जाय कि बुद्धि क्या? वह तो रूखे लक्कड़ चीरा करती है। दोनों एक दूसरे के सहयोगी के रूप में काम करें। बुद्धि देश और काल के बीच हमारे ज्ञान का प्रसार बढ़ाती है। जगत् के अनेक तथ्य ऐसे होते हैं जो हमारी वाह्य इंद्रियों तथा सामान्य स्थूल बुद्धि को प्रत्यक्ष नहीं होते। बुद्धि अपनी सूक्ष्म क्रिया द्वारा विशेष मनन और चिंतन द्वारा उसका निरूपण करती है और कवि की प्रतिभा या कल्पना द्वारा उसे गोचर और मार्मिक रूप में सामने रखती है। ऐसी दशा में प्रतिभा या कल्पना अनुमान के इशारे पर चलती है और सामान्य रूप से निरूपित तथ्य के बीच से ऐसे विशेष दृश्य की उद्भावना कर लेती है जो मर्मस्पर्शी होता है। नाना भावों के लिए आलंबन आरंभ में ज्ञानेंद्रियाँ उपस्थित करती हैं; फिर ज्ञानेंद्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री से प्रतिभा या कल्पना उनका भिन्न भिन्न रूपों में समन्वय करती है। अतः यह कहा जा सकता है कि ज्ञान ही भावों के संचार के लिए मार्ग खोलता है। ज्ञानप्रसार के भीतर ही भावप्रसार होता है। आरंभ में मनुष्य जाति की चेतन सत्ता इंद्रियज ज्ञान की समष्टि के रूप में ही अधिकतर रही। पीछे ज्यों ज्यों सभ्यता बढ़ती गई है त्यों त्यों मनुष्य की ज्ञानसत्ता बुद्धिव्यवसायात्मक होती गई है। अब मनुष्य का ज्ञानक्षेत्र बुद्धिव्यवसायात्मक या विचारात्मक होकर विस्तृत हो गया है। अतः उसके विस्तार के साथ हमें अपने हृदय

का भी विस्तार बढ़ाना पड़ेगा। शुद्ध (किसी वाद या संप्रदाय के नहीं) विचार और चिंतन की क्रिया से वैज्ञानिक विवेचन और अनुसंधान द्वारा उद्घाटित परिस्थितियों और तथ्यों के मर्मस्पर्शी पक्ष का भी मूर्त और सजीव चित्रण—उसका भी इस रूप में प्रत्यक्षीकरण कि वह हमारे किसी भाव का आलंबन हो सके—कुछ कवियों का काम होगा।

ये परिस्थितियाँ बहुत ही व्यापक होंगी, ये तथ्य न जाने कितनी बातों की तह में छिपे होंगे। यदि अत्याचार होगा तो रावण के अत्याचार सा लोकव्यापी होगा। हाय होगी तो पृथ्वी के एक कोने से दूसरे कोने तक होगी; पर एक हाय करनेवाला दूसरे हाय करनेवाले से इतनी दूर पर होगा कि सम्मिलित हाय की दारुणता केवल बाहरी आँखों की पहुँच के बाहर होगी। यदि प्राणियों की किसी सामान्य प्रवृत्ति का चित्रण होगा तो सामग्री कीटाणुओं की दुनिया तक से लाई जा सकती है। जगत् रूपी घनचक्कर और गोरखधंधे की महत्ता और जटिलता से चकित होने की चाह में हम अपनी अंतर्दृष्टि के सामने एक ओर अणुओं परमाणुओं और दूसरी ओर ज्योतिष्क पिंडों के भ्रमणचक्रों तक को ला सकते हैं। उपर्युक्त सामंजस्य प्रतिष्ठित हो जाने पर ज्ञान विज्ञान के साथ काव्य का कोई विरोध न दिखाई पड़ेगा।

हमारे यहाँ धर्म की रसात्मक अनुभूति या भक्ति में ज्ञान उक्त सामंजस्य के कारण कभी बाधक नहीं हुआ और न धर्म ने आग और कुल्हाड़े से ज्ञान विज्ञान का विरोध किया। हमारे यहाँ 'कर्म और 'उपासना' के समान 'ज्ञान' भी धर्म का एक अंग बहुत प्राचीन काल से माना गया था। पर सामी मजहबों में अक्ल की दखल न होने के कारण पाश्चात्य देशों में ज्ञान विज्ञान के प्रचार में बहुत बाधा पड़ी थी। बुद्धि की स्वाभाविक क्रिया द्वारा उपलब्ध ज्ञान के लिए ईसाई मत में जगह न थी। अतः जब ईसाई मत में सांप्रदायिक दर्शन (थियोलाजी) की नींव डालने के लिए आर्य जातियों, विशेषतः यूनानियों के तत्त्वचिंतकों द्वारा प्रवर्तित ज्ञान की बातों को लेने की आवश्यकता हुई तब वे मनुष्य की स्वाभाविक बुद्धि द्वारा उपलब्ध ज्ञान के रूप में तो ली नहीं जा सकती थीं। यहूदी, ईसाई आदि सामी मतों के भीतर तो वे ही बातें ली जा सकती थीं जो किसी पैगंबर, पहुँचे हुए रहस्यदर्शी संत या सिद्ध को 'हाल', 'मूर्च्छा' अथवा प्रेमोन्माद की दशा में दिव्य आभास के रूप में प्राप्त हुई हों।[1] प्रेमोन्माद या मूर्च्छा की दशा में रहस्यदर्शी भक्त संतों को अंतःकरण के भीतर ईश्वर का समागम प्राप्त होता था और उस आध्यात्मिक जगत् की कुछ बातें आभास के रूप में उनपर प्रकाशित की जाती थीं। ईसा की छठी शताब्दी

---

1. दि विलीफ इन मिस्टिकल थियालाजी ऐंड इट्स कनेक्टेड फेनामेना वाज टेकेन ओवर बाई क्रिश्चिऐनिटी फ्राम जूडाइज्म। जूडाइज्म टेंडेड टु रिगार्ड गॉड ऐज सो ट्रैंसेंडेंट ऐंड इनएफेमेबुल दैट ही कुड डील विद क्रीचर्स ओनूली बाइ ऐंजेलिक मेडिएशन। इट वाज दि फैशन टु सी आर राइट आव ऐपीकैलिप्स, सिंबलिक विजंस; ऐंजेलिक मिनिस्टर्स। —एनसाइक्लोपीडिया आव रेलिजन ऐंड एथिक्स।

से लेकर बारहवीं तेरहवीं शताब्दी तक यूनानी दर्शनों में निरूपित बात इन्हीं 'आभासों' के रूप में रहस्यदर्शी संत लोग कहा करते थे।[1]

ईश्वरीय आभास का रूप देने के लिए ये बातें नाना प्रकार की अन्योक्तियों और अध्यवसित रूपकों में लपेटकर विचित्र शब्दों में कही जाती थीं। अतः कबीर आदि रहस्यवादी संतों और योरप के रहस्यवादी कवियों की उक्तियों में जो वैलक्षण्य का विचित्र रूपकजाल रहता है उसका भी सांप्रदायिक कारण और इतिहास है। ईसवी सन् 604 में संत ग्रेगरी नामक एक प्रसिद्ध महात्मा हो गए हैं। मूर्च्छा उन्माद की दशा में ईश्वर का जो समागम होता है उसके संबंध में उन्होंने कहा कि साधक ईश्वर को ठीक वैसा ही नहीं देखता जैसा कि वह परमार्थतः है, बल्कि उसका सोपाधि रूप देखता है। हमारे भीतर कल्मष का जो अंधकार रहता है वह उस शुद्ध ज्योति को ठीक ठीक हम तक पहुँचने नहीं देता। हम उसे साफ नहीं देख सकते, वैसे ही देख सकते हैं जैसे बहुत दूर की वस्तु कुछ धुँधली सी दिखाई पड़ती है। इसके उपरांत ईसा की बारहवीं शताब्दी में संत बरनार्ड ने यह बताया कि रहस्यदर्शी को 'हाल' या आवेश की दशा में आध्यात्मिक ज्ञान की उपलब्धि किस ढंग से होती है। उन्होंने कहा कि 'जब साधक के हृदयदेश में ईश्वर की भेजी हुई ज्योति की किरण झलक की तरह क्षणमात्र के लिए आ जाती है तब या तो उस परम तेज की चकाचौंध कम करने के लिए अथवा उसके द्वारा प्रकाशित ज्ञान को दूसरों तक कुछ पहुँचाने के योग्य बनाने के लिए, उस प्रेषित ज्ञान या तथ्य को व्यंजित करने के उपयुक्त पार्थिव जगत् का कुछ अनूठा रूपविधान (रूपक) सामने आ जाता है। छलावे की तरह भासित हुए उस रूपक को 'छायादृश्य' (फैटैज्माटा) कहते हैं।[2]

---

1. दि फंडामेंटल मेटाफिजिक्स आन ह्विच दि डाक्ट्रिन आव क्रिश्चियन मिस्टिसिज्म इज ग्राउंडेड, इज ग्रीक रैशनलिस्टिक मेटाफिजिक्स, फार्म्युलेटेड बाइ साक्रेटीज ऐंड हिज ग्रेट सक्सेसर्स प्लैटो, ऐरिस्टोटल ऐंड प्लाटिनस...गाड, एकार्डिंग टु दिस ग्रीक इंटरप्रिटेशन, इज ऐब्सोल्यूट रिएलिटी विद नो ऐडमिक्श्चर आव मैटर, दैट इज विद नो पोटेंशैलिटी एंड पासिबिलिटी आव चेंज। देयर इज, हाउएवर, समथिंग इन ह्यूमन सोल ह्विच इज अनसंडर्ड फ्राम दि ऐब्सोल्यूट, समथिंग ह्विच एसेंशली इज दैट रिएलिटी... दिस इनटेलेक्चुअल फार्म्युलेशन नेसेसैरिली इनवाल्व्स ए वाया निगेटिव–ही इज नाट दिस, ही इज नाट दिस। –वही

   देखिए किस प्रकार इस उद्धरण में उपनिषद् के ब्रह्मवाद का ही निरूपण है और 'नेति, नेति' वाक्य भी ज्यों का त्यों आया है।
2. ह्वेन समथिंग फ्राम गाड हैज मोमेंटैरिली ऐंड, ऐज इट वेयर , विद दि स्विफ्टनेस आव ए फ्लैश आव लाइट, शेड इट्स रे अपान दि माइंड इन एक्स्टेसी आव स्पिरिट, इम्मीडिएली, ह्वेयर फार दि टेंपरिंग आव दिस टू ग्रेट रेडिऐंस, आर फार दि सेक आव इपार्टिंग इट टु अदर्स, देयर प्रेजेंट, देमसेल्वस सर्टेन इमेजनरीलाइकनेसेज आव लोअर थिंग्स, सूटेड टु दि मीनिंग्ज ह्विच हैव बीन इन्फ्यूज्ड फ्राम ऐबव, बाइ मीन्स आव ह्विच दैट मोस्ट प्योर ऐंड ब्रिलिएंट रे इज ए इन मैनर शेडेड, ऐंड बोथ बिकम मोर बेयरेबल टू दि सोल इटसेल्फ ऐंड मोर केपेबुल आव बीइंग कम्युनिकेटेड। –वही।

इसी 'छायादृश्य' के लक्षणों का अनुकरण सामी मजहबों के भीतर चले हुए भक्ति के रहस्यमार्गों में पाया जाता है। सूफियों में इसी परंपरा का निर्वाह शराब, प्याले आदि के रूपकों में मिलता है जो एक प्रकार के प्रतीक (सिंबल्स) से हो गए हैं। निर्गुन पंथ की बानियों में—विशेषतः कबीरदास की बानी में—जो वेदांत, हठयोग आदि की साधारण बातों को लेकर पहेली के ढंग के रूपक बाँधने की प्रवृत्ति पाई जाती है, वह भी इसी रूढ़ि का निर्वाह है। रहस्यवादी अँगरेज कवि ब्लेक ने कल्पना को जो ईश्वर का दिव्य साक्षात्कार बताया, उसका भी यही सांप्रदायिक मूल है। इधर क्रोचे ने जो 'वाद' खड़ा किया है, वह भी इसी का आधुनिक वाग्विस्तार है।

ईसाई भक्तिमार्ग के इस 'छायादृश्य' (फैंटैज्माटा) वाले प्रवाद का प्रभाव योरप के काव्यक्षेत्र में भी समय समय पर प्रकट होता रहा। सन् 1885 में फ्रांस के रहस्यात्मक प्रतीकवादियों (सिंबलिस्टिक डिकेडेंट्स) ने कविता का जो ढंग पकड़ा था उसमें उक्त छायादृश्यवाली धारणा का पूरा अनुसरण था। इसी से जब उक्त रहस्यवाद का ढंग ब्रह्मसमाज के भजनों में दिखाई दिया तब पुराने ईसाई भक्तों के उसी 'छायादृश्य' (फैंटैज्माटा) के अनुकरण के कारण उस ढंग की रचनाओं को 'छायावाद' कहने लगे। यह है हिन्दी के वर्तमान काव्यक्षेत्र में प्रचलित 'छायावाद' शब्द का मूल और इतिहास।

प्राचीन आर्य जातियों में रहस्यवाद की प्रवृत्ति नहीं थी—न योरप में, न भारत में। प्राचीन यूनानी और रोमन दोनों इससे बचे हुए थे।[1] तत्वज्ञान संपन्न यूनानी जाति स्वच्छ विचार और संयत आत्मा धारण करती थी। वह परमात्मबोध के लिए शुद्ध चिंतनमार्ग को छोड़कर रहस्यवाद के अंधकार में भटकनेवाली नहीं थी। यही स्थिति प्राचीन भारतीय आर्यों की भी थी। यहाँ परमार्थतत्त्व बोध के लिए बुद्धि की स्वाभाविक पद्धति, चिंतन के विशुद्ध मार्ग के अतिरिक्त और कोई दूसरा मार्ग स्वीकृत न था। उपनिषद् की ब्रह्मविद्या के प्रवर्तक इसी स्वाभाविक बुद्धि की निश्चयात्मिका वृत्ति द्वारा, शुद्ध अनुमान और विचार की परंपरा द्वारा, ज्ञान की उपलब्धि करते थे। उनके द्वारा प्रवर्तित हमारा 'ज्ञानकांड' मूर्च्छा, स्वप्न या बेहोशी की उपज नहीं है, तत्त्वचिंतन का फल है। वही हमारे वेदांत के ब्रह्मस्पर्शी प्रसाद की नींव है। उपनिषदों का तत्त्वज्ञानात्मक (रेशनलिस्टिक) स्वरूप स्पष्ट है। उनमें बहुत से स्थल संवाद के रूप में हैं, जिसमें शंकासमाधान भी है। जनक की सभा में शास्त्रार्थ के रूप में ब्रह्मवाद

---

1. टेकेन आल इन आल, इट इज एविडेंट दैट मिस्टिसिज्म प्लेड इन्कांस्पिक्युअस रोल इन दि रेलिजस लाइफ आव दि हेलेनीज। दि ग्रीक जीनिअस लब्ड क्लिअरनेस ऐंड सेल्फ पजेशन टू वेल टु सीक दि डिवाइन इन मिस्टिकल डार्कनेस ऐंड सेल्फ सरेंडर।
परहैप्स नो सेमी सिविलाइज्ड पीपुल वाज एवर मोर फ्री फ्राम मिस्टिसिज्म, इन अवर सेंस आव दि टर्म, दैन दि ओल्ड रोमंस।
—दि साइकोलाजी आव रेलिजस मिस्टिसिज्म (बाई जेम्स एच.एल. ल्यूबा)।

की चर्चा होती थी। उपनिषदों के स्फुट विचारों को ही व्यवस्थित शास्त्र के रूप में संकलित करने के लिए वादरायण ने ब्रह्म सूत्रों की रचना की।[1]

खेद है कि ईसाई मत से प्रभावित ब्रह्मसमाज ने उपनिषदों का पल्ला पकड़कर उन्हें रहस्यवादी रूप देने का प्रयत्न किया। बहुत से पाश्चात्य लेखकों ने बड़ी खुशी से इन्हें इस रूप में ग्रहण किया और उपनिषदों के ज्ञान को रहस्यवाद की कोटि में रखा। बात यह है कि उस कोटि में जाने से उसका तात्त्विक मूल्य घट जाता है और प्राचीन भारतीय आर्यों की तत्त्वज्ञानसंपन्नता कुछ ओट में पड़ जाती है और यूनानियों के सामने दिखाई पड़ती है। उपनिषद् यदि रहस्यदर्शियों के स्वप्न या आभास हैं तब तो प्राचीन भारतीय भी सभ्यता की उसी सीढ़ी पर थे जिसपर प्राचीन यहूदी। उपनिषदों को रहस्यवाद कहने का आधार केवल यही है कि उनकी कुछ बातें उपमाओं या लक्षणाओं के द्वारा कुछ अनूठे ढंग से कही हुई मिलती हैं। बात यह है कि उस प्राचीन काल में दार्शनिक विवेचन को व्यक्त करने की व्यवस्थित शैली नहीं निकली थी। चिंतन करते करते कभी कभी ऋषि भावोन्मुख भी हो जाते थे और अपनी बात अनूठी उक्ति के रूप में कह देते थे।

ज्ञान जब प्राप्त होगा तब शुद्धबुद्धि की क्रिया से ही। कल्पना, स्वप्न, भावोन्माद आदि द्वारा किसी उच्चकोटि का ज्ञान तो दूर की बात है साधारण बातें भी नहीं जानी जा सकतीं। न हम कान से देख सकते हैं न नाक से सुन सकते हैं। पर प्रेमलक्षणा भक्ति क्यों और किस प्रकार (ज्ञान का भी एक रहस्यमय साधन) सामी मजहबों में मानी गई, यह हम अभी दिखा आए हैं। रहस्यवादी जो बातें कहते हैं वे तत्त्वज्ञ दार्शनिकों द्वारा निश्चित की हुई होती हैं, आसमान से टपकी या आत्मा से उठी नहीं होती। उन्हीं बातों को सुनकर या इधर उधर से लेकर वे उनपर कल्पना का रंग चढ़ाते और उन्हें अनूठे रूपकों और अन्योक्तियों में कहा करते हैं।[2] कोई कह सकता है कि आज तक किसी पहुँचे हुए रहस्यवादी ने कोई एक भी बात ऐसी कही है जो पहले से प्रचलित

---

1. देखिए एन, मैकनिकल की पुस्तक 'इंडियन थेइज्म फ्राम दि वैदिक टु दि मुहम्मदन पीरियड' तथा 'इंसाइक्लोपीडिया आव रेलिजन ऐंड एथिक्स' में उनका निबंध, जिसके नीचे लिखे हुए वाक्य ध्यान देने योग्य हैं–

   इट इज ट्रयू आव मच इन दि उपनिषद्स दैट इट इज सीकिंग टु डिस्कवर दि रिलेशंस आव मैन विद दि यूनिवर्स रादर दैन हिज रिलेशन विद दि गाड। इट इज आफेन कंसर्न्ड विद दि रिलेशन आव दि नोअर ऐंड दि नोन, रादर दैन विद दैट आव दि वर्शिपर ऐंड गाड। इट गिव्स ए मेटाफिजिक रादर दैन ऐन एथिक आर रिलिजन।

2. इट इज नाट नेसेसरी टु कन्क्लूड दैट 'ओरेक्युलर कम्युकेशन' आर मिस्टीरिअस इनफार्मेशन, आर आइडियाज विद नावेल्टी आव कंटेंट, कम्स इंटू दि वर्ल्ड थ्रू दि सीक्रेट डोर आव मिस्टिकल ओपेनिंग्ज, 'आइडिआज' ऐंड 'कम्युनिकेशंस' ऐंड इन्फार्मेशन प्रूव आल्वेज, हेन दे आर एग्जामिंड, टु हैव ए हिस्टारिक बैकग्राउंड। दे शो दि मार्क्स आव ग्रुप एक्सपीरिएंस ऐंड दे डू नाट ड्राप रेडीमेड इंटू दि वर्ल्ड फ्राम सम अदर रीजन।

   –रूफस एम. जोन्स (एनसाइक्लोपीडिया आव रिलिजन ऐंड एथिक्स)

न चली आती हो? कबीर की बानी में ज्ञान की कोई एक नूतन कणिका भी कोई किसी पहुँचे हुए रहस्यवादी ने कोई एक भी बात ऐसी कही है जो पहले से प्रचलित दिखा सकता है? ज्ञान के क्षेत्र के रहस्यवाद का कोई मूल्य नहीं। रहस्यवाद से किसी नए तथ्य की, नए ज्ञान की, उपलब्धि नहीं हो सकती, यह बात रहस्यवाद पर तात्त्विक दृष्टि से विचार करनेवालों ने लिखी है।[1]

सामी मतों के भक्तिमार्गों में ज्ञानपक्ष यद्यपि लिया गया है आर्य जाति के तत्त्वचिंतकों से, पर बताया जाता है ऊपर लिखे रहस्यात्मक ढंग से आभास रूप में प्राप्त। इसी से पाश्चात्य लेखक भारतीय भक्तिमार्ग को भी रहस्यवाद के भीतर घसीटा करते हैं। पर यह उनका शुद्ध भ्रम है, यह मैं आगे दिखाऊँगा। सामी मतों की भक्तिसाधना में दांपत्य वासना (सेक्स इस्टिंक्ट) का सहारा लिया गया जिससे 'माधुर्य भाव' का विकास उनमें विशेष दिखाई पड़ता है। ईसाइयों की धर्मपुस्तक में एक जगह आया है कि 'जिस प्रकार दूल्हा दुलहिन के साथ रमण करता है, इसी प्रकार ईश्वर तुझमें रमण करे।' इसी को लेकर 'स्वर्गीय दूल्हा' (हेवेन्ली ब्राइडग्रुम) की भावना चली। जिस प्रकार हमारे यहाँ के हठयोगियों ने मनुष्य के भीतर चक्रों, कमलों, मणिपूर इत्यादि की कल्पना की है, उसी प्रकार साधक ईसाइयों ने उस स्वर्गीय दूल्हे के साथ विहार करने के लिए अंतर्देश में कई प्रकार के रंगमहल या कोठरियाँ कायम की थीं।

ईसा की बारहवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में संत बरनार्ड नाम के जो प्रसिद्ध भक्त हो गए हैं, उन्होंने दूल्हे के 'तीसरे कक्ष' में प्रवेश का इस प्रकार वर्णन किया है—'यद्यपि वे (ईश्वर) कई बार मेरे भीतर आए पर मैंने न जाना कि कब आए। आ जाने पर कभी कभी मुझे उनकी आहट मिली है, उनके विद्यमान होने का स्मरण भी मुझे है, वे आनेवाले हैं, इसका आभास भी मुझे कभी कभी पहले से मिला है, पर वे कब बाहर गए, इसका पता मुझे कभी न चला।'

अब इसी प्रकार की रचना की झलक आप आज इस बीसवीं शताब्दी में भी 'गीतांजलि', 'साधना' तथा मासिक पत्रों में समय समय पर निकलनेवाले गद्यकाव्यों में स्पष्ट देख सकते हैं। कबीर की 'सुन्नि महलिया' भी सामी रहस्यवाद की ओर से आई है।

भारतवर्ष के वैष्णव धर्म में भी जैसे सेव्य, सेवक आदि कई भावों से उपासना मानी गई थी वैसे ही गोपियों के कृष्णप्रेम को लेकर 'माधुर्यभाव' की उपासना भी मानी गई थी; पर उसका स्वरूप केवल भावात्मक था; उसमें न भीतर महलों आदि

---

1. दि मिस्टिकल एक्सपीरिएंस कंसिस्ट्स इन जीप्स आव इनसाइट थ्रू हाइटेंड लाइफ, इन ऐन इंटैंसिफाइंग आव विजन थ्रू दि फ्यूजिंग आव आल दि डीप लाइंग पावर्स आव इंटेलेक्ट, इमोशंस ऐंड विल, ऐंड इन ए करेस्पांडिंग सर्ज आव कन्विक्शन, थ्रू दि डायनेमिक इंटीग्रेशन आव पर्सनैलिटी, रादर दैन इन दि गिफ्ट आव न्यू फैक्ट्स। —वही।

की कल्पना थी, न मूर्च्छा, उन्माद आदि लक्षण। पीछे मुसलमानी शासनकाल में कुछ कृष्णभक्तों पर, जैसे—चैतन्य महाप्रभु, मीरा, नागरीदास पर—सूफियों का प्रभाव पड़ा। भारतवर्ष के भीतर माधुर्य भाव का ग्रहण प्राचीन काल में दक्षिण में हुआ। बड़े बड़े मंदिरों में जो देवदासियाँ रहा करती थीं इसका प्रवर्तन पहले उन्हीं के बीच जान पड़ता है। माता पिता लड़कियों को मंदिर में चढ़ा आते थे, जहाँ उनका विवाह ठाकुरजी के साथ हो जाता था। वे ही देवदासियाँ हो जाती थीं। उनके लिए मंदिर में प्रतिष्ठित भगवान् की उपासना पतिरूप में विधेय थी; इन देवदासियों में से कुछ उच्च कोटि की भक्तिनें निकल आती थीं।

दक्षिण में अंदाल इसी प्रकार की भक्तिन थी, जिसका जन्म वि. सं. 773 के आसपास हुआ था। यह बहुत छोटी अवस्था में किसी साधु को एक पेड़ के नीचे मिली थी। वह साधु भगवान् का स्वप्न पाकर इसे विवाह के वस्त्र पहनाकर श्रीरंगजी के मंदिर में छोड़ आया था। अंदाल के पद द्रविड़ भाषा में 'तिरुप्पावइ' नामक पुस्तक में अब तक मिलते हैं। अंदाल एक स्थान पर कहती है—'अब मैं यौवन को प्राप्त हूँ और स्वामी कृष्ण के अतिरिक्त और किसी को अपना पति नहीं बना सकती।' इस भाव की उपासना यदि कुछ दिन चले तो उसमें रहस्य का समावेश अवश्य हो जायगा। भारतीय भक्ति का मूल रूप रहस्यात्मक न होने के कारण इस 'माधुर्य भाव' का अधिक प्रचार न हुआ। पीछे मुसलमानी जमाने में सूफियों की देखादेखी इस भाव की ओर कुछ कृष्णभक्त रहस्यात्मक ढंग से प्रवृत्त हुए।

भारतवर्ष में धर्म के भीतर भी ज्ञान की प्रकृत पद्धति और प्रेम की प्रकृत पद्धति स्वीकृत थी; अतः न ज्ञान के क्षेत्र में और न भगवत्प्रेम के क्षेत्र में रहस्यवाद की आवश्यकता हुई। साधनात्मक और क्रियात्मक रहस्यवाद का अलबत योग, तंत्र और रसायन के रूप में विकास हुआ। यहाँ ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग और योगमार्ग तीनों अलग अलग रहे हैं। इस स्पष्ट विभाग के कारण भारतीय परंपरा का भक्त न तो पारमार्थिक ज्ञान का दावा करता है, न अलौकिक सिद्धि या रहस्यदर्शन का। ज्ञान के अधिकारी तर्कबुद्धिसंपन्न, चिंतनशील दार्शनिक ही माने जाते हैं। तत्त्वज्ञान की झलक के लिए शुद्ध बुद्धि के अतिरिक्त और कोई दूसरी खिड़की नहीं मानी जाती। भारतीय भक्त हृदय भी उसी पद्धति से भगवान् से प्रेम करता है, जिस पद्धति से पुत्र, कलत्र से। इस प्रेम के लिए कोई अप्राकृतिक पद्धति अपेक्षित नहीं। भक्त की अनुभूति एक प्राकृतिक या स्वाभाविक अनुभूति है। पर रहस्यवादी की ईश्वरसमागमवाली दशा या तो योगिकों की तुरीयावस्था अथवा चित्तविक्षेप के रूप में मानी जाती है—जैसी—किसी भूत या देवता के सिर आने पर होती है। इस दशा पर आस्था सभ्यता की आदिम अवस्था का संस्कार है जो किसी न किसी रूप में अब तक चला चलता है। उसी के कारण जैसा भूतप्रेत, कुलदेवता आदि का सिर पर आना वैसा ही यह ईश्वर का सिर पर आना समझा जाता है। हमारे यहाँ के भक्ति मार्ग में यह बिलकुल

नहीं है। आज तक किसी भक्त महात्मा के सिर पर न कभी राम कृष्ण आए, न ब्रह्म—हाँ, ब्रह्मराक्षस अलबत आते हैं। हनुमानजी भी कभी कभी भक्तमंडली से उछलकर किसी सेवक के सिर पर आ जाया करते हैं।

भारतीय परंपरा के भक्त का प्रेममार्ग सीधा सादा और स्वाभाविक है, जिस पर चलना सब जानते हैं, चाहे चलें न। वह ऐसा नहीं जिसे कोई बिरला ही जानता हो या पा सकता हो। वह तो संसार में सबके लिए ऐसा ही सुलभ है, जैसे—अन्न और जल—

निगम अगम, साहब सुगम, राम साँचिली चाह।
अंबु असन अवलोकियत, सुलभ सबै जग माह॥ —तुलसी

जिस हृदय से भक्ति की जाती है, वह सबके पास है। सरलता इस मार्ग का नित्यलक्षण है—मन की सरलता, बचन की सरलता और कर्म की सरलता—

सूधे मन, सूधे बचन, सूधी सब करतूति।
तुलसी सूधी सकल विधि, रघुबर प्रेम प्रसूति॥

भारतीय परंपरा के सच्चे भक्त में दुराव छिपाव की प्रवृत्ति नहीं होती। उसे यह प्रकट करना नहीं रहता कि जो बातें मैं जानता हूँ उसे कोई बिरला ही समझ सकता है, इससे अपनी वाणी को अटपटी और रहस्यमयी बनाने की आवश्यकता उसे कभी नहीं होती। वह सीधीसादी सामान्य बात को भी रूपकों में लपेटकर पहेली बनाने और असंबद्धता के साथ कहने नहीं जाता। बात यह है कि अपना प्रेम वह किसी अज्ञात के प्रति नहीं बताता। उसका उपास्य ज्ञात होता है। उसके निकट ईश्वर ज्ञात और अज्ञात दोनों है। जितना अज्ञात है उसे तो वह परमार्थान्वेषी दार्शनिकों के चिंतन के लिए छोड़ देता है और जितना ज्ञात है उसी को लेकर वह प्रेम में लीन रहता है। ज्ञात पक्ष में यह सारा जगत् ब्रह्म का व्यक्त प्रसार है जिनके भीतर रक्षण और रंजन की नित्यकला भासमान रहती है। बाहर जगत् के बीच इस कला का दर्शन भक्ति का पक्ष है। 'अपने मन के भीतर ढूँढ़ना' यह योग का पक्ष है। बाहर जगत् में जहाँ रक्षण और रंजन की यह कला भक्त को दिखाई पड़ती है वहाँ वह सिर झुकाता है। श्रीमद्भागवत में इस सिद्धांत का स्पष्टीकरण हम पाते हैं। ब्रज के गोप इंद्र की पूजा किया करते थे। श्रीकृष्ण ने नंद से कहा कि इससे अच्छा तो यह है कि हम इस गोवर्धन पर्वत की पूजा करें। जो साक्षात् या सीधे पालन पोषण, रंजन करता दिखाई दे वही देवता है—

तस्मात्सम्पूजयेत्कर्म स्वभावस्थः स्वकर्मकृत्।
अञ्जसा येन वर्तेत तदेवास्य हि दैवतम्॥ —(भागवत, 10/24/18)
तस्माद्गवां ब्राह्मणानामद्रेश्चारभ्यतां मखः।
य इंद्रयागसमारम्भास्तैरयं साध्यतां मख ॥ —(भागवत, 10/24/25)

यही 'अंजसपूजा' सीधे उसकी पूजा जो प्रत्यक्ष रक्षक और प्रत्यक्ष रंजक है—भारतीय भक्तिभावना का प्रधान स्वरूप है। इसी से प्रत्यक्ष वाह्य जगत् के बीच राम कृष्ण के रूप में अपनी रक्षण रंजन कला का प्रकाश करनेवाले भगवान् के व्यक्त रूप को लेकर भारतीय भक्तिमार्ग सच्ची भावुकता के साथ चला। यदि किसी पर्वत से, किसी वृक्ष से, किसी पशु से—प्रकृति के छोटे बड़े किसी रूप से—लोक का उपकार है तो उसमें स्थित हमारी पूज्य बुद्धि भगवान् ही के प्रति समझनी चाहिए। इस प्रकार व्यक्त और प्रत्यक्ष रूपों के प्रति पूज्य बुद्धि हमारे भक्तिमार्ग का वह प्रधान अवयव है जो उसे उन मार्गों से अलग करता है जो ऐसे प्रत्यक्ष रूपों के प्रति पूज्य भाव रखना पाप कहते हैं।

सारांश यह है कि हमारे यहाँ का (सगुण) भक्तिकाव्य भी ब्रह्म के अज्ञात और अव्यक्त स्वरूप को आध्यात्मिक आभास द्वारा बताने का दावा करता हुआ नहीं चला है। वह इसी व्यक्त जगत् और जीवन के बीच भगवान् की कला का दर्शन कराकर भावमग्न करना चाहता है। भक्तिमार्ग के संबंध में यहाँ इतना निवेदन करने का मेरा अभिप्राय केवल इतना ही है कि सूर, तुलसी आदि भक्त कवियों की रचनाएँ भी रहस्यात्मक स्वप्न, आभास आदि की दृष्टि से न देखी जायँ, और उनसे तरह तरह के आध्यात्मिक अर्थ निकालने की बेजा हरकत न की जाय। भक्तिकाव्य भी काव्य ही है; और काव्य की तह में, जैसा कि मैं कहता आ रहा हूँ, इसी जगत् और जीवन की मार्मिक अनुभूतियाँ छिपी रहती हैं।

कविता के संबंध में मेरी धारणा बराबर से यही रही है कि वह एक ऐसी साधना है कि जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के शुद्ध रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह, तथा उसके हृदय का प्रसार और परिष्कार होता है। जब तक कोई अपनी पृथक् सत्ता की भावना को ऊपर किए जगत् के नाना रूपों और व्यापारों को अपने व्यक्तिगत योगक्षेम, हानि, लाभ, सुख दुःख आदि से संबद्ध करके देखता रहता है तब तक उसका हृदय एक प्रकार से बद्ध रहता है। इन रूपों और व्यापारों के सामने जब कभी वह अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से छूटकर—अपने आपको, बिलकुल भूलकर—विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है, तब वह मुक्त हृदय हो जाता है। जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्दविधान करती आई है वही कविता है। कविता के साथ 'आनंद' शब्द जुड़ा रहने से उसे विलास की सामग्री न समझना चाहिए। जो केवल अपने विलास या सुखभोग की सामग्री को ढूँढ़ा करते हैं उनमें उस रागात्मक 'सत्त्व' की कमी है जिसके द्वारा व्यक्त सत्ता मात्र के साथ मनुष्य अपने हृदय के सब भावों का—केवल प्रेम, हर्ष, आश्चर्य आदि का ही नहीं, करुणा, क्रोध, जुगुप्सा आदि का भी—ठीक और उपयुक्त संबंध घटित कर लेता है। इसी से हमारे यहाँ 'सत्वोद्रेक' के बिना सच्ची रसानुभूति नहीं मानी गई।

चिर प्रतिष्ठित काव्य के प्रकृत स्वरूप के संबंध में इतना कहकर अब मैं क्रोचे के 'अभिव्यंजनावाद' की उन छह बातों को लेता हूँ जो इस स्वरूप के विरुद्ध पड़ती हैं और जिनका प्रभाव इधर उधर हमारे वर्तमान साहित्यक्षेत्र में भी दिखाई पड़ने लगा है।

(1) प्रस्तुत के मार्मिक रूपविधान का त्याग और केवल प्रचुर अप्रस्तुत रूपविधान में ही प्रतिभा या कल्पना का प्रयोग।

उक्त वाद के अनुसार तो काव्य में प्रस्तुत पक्ष कुछ होता ही नहीं। प्रस्तुत पक्ष तो तब होगा जब काव्य की अभिव्यंजना का जगत् या जीवन की बातों से कोई संबंध होगा। जबकि किसी प्रकार का संबंध ही नहीं, जबकि अभिव्यंजना अध्यात्म जगत् से उठी हुई वस्तु है, तब कैसा प्रस्तुत? क्रोचे के अनुसार काव्य में जीवन की कुछ वस्तुएँ या बातें जो ले ली जाया करती हैं, वे केवल मसाले के रूप में अब, ये ही वस्तुएँ या बातें साहित्य में 'प्रस्तुत' कहलाती हैं। अतः जब इन वस्तुओं या बातों के प्रति किसी प्रकार की अनुभूति उत्पन्न करना काव्य का उद्देश्य ही नहीं तब इनको ऐसे मार्मिक रूप में रखने की आवश्यकता ही क्या जिससे उनके प्रति कोई भाव जगे। प्रस्तुत कहलानेवाली जीवन की वस्तुओं या बातों का तो सहारा मात्र कल्पना की एक नूतन सृष्टि खड़ी करने में लिया जाता है। अतः कवि की प्रतिभा या कल्पना का प्रयोग प्रस्तुत के मार्मिक प्रत्यक्षीकरण में नहीं उससे अलग विचित्र या रमणीय रूपविधान में है। प्रस्तुत से अलग रूपविधान ही अप्रस्तुत या उपमान कहलाता है। उपर्युक्त धारणा अँगरेजी के समीक्षाक्षेत्र में इतना जोर पकड़ गई है कि 'रूप विधान' (इमैजरी) शब्द का प्रयोग अप्रस्तुत रूपविधान के लिए ही होता है। श्रीयुत रवींद्रनाथ ठाकुर का काव्य के अलंकारों पर एक लेख मैंने कहीं देखा था जिसमें रूपविधान के संबंध में यही धारणा स्पष्ट लक्षित होती थी। उनके रूप और 'अरूप' नामक प्रबंध के अंतर्गत इस कथन में भी इसी का आभास पाया जाता है—

'मनुष्य की साहित्य शिल्प कला में हृदय का भाव रूप में धृत जरूर होता है, पर रूप में बद्ध नहीं होता। इसलिए वह केवल नए नए रूप के प्रवाह की सृष्टि करता है, इसीलिए प्रतिभा को नवनवोन्मेषिणी बुद्धि कहते हैं।' इसके आगे उन्होंने यह दृष्टांत दिया है—'मान लिया जाय कि पूर्णिमा की शुभ्ररात्रि का सौंदर्य देखकर किसी कवि ने वर्णन किया कि मानो सुरलोक से नीलकांत मणिमय प्रांगण में सुरांगनाएँ नंदन की नवमल्लिका की फूलशय्या।'

यह उद्धरण मैंने केवल यह दिखाने के लिए दिया है कि ठाकुर महोदय भी प्रतिभा का प्रयोग अप्रस्तुत विधान में ही समझते हैं। उनके उपर्युक्त वचन क्रोचे की इस बात का समर्थन नहीं करते हैं कि काव्य में न कोई प्रस्तुत पक्ष होता है, न उसके प्रति हृदय की कोई अनुभूति। यहाँ उन्होंने स्पष्ट रीति से प्रस्तुत वस्तु 'रात्रि'

में सौंदर्य माना है, और उसके प्रति हृदय में प्रिय भाव का उदय कहा है। अतः जो लोग विलायती समीक्षाओं में से इधर उधर के ऐसे वाक्य लेकर कि 'काव्य का विषय क्या?' 'काव्य का अर्थ क्या?' अपनी जानकारी प्रकट किया करते हैं उन्हें ठाकुर महोदय के इस कथन पर ध्यान देना चाहिए।

यहाँ मेरा अभिप्राय केवल इस धारणा को असंगत सिद्ध करने का है कि काव्य में प्रतिभा या कल्पना का काम केवल ढूँढ़ ढूँढ़कर, या अपनी अंतरात्मा में से निकाल निकालकर, तरह तरह के अप्रस्तुत रूपों का विधान करना ही है। यह तो हमारे यहाँ का वही पुराना 'अलंकारवाद' ही हुआ जो थोड़ा रूप बदलकर और अलंकार शब्द को हटाकर प्रकट हुआ है। क्या रूप बदला है, यह मैं अलंकार के प्रसंग में सूचित करूँगा। जो अप्रस्तुत रूपविधान या उपमानों की योजना में ही प्रतिभा का प्रयोग और काव्यत्व मानेंगे उनके निकट वाल्मीकि का हेमंतवर्णन, कालिदास का मेघदूत, वर्ड्सवर्थ के सीधे सीधे रूप में चित्रित बिना तड़क भड़कवाले सामान्य ग्रामीण दृश्य काव्य ही न ठहरेंगे। मेघदूत न कल्पना की कोरी उड़ान है, न कला की विचित्रता। वह है प्राचीन भारत के सबसे भावुक हृदय का अपनी प्यारी भूमि की रूपमाधुरी पर सीधीसादी प्रेमदृष्टि। क्या 'त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविकारानभिज्ञैः, त्वामारूढं पवनपदवीम्, 'विश्रांतस्सन् ब्रज वननदीतीर जातानि सिंचन्' इत्यादि प्रस्तुत रूपविधान काव्य नहीं? जिन्हें इनमें काव्य न दिखाई पड़े उनके संबंध में समझना चाहिए कि वे बरातों में निकलनेवाली कागज की फुलवारी को काव्य समझ बैठे हैं। वे केवल तमाशबीन हैं।

प्रस्तुत पक्ष का रूपविधान भी कवि की प्रतिभा द्वारा ही होता है। भाव की प्रेरणा से नाना रूपसंस्कार जग पड़ते हैं जिनका अपनी प्रतिभा या कल्पना द्वारा समन्वय करके कवि प्रस्तुत वस्तुओं या तथ्यों का एक मार्मिक दृश्य खड़ा करता है। काव्य में प्रतिभा या कल्पना का मैं यह पहला काम समझता हूँ। जो नाना प्रकार के अप्रस्तुत उपमान जोड़ने में ही काव्य समझेंगे उनके हृदय पर प्रकृति की नाना वस्तुओं और व्यापारों का कोई मार्मिक प्रभाव न रह जायगा। वे मार्मिक से मार्मिक प्रत्यक्ष दृश्य के सामने वार्निश किए हुए काठ के कुंदे या गढ़ी हुई पत्थर की मूर्ति के सामने खड़े रह जायँगे। ऐसे लोगों के द्वारा काव्य का विभाव पक्ष ही ध्वस्त हो जायगा।

अप्रस्तुत योजना पर ही अधिक ध्यान देने की प्रवृत्ति आजकल की नई रंगत की कविताओं में भी दिखाई पड़ रही है। पं. सुमित्रानंदन पंत ऐसे कवियों पर भी, जो जगत् और जीवन की मार्मिक अनुभूतियों से संपन्न हैं; 'अभिव्यंजनावाद' से निकली हुई इस प्रवृत्ति का प्रभाव कहीं कहीं अधिक मात्रा में दिखाई पड़ जाता है, जैसे— उनकी 'छाया' नाम की कविता में।

(2) जीवन के किसी मार्मिक पक्ष को लेकर सच्ची भावानुभूति में लीन करने का प्रयास छोड़, अभिव्यंजनावाद या उक्ति में वैलक्षण्य लाने का प्रयास।

क्रोचे का 'अभिव्यंजनावाद' सच पूछिए तो एक प्रकार का 'वक्रोक्तिवाद' है। संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में भी कुंतक नाम के एक आचार्य 'वक्रोक्तिःकाव्य जीवितम' कह उठे थे। उनकी दृष्टि में भी 'उक्ति की वक्रता' ही काव्य है। वक्रता काव्य में अपेक्षित अवश्य होती है, पर वहीं तक जहाँ तक उससे हृदय की किसी अनुभूति का संबंध होता है। यों ही बोध मात्र कराने के लिए जिस रूप में बात कही जाती है उसी रूप में रखने से भावानुभूति नहीं जगती। बात को ऐसे रूप में रखना पड़ता है जो भाव जगाने में समर्थ हो। इसी से कहा गया है कि 'इतिवृत्तमात्र निवहिणनात्मपदलाभः।' इस रूप में बात बिना अलंकार के, बिना किसी प्रकार की अप्रस्तुत योजना के भी कही जा सकती है। इसी से 'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण' में अलंकार काव्य का कोई नित्य अंग नहीं माना गया है। प्रस्तुत बातें ज्यों की त्यों सादे रूप में भी आकर भाव की बहुत अच्छी और स्वाभाविक व्यंजना कर देती हैं, जैसे ठाकुर कवि का सवैया लीजिए—

वा निरमोहिनी रूप की रासि जऊ उर हेतु न ठानति ह्वैहै,
बारहिं बार बिलोकि घरी घरी सूरति तो पहिचानति ह्वैहै।
ठाकुर या मन की परतीति है जौ पै सनेह न मानति ह्वैहै,
आवत हैं नित मेरे लिए इतनो तो विसेष कै जानति ह्वैहै॥

इसमें अपने प्रेम का परिचय देने के लिए आतुर किसी नए प्रेमी के चित्त के 'वितर्क' की कैसी सीधीसादी व्यंजना है। इसमें आई हुई बातें प्रस्तुत होने पर भी 'इतिवृत्त मात्र' की दृष्टि से फालतू हैं। 'इतिवृत्त' का मतलब है 'इतनी ही तो बात है'। 'इतनी ही तो बात है' कहनेवाला व्यर्थ वे सब बातें न कहने जायगा जो सवैये में हैं।

भावना को गोचर और सजीव रूप देने के लिए, भाव की विमुक्ति और स्वच्छंद गति के लिए काव्य में वक्रता या वैचित्र्य अत्यंत प्रयोजनीय वस्तु है, इसमें संदेह नहीं। 'खड़ी बोली' की कविता जिस रूखी चेष्टा के साथ खड़ी हुई थी, उसमें काव्य की झलक बहुत कम थी। खड़ी बोली की कविताओं में उपमा, रूपक आदि के ढाँचे तो रहते थे पर लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और भाषा की विमुक्त स्वच्छंद गति दिखाई नहीं देती थी। 'अभिव्यंजनावाद' के कारण योरप के काव्यक्षेत्र में उत्पन्न वक्रोक्ति या वैचित्र्य की प्रवृत्ति जो हिन्दी के वर्तमान काव्यक्षेत्र में आई उससे खड़ी बोली की कविता की व्यंजनाप्रणाली में बहुत कुछ सजीवता और स्वच्छंदता आई। लक्षणाओं के अधिक प्रचार से काव्यभाषा की व्यंजकता अवश्य बढ़ रही है। दूसरी अच्छी बात यह हुई कि अप्रस्तुतों या उपमानों के रखने में केवल सादृश्य, साधर्म्य पर दृष्टि न रहकर उसके द्वारा उत्पन्न प्रभाव पर अधिक रहने लगी।

पर यह सब शुभ लक्षण देखकर जितना संतोष होता है उससे शायद ही कुछ कम खेद यह देखकर होता है कि अधिकतर लोग केवल वक्रता या अभिव्यंजना की विचित्रता को ही सब कुछ मानने लगे हैं। जीवन की अनेक मार्मिक दशाओं, जगत् की अनेक मार्मिक परिस्थितियों के उद्घाटन द्वारा भावों में मग्न करने में कवियों की वाणी तत्पर नहीं दिखाई दे रही है। अतः वर्तमान रचनाओं का बहुत सा भाग जीवन से विच्छिन्न सा दिखाई पड़ता है।

(3) जीवन की विविध मार्मिक दशाओं को प्रत्यक्ष करनेवाले प्रबंधकाव्यों की ओर से उदासीनता और मुक्तकों—विशेषतः प्रेमोद्गारपूर्ण प्रगीत मुक्तकों (लिरिक्स)—की ओर अत्यंत अधिक प्रवृत्ति।

यह योरप के वर्तमान काव्यक्षेत्र की बहुत व्यापक क्या सामान्य प्रवृत्ति है जिसके कारण वहाँ बहुत दिनों से सफल महाकाव्य के दर्शन दुर्लभ हो गए हैं। मिल्टन, दाँते और गेटे की रचनाएँ ही अंतिम के समान दिखाई पड़ रही हैं; शेली के समय से लेकर अब तक महाकाव्य के लिए प्रयत्न तो होते रहे, पर सफल नहीं हुए। बात यह है कि प्रवृत्ति अंतर्वृत्तिनिरूपक (सब्जेक्टिव) प्रगीत मुक्तकों की ओर ही अधिक हो जाने के कारण वाह्यर्थनिरूपिणी (आब्जेक्टिव) प्रतिभा का ह्रास हो गया और छोटी छोटी फुटकल रचनाओं के अभ्यास के कारण किसी सुव्यवस्थित, भव्य और विशाल आयोजन की क्षमता जाती रही। इस संबंध में डॉ. डब्ल्यू. पी. केर की बात ध्यान देने योग्य है। योरप में महाकाव्य के ह्रास के कारणों का विचार करते हुए वे एक बड़ा भारी कारण उपन्यासों का चलन बताते हैं। उपन्यासों का बहुत कुछ आकर्षण संवादों में—बातचीत के रंग ढंग से होता है। इस बात में पद्यबद्ध कथाकाव्य उसका सामना नहीं कर सकते। पर आधुनिक प्रबंधकाव्यों के प्रयासी प्रायः संवादों को ही, आकर्षण की वस्तु समझ, प्रधानता दिया करते हैं। कथाप्रवाह को मार्मिक बनाने का प्रयत्न वे नहीं करते।[1]

इधर पंद्रह वर्ष के भीतर हिन्दीसाहित्य क्षेत्र को लें तो डॉ. केर की बात बहुत कुछ ठीक घटती पाई जायगी। बात यह है कि यदि एक जगह की प्रवृत्ति दूसरी जगह पहुँचाई जायगी तो उसके साथ लगी हुई भलाई या बुराई भी। मैथिलीशरणजी गुप्त के 'साकेत' को लीजिए जिसे काव्य की दृष्टि में मैं खड़ी बोली की अत्यंत प्रौढ़ रचना मानता हूँ, उसमें पुराने ढाँचे का शब्दकौशलपूर्ण चमत्कार और नए ढंग की अभिव्यंजना का वैचित्र्य दोनों प्रचुर परिमाण में पाए जाते हैं। दोनों का सुंदर

---

1. मोस्ट आव दि ग्रेट सक्सेसेज इन प्रोजनरेटिव आर वन थ्रू डायलाग, नाट थ्रू प्योर नरेटिव। हियर वर्स कैनाट कंपीट नरेटिव पोएट्री मस्ट रिलाई फार मोर दैन दि नावेल आन प्योर नरेटिव। नरेटिव पोएट्री हैविंग टु रिलाई ग्रेटली अपान प्योर नरेटिव मस्ट गिव अप मोस्ट आव दि ओपेनिंग्ज यूज्ड सो फाइनली बाइ दि ग्रेट प्रोज स्टोरी टेलर। —डब्ल्यू. पी. केर।

मेल उस काव्य की विशेषता है। पर खेद है कि एक बड़ा प्रबंधकाव्य या महाकाव्य लिखने की इच्छा उन्हें उस समय हुई जब उनकी प्रवृत्ति देखादेखी अँगरेजी ढंग के फुटकल प्रगीतकाव्यों (लिरिक्स) की ओर हो चुकी थी। इससे प्रबंधकाव्य के अवयवों के—जीवन की विविध दशाएँ सामने लानेवाले घटनाचक्र, वस्तुवर्णन, संवाद और भावव्यंजना के ठीक ठीक परिमाण की व्यवस्था वे न रख सके। संवाद और भावव्यंजना, इन्हीं दो अवयवों की प्रधानता हो गई। दो सर्ग तो उर्मिला के वियोग की नाना दशाओं की व्यंजना में ही लग गए। कथाप्रवाह या संबंधनिर्वाह बहुत कम पाया जाता है। कथाप्रवाह या संबंधनिर्वाह प्रबंधकाव्य की पहली वस्तु है, जैसा कि माघ कवि ने कहा है—

बह्वपि स्वेच्छया कामं प्रकीर्णमभिधीयते।
अनुज्झितार्थसम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः॥

पर डॉ. केर ने महाकाव्य रचने की असफलता का कारण जो उपन्यासों का प्रचार बताया है, वह ठीक तो है, पर अकेला नहीं। इस असफलता का मुख्य कारण है कलावाद; 'अभिव्यंजनावाद' आदि के प्रभाव से प्रगीत मुक्तकों की ओर ही कवियों का टूट पड़ना। हिन्दी साहित्य के इतिहास में भी प्रबंधकाव्यों की रचना भक्तिकाल के भीतर ही विशद रूप से मिलती है। रीतिकाल प्रकीर्णकों या मुक्तकों का काल था। तब से बराबर हिन्दी में भी फुटकल रचनाओं के अभ्यासी कवि चले आए, इससे अच्छे प्रबंधकाव्य न बन सके।

पहले रीतिकाल की फुटकल रचनाओं के अभ्यास से प्रबंधकाव्य का मार्ग रुका रहा अब आजकल प्रगीत मुक्तकों (लिरिक्स) की योरपीय प्रवृत्ति के अनुसरण से उसके मार्ग में बाधा पड़ रही है। उपन्यासों के प्रचार को मैं वैसा बाधक नहीं समझता।

(4) असीम, अनंत ऐसे शब्दों द्वारा रचनाओं पर आध्यात्मिक रंग चढ़ाने की प्रवृत्ति।

जो रचनाएँ वस्तुतः रहस्यवाद को लेकर चलें उनमें तो आध्यात्मिक पुट आवश्यक ही है। उनको एक सांप्रदायिक परंपरा के अंतर्गत मानकर अलग ही छोड़ देना चाहिए। पर नए ढंग की जितनी कविताएँ बनें सबके भीतर कहीं न कहीं असीम, अनंत को संपुटित करने की मैं कोई जरूरत नहीं समझता। मैं कई बार कह चुका हूँ कि आजकल जितनी कविताएँ 'छायावाद' की कही जाती हैं उनमें से अधिकांश का 'रहस्यवाद' से कोई संबंध ही नहीं। 'छायावाद' शब्द किस प्रकार रहस्यवाद सूचक है, यह मैं दिखा आया हूँ। अतः नई रंगत की कविता के लिए मैं यह शब्द ठीक नहीं समझता। श्रीयुत पं. सुमित्रानंदन पंत की प्रायः सब कविताएँ जगत् और जीवन के किसी मार्मिक पक्ष से संबंध रखती हैं। श्री जयशंकर प्रसादजी की वाणी भी या तो वेदना की विवृत्ति में अथवा सुख सौंदर्य और रमणीयता की अनुभूति

उत्पन्न करने में लीन देखी जाती है। इधर उधर स्वप्न, छाया, मद, मदिर आदि रहस्यवाद के कुछ रूढ़ शब्दों और कहीं कहीं अनंत असीम की ओर संकेतों के रहने से ही कविता रहस्यवाद की नहीं हो जाती। नई पद्धति की कविताओं की सामान्य आकर्षक विशेषता व्यंजना की प्रणाली में है। वह प्रणाली हमारे कुछ नवीन कुशल कवियों के हाथ में स्वतंत्र विकास कर रही है। अतः अब उस पर से 'छायावाद' के नाम की विलायती बंगला मुहर हट जानी चाहिए।

रवींद्र बाबू यदि अनंत की ओर ताका करें तो यह आवश्यक नहीं कि सबकी टकटकी उसी ओर लगे। उनको तो मैं एक बड़ा भारी आलंकारिक मानता हूँ। किसी बात को जितने अधिक विलक्षण और व्यंजक शब्दों में वे लपेट सकते हैं, दूसरा नहीं। उनके लाए हुए अप्रस्तुत रूप अद्भुत दीप्ति के साथ अर्थ और भाव का प्रकाश करते हैं। इतना होने पर भी उनकी जिन रचनाओं में 'आध्यात्मिक' अदा विशेष रहती है उनकी तह में अनुभूति की कोई नवीन भूमि नहीं मिलती। वही रूप की क्षणभंगुरता, ससीम का असीम के साथ मिलन आदि दिखाई पड़ता है। पर जो कविताएँ जगत् या जीवन की किसी मार्मिक वस्तु या तथ्य को लेकर अथवा लोकवाद के साथ समन्वित होकर चली हैं वे अत्यंत हृदयग्राहिणी हैं। उदाहरण के लिए 'ताजमहल' को लक्ष्य करके लिखी हुई कविता लीजिए, जिसमें कवि शाहजहाँ को इस प्रकार संबोधित करके—

हे सम्राट् कवि, एइ तव हृदयेर छवि,
एइ तव नव मेघदूत, अपूर्व अद्भुत।

कहता है—'हीरा, मोती और माणिक की घटा, शून्य दिगंत के इंद्रजाल इंद्रधनुष की छटा की भाँति यदि लुप्त हो जाती है तो हो जाय, केवल एक बूँद आँखों का आँसू—यह शुभ्र, समुज्ज्वल ताजमहल'—काल के कपोलप्रांत पर बचा रहे।

कहने का तात्पर्य यह है कि वर्तमान काव्य और समीक्षा दोनों के क्षेत्र में 'आध्यात्मिक' शब्द भी बहुत से निरर्थक वाग्जाल का कारण हो रहा है। इसके कारण अनुभूति की सच्चाई (सिंसिऐरिटी) की भी कम परवा की जा रही है।

(5) 'कला' शब्द के कारण काव्य के स्वरूप के संबंध में शिल्पवाली, बेलबूटे और नक्काशीवाली हल्की धारणा।

इसके संबधं में पहले बहुत कुछ कहा जा चुका है। यह देखकर खेद होता है कि इस हलकी धारणा का प्रचार बढ़ता जाता है। कारण यह है कि बड़े लोगों की ओर से भी बीच बीच में इसे सहारा मिलता जाता है। श्री रवींद्रनाथ ठाकुर पर भी इस धारणा का पूरा प्रभाव जान पड़ता है। वे भी कभी तो शिल्प के अंतर्गत काव्य को भी ले लेते हैं और कभी शिल्प साहित्य एक साँस में कह जाते हैं। मैं फिर भी जोर के साथ कहता हूँ कि यदि काव्य के प्रकृत स्वरूप की रक्षा इष्ट है, तो उसका 'पीछा' इस 'कला' शब्द से जहाँ तक शीघ्र छुड़ाया जाय अच्छा।

(अपने भाषण के आरंभ में ही मैंने अपनी अयोग्यता प्रमाणित करने का वचन दिया था। कम से कम मैंने इतना तो अवश्य सिद्ध कर दिया कि मेरा इस परिषद् का सभासद चुना जाना 'कला की दृष्टि से', अनुपयुक्त हुआ।)

आजकल की नई रचनाओं में कुछ दूर तक चलनेवाली संश्लिष्ट रूप योजना तथा भावनाओं की अन्विति (यूनिटी) का जो अभाव पाया जाता है उसकी जवाबदेही भी मैं कलावाद, ही के सिर मढ़ना चाहता हूँ।

(6) समालोचना का हवाई होना और विचारशीलता का ह्रास।

इसके संबंध में भी पीछे बहुत कुछ कहा जा चुका है। यहाँ इतना ही कहना है कि विचारशीलता के ह्रास से पुष्ट और समर्थ साहित्य का विकास रुक जायगा। भारतवर्ष का संपर्क संसार के और भागों में बढ़ रहा है। **यदि हममें विवेक बल रहेगा तो हम चारों ओर से उपयोगी और पोषक सामग्री लेकर और पचाकर अपने साहित्य को पुष्ट और दृढ़ करेंगे। यदि यह विवेकबल न रहेगा तो जैसे अनेक प्रकार के विदेशी लोगों ने आकर यहाँ अड्डा जमा लिया है, वैसे ही अनेक प्रकार की व्याधियाँ आकर हमारे साहित्य को ग्रस लेंगी और उसका स्वतंत्र विकास रुक जायगा।**

यहाँ तक तो 'कलावाद' और 'अभिव्यंजनावाद' के भले बुरे प्रभाव का वर्णन हुआ। अब मैं अपने यहाँ की साहित्य मीमांसा पद्धति के संबंध में दो चार बातें निवेदन कर देना चाहता हूँ। शब्दशक्ति के प्रसंग में कह आया हूँ कि इस पद्धति पर चलकर हम सारे संसार के नए पुराने काव्य की बहुत सी स्पष्ट और स्वच्छ समीक्षा कर सकते हैं। मैं अब अधिक समय न लेकर रस, रीति और अलंकार के संबंध में कुछ अपने विचार प्रकट करूँगा।

पहले 'रस' लीजिए। इसका निरूपण बहुत ही व्यवस्थित रूप में हुआ है। स्थायी संचारी का भेद बहुत ही मार्मिक और सूक्ष्म दृष्टि से वैज्ञानिक आधार पर हुआ है, क्योंकि कुछ भाव स्थायी कहे गए और कुछ संचारी। अच्छी तरह विचार करने पर भेद का आधार मिल जाता है। स्थायी वे ही भाव माने गए हैं जो संक्रामक हैं, जिनकी, व्यंजना श्रोता या पाठक में उन्हीं भावों का संचार कर सकती है।

मनोविज्ञान में भावों की प्रधानता और स्थायित्व का जो विचार किया गया है वह दूसरी दृष्टि से। भावों के वर्गीकरण आदि की हमारे यहाँ बहुत अच्छी व्यवस्था हुई। पर इसका मतलब यह नहीं कि उत्तरोत्तर बढ़ती हुई विचारपरंपरा द्वारा उसकी और उन्नति, परिष्कृति और संशोधन न हो। स्थायित्व की ही बात लीजिए। अच्छी तरह ध्यान देने पर यह पता लगेगा कि भाव की तीन दशाएँ होती हैं—क्षणिक दशा, स्थायी दशा और शील दशा। किसी भाव की क्षणिक दशा अनेक अवसर पर एक आलंबन के प्रति होती है, स्थायी दशा अनेक अवसरों पर एक ही आलंबन के प्रति होती है और शीलदशा अनेक आलंबनों के प्रति होती है। क्षणिक दशा मुक्तक रचनाओं में देखी जाती है; स्थायी दशा महाकाव्य, खंडकाव्य आदि प्रबंधों में और

शीलदशा पत्रों के चरित्रचित्रण में। इतना मैंने केवल उदाहरण के लिए कहा है। साहित्यक्षेत्र की इन सब बातों का विचार मैंने एक अलग ग्रंथ में किया है जो समय पर प्रकाशित होगा।

इसके अंतर्गत हमारे यहाँ बड़े महत्त्व का सिद्धांत 'साधारणीकरण' का है। 'साधारणीकरण' का सीधे शब्दों में अर्थ है–श्रोता का भी उसी भाव में मग्न होना जिस भाव की कोई काव्यगत पात्र (या कवि) व्यंजना कर रहा है। यह दशा तो रस की 'उत्तम दशा' है। पर रस की एक 'मध्यम दशा' भी होती है जिसमें पात्र द्वारा व्यंजित भाव में श्रोता का हृदय योग न देकर उस पात्र के प्रति किसी विपरीत भाव का अनुभव करने लगता है। जैसे कोई क्रोधी या क्रूर प्रकृति का पात्र यदि किसी निरपराध, दीन और अनाथ पर क्रोध की प्रबल व्यंजना कर रहा है तो श्रोता या पाठक के मन में क्रोध का रसात्मक संचार न होगा, बल्कि क्रोध प्रदर्शित करनेवाले उस पात्र के प्रति अश्रद्धा, घृणा आदि का भाव जग सकता है। यह भी एक प्रकार की रसात्मक अनुभूति ही है, पर मध्यम कोटि की। अतः प्रकृति के वैचित्र्यप्रदर्शन की दृष्टि से लिखे हुए पाश्चात्य नाटकों से इसी प्रकार की अनुभूति होगी। पर हमारे यहाँ के पुराने नाटकों में रस की प्रधानता रहने से 'साधारणीकरण' अधिक अपेक्षित होता है।

'चमत्कारवादियों' के कुतूहल को भी काव्यानुभूति के अंतर्गत ले लेने पर रसानुभूति की क्रमशः उत्तम, मध्यम और निकृष्ट तीन दशाएँ हो जाती हैं।

अब अलंकार लीजिए। अलंकारों में अधिकतर साम्यमूलक अलंकार ही अधिक चलते हैं। अतः इस साम्य के संबंध में थोड़ा विवेचन कर लेना चाहिए। हमारे यहाँ साम्य मुख्यतः तीन प्रकार के माने गए हैं–सादृश्य (रूप की समानता), साधर्म्य (धर्म अर्थात् गुण, क्रिया आदि की समानता) तथा शब्दसाम्य (केवल शब्द या नाम के आधार पर समानता)। इनमें से तीसरे को लेकर तमाशे खड़े करना तो केशव ऐसे चमत्कारवादी कवियों का काम है। प्रथम दो के संबंध में ही कुछ निवेदन करने की आवश्यकता है। सादृश्य के संबंध में पहली बात ध्यान में रखने की यह है कि काव्य में उसकी योजना बोध या जानकारी कराने के लिए नहीं की जाती है, बल्कि सौंदर्य, माधुर्य, भीषणता इत्यादि की भावना जगाने के लिए की जाती है, जैसे–किसी क्रुद्ध व्यक्ति की आँखों के संबंध में यही कहा जायगा कि 'वे अंगारे सी लाल हैं' यह नहीं कहा जायगा कि 'कमल के समान लाल हैं'।

इस बात का स्पष्ट शब्दों में निर्देश न होने से बहुत से कवियों ने केवल सादृश्य को–रूपरंग की समानता को पकड़कर सुंदर वस्तुओं के कुछ भद्दे उपमान खड़े कर दिए हैं, जैसे–केवल पतलापन लेकर कटि की उपमा भिड़ की कमर या सिंहनी की कमर से दे दी; यह न सोचा कि भिड़ की कमर का चित्र कल्पना में आने से किसी प्रकार की सौंदर्यभावना पहले से जगी भी होगी तो वह भी भाग खड़ी होगी। तात्पर्य

यह कि काव्य में जो अप्रस्तुत वस्तुएँ (उपमान) लाई जाती हैं वे यह देखकर कि उनके द्वारा प्रस्तुत के संबंध में सौंदर्य, माधुर्य आदि की भावना में कुछ वृद्धि होगी। अतः प्रभावसाम्य पहले देख लेना चाहिए।

बड़े हर्ष की बात है कि हिन्दी की वर्तमान नए ढंग की कविताओं में विशेषतः प्रभावसाम्य पर ही दृष्टि रखी जाती है। सादृश्य अत्यंत अल्प या न रहने पर भी केवल प्रभावसाम्य का हलका सा संकेत लेकर ही अप्रस्तुत की बेधड़क योजना कर दी जाती है। कुछ उदाहरण लीजिए–

'पल्लव' से–

(1) **इंद्रधनु सा आशा का सेतु; अनिल में अटका कभी अछोर।**
(साम्य के आधार–विविधता, आधार की सूक्ष्मता)

(2) **नवोढ़ा बाल लहर।**
(साम्य का आधार–लज्जा से खिसकना या सिकुड़ना)

(3) **सिसकते हैं समुद्र से मन।**
(साम्य का आधार–सिसकने का शब्द नहीं, सिसकने में छाती नीचे ऊपर होना मात्र)।

'आँसू' से–

(1) **उनका सुख नाच रहा था,**
दुख द्रुमदल के हिलने से।
शृंगार चमकता उनका।
मेरी करुणा मिलने से।
(विरहव्यथा का क्षोभ = द्रुमदल का हिलना)

अभिप्राय यह है कि प्रेमी जितना ही विकल होता है प्रेमपात्र अपने सौंदर्य का प्रभाव देख उतना ही प्रसन्न होता है। प्रेमी रोकर जितना ही आँसू गिराता है उतना ही मानो प्रेमपात्र का सौंदर्य धुलकर निखरता आता है अर्थात् लोगों की दृष्टि में उसकी सुंदरता और भी अधिक दिखाई पड़ती जाती है।

(2) **जल उठा स्नेह दीपक सा**
नवनीत हृदय था मेरा।
अब शेष धूमरेखा से
चित्रित कर रहा अँधेरा।
(धूमरेखा = बातों की धुँधली स्मृति। अँधेरा = हृदय का अंधकार या शून्यता)

अभिप्राय यह है कि प्रिय के रहने पर हृदय अंधकारमय या शून्य हो गया, उसके बीच केवल धुँधली पुरानी स्मृतियाँ इस प्रकार उठ उठकर घूम रही हैं जिस प्रकार दीपक बुझने पर धुएँ की रेखा अँधेरे में उठ उठकर अनेक बल खाती घूमती है।

प्रभाव और रमणीयता पर दृष्टि रखकर कुछ हमारे पुराने कवियों ने भी अत्यंत मार्मिक और सुंदर अप्रस्तुत योजना की है, जैसे सूरदासजी ने इस पद में –

ज्यों चकई प्रतिबिंब देखि के आनंदी पिय जानि।
सूर पवन मिस निठुर बिधाता चपल कियो जल आनि॥

थोड़े से हेर फेर के साथ यही भावना पंतजी की इन पंक्तियों में है–

मिले थे दो मानस अज्ञात,
स्नेह शशि बिंबित था भरपूर।
अनिल सा कर अकरुण आघात,
प्रेम प्रतिमा कर दी वह चूर॥

काव्य के वर्तमान समीक्षकों की दृष्टि में दबी हुई या प्रच्छन्न अप्रस्तुत योजना जिसे हमारे यहाँ व्यंग्य रूपक कहेंगे, बहुत उत्कृष्ट मानी जाती है; जैसा कि जायसी की इस उक्ति में है–

हीरा लेइ सो विद्रुम धारा। बिहँसत जगत भएउ उजियारा।

यह पद्मिनी के ओठों और दाँतों का वर्णन है, जिसमें अप्रस्तुत प्रभात का रूप बिलकुल छिपा हुआ है। पद्मिनी के हँसने पर दाँतों की उज्ज्वल आभा अधरों की अरुण आभा लेकर जब फैलती है तब सारा संसार प्रकाशित या प्रफुल्ल हो जाता है, उसी प्रकार जैसे प्रभात काल की श्वेत अरुण आभा फैलने से भूमंडल प्रकाशित हो जाता है। इसी प्रकार वर्षा का व्यंग्य रूपक पंतजी के इस पद्य में है–

जब निरस्त्र त्रिभुवन का यौवन
गिरकर प्रबल तृषा के भार,
रोमावलि की शरशय्या में
तड़प तड़प करता चीत्कार,
हरते हो तब तुम जग का दुःख
बहा प्रेम सुरसरि की धार।

अप्रस्तुत विधान के नए ढंग का अच्छा निरूपण आजकल के दो प्रतिनिधि कवियों की इन पंक्तियों से हो जाता है–

(क) **सुरीले ढीले अधरों बीच**
अधूरा उनका लचका गान;
बिकच बचपन को, मन को खींच
उचित बन जाता था उपमान। –पंत

(इसमें कहा गया है कि उस बालिका का गान ही बाल्यावस्था और उसके भोले मन का उपमान बन जाता था अर्थात् वह गान स्वतः शैशव और उसकी उमंग ही था। उसमें उपमान उपमेय के बीच व्यंग्य व्यंजक भाव का ही संबंध है, रूप साम्य कुछ भी नहीं।)

(ख) कामना कला की बिकसी
कमनीय मूर्ति ही तेरी;
खिंचती अब हृदय पटल पर
अभिलाषा बनकर मेरी। **—प्रसाद**

(कला सौंदर्य का विधान करती है! स्वयं कला के मन में जो सौंदर्य की भावना है वही मानो तेरे रूप से मूर्त होकर व्यक्त हुई है, और इधर मेरे मन में उस रूपदर्शन का अभिलाष रूप रमणीय भाव बनी है। इस प्रकार 'आश्रय' और 'आलंबन; दोनों का विधान हो गया। इसमें भी वही व्यंग्य व्यंजक भाव का संबंध है।)

ये दोनों उक्तियाँ इस बात का पूरा संकेत करती हैं कि किस प्रकार अप्रस्तुत विधान में व्यंजकता पर ही मुख्य दृष्टि रखी जाती है।

नए ढंग की कविता की सबसे बड़ी विशेषता है लाक्षणिकता। कुछ वस्तुओं का प्रतीकवत् (सिंबल्स) ग्रहण भी इसी के अंतर्गत आ जाता है। लक्षणा का पेट बहुत गहरा है। नए ढंग की कविताओं के भीतर यहाँ से वहाँ तक लक्षणाएँ भरी मिलेंगी—उपादान लक्षणा भी, लक्षण लक्षणा भी; जैसे--

(1) **मर्म पीड़ा के हास।**

(हास=पूर्ण विकसित या प्रबुद्ध रूप। पीड़ा और हास के विरोध के कारण 'विरोधाभास' का भी चमत्कार है।)

(2) **चाँदनी का स्वभाव में भास।**
विचारों में बच्चों की साँस।

(चाँदनी=स्वच्छता, शीतलता और मृदुलता। बच्चों की साँस=भोलापन)।

(3) **स्नेह का वासंती संसार,**
पुनः उच्छ्‌वासों का आकाश।

(वासंती संसार = संयोग की सुख दशा। आकाश = शून्य जीवन। वसंत के पीछे ताप और बगोले भरे ग्रीष्म का अप्रस्तुत रूप भी छिपा हुआ है।)

व्यंजना की इन पद्धतियों में ही कहीं अँगरेजी भाषा की शैली ज्यों की त्यों मिलती है, जैसे—'बच्चों के तुतले भय सी' तुतले=तुतली बोली में व्यंजित)।

इस प्रकार का अनुकरण मैं अच्छा नहीं समझता। कहीं कहीं इससे उक्ति बिलकुल अजनबी हो जाती है, जैसे—'विचारों में बच्चों की साँस'। जो अँगरेजी के 'इनोसेंट ब्रेथ' से परिचित नहीं, वे इसे लेकर व्यर्थ हैरान होंगे। रचना करते समय इस बात का ध्यान पहले रहना चाहिए कि जो कुछ मैं लिख रहा हूँ, हिन्दी पढ़े लोगों के लिए लिख रहा हूँ, अँगरेजी पढ़े लोगों के लिए नहीं। एक दिन मैंने देखा कि मेरे एक मित्र हिन्दी की एक मासिक पत्रिका लिए बैठे हैं। निकट आया, तब देखा कि उनके सामने एक कविता

खुली है। उन्होंने मुझे देखते ही उसकी पहली ही पंक्ति पर उँगली रखकर कहा कि 'देखिए तो यह क्या है'। वह पंक्ति इस प्रकार थी–

मेरे जीवन के अंतिम पाहन।

मैंने कहा यह कुछ नहीं, अँगरेजी का लास्ट माइलस्टोन है।

अब 'रीति' की बात लीजिए। 'रीति' का विधान शुद्ध नाद का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए हुआ है। इसी दृष्टि से कोमल रसों में कोमल वर्णों और रौद्र भयानक आदि उग्र और कठोर रसों में परुष और कर्कश वर्णों का प्रयोग अच्छा बताया गया है। पर इसका मतलब यह नहीं कि 'मंजु मंजुल, प्रांजल' तथा उद्दंड, प्रचंड, मार्तंड' लिखकर ही काव्य की सिद्धि समझ ली जाए। इसका मतलब इतना ही है कि पूर्ण प्रभाव उत्पन्न करने के लिए काव्य बहुत कुछ संगीत तत्त्व का भी सहारा लेता है। बहुत सी रचनाएँ तो केवल पदलालित्य और छंद की मधुरता के कारण ही लोकप्रिय हो जाती हैं। संस्कृत साहित्य में रीति पर सबसे ज्यादा जोर देनेवाले वामन हुए हैं।

पर 'रीति' को बिलकुल एक पुरानी बात समझकर टालना न चाहिए। अभी एक प्रकार का फरांसीसी रीतिवाद (फ्रेंच इंप्रेशनिज्म) बड़े जोर शोर से चला है, जिसमें शब्दों के अर्थों पर उतना जोर न देकर उनकी नाद शक्ति पर ही अधिक ध्यान देने का आग्रह किया गया है। इसका थोड़ा सा परिचय मैं आगे दूँगा।

शब्दशक्ति, रस, रीति और अलंकार–अपने यहाँ की ये बातें काव्य की स्पष्ट और स्वच्छ मीमांसा में कितने काम की हैं, मैं समझता हूँ, इसके संबंध में अब और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। देशी विदेशी, नई पुरानी सब प्रकार की कविताओं की समीक्षा का मार्ग, इनका सहारा लेने से सुगम होगा। आवश्यकता इस बात की है कि उत्तरोत्तर नवीन विचारपरंपरा द्वारा इन पद्धतियों की परिष्कृति, उन्नति और समृद्धि होती रहे। पर यह हो कैसे? वर्तमान हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में कुछ लोग तो ऐसे हैं जो लक्षणों की पुरानी लकीर से जरा भी इधर उधर होने की कल्पना ही नहीं कर सकते। बेचारे नवीनतावादी अभी कलाबाजी कर रहे हैं; उन्हें विलायती समीक्षा क्षेत्र के उड़ते हुए लटकों की उद्धरणी और योरप के ग्रंथकारों की नाममाला जपने से फुरसत नहीं। अब रहे उच्च आधुनिक शिक्षा प्राप्त 'संस्कृत स्कालर' नामक प्राणी। वे तो भारतीय वाङ्मय में जो कुछ हो चुका है उसी को संसार के सामने–संसार का अर्थ आजकल योरप और अमेरिका लिया जाता है–रखने में लगे हैं। यही उनका परम पुरुषार्थ है। उन्हें अपने साहित्य को और आगे बढ़ाकर उन्नत करने से क्या प्रयोजन?

यहाँ तक तो मैंने अपने यहाँ की काव्यमीमांसा की पद्धति का, पाश्चात्य समीक्षा क्षेत्र के नाना वादों प्रवादों से चली प्रवृत्तियों का तथा हिन्दी के आधुनिक साहित्य क्षेत्र पर उन प्रवृत्तियों के भले बुरे प्रभाव का वर्णन किया। पर वे प्रवृत्तियाँ पुरानी हैं–कुछ तो पचासों वर्ष, कुछ तो सैकड़ों वर्ष पुरानी। पर, जैसा कि मैं कई जगह कह चुका हूँ, योरप में साहित्य की प्रवृत्तियाँ तो इधर कपड़े के फैशन की तरह जल्दी जल्दी बदला

करती हैं। वहाँ की पुरानी प्रवृत्तियों से गला छूटेगा तो नई आकर दबाएँगी—चाहे कुछ दिनों पीछे, वहाँ पुरानी हो जाने पर। इससे पहले से सावधान रहना मैं अच्छा समझता हूँ।

योरप के वर्तमान साहित्य क्षेत्र की सबसे नई घटना है 'बुद्धि के साथ युद्ध'। इस युद्ध के नायक हैं—फ्रांस के अनातोले फ्रांस जिन्होंने कहा है—'बुद्धि के द्वारा सत्य को छोड़कर और सब कुछ सिद्ध हो सकता है। मनुष्य बुद्धि या तर्क के आदर्श पर कोई कर्म नहीं करता, अपने प्रेम, घृणा, वैर, भय आदि मनोविकारों के आदेश पर ही सब कुछ करता है। बुद्धि पर उसे विश्वास नहीं होता। बुद्धि या तर्क का सहारा तो लोग अपनी भली बुरी प्रवृत्तियों को ठीक प्रमाणित करने के लिए लेते हैं।' ईसा की 19वीं शताब्दी में जो आधिभौतिकवाद इतने जोर शोर से योरप में उठा था उसी से क्षुब्ध होकर प्रतिकार स्वरूप वहाँ कई प्रकार के आंदोलन चले। 'आध्यात्मिकता' जगी, मशीनों का विरोध शुरू हुआ, मनुष्य के साथ भ्रातृभाव उमड़ा और अक्ल पर चढ़ाई बोल दी गई। और क्षेत्रों में क्या हुआ, इससे तो यहाँ प्रयोजन नहीं। साहित्य के क्षेत्र में जो हुआ या हो रहा है उसी की ओर थोड़ा ध्यान देने की जरूरत है।

कुछ लोगों को एकबारगी यह भासित होने लगा कि अब जो अच्छे अच्छे काव्य नहीं बनते हैं, उसका एक मात्र कारण है बुद्धि। बुद्धि इतनी अधिक बढ़ गई है कि उसने प्रतिभा और भावना के वे सब रास्ते ही रोक दिए हैं जिनसे कविता का स्रोत बहा करता था। यह दशा देख कुछ लोग तो हाथ पर हाथ रखकर, निराश होकर बैठे रहे और यह समझ लिया कि अब कविता देवी का भोलापन सब दिन के लिए गया। अब इस युग में मनुष्य जाति की अंतर्वृत्ति बुद्धि से इतनी जकड़ उठी है कि कविता का पुनरुद्धार असंभव है। इन्हीं नैराश्यवादियों में अनातोले फ्रांस हैं। वर्तमान अँगरेजी साहित्य क्षेत्र में उनके नैराश्य में योग देनेवाले हैं मि. हाजमन और टी. एस. एलियट। ये लोग केवल समय समय पर अपनी कुढ़न और बौखलाहट भर प्रकट कर देते हैं।

पर कुछ लोग ऐसे भी हैं जो एकबारगी निराश नहीं हैं। वे बुद्धि के पीछे डंडा लेकर खड़े हो गए हैं। वे भावना के खोए भोलेपन को लौटा लाने की कुछ आशा रखते हैं। वे समझते हैं कि बुद्धि द्वारा फैलाए हुए जाल को छिन्न भिन्न करके वे भावना के स्वतंत्र विचरण के लिए फिर मैदान निकाल लेंगे। इनमें से कुछ लोग तो बड़ी मेहनत से तरह तरह के प्राचीन चित्र और जंगली जातियों की चित्रकारियाँ इकट्ठी कर रहे हैं कि शायद कला का रहस्य कुछ मिल जाय। इन चित्रों के रंग और रेखाएँ भद्दी भी होती हैं तो विचित्र सिद्धांतों की उद्भावना करके समझाया जाता है कि वे इस सिद्धांत पर हैं, उस सिद्धांत पर हैं। बुद्धिग्रस्त होने के कारण हम उनके सौंदर्य की अनुभूति तक नहीं पहुँच पाते हैं। इंगलैंड के प्रसिद्ध लेखक और नाटककार बरनार्ड शॉ भी सुधार की आशा रखनेवाले बुद्धि विरोधियों में हैं। उनका कहना है कि बुद्धि उत्पादिका या क्रियात्मिका नहीं, केवल निश्चयात्मिका है। उससे हमारा उद्धार नहीं हो सकता। हमें क्रियात्मिका वृत्ति का सहारा लेना चाहिए, नहीं तो हम गए, सब दिन के लिए।

काव्य के क्षेत्र से बुद्धि को एकबारगी निकाल बाहर करने पर सबसे मुस्तैद दिखाई पड़ते हैं ई. ई. कमिंग्ज साहब जो अमेरिका के एक कवि हैं। इन्होंने बुद्धि का पूरा विरोध प्रदर्शित करने के लिए अपनी एक पुस्तक का नाम रखा है। 'पाँच होता है'— अर्थात् दो और दो चार नहीं, पाँच होता है। इस संबंध में एक बड़ा मनोरंजक निबंध 'कविता का खोया हुआ भोलापन' (दि लास्ट इनोसेंस आव पोएट्री) कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के साहित्य विभाग के अध्यापकों के लिखे निबंधों के सन् 1929 के संग्रह में है।[1]

आजकल कहीं कहीं समीक्षाओं के भीतर जो यह लिखा देखने को मिलता है कि 'यह तो बुद्धिवाद है; यह तो बुद्धित्व है वह किस दिशा से उड़कर आया हुआ वाक्य है, इसका कुछ पता उपर्युक्त विवरण से लग सकता है। पश्चिम में काव्य की भावना में बुद्धि क्यों इतनी बाधक दिखाई दे रही है, उसका कारण प्रत्यक्ष है। उसका कारण है काव्य के संबंध में यह संकुचित और बालोचित धारणा कि उसकी अनुभूति 'विस्मय' और 'कुतूहल' के रूप में होती है। 'विस्मय' और 'कुतूहल' बालकों और जंगली जातियों का लक्षण अवश्य है। पर बहुत निम्नकोटि की काव्यानुभूति 'कुतूहल' और 'विस्मय' के रूप में होती है, यह मैं अच्छी तरह दिखा चुका हूँ।

(अब वर्तमान योरपीय काव्यक्षेत्र की दो चार और प्रवृत्तियों का उल्लेख करके मैं अपने भाषण को समाप्त करना चाहता हूँ।)

इधर हाल में इंगलैंड के काव्यक्षेत्र में गत महायुद्ध के दो चार वर्ष पहले से 'प्रकृति की ओर फिर लौटने' के लक्षण कवियों ने दिखाए। रूपर्ट ब्रुक जिनका उल्लेख पीछे हो चुका है, इसी पक्ष के अनुयायी थे। वे बड़ी ही सच्ची भावना के कवि थे। प्रकृति के चिरपरिचित सादे और सामान्य माधुर्य ने उनके मन में घर कर लिया था। रूपों की चमक, तड़क, भड़क, भव्यता, विशालता की ओर जिस प्रकार उनका मन नहीं लगता था उसी प्रकार वचनवक्रता, भाषा की उछलकूद, कल्पना की उड़ान की ओर भी उनकी प्रवृत्ति नहीं थी। हेरल्ड मुनरी आदि कई एक इस पक्ष के अनुयायी कवि अभी वर्तमान हैं। जीवन की सामान्य और घरेलू वस्तुओं को ये लोग बड़े प्यार की दृष्टि से देखते हैं।

एक दूसरे सिद्धांत के प्रवर्तक एफ. एस. फ्लिंग है जिनकी 'तारकजाल में' नाम की पुस्तक सन् 1909 में प्रकाशित हुई थी। उनका सिद्धांत है कि कविता में जो बात कही जाय वह सब इस रूप में हो कि उनकी मूर्त भावना हो सके। इसलिए इस सिद्धांत को लोग 'मूर्तविधानवाद' (इमैजिज्म) कहने लगे। इसके अनुयायी काव्य में भाववाचक शब्द रखने के विरोधी हैं। विचारात्मक तथा लंबी कविताएँ भी ये लोग अच्छी नहीं समझते।

---

1. ऐसेज इन क्रिटिसिज्म (बाइ मेंबर्स आव दि डिपार्टमेंट आव इंगिलश, यूनिवर्सिटी आव कैलिफोर्निया 1929)।

पहले एक प्रकार के 'रीतिवाद' का उल्लेख हो चुका है जो फ्रांस से 'संवेदनावाद' (इंप्रेशनिज्म) के नाम से चला है। उसके अनुयायी कविता को संगीत के और निकट लाना चाहते हैं। ये लोग शब्दों के प्रयोग में उनके अर्थों पर ध्यान देना उतना आवश्यक नहीं समझते जितना उनकी नादशक्ति पर, जैसे—यदि मधुमक्खियों के धावे का वर्णन होगा तो 'भिन भिन' 'मिन मिन' ऐसी ध्वनिवाले; हवा के बहने और पत्तों के बीच घुसने का वर्णन होगा तो 'सर सर' 'मर मर' ऐसी ध्वनिवाले शब्द इकट्ठे किए जायँगे। तुलसीदासजी की चौपाई का यह चरण इसका उदाहरण होगा—

कंकन, किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।

इसमें 'झनकार' की संवदेना का अनुभव सुनने मात्र से हो जाता है। वीररस की कविताओं में पाए जानेवाले 'चटाक पटाक' 'कड़क धड़क' आदि शब्दों तथा अमृतध्वनि छंद से तो हिन्दी पाठक भी पूरे परिचित होंगे। सूदन कवि की ये पंक्तियाँ ही देखिए—

धड़धद्धरं धड़धद्धरं भड़भब्भरं भड़भब्भरं।
तड़तत्तरं तड़तत्तरं कड़कक्करं कड़कक्करं॥

'संवेदनावाद' और 'मूर्तविधानवाद' दोनों को मिलाकर सबसे विलक्षण तमाशा ई. ई. कमिंग्ज साहब ने खड़ा किया है। उन्होंने पदभंग, पदलोप, वाक्यलोप तथा अक्षरविन्यास, चरणविन्यास इत्यादि के न जाने कितने नए नए करतब दिखाए हैं, जैसे—

सि पाही स् (ी) टी देता है।

उनकी रचना का ढंग दिखाने के लिए उनकी एक कविता, थोड़े से आवश्यक हेर फेर के साथ, नीचे देता हूँ। यद्यपि इसकी विशेषताएँ बहुत कुछ अँगरेजी भाषा और उसके छंदों की मात्रा आदि से संबंध रखती हैं और हिन्दी में नहीं दिखाई जा सकतीं, फिर भी कुछ अंदाजा रूप रंग का हो जायगा। कविता यह है—

सूर्यास्त

स दंश
स्वर्ण 'गुन्' जाल
शिखर पर
रजत
पाठ करता है
बड़े बड़े घंटे बजते हैं गेरू से
मोटे निठल्ले नगाड़े
और एक उत्तुंग
पवन

खींचता है
सागर
को
स्वप्न
से

यह समुद्र के किनारे सूर्यास्त का वर्णन है जिसका विषय यह है। समुद्र की खारी हवा काटती सी है। डूबते सूर्य की किरणें ऊँची उठी तरंग की श्वेत फेनिल चोटी पर पड़कर पीली मधुमक्खियों के फैले हुए झुंड सी लगती हैं। वह ऊपर उठी लहर देवमंदिर के मंडप सी जान पड़ती है, जिसके भीतर पाठ होता है, बड़े बड़े घंटे बजते हैं, गेरू से पुते दरवाजे होते हैं, नगाड़े बजते हैं, बड़ी तोंदवाले मोटे निठल्ले पुजारी बैठे रहते हैं। हवा समुद्र के जल को वैसे ही खींचती जान पड़ती है जैसे मछुवा जाल खींचता हो। सूर्यास्त हो जाता है। धुँधलापन, फिर अंधकार हो जाता है; लोग सोते हैं।

अब किस ढंग से इन सब बातों की संवेदना उत्पन्न करने के लिए पदविन्यास किया गया है, थोड़ा यह देखिए। 'स' से सनसनाहट अर्थात् हवा चलने की और 'दंश' से चमड़ा फटने, पानी की ठंडक और मधुमक्खियों के पीले रंग का आभास दिया गया है। 'गुन्' से गुनगुनाहट और गुंजार का संकेत किया गया है, जो 'दंश' के साथ मिलकर मधुमक्खियों की भावना उत्पन्न करता है। 'जाल' झुंड का द्योतक है। 'पाठ', 'घंटे' और 'नगाड़े' को मिलाकर, मंदिरों में होनेवाले शब्द तथा समुद्र के गर्ज़न और छींटे के कलकल का आभास दिया गया है। लटके हुए 'घंटे' की मूर्त भावना में लहरों के नीचे ऊपर झूलने का भी संकेत है। 'गेरू' में संध्या की ललाई झलकाई गई है। 'नगाड़े' में निकली हुई तोंद का भी संकेत है। रचना के प्रथम खंड में 'सूर्य' और 'समुद्र' शब्द नहीं रखे गए हैं। 'स्वर्ण' में तपे सोने के ताप और दम की भावना रखकर सूर्य का, और 'रजत' में शीतलता और स्वच्छता की भावना रखकर जलराशि वा समुद्र का संकेत फिर कर दिया गया है। (बड़ी कृपा!) इसमें 'स' के अनुप्रास से भी सहायता ली गई है। यह अनुप्रास पहले खंड में 'स' अक्षर के आरंभ होनेवाले 'सूर्य' और 'समुद्र'—इन दो शब्दों की ओर भी इशारा करता है।

कमिंग्ज साहब की समझ में यह विषय को ठीक वैसे ही सामने रखना है जैसे संवेदना उत्पन्न होती है। इसमें ऐसे शब्द नहीं हैं जो अर्थ संबंध मिलाने के लिए या व्याकरण के अनुसार वाक्य विन्यास के लिए लाए जाते हैं, पर संवेदना उत्पन्न करने में काम नहीं देते (जैसे, 'और', 'किंतु', 'फिर' इत्यादि)। उनके अनुसार यह खालिस कविता है, जिसमें से भाषा, व्याकरण तात्पर्य बोध आदि का अनुरोध पूरा करनेवाले फालतू शब्द निकाल दिए गए हैं।

थोड़ा सोचिए कि कमिंग्ज के इस विचित्र विधान के मूल में क्या है। काव्यदृष्टि की परिमिति और प्रतिभा के अनवकाश के बीच नवीनता के लिए नैराश्यपूर्ण आकुलता। 'सूर्योदय', 'सूर्यास्त' आदि बहुत पुराने विषय हैं जिनपर न जाने कितने कितने कवि अच्छी अच्छी कविता कर गए हैं। अब इन्हीं को लेकर जो विलक्षणता और नवीनता दिखाना चाहेगा वह मार्मिक दृष्टि के प्रसार के अभाव में सिवा इसके कि नए नए वादों का अंध अनुसरण करे, शब्दों की कलाबाजी दिखाए, पहेली खड़ा करे और करेगा क्या?'[1]

(काव्य और समालोचना के विवेचन में, मैं समझता हूँ मैंने बहुत अधिक समय ले लिया—इतना अधिक कि अब साहित्य के और अंगों के संबंध में केवल दो दो बातें ही कही जा सकती हैं।)

नाटक

साहित्य का एक बड़ा आवश्यक अंग 'दृश्य काव्य' है जिसके अनेक भेद हमारे यहाँ किए गए हैं। रचना की प्रक्रिया का भी बड़ा प्रकांड, कौशलपूर्ण और जटिल निरूपण है। हमारे साहित्य में रूपक या नाटक भी काव्य ही हैं, अतः रस ही पर दृष्टि उनमें भी रखी गई है। पाश्चात्य नाटकों में अंतःप्रकृति के वैचित्र्य प्रदर्शन पर विशेष दृष्टि रखी जाती है। हिन्दी में नाटकों का जिस रूप में विकास हुआ उनमें दोनों दृष्टियों का मेल है। यह बात बहुत अच्छी हुई है। भारतेंदु काल में जिन नाटकों की रचना हुई उनमें अंतःप्रकृति के वैचित्र्य का विधान नहीं के बराबर है। पर इधर जो नाटक लिखे जा रहे हैं उनमें यह विधान भी आ रहा है।

---

1. अँगरेजी में यह कविता इस रूप में लिखी गई है—

सनसेट
स्टिगिंग
गोल्ड स्वार्म्स
अपान दि स्पायर्स
सिलवर
        चैंट्स दि लिटैंनीज दि
ग्रेट बेल्स आर रिंगिंग विद रोज
दि ल्यूड फैट बेल्स
        ऐंड ए टाल
विंड
इज ड्रैगिंग
दि
सी
विद
ड्रीम्
—स

पाश्चात्य नाटकों की प्रवृत्ति इधर एकदम 'वास्तविकता' की ओर ही रही है। नाटक से काव्यत्व और भावात्मकता दूर करने का प्रयास हो रहा है। पुराने साम्यवादी होने के कारण बर्नार्ड शॉ ने मनुष्य समाज के व्यवस्था संबंधी प्रश्नों को लेकर वर्तमान परिस्थितियों का बहुत सटीक प्रत्यक्षीकरण किया है। एक अंकवाले नाटकों का चलन भी वहाँ हो रहा है। हमारी हिन्दी में भी इस प्रकर के नाटकों के ऊपरी ढाँचे लेकर दो एक सज्जन 'नवीनता के आंदोलन' में अपना योग प्रदर्शित कर रहे हैं।

मेरा नम्र निवेदन यह है कि पश्चिम में चाहे जो हो रहा हो, हमें अपने दृश्य साहित्य को एकदम मँगनी की वस्तु बनाने की आवश्यकता नहीं। जिस देश में दृश्य काव्य का आविर्भाव अत्यंत प्राचीन काल में हुआ हो उसके भीतर उसका स्वतंत्र रूप में नूतन विकास न हो सके, यह खेद की बात होगी। यह देखकर मुझे अत्यंत आनंद होता है कि 'प्रसाद' जी के नाटकों में इस प्रकार के विकास के पूरे लक्षण मिलते हैं। उनके ऐतिहासिक नाटकों में सबसे बड़ी विशेषता है प्राचीन काल के रीति व्यवहार, शिष्टाचार, शासन व्यवस्था आदि का ठीक इतिहास सम्मत चित्रण। वस्तु विन्यास और शील निरूपण का कौशल भी उत्कृष्ट कोटि का है। उनके रचे—'अजात शत्रु', 'स्कंदगुप्त' आदि नाटकों को लेकर आज हिन्दी पूरा गर्व कर सकती है। मेरे देखने में अच्छे सामाजिक नाटकों का अभाव अभी बना है। इसके लिए 'प्रसाद' जी से न कहूँगा। जिस ऐतिहासिक क्षेत्र को उन्होंने लिया है उसी के भीतर उन्हें अपनी प्रतिभा का उत्तरोत्तर विकास करना चाहिए। 'वरमाला' के लेखक श्री गोविंदवल्लभ पंत भी अच्छे नाटककार हैं। स्वर्गीय पं. बदरीनाथ भट्ट की 'दुर्गावती' में अभिनय की विनोदपूर्ण सामग्री है।

इधर हाल में पं. सुमित्रानंदन पंत ने 'ज्योत्स्ना' लिखकर 'कल्पना जगत्' को प्रत्यक्ष रूप में लाने का अच्छा आयोजन किया है। पर ऐसे नाटक शुद्ध नाटक की कोटि में न आकर, काव्य की कोटि में ही अपना स्थान रखते हैं। शेली ने भी पृथिवी, पवन इत्यादि प्राकृतिक शक्तियों को लेकर इस ढंग के दो एक नाटक लिखे थे, जिनके अभिनय का ख्याल किसी ने कभी नहीं किया।

हर्ष की बात यह है कि पारसी ढंग की थिएटर कंपनियों ने भी अब हिन्दी में लिखे नाटकों का अभिनय आरंभ कर दिया है। इसके लिए सबसे पहले साधुवाद के पात्र हैं पं. नारायण प्रसाद बेताब। उनके अतिरिक्त आगा हशर साहब, मोहम्मद इसहाक साहब (शबाब), बाबू आनंद प्रसाद कपूर, बाबू शिवप्रसाद गुप्त तथा व्याकुल जी ने भी थिएटरों में खेले जाने के लिए कई नाटक लिखे हैं।

उपन्यास

हमारे यहाँ के 'कादंबरी', 'दशकुमारचरित' आदि पुराने कथात्मक गद्य प्रबंध गद्यकाव्य के रूप में ही मिलते हैं। उनकी रचना अत्यंत अलंकृत और रसात्मक है। हमारे

आधुनिक हिन्दी साहित्य में 'उपन्यास' का नाम भी बँगला से आया और उपन्यास का अँगरेजी ढाँचा भी। कथात्मक गद्य प्रबंध के लिए वास्तव में यह ढाँचा बहुत ही उत्कृष्ट है। उपन्यास के दो तरह के ढाँचे मिलते हैं–पुराने और नए। पुराने ढाँचे में काव्यत्व की मात्रा यथेष्ट रहती थी। परिच्छेदों के आरंभ में अच्छे अलंकृत दृश्य वर्णन होते थे और पात्रों की बातचीत भी कहीं कहीं रसात्मक होती थी। बँगला में जिस समय उपन्यास आए उस समय योरप में पुराना ढाँचा ही प्रचलित था, जिसे बहुत ही सुंदर ढंग से बंकिमचंद्र, रमेशचंद्र दत्त आदि ने भारतीय साहित्य में लिया–ऐसे सुंदर ढंग से कि यह जान ही न पड़ा कि वह कहीं बाहर से आया है। भारतेंदु काल से लेकर प्रेमचंदजी के पहले तक हिन्दी में भी उपन्यास इसी ढाँचे पर लिखे जाते रहे।

पीछे योरप में 'नाटक' और 'उपन्यास' दोनों से काव्यत्व का अवयव बहुत कुछ निकालने की प्रवृत्ति हुई और दृश्य वर्णन, भावव्यंजना, आलंकारिक चमत्कार आदि हटाए जाने लगे। इस नए ढाँचे के उपन्यास, जहाँ तक मुझे स्मरण आता है, प्रेमचंदजी के समय से हिन्दी में आने लगे। वर्तमान सामाजिक जीवन के विविध पक्षों और अंतर्वृत्तियों की बड़ी पैनी परख प्रेमचंदजी को मिली है। उन्होंने हिन्दी के उपन्यास क्षेत्र को जगमगा दिया। वे हमारे गर्व और गौरव के कारण हैं। सामाजिक उपन्यास हिन्दी में अच्छे लिखे जा रहे हैं। पर एक मेरा निवेदन है। इधर बहुत से उपन्यासों में देश की सामान्य जीवनपद्धति को छोड़ बिलकुल योरपीय सभ्यता के साँचे में ढले हुए छोटे से समुदाय के जीवन का चित्रण बहुत अधिक पाया जाता है। मिस्टर, मिसेज, मिस, ड्राइंग रूम, टेनिस, मोटर पर हवाखोरी, सिनेमा इत्यादि ही उपन्यासों में अधिक दिखाई पड़ने लगे हैं। मैं जानता हूँ कि आधुनिक जीवन का यह भी एक पक्ष है, पर सामान्य पक्ष नहीं। देश के असली, सामाजिक और गार्हस्थ जीवन के जैसे चित्र पुराने उपन्यासों में रहते थे वैसे अब कम होते जा रहे हैं। यह मैं अच्छा नहीं समझता।

उपन्यास के पुराने ढाँचे के संबंध में मैं एक बात कहना चाहता हूँ। वह यह कि वह कुछ बुरा न था। उसमें हमारे भारतीय कथात्मक गद्य प्रबंध के स्वरूप का भी आभास रहता था।

मनुष्य के दोषों और पापों को उदार दृष्टि से देखना, सत्पथ से भटके हुए लोगों के प्रति घृणा का भाव न उत्पन्न करके दया का भाव उत्पन्न करना और जीवन की कठोर वास्तविक परिस्थितियों के बीच भी उदात्त और कोमल भावों का स्फुरण दिखाना आधुनिक उपन्यासों का आदर्श माना जाता है।

उपन्यासकारों में इधर प्रेमचंदजी के अतिरिक्त पं. विश्वंभरनाथ कौशिक, श्री सुदर्शन, बाबू वृंदावनलाल वर्मा, बाबू प्रतापनारायण श्रीवास्तव, श्रीयुत जैनेंद्रकुमार आदि महानुभाव बहुत अच्छा कार्य कर रहे हैं।

मेरे देखने में उत्कृष्ट कोटि के ऐतिहासिक उपन्यासों का अभाव ज्यों का त्यों बना है। यदि जयशंकर 'प्रसाद' जी इस ओर भी ध्यान दें तो इस अभाव की पूर्ति बहुत अच्छी तरह हो सकती है। मैं तो अपनी ओर से यही कहूँगा कि सामाजिक उपन्यास का क्षेत्र तो वे प्रेमचंदजी ऐसे लोगों के लिए छोड़ दें जो ऐतिहासिक नाटकों की रचना को 'गड़े हुए मुर्दे उखाड़ना' कहते हैं और स्वयं इतिहास के प्राचीन क्षेत्र में स्वच्छंद क्रीड़ा करनेवाली अपनी प्रतिभा को ऐतिहासिक उपन्यासों की ओर प्रवृत्त करें।

इधर योरप में छोटी कहानियों का बहुत अधिक प्रचार हुआ। ये होती भी हैं अत्यंत मार्मिक। यह कम हर्ष की बात नहीं है कि हमारी हिन्दी में भी इनका अच्छा विकास हुआ। मेरे देखने में कहानियों के तीन रूप हिन्दी में दिखाई पड़ रहे हैं–(1) योरपीय आदर्श पर सादे ढंग से केवल कुछ घटनाएँ और बातचीत सामने रखनेवाला–जिसका नमूना है स्वर्गीय गुलेरीजी की प्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था'। (2) कुछ अलंकृत दृश्य चित्रयुक्त–यह रूप 'हृदयेश' जी की कहानियों में मिलता है। (3) कल्पनात्मक और भावात्मक–यह रूप 'प्रसाद' जी और राय कृष्णदासजी की कहानियों में मिलेगा।

प्रेमचंदजी ने भी बड़ी सुंदर छोटी कहानियाँ लिखी हैं। कहानियों के क्षेत्र में श्री पं. ज्वालादत्त शर्मा, श्री पं. जनार्दन प्रसाद झा द्विज', श्री राजेश्वर प्रसाद सिंह, श्री चतुरसेन शास्त्री, श्रीयुत गोविंदवल्लभ पंत, बाबू, शिवपूजन सहाय, पं. भगवती प्रसाद वाजपेयी, श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', श्रीयुत जैनेंद्र कुमार विशेष उल्लेख योग्य हैं।

हास्यरस की कहानियाँ लिखनेवाले पहले तो श्रीयुत जी. पी. श्रीवास्तव ही थे, अब बाबू अन्नपूर्णानंदजी शिष्ट हास का बहुत अच्छा नमूना सामने ला रहे हैं।

हास्यरस के संबंध में पश्चिम में इस बात का भी निरूपण हुआ है कि हास्य के आलंबन से विनोद तो होता ही है, पर उसके प्रति कोई और भाव भी, जैसे–घृणा, विरक्ति, उपेक्षा, दया–रहता है। अब तक यही विवेचित हुआ था कि उत्कृष्ट हास्यरस में आलंबन के प्रति प्रेमभाव होता है, अर्थात् वह प्रिय लगता है। पर अब यह कहा जाने लगा है कि उसके प्रति दया का भाव होना चाहिए, और वह दया ऐसी हो जिसके पात्र, हम अपने को भी समझें–अर्थात् जिस स्थिति में आलंबन को देख हम हँसें उसमें हम भी हों।

गद्य काव्य

जब से श्रीयुत रवींद्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि' की बहुत ख्याति हुई तब से हिन्दी में नए ढंग के गद्यकाव्य बहुत दिखाई पड़ने लगे। श्रीयुत राय कृष्णदासजी की 'साधना', वियोगी हरि का 'अंतर्नाद' आदि कई प्रसिद्ध पुस्तकों के अतिरिक्त आजकल मासिक पत्रिकाओं में भी समय समय पर अनेक रूप रंग के भावात्मक गद्यप्रबंध निकला

करते हैं। साहित्य में इस प्रकार के गद्यप्रबंधों का भी एक विशिष्ट स्थान है। पर इनकी भरमार मैं अच्छी नहीं समझता। यदि इसी प्रकार के गद्य की ओर ही लोगों का ध्यान रहेगा, तो प्रकृत गद्य का विकास रुक जायगा और भाषा की शक्ति की वृद्धि में बहुत बाधा पड़ेगी। वर्तमान उर्दू साहित्य के क्षेत्र में भी इस प्रकार के भावात्मक गद्य की प्रवृत्ति देख उर्दू साहित्य के इतिहास लेखक श्रीयुत राम बाबू सक्सेना बहुत घबराए हैं।

निबंध

ऐसे प्रकृत निबंध जिनमें विचार प्रवाह के बीच लेखक के व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य तथा उसके हृदय के भावों की अच्छी झलक हो, हिन्दी में अभी कम देखने में आ रहे हैं। आशा है इस अंग की पूर्ति की ओर भी हमारे सहयोगी साहित्य सेवियों का ध्यान जाएगा।

भाषा

साहित्य के नाना अंगों का विशद रूप में निर्माण देख जितना आनंद होता है उतना ही भाषा की ओर असावधानी देख खेद होता है। मासिक पत्रिकाओं में बहुत से लेखों को उठाकर देखिए तो उनमें व्याकरण की अशुद्धियाँ भरी मिलेंगी। हमारे सुयोग्य संपादकगण यदि इस ओर ध्यान दें तो मुझे विश्वास है कि यह बुराई दूर हो सकती है। खैर यह बुराई तो दूर हो जाएगी, पर हमारी भाषा का स्वरूप ही विकृत करनेवाली एक प्रवृत्ति बहुत भयंकर रूप में बढ़ रही है—वह है अँगरेजी के चलते वाक्यों और मुहावरों को शब्द प्रतिशब्द अनुवाद करके रखना। 'दृष्टिकोण' 'प्रकाश डालना' आदि तक तो खैरियत थी, पर जब उपन्यासों में इस तरह के वाक्य भरे जाने लगे, जैसे—

(1) उसके हृदय में अवश्य **ही एक ललितकोना होगा** जहाँ रतन ने स्थान पा लिया होगा।

(2) वह उन लोगों में से न था जो **घास को थोड़ी देर भी अपने पैरों तले उगने देते हों।**

तब हमारी भाषा अपना नया ठिकाना ढूँढ़ेगी?

आजकल कभी कभी हिन्दी हिंदुस्तानी का झगड़ा भी उठा करता है। हमारे साहित्य की भाषा का स्वरूप क्या होना चाहिए, यह पचासों वर्ष पहले स्थिर हो चुका। उसमें फेरफार करने की कोई आवश्यकता नहीं। अपने साहित्य की भाषा का स्वरूप हम वही रख सकते हैं जो बराबर से चला आ रहा है तथा जो उत्तरी भारत के और भूखंडों के साहित्य की भाषा के स्वरूप के मेल में होगा। हिन्दी हिंदुस्तानी के संबंध में प्रो. धीरेंद्र वर्मा ने एकेडमी की 'तिमाही पत्रिका' में जो कुछ लिखा था, मैं उसे खासा स्पष्टवाद समझता हूँ।

(अब मैं आप महानुभावों का बहुत अधिक समय ले चुका। इस स्थान पर एक प्रकार से आप लोगों के धैर्य की पूरी परीक्षा हो गई। मेरी निस्सार और रूखी

सूखी बातों को इतनी देर बैठकर सुनना, अनुग्रह के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? आज अपने वर्तमान हिन्दी साहित्य के प्रशस्त प्रसार को देख मुझे उन दिनों का स्मरण हो रहा है जब थोड़े से लोग किसी भव्य भविष्य की आशा बाँधे हिन्दी की सेवा कर रहे थे। आज अपने को इतने बड़े और प्रभावशाली विद्वन्मंडल के सामने खड़ा पाकर मुझे तो ऐसा भासित हो रहा है कि वह भव्य भविष्य यही था। मेरी पुरानी कामनाएँ तो आज पूर्ण हो गईं पर जीवनक्षेत्र में कामनाओं का अंत नहीं। एक पूरी हुई, फिर दूसरी। जिन आँखों से मैंने इतना देखा उन्हीं से अब अपने हिन्दी साहित्य को विश्व की नित्य और अखंड विभूति से शक्ति, सौंदर्य और मंगल का प्रभूत संचय करके एक स्वतंत्र 'नव निधि' के रूप में प्रतिष्ठित देखना चाहता हूँ। अपनी इस कामना को आप महानुभावों के सम्मुख प्रकट करके अब मैं क्षमा माँगता और धन्यवाद देता हुआ अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ।)

(चौबीसवें हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इंदौर की साहित्य परिषद
के सभापति पद से दिया गया भाषण, 1935 ई.)
[चिन्तामणि, भाग-2]

स्वागत भाषण

हमारे मान्य साहित्य विधायकगण,

आज इस प्राचीन वाराणसी पुरी में आप महानुभावों को अपने साहित्य की समृद्धि, प्रसार और परिष्कार के लिए सुशोभित देख हम जिस अपूर्व भाव शबलता का अनुभव कर रहे हैं, उसे शब्दों द्वारा व्यक्त करने का प्रयास तो हम हारकर छोड़ देते हैं। आपका प्रतिभा प्रदीप्त सान्निध्य हमें हर्ष से पुलकित कर रहा है। यात्रा के अनेक कष्ट उठाकर आपका यहाँ पधारना हमें कृतज्ञता से झुका रहा है, आपका मातृभाषा प्रेम हमें राजनीति के चक्रों में फँसी हुई अपनी भाषा के क्षेम की आशा बँधा रहा है और अपने साहित्य के समृद्धिसाधन के लिए आपकी यह सन्नद्धता हमें उत्साह से पूर्ण कर रही है। आप भावलोक के प्राणी हैं। अतः आपका सच्चा स्वागत हम अपने हृदय के इन भावों से ही कर सकते हैं।

इस अत्यंत प्राचीन पुरी की गणना मुख्य तीर्थों और सरस्वती पीठों में होती आई है। हजारों वर्ष से यह संस्कृत विद्या का केन्द्र रहती आई है। 'काशी पढ़ने जाना' पूर्ण पंडित बनने की तैयारी करना समझा जाता रहा है। यहाँ के संस्कृताभिमानी पंडितों द्वारा 'भाषा' का तिरस्कार भी एक पुरानी बात है। भाषा में रामायण लिखने के कारण गोस्वामी तुलसीदासजी की जो उपेक्षा यहाँ के कुछ प्रसिद्ध पंडितों ने की थी, वह उनके जीवन की एक विशेष घटना है। पर यह भी समझ रखना चाहिए कि इस तिरस्कार का सम्यक् परिहार भी इस विचित्र भूमि पर साथ ही साथ होता आया। भगवान् बुद्ध ने इसी काशी के अंतर्गत इसिपतन (सारनाथ) से अपने धर्मचक्र का प्रवर्तन संस्कृत छोड़ पाली भाषा में किया और वह पाली प्रौढ़ होकर बौद्धों की धर्म भाषा और साहित्य भाषा के रूप में विकसित हुई। स्वामी रामानंद ने भक्तिमार्ग में सब जातियों का समान अधिकार घोषित करके हिन्दी साहित्य के भक्ति प्रवाह का उद्‌गम इसी पुण्य क्षेत्र में प्रतिष्ठित किया। उस उद्‌गम से एक और तो निर्गुण भक्तिधारा बही, दूसरी ओर सगुण राम भक्तिधारा। पहली धारा को उत्तर भारत में फैलानेवाले कबीरदास इसी काशी के थे। रैदास की भक्ति साधना की भूमि भी यही

है। स्वतः रामानन्दजी द्वारा प्रवर्तित दूसरी धारा को अपनी दिव्य वाणी के प्रभाव से समस्त उत्तरापथ में रमा देनेवाले गोस्वामी तुलसीदासजी भी यहीं आकर जमे थे।

आधुनिक हिन्दी साहित्य का सूत्रपात करनेवाले, हिन्दी गद्य की भाषा का स्वरूप स्थिर करनेवाले भारतेंदु हरिश्चंद्र की जन्मभूमि भी यही है। छायावाद के नाम से प्रसिद्ध हिन्दी काव्य की उस लक्षणा प्रधान नूतन शाखा को स्फुरित करनेवालों में जिसके भीतर अभिव्यंजना के वैचित्र्य का बड़ा रमणीय विकास हुआ है, काशी के स्वर्गीय बाबू जयशंकर प्रसादजी का प्रधान स्थान है। उपन्यास सम्राट् स्वर्गीय श्री प्रेमचंदजी भी यहीं के थे। यह सब निवेदन करने का तात्पर्य केवल यही है कि अपनी भाषा और अपने साहित्य की इतनी सेवा तो लोक से न्यारी इस नगरी की है कि इसके हमारे ऐसे निवासी भी अपने को आप महानुभावों के सम्मुख स्वागत करने के लिए खड़े होने का अधिकारी समझें।

आप हमारे हिन्दी साहित्य की श्री वृद्धि के लिए, उसके विस्तार के लिए, उसके भीतर वर्तमान जगत् की भिन्न भिन्न भावनाओं के संचार के लिए जो कुछ कर रहे हैं, उसके लिए कृतज्ञता प्रकट करके ही यदि हम रह गए; अपनी आवश्यकताओं, अपनी आकांक्षाओं और अपनी आशंकाओं को आपके सामने न रख पाए, तो हाथ में आया हुआ एक बड़ा भारी अवसर हमने खो दिया। अपने साहित्य क्षेत्र के इतने यशस्वी कर्मवीरों को सामने पाकर हमारे लिए यह स्वाभाविक है कि हम अपनी कुछ धारणाएँ और इच्छाएँ भी प्रकट करें क्योंकि उन धारणाओं का संशोधन और उन इच्छाओं की पूर्ति आप ही के द्वारा हो सकती है।

सबसे पहले हम आप महानुभावों के सामने अपनी वह आशंका प्रकट करना चाहते हैं जो वर्तमान राजनीति की गतिविधि देख अपनी भाषा के परंपरागत स्वरूप के संबंध में हो रही है। हजारों वर्ष से हमारी भाषा, उत्तरापथ की और दूसरी भाषाओं के समान, आवश्यकतानुसार संस्कृत पदावली का सहारा लेकर चलती आ रही है। हमारे आधुनिक साहित्य का जब से आरम्भ हुआ तभी से भाषा को विकृत और विकलांग करने का प्रयत्न भी चलने लगा, पर सारे देश के बीच चिरकाल से प्रचलित उसका शिष्ट रूप अनेक विघ्न बाधाओं के बीच अपनी रक्षा करता अब तक चला आया। हम उसकी ओर से अब थोड़ा निश्चिन्त हो रहे थे कि आजकल का प्रकांड राजनीतिक अभिनय हमारे सामने आया, जिसके बीच फिर 'आमफ़हम, मुश्तरकः ज़बान' आदि की पुकार सुनाई देने लगी। इससे अपनी भाषा की स्वरूप रक्षा की चिंता फिर हमें घेर रही है। पर हमें दृढ़ विश्वास है कि आप अपनी भाषा की वह दुर्दशा कभी नहीं देख सकेंगे जो ईरान में फ़ारसी की हुई—जिसके कारण ईरान के स्वदेशभक्तों को अपनी प्रकृत भाषा के उद्धार के लिए इतना प्रयास करना पड़ रहा है।

भाषा के संबंध में इतना निवेदन करने के उपरांत अब हम वर्तमान साहित्य की गति के संबंध में दो चार बातें आपके सामने लाना चाहते हैं। इस समय हमारा

साहित्य चार प्रधान शाखाओं में विभक्त होकर चल रहा है—काव्य, उपन्यास, कहानी, निबन्ध और आलोचना।

काव्य की तीन धाराएँ इस समय थोडी बहुत चल रही हैं। प्रथम तो व्रजभाषा की पुरानी धारा जो क्रमशः क्षीण होती जा रही है। दूसरी द्विवेदीजी के समय से चली हुई खड़ी बोली की धारा जो क्रमशः परिष्कृत और कई शाखाओं में विभक्त होकर प्रौढ़ता प्राप्त करती चली आ रही है; तीसरी खड़ी बोली की वह नूतन अभिव्यंजना प्रधान धारा जो छायावाद के नाम से प्रसिद्ध है। हमें आज यह देखकर बहुत आनंद होता है कि इन तीनों धाराओं के अनुयायियों के बीच अब पूर्ण सहिष्णुता और उदारता का भाव प्रतिष्ठित हो गया है। एक दूसरे का सम्मान करने की प्रवृत्ति भी अब उनमें जग गई है। यह बहुत कुछ हमारे कवि सम्मेलनों का प्रभाव है।

हमारे देखने में खड़ी बोली की दोनों धाराओं के बीच मुख्य भेद वस्तु विधान और अभिव्यंजन कला के परिमाण में है। खड़ी बोली की पहली धारा में वस्तु विधान की अनेकरूपता के साथ साथ अभिव्यंजना लगी हुई चलती है। छायावाद कही जानेवाली धारा में अभिव्यंजना का वैचित्र्य प्रधान रहता है, वस्तु विधान गौण। पर यह कोई ऐसी बात नहीं जो हममें परस्पर सामंजस्य का भाव बना न रहने दे। हमारे प्रेम और श्रद्धा के पात्र तीनों धाराओं के प्रतिभाशाली कविजन हैं। यदि हम नूतन धारा की कविता की ओर ध्यान देते हैं तो उसका किसी न किसी रूप में आविर्भाव अनिवार्य दिखाई पड़ता है।

हिन्दी कविता के लिए जब खड़ी बोली ली गई तब उसे हिन्दी के छंदों में ढलते कुछ दिन लगे। इस अभ्यास काल में यह स्वाभाविक था कि पहले भाषा की सफाई पर ही ध्यान रहे। इससे पहले इतिवृत्तात्मक पद्यों के रूप में खड़ी बोली सामने आई। धीरे धीरे उसे इस रूखे सूखे रूप में देख लोग ऊबने लगे। उन्हें उन पद्यों में काव्योपयुक्त पदावली, भावावेश के उन्मुक्त प्रवाह, भाव प्रेरित वक्रता, अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र्य आदि की बहुत कमी दिखाई देती थी। जिनकी दृष्टि बंगभाषा की नूतन कविताओं की ओर भी जाती थी उन्हें यह कमी और भी खटकती थी। कोमलकान्त पदावली तो हरिऔधजी के 'प्रियप्रवास' में दिखाई पड़ी। पर बात केवल पदावली की ही न थी। धीरे धीरे 'प्रसादजी' तथा बंग भाषा पर दृष्टि रखनेवाले कुछ और कवियों की रचनाओं में भी प्रतिवर्तन के चिह्न लक्षित होने लगे। इस प्रकार भाषा की भावानुकूल उन्मुक्त गति तथा कुछ लाक्षणिक वैचित्र्य का आभास हिन्दी कविता में दिखाई पड़ने ही लगा था कि श्री रवींद्र के प्रभाव से आध्यात्मिक रहस्य के रंग में रंगी कविताओं की धूम हुई और हिन्दी काव्य क्षेत्र में भी उनका प्रवेश होने लगा।

हमारा विचार है कि आध्याात्मिक रहस्यवाद का यह नूतन रूप हिन्दी में न भी आता तो भी अभिव्यंजना की वे विशेषताएँ जिनका उल्लेख ऊपर हुआ है हिन्दी

काव्य में स्फुरित होतीं; पर तब शायद 'छायावाद' नाम न आता। पर अब तो वह आ ही गया है, अतः इसका अर्थ स्पष्ट कर रखना चाहिए।

बात यह है कि छायावाद शब्द काव्यवस्तु से भी सम्बन्ध रखता है और अभिव्यंजन प्रणाली से भी। जहाँ वह वस्तु से सम्बन्ध रखता है वहाँ तो वह रहस्यवाद के अन्तर्गत है, जहाँ अभिव्यंजन प्रणाली से ही सम्बन्ध रखता है वहाँ प्रतीकवाद (Symbolism) और अभिव्यंजनावाद (Expressionism) के अन्तर्गत। नई रंगत की अधिकतर रचनाओं को छायावादी इसी दूसरे अर्थ में कह सकते हैं क्योंकि सबका सम्बन्ध आध्यात्मिक रहस्यवाद से नहीं रहता। ऐसी कविताओं में कल्पना की उड़ान, लाक्षणिक प्रयोगों की विचित्रता सबसे बड़ी विशेषता होती है। जैसा कि हम अभी कह आए हैं भाषा की भावानुकूल उन्मुक्त गति, कल्पना की उड़ान, लाक्षणिक विचित्रता इत्यादि विशेषताओं का विकास वर्तमान समय में आकर हमारे काव्य क्षेत्र में होता ही, चाहे आध्यात्मिक रहस्यवाद आता या न आता। इस विकास के बीज हमारे व्रज भाषा काव्य में भी—विशेषतः घनानंद की रचनाओं में—वर्तमान हैं। घनानंद की कुछ पंक्तियाँ लीजिए—

1. ***अरसानि गही वह बानि* कछू, सरसानि सों आनि निहोरत है।**
2. **ह्वैहै सोऊ *घरी भाग उघरी* अनंदघन सुरस बरसि, लाल! देखिहौ हरी हमैं।**
3. ***उघरो जग, छाय रहे घनआनंद,* चातक ज्यों तकिए अब तौ।**
4. ***झूठ की सचाई* छाक्यो, त्यों *हित कचाई पाक्यो,* ताके गुनगन घनआनंद कहा कहौं।**
5. ***उजरनि बसी* है हमारी अँखिआनि, देखौ, सुबस सुदेस जहाँ रावरे बसत हौ।**

उद्धृत पंक्तियों में रेखांकित प्रयोगों के लाक्षणिक वैचित्र्य की ओर ध्यान दीजिए।

एक ओर खड़ी बोली की पहली काव्यधारा श्री मैथिलीशरण गुप्त और ठाकुर गोपालशरण सिंहजी ऐसे कवियों के हाथ में पड़कर बहुत कुछ निखरती तथा प्रौढ़ और प्रगल्भ होती चली चल रही है। दूसरी ओर छायावाद के अन्तभूर्त रचनाओं में उक्त पहली धारा से अपनी विशिष्टता को विभिन्नता की हद पर ले जाने की प्रवृत्ति का वेग क्रमशः कम तथा सुव्यवस्थित और सुसंयत रूप देने की रुचि क्रमशः अधिक होती जाती है। श्री सुमित्रानंदन पंत, इस परिषद् के सभापति निरालाजी तथा श्री भगवतीचरण वर्मा ऐसे प्रतिभासंपन्न कवियों की इधर की रचनाओं में इस बात का आभास मिलेगा। इससे पूरी आशा होती है कि खड़ी बोली की दोनों धाराएँ एक दूसरे को देखकर प्रसन्न होती हुई बराबर साथ साथ चली चलेंगी। हम दोनों धाराओं को पूर्ण स्वतन्त्र देखना चाहते हैं, जिसमें किसी को यह कहने का अवसर न मिले कि "यह अँगरेजी के इसका अनुकरण है, वह बंगला के उसका अवतरण है।" देश की स्वतंत्रता के साथ साथ हमारे साहित्य को भी विदेशी आधिपत्य से स्वतंत्रता प्राप्त होती जायगी, इसका हमें पूरा भरोसा है।

अब उपन्यास और छोटी कहानियों के संबंध में भी कुछ बातें आपके विचार के लिए उपस्थित की जाती हैं। इसमें तो संदेह नहीं कि इन दोनों के ढाँचे हमने पश्चिम से लिए हैं। हैं भी ये ढाँचे बड़े सुंदर। हम समझते हैं, हमें ढाँचों ही तक रहना चाहिए। पश्चिम में भिन्न भिन्न दृष्टियों से किए हुए उनके वर्गीकरण, उनके संबंध में निरूपित तरह तरह के सिद्धांत भी हम समेटते चलें, इसकी कोई आवश्यकता हमें नहीं दिखाई देती। हम तो समझते हैं कि उपन्यासों और छोटी कहानियों का हमारे वर्तमान हिन्दी साहित्य में इतनी अनेकरूपता के साथ विकास हुआ है कि उनके संबंध में हम कुछ अपने स्वतंत्र सिद्धांत स्थिर कर सकते हैं, अपने ढंग पर उनके भेद उपभेद निरूपित कर सकते हैं। छोटी कहानियों के जो संग्रह निकलते हैं उनमें भूमिका के रूप में अँगरेजी पुस्तकों से लेकर कुछ सिद्धांत प्रायः रख दिए जाते हैं। यह देखकर हमें दुःख होता है, विशेष करके तब जब उन सिद्धांतों से सर्वथा स्वतंत्र कुछ सुंदर कहानियाँ उन संग्रहों के भीतर ही मिल जाती हैं।

निबंधों के संबंध में पहले तो हमें यह कहना है कि जितनी ही अधिक उनकी आवश्यकता है उतने ही कम वे हमारे सामने आ रहे हैं। दूसरी बात है उनके स्वरूप की। आधुनिक पाश्चात्य कसौटी के अनुसार शुद्ध निबंध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता प्रधान हो। बात तो ठीक है, पर यह व्यक्तिगत विशेषता किन किन बातों में देखी जाय, यह स्पष्ट हो जाना चाहिए। क्या भाषा शैली और अभिव्यंजन प्रणाली ही तक से उसका संबंध माना जाय? अर्थसंबंधी व्यक्तिगत विशेषता आवश्यक न समझी जाय? इस संसार की हर एक बात और सब बातों से सम्बद्ध है। अपने अपने मानसिक संघटन के अनुसार किसी का मन किसी संबंध सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। ये संबंध सूत्र पीपल के पत्तों के भीतर की नसों के समान एक दूसरे से नथे हुए चारों ओर जाल की तरह अनंतता तक फैले हैं। निबंध लेखक किसी बिंदु से चलकर तार्किकों के समान किसी एक ओर सीधा न जाकर अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छंद गति से कभी इधर कभी उधर मुड़ता हुआ नाना अर्थ संबंध सूत्रों पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ संबंधी व्यक्तिगत विशेषता है। एक ही बात को कई लेखकों का भिन्न भिन्न दृष्टियों से देखना भी यही है।

हमारी समझ में इस अर्थ संबंधी व्यक्तिगत विशेषता के आधार पर ही भाषा और अभिव्यंजन प्रणाली की विशेषता—शैली की विशेषता—दृढ़ता के साथ खड़ी हो सकती है। जहाँ नाना अर्थसंबंधों के वैचित्र्य का आधार न रहेगा वहाँ केवल भाषा या शैली का निराधार वैचित्र्य किसी को विचार श्रृंखला न रखने में लगाएगा, किसी को वह श्रृंखला बीच बीच में तोड़ने के लिए उभारेगा, किसी को भाषा से सर्कस वालों की सी कसरत या हठयोगियों के से आसन कराने में प्रवृत्त करेगा। सीधे ढंग से यों कह सकते हैं कि निबंधों में व्यक्तिगत वैचित्र्य के लिए उत्तरोत्तर जुड़ती चलती

हुई बातों की विचित्रता पहले होनी चाहिए। बात की विचित्रता पर टिकी भाषा की विचित्रता ही पूरा प्रभाव डालती है और मन अपनी ओर लगाए रहती है।

इधर कुछ दिनों से गद्यकाव्य के रूप में भावात्मक निबंधों का चलन हो गया है। गद्य साहित्य का यह रूप भी वांछनीय है। पर सारे प्रबंध ही इस रूप में लिखे जायँ, यह भाषा की शक्ति के सर्वतोमुख विकास के लिए ठीक नहीं जान पड़ता।

समालोचना के संबंध में हमें इतना ही कहना है कि इधर शुद्ध समालोचनाएँ कम और भावात्मक समालोचनाएँ (Impressionist Criticism) बहुत अधिक देखने में आती हैं जिनमें कवियों की विशेषताएँ हमारे सामने उतनी नहीं आतीं जितनी आलोचकों की अपनी भावनाओं की अलंकृत छटा। पर किसी कवि की आलोचना कोई इसीलिए पढ़ने बैठता है कि उस कवि के लक्ष्य को, उसके भाव को ठीक ठीक हृदयंगम करने में सहारा मिले; इसलिए नहीं कि आलोचक की भावभंगी और पद विन्यास द्वारा अपना मनोरंजन करे। हमें पूरा विश्वास है कि शुद्ध समालोचना की ओर अधिक ध्यान दिया जायगा।

अंत में हमारी आप महानुभावों से यही प्रार्थना है कि आप हममें साहित्य संबंधिनी स्वतंत्रता का ऐसा भाव जगा दें कि योरप में हर एक उठी हुई बात की ओर लपकना छोड़ दें; समझ बूझकर उन्हीं बातों को ग्रहण करें जिनका कुछ स्थायी मूल्य हो, जो हमारी परिस्थिति के अनुकूल हों। योरप की दशा तो आजकल यह हो रही है कि वहाँ जीवन के हर एक विधान से उसे धारण करनेवाला शाश्वत तत्त्व निकलता जा रहा है। क्या राजनीति, क्या समाज, क्या साहित्य सब डगमगा रहे हैं। रूस के बोल्शेविकों की बात सुनिए तो बड़ी उपेक्षा से अब तक के सारे साहित्य को ऊँचे वर्ग के लोगों का साहित्य बताकर बढ़ैयों, लोहारों और मजदूरों के साहित्य का आसरा देखने को कहेंगे। जर्मनी की ओर दृष्टि दौड़ाइए तो वहाँ केवल नात्सी सिद्धांतों का समर्थक साहित्य ही सिर उठा सकता है। फ्रायड साहब अभी मरे हैं जिनकी समझ में स्वप्न भी हमारी अतृप्त वासनाओं के तृप्तिविधान के छायामय रूप हैं और काव्यादि कलाएँ भी हमारी अतृप्त कामवासनाओं की तृप्ति के विधान हैं। अब हमारे लिए समझने की बात यह है कि क्या हमें इन सब बातों को ज्यों का त्यों लेते हुए अपने साहित्य का निर्माण करते चलना चाहिए अथवा संसार के भिन्न भिन्न देशों की भिन्न भिन्न प्रवृत्तियों की समीक्षा करते हुए अपनी वाह्य और आभ्यंतर परिस्थिति के अनुसार उसके स्वतंत्र मार्ग निकालते रहना चाहिए।

ये दो चार बातें विचार के लिए सामने रखकर अब हम आप महानुभावों को यहाँ तक पधारने का कष्ट उठाने के लिए भूरि भूरि धन्यवाद देते हैं और जो कुछ भूलें या त्रुटियाँ हमसे हुई हैं उनके लिए बारबार क्षमा माँगते हैं।

(अट्ठाइसवाँ अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, साहित्य परिषद्,
स्वागताध्यक्ष का भाषण, आश्विन सौर मंगलवार 17 अक्टूबर, 1939)
[चिन्तामणि, भाग-3]

मनोविकारों का विकाश

मूल तत्त्व की दोरंगी झलक का नाम व्यक्तावस्था है। यदि दुःख के बिना सुख है तो यह अव्यक्त है। जीव अपने अस्तित्व की घोषणा द्वंद्वाभास ही से आरंभ करता है। उच्च प्राणी कहलानेवाला मनुष्य भी भावों की एक जोड़ी लेकर धरती पर गिरता है। उसके छोटे से हृदय में पहले दुःख और आनंद भर ही के लिए जगह रहती है। ये मनोवेग ऐसे हैं जो मनुष्य यदि जन्म से स्ववर्गियों से अलग रखा जाय तो भी उत्पन्न होंगे। पेट के भरे रहने या खाली रहने के अनुभव ही से इनका आरंभ होता है। इन उद्वेगों के लिए दूसरे व्यक्तियों के साथ की अपेक्षा नहीं। जीवनारंभ में इन्हीं दोनों के चिह्न हँसना और रोना देखे जाते हैं। यह न समझना चाहिए कि और प्रकार के भाव भी शिशु के हृदय में उमड़ते हैं पर वह उनका बोध नहीं करा सकता। प्रकृति इतना अन्याय कभी नहीं कर सकती। बच्चे के हृदय में उसी रूप में भाव उत्पन्न होते हैं जिस रूप में वह व्यंजित करता है। यह बात इस विचार से प्रत्यक्ष हो जाएगी कि इन्हीं दोनों मनोवेगों से क्रमशः और दूसरे मनोवेगों की उत्पत्ति और विकास होता है। सब मनोवेग दुःख और आनंद ही के सामाजिक विकार हैं। दुःख ही के गर्भ में क्रोध, भय, करुणा, घृणा और ईर्ष्या आदि के भाव रहते हैं जो आगे चलकर समाज के साथ संबंध बढ़ने और शरीर के साथ साथ मानसिक शक्तियों के पुष्ट और प्रशस्त होने पर पृथक् पृथक् रूप में प्रकट होने लगते हैं। जैसे यदि शरीर में कहीं सुई चुभने की पीड़ा हो तो केवल दुःख होगा। पर यदि यह ज्ञान हो जाय कि सुई चुभानेवाला कोई दूसरा व्यक्ति है तो दुःख अनष्टि वा प्रतिकार की प्रबल इच्छा से मिश्रित हो जाएगा और क्रोध कहलावेगा। जिस शिशु को पहले अपने ही दुःख का ज्ञान होता था बढ़ने पर उसे अनुमान द्वारा औरों का क्लेश देखकर भी दुःख होने लगता है जिसे हम करुणा वा दया कहते हैं। इसी प्रकार अज्ञान वा जिस पर अपना वश न हो ऐसे कारण से पहुँचनेवाले भावी अनिष्ट के निश्चय से जो दुःख होता है वह भय कहलाता है। शिशु को जिसे यह निश्चयात्मक बुद्धि नहीं होती भय बिलकुल नहीं होता। यहाँ तक कि उसे मारने के लिए हाथ उठाएँ तो वह विचलित न होगा क्योंकि वह यह नहीं निश्चय कर सकता कि इस हाथ उठाने का परिणाम दुःख होगा।

इसी प्रकार जैसे जैसे संबंध, काल, मात्रा और स्थान आदि का ज्ञान और विवेक शिशु में होता जाता है वैसे ही वैसे उसी आनंद से संतोष, प्रसन्नता, उत्साह, प्रेम, लोभ, आदि फूट फूट कर निकलने लगते हैं। जिस प्रकार दुःख पहुँचानेवाले का ज्ञान होने पर हमें क्रोध होता है उसी प्रकार जिससे आनंद मिला है उसका ज्ञान होने पर हम उस पर प्रसन्न होते हैं और उसे भी प्रसन्न करना चाहते हैं। जो बात हम जैसी चाहते हैं यदि किसी से वैसी ही बन पड़ी तो हमें संतोष होता है। यदि उससे बढ़कर हुई तो हमें प्रसन्नता होती है। इसी प्रकार आनेवाले सुख को सोचकर हमें उत्साह होता है और उसके निमित्त हम किसी कार्य में प्रवृत्त होते हैं। प्रकृति को मनुष्य से काम कराना मंजूर रहता है इसी से सुख के अनुभव की अपेक्षा भावी सुख की आशा बहुत बलवती होती है। संतोष और प्रसन्नता की अपेक्षा उत्साह में कहीं अधिक क्रियोत्पादिनी शक्ति होती है। कोई किसी पर संतुष्ट वा प्रसन्न होगा तो बहुत करेगा उसे कुछ दे दिला देगा पर यदि वह भावी आनंद के अनुमान से उत्साहित होगा तो कोसों पैदल चलेगा, नदी नाले पार करेगा और रात रात भर जागेगा। लोग कहते हैं कि जब हमारा काम हो जाएगा तब तुम्हें इतना देंगे पर जब वह काम हो जाता है तब देने का जी नहीं करता। इसी से कहा गया है कि Man never is but will be happy अर्थात मनुष्य सुखी नहीं है पर सुखी होगा। किसी पर प्रसन्न होकर फिर उसे प्रसन्न करने के लिए जिस भाव की प्रेरणा से हम अनेक प्रकार के आयोजन करते हैं और श्रम उठाते हैं वह भी उत्साह ही कहलाता है क्योंकि उसे प्रसन्न देखकर हमें जो संतोष होगा उसी की चाह से हम दौड़धूप करते हैं। देशोपकारियों के आगमन पर जो उत्साह दिखाया जाता है वह इसी प्रकार का है।

जिससे हमें बराबर किसी प्रकार का सुख मिलता है वा एकबारगी अत्यंत सुख मिलता है उसका ज्ञान होने पर उससे हमें प्रेम हो जाता है अर्थात उसके सामीप्य की एक स्थायी इच्छा जिसे हम एक प्रकार का लोभ कह सकते हैं चित्त में स्थान कर लेती है जो अभाव में बड़ा उग्र रूप धारण करती है। शिशु अपनी माता का दूध पी पी कर सुखी होता है और उससे प्रेम करता है। युवक किसी युवती के रूप गुण आदि को देख कर एकबारगी आनंदित हो उठता है और उसका अत्यंत सान्निध्य चाहता है। इसी से कवि लोग ऐसे प्रेम को 'रूप का लोभ' भी कहते हैं। इधर उधर सुनाई भी पड़ता है कि 'वे उसके रूप पर लुभा गए'।

संसार में दुःख की निवृत्ति की अधिक और चटपट आवश्यकता होती है इसी से उसका इतना स्पष्ट विश्लेषण हुआ है। आनंद के इतने स्पष्ट विभाग नहीं हुए हैं। संतोष, प्रसन्नता, उत्साह आदि के अनुभव प्रायः एक ही से जान पड़ते हैं। उनमें इतना भेद नहीं जान पड़ता जितना क्रोध, भय, करुणा, घृणा, ईर्ष्या आदि में परस्पर मालूम होता है। इससे यह अनुमान होता है कि संसार में जितने रूपों

में दुःख की निवृत्ति की आवश्यकता पड़ती है उतने रूपों में प्राप्त सुख के उपभोग की नहीं। प्रकृति या नियामक आत्मा संसार मे जीवों के लिए कठिनाइयाँ अधिक समझती है इसी से उसने उनको दूर करने के लिए अधिक उग्र उपाय रखे हैं। सारांश यह कि सजीवता दुःख निवृत्ति के लिए छटपटाने ही का नाम है, पड़े पड़े आनंद के चसक लेने का नहीं।

मनुष्य जिस समय होश सँभाल कर समाज में प्रवेश करता है वह अपने आनंद और दुःख के बहुत से अंशों को क्रिया और दशा पर अवलंबित कर अपने जीवन को अधिक विस्तृत और व्यापक बनाता है। इस व्यापकत्व के लिए लालायित होना आत्मा का गुण है। समाज के संसर्ग से ही दुःख और आनंद के अनेक मनोविकारों की सृष्टि होती है। क्रोध, करुणा, ईर्ष्या, राग आदि के आधार के लिए दूसरे प्राणियों और वस्तुओं की अपेक्षा होती है।

दुःख से निकले हुए मनोविकारों की ओर ध्यान देते हुए पहले हम उनको लेते हैं जो दुःख से अपनी रक्षा के हेतु रखे गए हैं, जैसे—क्रोध और भय।

क्रोध

क्रोध दुःख के कारण के साक्षात्कार वा अनुमान से उत्पन्न होता है। साक्षात्कार से मेरा अभिप्राय केवल इंद्रियों पर संघात से नहीं बल्कि दुःख और उसके कारण के संबंध के परिज्ञान से है। जैसे 3-4 महीने के बच्चे को कोई हाथ उठाकर मार दे तो उसने हाथ उठाते तो देखा है पर अपनी पीड़ा और उस हाथ उठाने से क्या संबंध है यह वह नहीं जानता है। अतः वह केवल रोकर अपना दुःख मात्र प्रकट कर देता है। दुःख के कारण के साक्षात्कार के निश्चय के बिना क्रोध का उदय नहीं हो सकता। दुःख के हेतु पर प्रबल प्रभाव डालने में प्रवृत्त करने की मानसिक क्रिया होने के कारण क्रोध का आविर्भाव बहुत पहले देखा जाता है। शिशु अपनी माता की आकृति से अभ्यस्त हो ज्यों ही यह जान जाता है कि दूध इसी से मिलता है, भूखा होने पर वह उसकी आहट या रोने में कुछ क्रोध के चिह्न दिखाने लगता है।

सामाजिक जीवन के लिए क्रोध की बड़ी आवश्यकता है। यदि क्रोध न हो तो जीव बहुत से दुःखों की चिर निवृत्ति के लिए यत्न ही न करे। कोई मनुष्य किसी दुष्ट के नित्य दो चार प्रहार सहता है। यदि उसमें क्रोध का विकास नहीं हुआ है तो वह केवल आह ऊह करेगा जिसका उस दुष्ट पर कोई प्रभाव नहीं। उस दुष्ट के हृदय में दया आदि उत्पन्न करने में बड़ी देर लगेगी। प्रकृति किसी को इतना समय ऐसे छोटे छोटे कामों के लिए नहीं दे सकती। भय के द्वारा भी प्राणी अपनी रक्षा करता है पर समाज में इस प्रकार की दुःख निवृत्ति चिर स्थायिनी नहीं होती। मेरे कहने का यह अभिप्राय नहीं कि क्रोध के समय क्रोधकर्ता के हृदय

में भावी दुःख से बचने या औरों को बचाने की इच्छा ही रहती है बल्कि प्रकृति ने क्रोध को इसी अभिप्राय से रखा है।

ऊपर कहा जा चुका है कि क्रोध दुःख के कारण के परिज्ञान या साक्षात्कार से होता है। अतः एक तो जहाँ इस ज्ञान में त्रुटि हुई वहाँ क्रोध धोखा देता है। दूसरी बात यह है कि क्रोध जिस ओर से दुःख आता है उसी ओर देखता है अपने धारणाकर्ता की ओर नहीं। जिससे दुःख पहुँचा है या पहुँचेगा उसका नाश हो वा उसे दुःख पहुँचे यही क्रोध का लक्ष्य है, जिसे दुख पहुँचा है उसका फिर क्या होगा इससे उसे कुछ सरोकार नहीं। इसी से एक तो मनोवेग ही एक दूसरे को परिमित किया करते हैं दूसरे विचारशक्ति भी उनपर अंकुश रखती है। यदि क्रोध इतना उग्र हुआ कि हृदय के दुःख के कारण की अवरोधावरोधिनी शक्ति के रूप और परिमाण के विचार तथा भय आदि और विचारों के संचार के लिए जगह ही न रही तो बहुत हानि पहुँच जाती है। जैसे कोई सुने कि उसका शत्रु बीस आदमी लेकर उसे मारने आ रहा है। और वह चट क्रोध से व्याकुल होकर बिना शत्रु की शक्ति का विचार या भय किए उसे मारने के लिए अकेला दौड़े तो उसके मारे जाने में बहुत कम संदेह है। अतः कारण के यथार्थ निश्चय के उपरांत आवश्यक मात्रा में ही क्रोध वह काम दे सकता है जिसके लिए उसका विकास होता है।

कभी कभी लोग अपने कुटुम्बियों या स्नेहियों से झगड़कर उन्हें थोड़ा सा दुःख पहुँचाने के अभिप्राय से अपना सिर तक पटक देते हैं। यह सिर पटकना अपने को दुःख पहुँचाने के अभिप्राय से नहीं होता क्योंकि बिलकुल बेगानों के साथ कोई ऐसा नहीं करता। जब किसी को क्रोध में सिर पटकते देखें तो समझ लेना चाहिए कि उसका क्रोध ऐसे व्यक्ति के ऊपर है जिसे उसके सिर पटकने की परवाह है अर्थात् जिसे उसके सिर फूटने से यदि उस समय नहीं तो आगे चलकर दुःख पहुँचेगा।

क्रोध का वेग इतना प्रबल होता है कि कभी कभी मनुष्य यह विचार नहीं करता कि जिसने दुःख पहुँचाया है उसमें दुःख पहुँचाने की इच्छा थी या नहीं। इसी से कभी तो वह अचानक पैर कुचल जाने पर किसी को मार बैठता है और कभी ठोकर खाकर कंकड़ पत्थर तोड़ने लगता है। चाणक्य ब्राह्मण अपना विवाह करने जाता था। मार्ग में कुश उसके पैर में गड़े। वह चट मट्ठा और कुदाली लेकर पहुँचा और कुशों को उखाड़ उखाड़ कर उनकी जड़ों में मट्ठा देने लगा। मैंने देखा कि एक ब्राह्मण देवता चूल्हा फूँकते फूँकते हैरान हो गए, जब आग नहीं जली, तब उस पर कोप करके चूल्हे में पानी डाल किनारे हो गए। इस प्रकार का क्रोध असंस्कृत है। यात्रियों ने बहुत सी ऐसी जंगली जातियों का हाल लिखा है जो रास्ते में पत्थर की ठोकर लगने पर बिना उसको चूर चूर किए आगे नहीं बढ़ते। इस

प्रकार का क्रोध अपने दूसरे भाइयों के स्थान को दबाए हुए है। अधिक अभ्यास के कारण यदि कोई मनोवेग अधिक प्रबल पड़ गया तो वह ऊपर कहे हुए विश्लेषण को व्यर्थ कर मनुष्य को फिर बचपन से मिलती जुलती अवस्था में ले जाकर पटक देता है।

जिससे एक बार दुःख पहुँचा पर उसके दोहराए जाने की संभावना कुछ भी नहीं है उसको जो कष्ट पहुँचाया जाता है वह प्रतिकार कहलाता है। एक दूसरे से अपरिचित दो आदमी रेल पर चले जाते हैं। इनमें से एक को आगे ही के स्टेशन पर उतरना है। स्टेशन तक पहुँचते पहुँचते बात ही बात में एक ने दूसरे को एक तमाचा जड़ दिया और उतरने की तैयारी करने लगा। अब दूसरा मनुष्य भी यदि उतरते उतरते उसको एक तमाचा लगा दे तो यह उसका प्रतिकार या बदला कहा जायगा क्योंकि उसे फिर उसी व्यक्ति से तमाचे खाने की संभावना का कुछ भी निश्चय नहीं था। जहाँ और दुःख पहुँचाने की कुछ भी संभावना होगी वहाँ शुद्ध प्रतिकार नहीं होगा। हमारा पड़ोसी कई दिनों से नित्य आकर हमें दो चार अंड बंड सुना जाता है। यदि हम उसको एक दिन पकड़ कर पीट दें तो हमारा यह कर्म शुद्ध प्रतिकार नहीं कहलावेगा क्योंकि नित्य गाली सुनने के दुःख से बचने के परिणाम की ओर भी हमारी दृष्टि रही। इन दोनों अवस्थाओं को ध्यानपूर्वक देखने से पता लगेगा कि दुःख से उद्विग्न होकर दुःखदाता को कष्ट पहुँचाने की प्रवृत्ति दोनों में है, पर एक में वह परिणाम इत्यादि के विचार को बिलकुल छोड़े हुए है और दूसरे में कुछ लिए हुए। इनमें से पहले प्रकार का क्रोध निष्फल समझा जाता है। पर थोड़े धैर्य के साथ सोचने पर जान पड़ेगा कि इस प्रकार के क्रोध से स्वार्थ साधन तो नहीं होता पर परोक्ष रूप में परमार्थ साधन अवश्य हो जाता है। दुःख पहुँचानेवाले से हमें फिर दुःख पहुँचने का डर न सही पर समाज को है। इससे उसे उचित दंड देने से पहले तो उसी की शिक्षा या भलाई हो जाती है फिर समाज के और लोगों का भी बचाव हो जाता है। क्रोधकर्ता की दृष्टि तो इन परिणामों की ओर नहीं रहती है पर सृष्टिविधान में इस प्रकार की क्रोध की नियुक्ति है इन्हीं परिणामों के लिए।

क्रोध सब मनोविकारों से फुरतीला है इसीलिए अवसर पड़ने पर यह और दूसरे भी मनोविकारों का साथ देकर उनकी सहायता करता है। कभी वह दया के साथ कूदता है कभी घृणा के। एक क्रूर कुमार्गी किसी अनाथ अबला पर अत्याचार कर रहा है। हमारे हृदय में इस अनाथ अबला के प्रति दया उमड़ रही है। पर दया की पहुँच तो आर्त ही तक है। यदि वह स्त्री भूखी होती तो हम उसे कुछ रुपया पैसा देकर अपने दया के वेग को शांत कर लेते। पर यहाँ तो उस दुःख का हेतु मूर्तिमान तथा अपने विरुद्ध प्रयत्नों को ज्ञानपूर्वक व्यर्थ करने की शक्ति रखनेवाला है। ऐसी अवस्था में क्रोध ही उस अत्याचारी के दमन के लिए उत्तेजित

करता है जिसके बिना हमारी दया ही व्यर्थ जाती है। क्रोध अपनी इस सहायता के बदले में दया के यश को नहीं बाँटता। यद्यपि काम क्रोध करता है पर नाम दया का ही होता है। लोग यही कहते हैं उसने दया करके बचा लिया। क्रोध दया का साथ न दे तो दया अपने अनुकूल प्रमाण उपस्थित ही नहीं कर सकती। एक अघोरी हमारे सामने मक्खियाँ मार मारकर खा रहा है और हमें घिन लग रही है। हम उससे नम्रतापूर्वक हटने के लिए कह रहे हैं और वह नहीं सुन रहा है। चट हमें क्रोध आ जाता है और हम उसे बलात् हटाने में प्रवृत्त हो जाते हैं।

बैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है। जिससे हमें दुःख पहुँचा उसपर हमने जो क्रोध किया वह यदि हमारे हृदय में बहुत दिनों तक टिका रहा तो वह बैर कहलाता है। इस स्थायी रूप में टिक जाने के कारण क्रोध की क्षिप्रता और हड़बड़ी तो कन हो जाती है पर वह और धैर्य, विचार और युक्ति, के साथ दुःखदाता को पीड़ित करने की प्रेरणा बराबर बहुत काल तक किया करता है। क्रोध अपना बचाव करते हुए शत्रु को पीड़ित करने की युक्ति आदि सोचने का समय नहीं देता पर बैर इसके लिए बहुत समय देता है। वास्तव में क्रोध और बैर में केवल काल भेद है। दुःख पहुँचने के साथ ही दुःखदाता को पीड़ित करने की प्रेरणा क्रोध और कुछ काल बीत जाने पर बैर है। किसी ने हमें गाली दी। यदि हमने उसी समय उसे मार दिया तो हमने क्रोध किया। अब मान लीजिए कि वह गाली देकर भाग गया और दो महीने बाद हमें कहीं मिला। अब यदि फिर बिना गाली दिए हमने उसे मिलने के साथ ही मार दिया तो यह हमारा बैर निकालना हुआ। इस विवरण से स्पष्ट है कि बैर उन्हीं प्राणियों में होता है जिनमें धारणा या भावों के संचय की शक्ति होती है। पशु और बच्चे किसी से बैर नहीं मानते। वे क्रोध करते हैं और थोड़ी देर के बाद भूल जाते हैं। क्रोध का यह स्थायी रूप भी आपदाओं की पहिचान करा कर उनसे बहुत काल तक बचाए रखने के लिए दिया गया है।

भय

क्रोध के समान भय भी दुःख से बचाने के कार्य पर नियुक्त है। पर इन दोनों में अंतर यह है कि क्रोध दुःख के निमित्त पर प्रभाव डालने के लिए आकुल करता है और भय उसकी पहुँच से अपने को बाहर करने के लिए। क्रोध का कार्य जैसा बड़ा और विचारापेक्ष है वैसे ही उसका फल भी अधिक स्थायी है अर्थात् वह क्रोध की स्थिति के अनंतर भी या तो बराबर या बहुत दिनों तक रहता है। पर ऐसे सज्ञान प्राणियों के बीच जिनमें भाव बहुत काल तक संचित रहते हैं और ऐसे उन्नत समाज में जहाँ एक व्यक्ति के पहुँच और परिचय का विस्तार बहुत बड़ा होता है प्रायः भय का फल भय के भोग काल तक ही रहता है। जहाँ वह भय भूला कि आफत आई। यदि कोई मनुष्य किसी बात पर आप से बुरा मान गया और

आप को मारने के लिए दौड़ा तो उस समय भय के उद्वेग में आप भाग कर अपने को बचा लेंगे। पर संभव है कि उस मनुष्य का क्रोध जो आप पर है वह उसी समय दूर न हो जाय बल्कि कुछ दिन के लिए बैर के रूप में टिक जाय तो उसके लिए आपके सामने आना फिर कोई कठिन बात नहीं होगी। प्राणियों की अनुन्नत दशा ही में भय से अधिक काम निकलता है जबकि भावों के संचय की शक्ति नहीं होती और समाज का ऐसा उन्नत गठन नहीं होता कि बहुत से लोगों को एक दूसरे का पता और उनके विषय में जानकारी रहती हो। जंगली मनुष्यों के परिचय का विस्तार बहुत थोड़ा होता है। बहुत सी ऐसी जंगली जातियाँ हैं जिनमें कोई एक व्यक्ति बीस से अधिक आदमियों को नहीं जानता। अतः उसे दस या पन्द्रह कोस ही पर रहनेवाला यदि कोई दूसरा जंगली मिले और मारने दौड़े तो वह भागकर अपनी रक्षा उसी समय तक के लिए नहीं बल्कि सब दिन के लिए कर सकता है। पर सभ्य, उन्नत और विस्तृत समाज में भय के द्वारा स्थायी रक्षा की उतनी संभावना नहीं होती। इसी से जंगली और असभ्य जातियों में ही भय अधिक होता है। उनके देवी देवता भय द्वारा ही कल्पित हैं। किसी आपत्ति वा दुःख से बचने के लिए ही वे उसकी पूजा करते हैं। अति भय असभ्यता का पहला लक्षण है। अशिक्षित होने के कारण अधिकांश भारतवासी भी भय के उपासक हैं। वे जितना सम्मान एक थानेदार या तहसीलदार का करते हैं उतना किसी विद्वान् या कॉलेज के अध्यापक का नहीं। जब तक यह दशा रहे तब तक भारत को असभ्य समझना चाहिए और जब इसका विपर्यय देख पड़े तब उसकी उन्नति में संदेह न करना चाहिए।

चलने फिरने वाले बच्चों में जिनमें भाव देर तक नहीं टिकते और दुःख परिहार का ज्ञान वा बल नहीं होता भय अधिक होता है। बहुत से बच्चे तो किसी अपरिचित आदमी को देखते ही घर के भीतर भागते हैं। पशुओं में भी भय अधिक देखा जाता है।

दुःख के चेतन कारण का ज्ञान हुए बिना प्रायः क्रोध नहीं होता पर भय को कारण के निर्दिष्ट किए जाने की आवश्यकता नहीं है, इतना भर मालूम हो जाना चाहिए कि दुःख पहुँचेगा। यदि कोई किसी से आकर कहे कि कल तुम्हारे हाथ पाँव टूट जाएँगे तो उसे क्रोध नहीं आवेगा पर भय हो सकता है। पर यदि उसी से कहा जाय कि 'कल दो एक आदमी (चाहे उनका नाम न भी लिया जाय) तुम्हारा हाथ पैर तोड़ देंगे तो वह तुरंत त्योरी बदल कर कहेगा कि 'कौन हैं हाथ पैर तोड़ने वाले, देखेंगे।'

क्लेश के कारण के ज्ञान होने पर जो भय होता है उसमें उस कारण पर प्रभाव डालने की अक्षमता का अवश्य निश्चय होता है। यदि यह निश्चय ठीक हुआ तब तो भय को अपने उचित स्थान पर समझना चाहिए। यदि यह निश्चय

कठिनाइयों और आपत्तियों को दूर करने के अनभ्यास के कारण स्वभाव के अंतर्गत आ गया है तो उसे कायरता कहना चाहिए।

दुःख के निश्चय के अभाव में केवल संभावना के अनुमान से जो भय होता है उसे आशंका कहते हैं। वह इतनी प्रबल नहीं होती। जैसे कोई जंगल में चला जाता है और रास्ते भर डरता है कि कहीं बाघ न मिल जाय। यदि उसे ठीक ठीक भय होता तो वह लौट जाता, आगे पैर ही न रखता। दुःख की कोटि में जो स्थान भय का है आनंद के विभाग में वही उत्साह का है। भय के अनुग्र रूप आशंका का उलटा आशा है।

भय दो प्रकार का होता है, एक असाध्य और दूसरा साध्य। असाध्य भय वह है जिसमें यह पूरा निश्चय हो जाय कि चाहे हम किसी अवस्था में रहें दुःख अवश्य ही पहुँचेगा।

साध्य भय वह है जिसमें जिस अवस्था में मनुष्य है उसी अवस्था में बने रहने से किसी ज्ञात कारण द्वारा दुःख पहुँचने का निश्चय हो। इसमें मनुष्य को बचाव के लिए प्राप्त अवस्था से भिन्न अवस्था में होना पड़ता है, यद्यपि कभी कभी इस अवस्थांतर से भी उसकी रक्षा नहीं होती। दो मनुष्य एक पहाड़ी नदी के किनारे बैठे वा आनंद से बातचीत करते चले जा रहे हैं। इतने में सामने शेर की आहट मालूम हुई। अब इन दोनों व्यक्तियों को उसी अवस्था में रहने से अर्थात् बैठे ही रह जाने वा जिस ओर जिस प्रकार से जा रहे हैं उसी ओर उसी प्रकार चलते रहने से आपत्ति का निश्चय है। अतः यदि वे बैठै हैं तो उठकर भागने वा पेड़ इत्यादि पर चढ़ने का यत्न करेंगे और यदि चले जा रहे हैं तो जितने वेग से जा रहे हैं उससे अधिक वेग से किसी दूसरी ओर जिधर छिपने के लिए स्थान होगा उधर चलेंगे।

जिस कार्य के करने से मनुष्य को भय होगा उस कार्य के करने के पहले भी लोग कहते हैं कि उस कार्य से भय मालूम होता है। जैसे कोई किसी से कहे कि इस गड्ढे को फाँद जाओ वा जिधर शेर बैठा है उधर से निकल जाओ और वह कहे कि डर मालूम होता है तो उसे यथार्थ में डर नहीं मालूम होता है बल्कि हिचक मालूम होती है। भय से उसका चित्त तो उस समय विचलित होगा जब वह कार्य को आरम्भ कर देगा वा करता होगा। हाँ, भय लगने का भय मालूम होता हो तो बात दूसरी है। जब तक दुःख का उपादान अपनी क्रिया से हमारा सामीप्य लाभ करता न जान पड़ेगा तब तक यथार्थ में भय न जान पड़ेगा। जब तक कुएँ में गिरना वा न गिरना, शेर की माँद में जाना वा न जाना अपने हाथ में है तब तक भय कैसा। हिचक वह है जिससे लोग कोई काम करें ही नहीं और भय वह है जिससे लोग करते हुए काम ही छोड़ दें।

(नागरीप्रचारिणी पत्रिका, जुलाई 1912)

घृणा

सृष्टि विस्तार से अभ्यस्त होने पर प्राणियों को कुछ विषय ग्राह्य और कुछ अग्राह्य प्रतीत होने लगते हैं। इन अग्राह्य विषयों के उपस्थित होने पर जो दुःख होता है उसे घृणा कहते हैं। सुबीते के लिए हम यहाँ घृणा के दो विभाग करते हैं–स्थूल और मानसिक। स्थूल घृणा, आँख, कान और नाक इन्हीं तीन इन्द्रियों से संबंध रखती है। हम चिपटी नाक और कानी आँख से सुसज्जित चेहरे को देख घृणा करते हैं। खरस्वान खर्राट की तान सुनकर कान में उँगली डालते हैं और म्युनिसिपैलिटी की मैलागाड़ी सामने आने पर नाक पर रूमाल रखते हैं। रस और स्पर्श अकेले घृणा नहीं उत्पन्न कर सकते। रस का भला या बुरा अनुभव तो कई अंशों में घ्राण से मिला हुआ है। यहाँ पर यह न समझना चाहिए कि हम इन्द्रियानुभव और मनोवेग को एक करते हैं। विषष का भला व बुरा लगना उसका ज्ञान मात्र नहीं है कुछ और भी है। मानसिक घृणा मन में कुछ अपनी ही क्रिया से आरोपित और कुछ शिक्षा द्वारा प्राप्त आदर्शों के प्रतिकूल विषयों की उपस्थिति से उत्पन्न होती है। यह मानसिक घृणा स्थूल घृणा से भिन्न है। निर्लज्जता की कथा कितनी ही सुरीली तान में सुनायी जाय घृणा उत्पन्न ही करेगी। कैसा ही गंदा आदमी परोपकार करे उसे देख श्रद्धा उत्पन्न हुए बिना न रहेगी। आनंद की कोटि में मानसिक घृणा का उलटा श्रद्धा है।

ऐसे अग्राह्य और प्रतिकूल विषयों के उपस्थित काल में इन्द्रिय वा मन का व्यापार अच्छा नहीं लगता, इससे या तो प्राणी ऐसे विषयों को दूर करना चाहता है अथवा अपने इन्द्रिय वा मन के व्यापार को बंद करना। इसके अतिरिक्त वह और कुछ नहीं करना चाहता। क्रोध और घृणा में जो अंतर है वह यहाँ देखा जा सकता है। क्रोध का विषय पीड़ा वा हानि पहुँचानेवाला होता है इससे क्रोधी उसे नष्ट करने में प्रवृत्त होता है। घृणा का विषय इन्द्रिय वा मन के व्यापार में संकोच मात्र उत्पन्न करनेवाला है। इसी से मनुष्य को उतना उग्र उद्वेग नहीं होता और वह घृणा के विषय की हानि करने में तुरंत बिना कुछ और विचार किए प्रवृत्त नहीं होता। हम अत्याचारी पर क्रोध और व्यभिचारी पर घृणा करते हैं। क्रोध और

घृणा के बीच एक अन्तर और ध्यान देने योग्य है। घृणा का विषय हमें घृणा का दुःख पहुँचाने के विचार से हमारे सामने उपस्थित नहीं होता पर क्रोध का चेतन विषय हमें आघात वा पीड़ा पहुँचाने के उद्देश्य से हमारे सामने उपस्थित होता है वा समझा जाता है। न दुर्गंध ही इसलिए हमारी नाक में घुसती है कि हमें घिन लगे और न व्यभिचारी ही इसलिए व्यभिचार करता है कि हमें उसकी करतूत सुन उससे घृणा करने का दुःख उठाना पड़े। यदि घृणा का विषय जानबूझ कर हमें घृणा का दुःख पहुँचाने के अभिप्राय से हमारे सामने उपस्थित हो तो हमारा ध्यान उस घृणा के विषय से हटकर उसकी उपस्थिति के कारण की ओर हो जाता है और हम क्रोध साधन में तत्पर हो जाते हैं। यदि आपको किसी के पीले दाँत देख घिन लगेगी तो आप अपना मुँह दूसरी ओर फेर लेंगे उसके दाँत नहीं तोड़ने जायँगे। पर यदि जिधर जिधर आप मुँह फेरते हैं उधर उधर वह भी आकर खड़ा हो तो आश्चर्य नहीं कि वह थप्पड़ खा जाय। यदि होली में कोई गंदी गालियाँ बकता चला जाता है तो घृणा मात्र लगने पर आप उसे मारने न लग जायँगे उससे दूर हटेंगे पर यदि जहाँ जहाँ आप जाते हैं वहाँ वहाँ वह भी आपके साथ साथ अश्लील बकता जाता है तो आप उसपर टूट पड़ेंगे।

घृणा के दुःख और पीड़ा के बीच जो अन्तर है वह स्पष्ट है। वज्रपात के शब्द का अनुभव भद्दे गले के आलाप के अनुभव से भिन्न है। आँख में किरकिरी पड़ना और बात है सड़ी बिल्ली सामने आना और बात। यदि कोई स्त्री आपके सामने मीठे शब्दों में कलुषित प्रस्ताव करे तो उसके प्रति आपको घृणा होगी पर वही स्त्री यदि आपको छड़ी लेकर मारने आवे तो आप उस पर क्रोध करेंगे। घृणा का भाव शांत है, उसमें क्रियोत्पादिनी शक्ति नहीं है। घृणा निवृत्ति का मार्ग दिखलाती है और क्रोध प्रवृत्ति का। यदि हम किसी से घृणा करेंगे तो बहुत करेंगे उसकी राह बचाएँगे। उससे बोलेंगे नहीं पर यदि किसी पर आप क्रोध करेंगे तो ढूँढ़कर उससे मिलेंगे और उसे और नहीं तो दस पाँच ऊँची नीची सुनावेंगे। घृणा विषय से दूर ले जानेवाली है और क्रोध हानि पहुँचाने की प्रवृत्ति उत्पन्न कर विषय के पास ले जानेवाला है। कहीं कहीं घृणा क्रोध का शांत रूपांतर प्रतीत होती है। साधारण लोग जिन बातों पर क्रोध करते देखे जाते हैं साधु लोग उनसे घृणा मात्र करके, और यदि साधुता ने बहुत जोर दिया तो उदासीन ही होकर रह जाते हैं। दुर्जनों की गाली सुनकर साधारण लोग क्रोध करते हैं पर साधु लोग उपेक्षा ही करके संतोष कर लेते हैं। जो क्रोध एक बार उत्पन्न होकर सामान्य लोगों में बैर के रूप में टिक जाता है वही क्रोध साधु लोगों में घृणा के रूप में टिकता है। दोनों के जो भिन्न भिन्न परिणाम हैं वे प्रत्यक्ष हैं। यदि जिसपर एक बार क्रोध उत्पन्न हुआ उसका व्यवहार आकस्मिक है तो बैर कर बैठना और यदि बराबर अग्रसर होनेवाला

है तो घृणा मात्र करना निष्फल है।

आजकल की बनावटी सभ्यता वा शिष्टता में 'घृणा' शब्द बैर वा क्रोध को छिपाने का काम दे जाता है। यदि हमें किसी से बैर है तो हम दस पाँच सभ्यों के बीच बैठकर कहते हैं कि हमें उससे घृणा है। इस बात से हमारी चालाकी प्रत्यक्ष है। बैर का आधार व्यक्तिगत है, घृणा का सार्वजनिक। बैर के नाम पर यह समझा जाता है कि कहीं दो वा अधिक मनुष्यों के लक्ष्य का परस्पर विरोध हुआ है पर घृणा का नाम सुनकर अधिकतर यही अनुमान होता है कि समाज के लक्ष्य वा आदर्श का विरोध हुआ है। बैर करना एक छोटी बात समझी जाती है अतः बैर के स्थान पर घृणा का नाम ले लेने से हमारा बदला और बचाव दोनों हो जाता है।

स्थूल घृणा के विषय प्रायः सब मनुष्यों के लिए समान हैं। सुगंध और दुर्गंध, सौंदर्य और भद्दापन इत्यादि के विषय में प्रायः एक मत रहता है। यह दूसरी बात है कि एक प्रकार की सुगंध की अपेक्षा दूसरी प्रकार की सुगंध किसी को बहुत अच्छी लगे, पर गुलाब की गंध को कोई दुर्गंध नहीं कहेगा। मानसिक घृणा और श्रद्धा के मूलाधार भी सब मनुष्यों में समान और निर्दिष्ट हैं। वेश्यागमन, जुआ, मद्यपान, स्वार्थपरता, कायरता, आलस्य, लंपटता, पाषंड, अनधिकार चर्चा, मिथ्याभिमान आदि विषय उपस्थित होने पर सब मनुष्य घृणा करने के लिए विवश हैं। इसी प्रकार से स्वार्थ, परोपकार, इन्द्रियसंयम आदि पर श्रद्धा होना एक प्रकार स्वाभाविक सा हो गया है। मतभेद वहाँ देखा जाता है जहाँ और और विषयों को पार कर लोग अनुबंध द्वारा इन मूलाधारों तक पहुँचते हैं। यदि एक ही व्यापार में एक आदमी को घृणा मालूम हो रही है और दूसरे को नहीं तो यह समझना चाहिए कि पहला उस व्यापार के आगे पीछे चारों ओर जिन रूपों की उद्‌भावना करता है दूसरा नहीं। दलबल सहित भरत को वन में आते देख निषाद को उनके प्रति घृणा उत्पन्न हो रही है और राम को नहीं। क्योंकि निषादराज भरत के आगमन में असहाय राम को मार निष्कंटक राज्य करने की उद्‌भावना करता है और राम नहीं। इस प्रकार के भेद का कारण मनुष्य के अनुबंध ज्ञान की उलटी गति है। सृष्टि का क्रम मूल आधार से सिद्ध रूपों की ओर चलता है, पर अनुबंध ज्ञान का क्रम या तो सिद्ध रूप के पीछे मूल आधार की ओर जाता है अथवा आगे परिणाम की कल्पना करता है। प्रत्येक व्यक्ति के अनुबंध ज्ञान की गति एक ही ओर को नहीं हो सकती। किसी सिद्ध रूप को पाकर हर एक आदमी अनुबंध द्वारा उससे वास्तविक संबंध रखनेवाले अतः समान रूपों तक नहीं पहुँच सकता। एक बात को देखकर हर एक आदमी उसका एक ही वा समान कारण और परिणाम नहीं बतलावेगा। किसी रियासत के नौकर ने अपने एक मित्र से कहा कि "तुम कभी भूलकर भी इस रियासत में नौकरी न करना।" इस कथन में एक आदमी को तो हित कामना की झलक

दिखलाई पड़ रही है और दूसरे को ईर्ष्या की। इससे एक उसपर श्रद्धा करता है दूसरा घृणा। जहाँ घृणा के मूलाधार प्रत्यक्ष रूप में हमारे सामने आते हैं वहाँ कोई मतभेद नहीं दिखाई देता। पर कभी कभी ये विषय स्वयं हमारे सामने नहीं आते, उनके अनुमानित आभास हमारे सामने रहते हैं जो और और विषयों (आधारों) के भी आभास हो सकते हैं। घृणा संबंधी इस प्रकार का मतभेद सभ्य जातियों में जिनमें उद्देश्यों के छिपाने की चाल बहुत है, अधिक देखा जाता है। एक ही आदमी को कोई परम धार्मिक राजनीतिक नेता समझता है कोई मक्कार। एक ही राजकीय कार्रवाई को कोई व्यापार की स्वतंत्रता प्राप्ति का प्रयत्न समझता है कोई राज्य का लोभ।

मूसाई और ईसाई लोग देवपूजकों से इसलिए घृणा नहीं करते कि वे छोटी छोटी वस्तुओं पर श्रद्धा भक्ति करते हैं बल्कि यह समझकर कि वे उनके जमीन और आसमान बनानेवाले खुदा से दुश्मनी किए बैठे हैं। अपने बनाने और पालने वाले से बैर ठानना कृतघ्नता है। अतः उनकी घृणा आरोपित कृतघ्नता के प्रति है देवपूजा के प्रति नहीं। संस्कार द्वारा ऐसे आरोपों पर यहाँ तक विश्वास बढ़ा कि अरब और यहूद की धर्म पुस्तकों में मूर्तिपूजन वा देवाराधन महापातक ठहराया गया। अँगरेज कवि मिल्टन ने प्राचीन जातियों के देवताओं को शैतान की फौज के सरदार बनाकर बड़ी ही संकीर्णता और कट्टरपन का परिचय दिया है। सीधे सादे गोस्वामी तुलसीदासजी से भी बिना यह कहे न रहा गया—

जे परिहरि हरिहर चरण भजहिं भूत गण घोर।
तिनकी गति मोहिं देहु विधि जो जननी मत मोर॥

भिन्न भिन्न मत वालों में जो परस्पर घृणा देखी जाती है वह अधिकतर ऐसे ही आरोपों के कारण है। एक के आचार विचार से जब दूसरा घृणा करता है तब उसकी दृष्टि यथार्थ में उस आचार विचार पर नहीं रहती है बल्कि ऊपर लिखे घृणा के सामान्य मूलाधारों में से किसी पर रहती है।

घृणा के विषय में मतभेद का एक और कारण ग्राह्य और अग्राह्य होने के लिए विषम मात्रा की अनियति है। सृष्टि में बहुत सी वस्तुओं के बीच की सीमाएँ अस्थिर हैं। एक ही वस्तु व्यापार वा गुण किसी मात्रा में श्रद्धा का विषय है किसी मात्रा में अश्रद्धा का। इसके अतिरिक्त शिक्षा और संस्कार के कारण एक ही मात्रा का प्रभाव प्रत्येक हृदय पर एक ही प्रकार का नहीं पड़ता। यह नहीं है कि एक बात एक आदमी को जहाँ तक अच्छी लगती है वहाँ तक दूसरे को भी अच्छी लगे। मन में प्रतिकूल बातें रखकर मुँह पर अनुकूल बातें करनेवाले को एक आदमी शिष्ट और दूसरा कुटिल कहता है। उपचार वा मुँह पर प्रसन्न करनेवाली बात कहने को जहाँ तक एक आदमी शिष्टता समझता चला जाता है दूसरा वहाँ से कुटिलता का आरंभ मान लेता है। दो चार बार किसी आदमी को थोड़ी थोड़ी बात पर रोते

वा कोप करते देखकर एक तो उसको दुर्बल चित्त और उद्वेगशील समझता है और दूसरा उसी को थोड़ी थोड़ी बात पर विलाप करते और आपे के बाहर होते दस बार देखकर भी उसे सहृदय कहता है। रसिक लोग शुष्क हृदय लोगों से घृणा करते हैं और शुष्क हृदय लोग रसिकों से। यदि ये दोनों मिलकर एक दिन शुष्कता और रसिकता की सीमा तय कर डालें तो झगड़ा मिट जाय। शुष्क हृदय लोग नाप तौल कर बतला दें कि यहाँ तक की रसिकता शोहदापन या विषयासक्ति नहीं है और रसिक लोग यह बतला दें कि यहाँ तक की शुष्कता कठोर हृदयता नहीं है, बस झगड़ा साफ। पर यह हो नहीं सकता। दृढ़ता और हठ, धीरता और आलस्य, सहनशीलता और भीरुता, उदारता और फिजूलखर्ची, किफायत और कंजूसी आदि के बीच की सीमाएँ सब मनुष्यों के हृदय में न एक हैं और न एक होंगी।

मनोवेग दो प्रकार के होते हैं—प्रत्यावर्ती और अनावर्ती। प्रत्यावर्ती वे हैं जो एक के हृदय में दूसरे के प्रति उत्पन्न होकर दूसरे के हृदय में भी पहले के प्रति उत्पन्न हो सकते हैं, जैसे—क्रोध, घृणा, प्रेम इत्यादि। जिस पर हम क्रोध करेंगे वह हमारे क्रोध के कारण हम पर भी क्रोध कर सकता है। जिससे हम प्रेम करेंगे वह हमारे प्रेम को देख हमसे भी प्रेम कर सकता है। अनावर्ती मनोवेग जिसके प्रति उत्पन्न होते हैं उसके हृदय में यदि करेंगे तो सदा दूसरे भावों की सृष्टि करेंगे। इनके अंतर्गत भय, दया, ईर्ष्या आदि हैं। जिससे हम भय करेंगे वह हमसे हमारे भय के प्रभाव से भय नहीं करेगा बल्कि हम पर दया करेगा। जिसपर हम दया करेंगे वह हमारी दया के कारण हमपर दया नहीं करेगा बल्कि श्रद्धा करेगा। जिससे हम ईर्ष्या करेंगे वह हमारी ईर्ष्या को देख हमसे ईर्ष्या नहीं करेगा बल्कि घृणा करेगा।

प्रत्यावर्ती मनोवेग सजातीय संयोग पाकर बहुत जल्दी बढ़ते हैं। एक के क्रोध को देख दूसरा क्रोध करेगा, दूसरे के क्रोध को देख पहले का क्रोध बढ़ेगा, पहले का क्रोध देख दूसरे का क्रोध बढ़ेगा, इस प्रकर एक अत्यंत भीषण क्रोध का दृश्य उपस्थित हो सकता है। इसी प्रकार एक के प्रेम को देख, दूसरे को प्रेम हो सकता है, दूसरे के प्रेम को बढ़ते देख दूसने का प्रेम और बढ़ सकता है और अन्त में रात रात भर करवटें बदलते रहने की नौबत आ सकती है। अस्तु, प्रत्यावर्ती मनोवेगों से बहुत सावधान रहना चाहिए।

अनावर्ती मनोवेग का ऐसे विजातीय मनोवेगों से संयोग होता है जिनसे उनकी वृद्धि नहीं हो सकती है। जिससे हम भय करेंगे वह हमपर दया करेगा। उसकी दया को देख हमारा भय बढ़ेगा नहीं। हमें जिससे भय प्राप्त हुआ है उसमें फिर क्रोध को देख हमारा भय बढ़ सकता है, पर हमारे भय के कारण उसमें नया क्रोध उत्पन्न नहीं होगा। अपने ऊपर किसी को दया करते देख हम श्रद्धा प्रगट करेंगे, हमारी श्रद्धा से उसकी दया तत्क्षण बढ़ेगी नहीं। श्रद्धा पर दया नहीं होती है, दया

होती है क्लेश पर। श्रद्धा पर जो वस्तु हो सकती है वह कृपा है। जिसपर हमें दया उत्पन्न हुई है उसको और क्लेशित वा भयभीत देखकर हमारी दया बढ़ सकती है। पर हमें दया करते देख (उस दया के कारण) उसका क्लेश वा भय बढ़ेगा नहीं। किसी की अपने प्रति ईर्ष्या देखकर हम उससे घृणा प्रगट करेंगे। हमारी घृणा उसमें नई ईर्ष्या उत्पन्न कर उसकी ईर्ष्या बढ़ावेगी नहीं। घृणा पर ईर्ष्या नहीं होती है। ईर्ष्या होती है किसी की उन्नति वा बढ़ती देखकर। प्रतिकार के रूप में जो अहित कामना उत्पन्न होती है वह ईर्ष्या नहीं है। घृणा के बदले में तो घृणा, क्रोध वा बैर होता है।

यह जानकर कि घृणा प्रत्यावर्ती मनोविकारों में से है लोगों को बहुत समझ बूझकर उसे स्थान देना और प्रकट करना चाहिए। अनुपयुक्त घृणा की स्थिति से अभाव रूप में और उपयुक्त घृणा के प्रदर्शन से कभी कभी भाव रूप में हानि पहुँच सकती है। ऊपर कहा जा चुका है कि घृणा निवृत्ति का मार्ग दिखलाती है अर्थात् अपने विषयों से दूर रहने की प्रेरणा करती है। अतः हमारी घृणा अज्ञानवश ऐसी वस्तुओं से है जिनसे हमें लाभ पहुँच सकता है तो उनके अभाव का कष्ट हमें भोगना पड़ेगा। युवा विवाह और शिक्षा आदि से जिन्हें घृणा है वे उनके लाभों से वंचित रहेंगे। किसी बुद्धिमान मनुष्य से जो मन में घृणा रखेगा वह उसके सत्संग के लाभों से हाथ धोएगा। उपयुक्त घृणा की यदि वह शुद्ध है तो प्रगट करने की आवश्यकता नहीं होती। घृणा का उद्देश्य जिसके हृदय में वह उत्पन्न होती है उसकी क्रियाओं को निर्धारित करना है, जिसके प्रति उत्पन्न होती है उसपर किसी प्रकार का प्रभाव डालना नहीं। अतः उपयुक्त घृणा को भी उसके पात्र पर यत्नपूर्वक प्रगट करने की आवश्यकता नहीं है। यदि हमें किसी आदमी से खालिस घृणा मात्र है तो हम उससे दूर रहेंगे, हमें इसकी जरूरत न होगी कि हम उसके पास जाकर कहें कि "हमें तुमसे घृणा है"। जब क्रोध, करुणा वा हित कामना आदि का कुछ मेल रहेगा तभी हम अपनी घृणा प्रगट करने को आकुल होंगे। हमें जिसपर क्रोधमिश्रित घृणा होगी, उसी के सामने हम अपनी घृणा प्रगट करके उसे दुःख पहुँचाना चाहेंगे, क्योंकि दुःख पहुँचाने की प्रवृत्ति क्रोध की है घृणा की नहीं। इसी प्रकार जिसके कार्यों से हमें घृणा उत्पन्न होगी यदि उसपर कुछ दया वा उसके हित की कुछ चिंता होगी तभी हम उसे उन कार्यों से विरक्त करने के अभिप्राय से उसपर अपनी घृणा प्रगट करने जाएँगे। पर इन दोनों अवस्थाओं में यह भी हो सकता है कि जिसपर हम घृणा प्रगट करें वह हमसे बुरा मान जाय।

मनोवेगों को उत्पन्न होने देने और न उत्पन्न होने देने की इच्छा को मनोवेगों से स्वतंत्र समझना चाहिए। किसी वस्तु से घृणा उत्पन्न होना एक बात है और घृणा के दुःख को न उत्पन्न होने देने के लिए उस वस्तु को दूर करने वा उससे

दूर होने की इच्छा दूसरी बात है। हम घृणा के दुःख का अनुभव वा अनुभव की आशंका कर चुके तब उससे बचने को आकुल हुए। ऐसी आकुलता को हम 'घृणा लगने का भय' कह सकते हैं। एक पूछता है ''क्यों भाई! तुम उनके सामने क्यों नहीं जाते?'' दूसरा कहता है ''उसका चेहरा देखकर, उसकी बात सुनकर हमें क्रोध लगता है''। इस प्रकार की अनिच्छा को ''क्रोध की अनिच्छा'' कह सकते हैं। किसी वस्तु का अच्छा लगना एक बात है और उस अच्छा लगने के सुख को उत्पन्न करने के लिए वस्तु की प्राप्ति की इच्छा दूसरी बात।

घृणा और भय की प्रवृत्ति एक सी है। दोनों अपने अपने विषयों से दूर होने की प्रेरणा करते हैं। परन्तु भय का विषय भावी हानि का अत्यन्त निश्चय कराने वाला होता है। और घृणा का विषय उसी क्षण इन्द्रिय वा ज्ञान के व्यापारों में संकोच उत्पन्न करनेवाला। घृणा के विषय से यह समझा जाता है कि जिस प्रकार का दुःख यह दे रहा है उसी प्रकार का देता जायगा पर भय के विषय से यह समझा जाता है कि अभी और प्रकार का अधिक तीव्र दुःख देगा। भय क्लेश नहीं है, क्लेश की छाया है; पर ऐसी छाया है जो हमारे चारों ओर घोर अंधकार फैला सकती है। सारांश यह कि भय एक अतिरिक्त क्लेश है। यदि जिस बात का हमें भय था वह हम पर आ पड़ी तो हमें दोहरा क्लेश पहुँचा। इसी से आनेवाली अनिवार्य आपदाओं की पूर्वापेक्ष्य की हमें उतनी आवश्यकता नहीं, क्योंकि उनसे भय करके हम अपने को बचा तो सकते नहीं उनके पहले के दिनों के सुख को भी खो अलबत सकते हैं।

सभ्यता वा शिष्टता के व्यवहार में घृणा उदासीनता के नाम से छिपाई जाती है। दोनों में जो अंतर है वह प्रत्यक्ष है। जिस बात से हमें घृणा है हम चाहते क्या आकुल रहते हैं कि वह बात न हो, पर जिस बात से हम उदासीन हैं उसके विषय में हमें परवा नहीं रहती चाहे हो, चाहे न हो। यदि कोई काम किसी की रुचि के विरुद्ध होता है तो वह कहता है ''उहँ! हमसे क्या मतलब जो चाहे सो हो''। वह सरासर झूठ बोलता है, पर इतना झूठ समाज स्थिति के लिए आवश्यक है।

('नागरीप्रचारिणी पत्रिका', सितंबर 1912 ई.)
[चिन्तामणि, भाग-4]

भाव या मनोविकार

अनुभूति के द्वंद्व ही से प्राणी के जीवन का आरंभ होता है। उच्च प्राणी मनुष्य भी केवल एक जोड़ी अनुभूति लेकर इस संसार में आता है। बच्चे के छोटे से हृदय में पहले सुख और दुःख की सामान्य अनुभूति भरने के लिए जगह होती है। पेट का भरा या खाली रहना ही ऐसी अनुभूति के लिए पर्याप्त होता है। जीवन के आरंभ में इन्हीं दोनों के चिह्न हँसना और रोना देखे जाते हैं पर ये अनुभूतियाँ बिलकुल सामान्य रूप में रहती हैं, विशेष विशेष विषयों की ओर विशेष विशेष रूपों में ज्ञानपूर्वक उन्मुख नहीं होतीं।

नाना विषयों के बोध का विधान होने पर ही उनमें संबंध रखनेवाली इच्छा की अनेकरूपता के अनुसार अनुभूति के भिन्न भिन्न योग संघटित होते हैं जो भाव या मनोविकार कहलाते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि सुख और दुःख की मूल अनुभूति ही विषय भेद के अनुसार प्रेम, हास, उत्साह, आश्चर्य, क्रोध, भय, करुणा, घृणा इत्यादि मनोविकारों का जटिल रूप धारण करती है। जैसे, यदि शरीर में कहीं सुई चुभने की पीड़ा हो तो केवल सामान्य दुःख होगा, पर यदि साथ ही यह ज्ञात हो जाय कि सुई चुभानेवाला कोई व्यक्ति है तो उस दुःख की भावना कई मानसिक और शारीरिक वृत्तियों के साथ संश्लिष्ट होकर उस मनोविकार की योजना करेगी जिसे क्रोध कहते हैं। जिस बच्चे को पहले अपने ही दुःख का ज्ञान होता था, बढ़ने पर असंलक्ष्यक्रम अनुमान द्वारा उसे और बालकों का कष्ट या रोना देखकर भी एक विशेष प्रकार का दुःख होने लगता है जिसे दया या करुणा कहते हैं। इसी प्रकार जिसपर अपना वश न हो ऐसे कारण से पहुँचनेवाले भावी अनिष्ट के निश्चय से जो दुःख होता है वह भय कहलाता है। बहुत छोटे बच्चे को, जिसे यह निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती, भय कुछ भी नहीं होता। यहाँ तक कि उसे मारने के लिए हाथ उठाएँ तो भी वह विचलित न होगा; क्योंकि वह निश्चय नहीं कर सकता कि इस हाथ उठाने का परिणाम दुःख होगा।

मनोविकारों या भावों की अनुभूतियाँ परस्पर तथा सुख या दुःख की मूल अनुभूति से ऐसी ही भिन्न होती हैं जैसे रासायनिक मिश्रण परस्पर तथा अपने संयोजक द्रव्यों

से भिन्न होते हैं। विषय बोध की विभिन्नता तथा उससे संबंध रखनेवाली इच्छाओं की विभिन्नता के अनुसार मनोविकारों की अनेकरूपता का विकास होता है। हानि या दुःख के कारण में हानि या दुःख पहुँचाने की चेतन वृत्ति का पता पाने पर हमारा काम उस मूल अनूभूति से नहीं चल सकता जिसे दुःख कहते हैं, बल्कि उसके योग से संघटित क्रोध नामक जटिल भाव की आवश्यकता होती है। जब हमारी इंद्रियाँ दूर से आती हुई क्लेशकारिणी बातों का पता देने लगती हैं, जब हमारा अंतःकरण हमें भावी आपदा का निश्चय कराने लगता है; तब हमारा काम दुःख मात्र से नहीं चल सकता बल्कि भागने या बचने की प्रेरणा करनेवाले भय से चल सकता है। इसी प्रकार अच्छी लगनेवाली वस्तु या व्यक्ति के प्रति जो सुखानुभूति होती है उसी तक प्रयत्नवान प्राणी नहीं रह सकता, बल्कि उसकी प्राप्ति, रक्षा या संयोग की प्रेरणा करनेवाले लोभ या प्रेम के वशीभूत होता है।

अपने मूल रूपों में सुख और दुःख दोनों की अनुभूतियाँ कुछ बँधी हुई शारीरिक क्रियाओं की ही प्रेरणा प्रवृत्ति के रूप में करती हैं। उनमें भावना, इच्छा और प्रयत्न की अनेकरूपता का स्फुरण नहीं होता। विशुद्ध सुख की अनुभूति होने पर हम बहुत करेंगे—दाँत निकालकर हँसेंगे, कूदेंगे या सुख पहुँचानेवाली वस्तु से लगे रहेंगे, इसी प्रकार शुद्ध दुःख में हम बहुत करेंगे—हाथ पैर पटकेंगे, रोएँगे या दुःख पहुँचानेवाली वस्तु से हटेंगे—पर हम चाहे कितना ही उछल कूदकर हँसें, कितना ही हाथ पैर पटककर रोएँ, इस हँसने या रोने को प्रयत्न नहीं कह सकते। ये सुख और दुःख के अनिवार्य लक्षण मात्र हैं जो किसी प्रकार की इच्छा का पता नहीं देते। इच्छा के बिना कोई शारीरिक क्रिया प्रयत्न नहीं कहला सकती।

शरीर धर्म मात्र के प्रकाश से बहुत थोड़े भावों की निर्दिष्ट और पूर्ण व्यंजना हो सकती है। उदाहरण के लिए कंप को लीजिए। कंप शीत की संवेदना से भी हो सकता है, भय से भी, क्रोध से भी और प्रेम के वेग से भी। अतः जब तक भागना, छिपना या मारना, झपटना इत्यादि प्रयत्नों के द्वारा इच्छा के स्वरूप का पता न लगेगा तब तक भय या क्रोध की सत्ता पूर्णतया व्यक्त न होगी। सभ्य जातियों के बीच इन प्रयत्नों का स्थान बहुत कुछ शब्दों ने लिया है। मुँह से निकले हुए वचन ही अधिकतर भिन्न भिन्न प्रकार की इच्छाओं का पता देकर भावों की व्यंजना किया करते हैं। इसी से साहित्य मीमांसकों ने अनुभाव के अंतर्गत आश्रय की उक्तियों को विशेष स्थान दिया है।

क्रोधी चाहे किसी ओर झपटे या न झपटे, उसका यह कहना ही कि 'मैं उसे पीस डालूँगा' क्रोध की व्यंजना के लिए काफी होता है। इसी प्रकार लोभी चाहे लपके या न लपके, उसका कहना है कि 'कहीं वह वस्तु हमें मिल जाती' उसके लोभ का पता देने के लिए बहुत है। वीर रस की जैसी अच्छी और परिष्कृत अनुभूति उत्साहपूर्ण उक्तियों द्वारा होती है वैसी तत्परता के साथ हथियार चलाने और रणक्षेत्र में उछलने

कूदने के वर्णन में नहीं। बात यह है कि भावों द्वारा प्रेरित प्रयत्न या व्यापार परिमित होते हैं। पर वाणी के प्रसार की कोई सीमा नहीं। उक्तियों में जितनी नवीनता और अनेकरूपता आ सकती है या भावों का जितना अधिक वेग व्यंजित हो सकता है उतना अनुभाव कहलानेवाले व्यापारों द्वारा नहीं। क्रोध के वास्तविक व्यापार तोड़ना फोड़ना, मारना पीटना इत्यादि ही हुआ करते हैं, पर क्रोध की उक्ति चाहे जहाँ तक बढ़ सकती है किसी को धूल में मिला देना, चटनी कर डालना, किसी का घर खोदकर तालाब बना डालना, तो मामूली बात है। यही बात सब भावों के संबंध में समझिए।

समस्त मानव जीवन के प्रवर्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं। मनुष्य की प्रवृत्तियों की तह में अनेक प्रकार के भाव ही प्रेरक के रूप में पाए जाते हैं। शील या चरित्र का मूल भी भावों के विशेष प्रकार के संगठन में ही समझना चाहिए। लोकरक्षा और लोकरंजन की सारी व्यवस्था का ढाँचा इन्हीं पर ठहराया गया है। धर्म शासन, राज शासन, मत शासन—सब में इनसे पूरा काम लिया गया है। इनका सदुपयोग भी हुआ है और दुरुपयोग भी। जिस प्रकार लोक कल्याण के व्यापक उद्देश्य की सिद्धि के लिए मनुष्य के मनोविकार काम में लाए गए हैं, उसी प्रकार किसी संप्रदाय या संस्था के संकुचित और परिमित विधान की सफलता के लिए भी।

सब प्रकार के शासन—चाहे धर्म शासन हो, चाहे राज शासन या संप्रदाय शासन—मनुष्य जाति के भय और लोभ से पूरा काम लिया गया है। दंड का भय और अनुग्रह का लोभ दिखाते हुए राज शासन तथा नरक का भय और स्वर्ग का लोभ दिखाते हुए धर्म शासन और मत शासन चलते आ रहे हैं। इनके द्वारा भय और लोभ का प्रवर्तन उचित सीमा के बाहर भी प्रायः हुआ है और होता रहता है। जिस प्रकार शासकवर्ग अपनी रक्षा और स्वार्थ सिद्धि के लिए इनसे काम लेते आए हैं, उसी प्रकार धर्म प्रवर्तक और आचार्य आपके स्वरूप वैचित्र्य की रक्षा और अपने प्रभाव की प्रतिष्ठा के लिए भी। शासकवर्ग अपने अन्याय और अत्याचार के विरोध की शांति के लिए भी डराते और ललचाते आए हैं। मत प्रवर्तक अपने द्वेष और संकुचित विचारों के प्रचार के लिए भी जनता को कँपाते और लपकाते आए हैं। एक जाति को मूर्ति पूजा करते देख दूसरी जाति के मत प्रवर्तक ने उसे गुनाहों में दाखिल किया है। एक संप्रदाय को भस्म और रुद्राक्ष धारण करते देख दूसरे संप्रदाय के प्रचारक ने उसके दर्शन तक में पाप लगाया है। भावक्षेत्र अत्यंत पवित्र क्षेत्र है। उसे इस प्रकार गंदा करना लोक के प्रति भारी अपराध समझना चाहिए।

शासन की पहुँच प्रवृत्ति और निवृत्ति की बाहरी व्यवस्था तक ही होती है। उनके मूल या मर्म तक उनकी गति नहीं होती। भीतरी या सच्ची प्रवृत्ति निवृत्ति को जागृत रखनेवाली शक्ति कविता है जो धर्म क्षेत्र में शक्ति भावना को जगाती रहती है। भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है। अपने मंगल और लोक के मंगल का संगम उसी के भीतर दिखाई पड़ता है। इस संगम के लिए प्रकृति के क्षेत्र के बीच मनुष्य

को अपने हृदय के प्रसार का अभ्यास करना चाहिए। जिस प्रकार ज्ञान नरसत्ता के प्रसार के लिए है उसी प्रकार हृदय भी। रागात्मिका वृत्ति के प्रसार के बिना विश्व के साथ जीवन का प्रकृत सामंजस्य घटित नहीं हो सकता। जब मनुष्य के सुख और आनंद का मेल शेष प्रकृति के सुख सौंदर्य के साथ हो जाएगा, जब उसकी रक्षा का भाव तृणगुल्म, वृक्षलता, पशु पक्षी, कीट पतंग, सबकी रक्षा के भाव के साथ समन्वित हो जाएगा, तब उसके अवतार का उद्देश्य पूर्ण हो जाएगा और वह जगत् का सच्चा प्रतिनिधि हो जाएगा। काव्य योग की साधना इसी भूमि पर पहुँचाने के लिए है। सच्चे कवियों की वाणी बराबर पुकारती आ रही है—

विधि के बनाए जीव जेते हैं जहाँ के तहाँ
खेलत फिरत तिन्हें खेलन फिरन देव

—ठाकुर

(नागरीप्रचारिणी पत्रिका, फरवरी 1915 ई.)
[चिन्तामणि, भाग-1]

उत्साह

दुःख के वर्ग में जो स्थान भय का है, वही स्थान आनंदवर्ग में उत्साह का है। भय में हम प्रस्तुत कठिन स्थिति के नियम से विशेष रूप में दुःखी और कभी कभी उस स्थिति से अपने को दूर रखने के लिए प्रयत्नवान् भी होते हैं। उत्साह में हम आनेवाली कठिन स्थिति के भीतर साहस के अवसर के निश्चय द्वारा प्रस्तुत कर्म—सुख की उमंग से अवश्य प्रयत्नवान् होते हैं। उत्साह में कष्ट या हानि सहने की दृढ़ता के साथ साथ कर्म में प्रवृत्त होने के आनंद का योग रहता है। साहसपूर्ण आनंद की उमंग का नाम उत्साह है। कर्म सौंदर्य के उपासक ही सच्चे उत्साही कहलाते हैं।

जिन कर्मों में किसी प्रकार का कष्ट या हानि सहने का साहस अपेक्षित होता है उन सबके प्रति उत्कंठापूर्ण आनंद उत्साह के अंतर्गत लिया जाता है। कष्ट या हानि के भेद के अनुसार उत्साह के भी भेद हो जाते हैं। साहित्य मीमांसकों ने इसी दृष्टि से युद्धवीर, दानवीर, दयावीर इत्यादि भेद किए हैं। इनमें सबसे प्राचीन और प्रधान युद्ध वीरता है, जिसमें आघात, पीड़ा क्या, मृत्यु तक की परवा नहीं रहती। इस प्रकार की वीरता का प्रयोजन अत्यंत प्राचीन काल से पड़ता चला आ रहा है, जिसमें साहस और प्रयत्न दोनों चरम उत्कर्ष पर पहुँचते हैं। पर केवल कष्ट या पीड़ा सहन करने के साहस में ही उत्साह का स्वरूप स्फुरित नहीं होता। उसके साथ आनंदपूर्ण प्रयत्न या उसकी उत्कंठा का योग चाहिए। बिना बेहोश हुए भारी फोड़ा चिराने को तैयार होना साहस कहा जाएगा, पर उत्साह नहीं। इसी प्रकार चुपचाप, बिना हाथ पैर हिलाए, घोर प्रहार सहने के लिए तैयार रहना साहस और कठिन से कठिन प्रहार सहकर भी जगह से न हटना धीरता कही जाएगी। ऐसे साहस और धीरता को उत्साह के अंतर्गत तभी ले सकते हैं जब कि साहसी या धीर उस काम को आनंद के साथ करता चला जाए, जिसके कारण उसे इतने प्रहार सहने पड़ते हैं। सारांश यह कि आनंदपूर्ण प्रयत्न या उसकी उत्कंठा में ही उत्साह का दर्शन होता है, केवल कष्ट सहने के निश्चेष्ट साहस में नहीं। धृति और साहस दोनों का उत्साह के बीच संचरण होता है।

दानवीर में अर्थ त्याग का साहस अर्थात् उसके कारण होनेवाले कष्ट या कठिनता को सहने की क्षमता अंतर्हित रहती है। दानवीरता तभी कही जाएगी जब दान के कारण दानी को अपने जीवन निर्वाह में किसी प्रकार का कष्ट या कठिनता दिखाई देगी। इसी कष्ट या कठिनता की मात्रा या संभावना जितनी ही अधिक होगी, दानवीरता उतनी ही ऊँची समझी जाएगी। पर इस अर्थ त्याग के साहस के साथ ही जब तक पूर्ण तत्परता और आनंद के चिह्न न दिखाई पड़ेंगे तब तक उत्साह का स्वरूप न खड़ा होगा।

युद्ध के अतिरिक्त संसार में और भी ऐसे विकट काम होते हैं जिनमें घोर शारीरिक कष्ट सहना पड़ता है और प्राण हानि तक की संभावना रहती है। अनुसंधान के लिए तुषार मंडित अभ्रभेदी अगम्य पर्वतों की चढ़ाई, ध्रुव देश या सहारा के रेगिस्तान का सफर, क्रूर, बर्बर जातियों के बीच अज्ञात घोर जंगलों में प्रवेश इत्यादि भी पूरी वीरता और पराक्रम के कर्म हैं। इनमें जिस आनंदपूर्ण तत्परता के साथ लोग प्रवृत्त हुए हैं वह भी उत्साह ही है।

मनुष्य शारीरिक कष्ट से ही पीछे हटनेवाला प्राणी नहीं है। मानसिक क्लेश की संभावना से भी बहुत से कर्मों की ओर प्रवृत्त होने का साहस उसे नहीं होता। जिन बातों से समाज के बीच उपहास, निंदा, अपमान इत्यादि का भय रहता है, उन्हें अच्छी और कल्याणकारिणी समझते हुए भी बहुत से लोग उनसे दूर रहते हैं। प्रत्यक्ष हानि देखते हुए भी कुछ प्रथाओं का अनुसरण बड़े बड़े समझदार तक इसलिए करते चलते हैं कि उनके त्याग से वे बुरे कहे जाएँगे, लोगों में उनका वैसा आदर सम्मान न रह जाएगा। उसके लिए मान ग्लानि का कष्ट सब शारीरिक क्लेशों से बढ़कर होता है। जो लोग मान अपमान का कुछ भी ध्यान न करके, निंदा स्तुति की कुछ भी परवा न करके किसी प्रचलित प्रथा के विरुद्ध पूर्ण तत्परता और प्रसन्नता के साथ कार्य करते जाते हैं वे एक ओर तो उत्साही और वीर कहलाते हैं दूसरी ओर भारी बेहया।

किसी शुभ परिणाम पर दृष्टि रखकर निंदा स्तुति, मान अपमान आदि की कुछ, परवा न करके प्रचलित प्रथाओं का उल्लंघन करनेवाले वीर या उत्साही कहलाते हैं, यह देखकर बहुत से लोग केवल इस विरुद के लोभ में ही अपनी उछलकूद दिखाया करते हैं। वे केवल उत्साही या साहसी कहे जाने के लिए ही चली आती हुई प्रथाओं को तोड़ने की धूम मचाया करते हैं। शुभ या अशुभ परिणाम से उनसे कोई मतलब नहीं, उनकी ओर उनका ध्यान लेशमात्र नहीं रहता। जिस पक्ष के बीच की सुख्याति का वे अधिक महत्त्व समझते हैं उसकी वाहवाही से उत्पन्न आनंद की चाह में वे दूसरे पक्ष के बीच की निंदा या अपमान की कुछ परवा नहीं करते। ऐसे ओछे लोगों के साहस या उत्साह की अपेक्षा उन लोगों का उत्साह या साहस भाव की दृष्टि से कहीं अधिक मूल्यवान है जो किसी प्राचीन प्रथा की चाहे वह

वास्तव में हानिकारिणी ही हो—उपयोगिता का सच्चा विश्वास रखते हुए प्रथा तोड़नेवालों की निंदा, उपहास, अपमान आदि सहा करते हैं।

समाज सुधार के वर्तमान आंदोलनों के बीच जिस प्रकार सच्ची अनुभूति से प्रेरित उच्चाशय और गंभीर पुरुष पाए जाते हैं, उसी प्रकार कुछ मनोवृत्तियों द्वारा प्रेरित साहसी और दयावान् भी बहुत मिलते हैं। मैंने कई छिछोरों और लंपटों को विधवाओं की दशा पर दया दिखाते हुए उनके पापाचार के लंबे चौड़े दास्तान हर दम सुनते सुनाते पाया है। ऐसे लोग वास्तव में काम कथा के रूप में ऐसे वृत्तांतों का तन्मयता के साथ कथन और श्रवण करते हैं। इस ढाँचे के लोगों से सुधार के कार्य में कुछ सहायता पहुँचाने के स्थान पर बाधा पहुँचाने की ही संभावना रहती है। 'सुधार' के नाम पर साहित्य के क्षेत्र में भी ऐसे लोग गंदगी फैलाते पाए जाते हैं।

उत्साह की गिनती अच्छे गुणों में होती है। किसी भाव के अच्छे या बुरे होने का निश्चय अधिकतर उसकी प्रवृत्ति के शुभ या अशुभ परिणाम के विचार से होता है। वही उत्साह जो कर्त्तव्य कर्मों के प्रति इतना सुंदर दिखाई पड़ता है, अकर्त्तव्य कर्मों की ओर होने पर वैसा श्लाघ्य नहीं प्रतीत होता। आत्मरक्षा, पररक्षा, देशरक्षा आदि के निमित्त साहस की जो उमंग दिखाई देती है उसके सौंदर्य को परपीड़न, डकैती आदि कर्मों का साहस कभी नहीं पहुँच सकता। यह बात होते हुए भी विशुद्ध उत्साह या साहस की प्रशंसा संसार में थोड़ी बहुत होती ही है। अत्याचारियों या डाकुओं के शौर्य और साहस की कथाएँ भी लोग तारीफ करते हुए सुनते हैं।

अब तक उत्साह का प्रधान रूप ही हमारे सामने रहा, जिसमें साहस का पूरा योग रहता है। पर कर्ममात्र के संपादन में जो तत्परतापूर्ण आनंद देखा जाता है वह उत्साह ही कहा जाता है। सब कार्यों में साहस उपेक्षित नहीं होता, पर थोड़ा बहुत आराम विश्राम, सुबीते आदि का त्याग सबको करना पड़ता है, और कुछ नहीं तो उठकर बैठना, खड़ा होना या दस पाँच कदम चलना ही पड़ता है। जब तक आनंद का लगाव किसी क्रिया, व्यापार या उसकी भावना के साथ नहीं दिखाई पड़ता तब तक उसे 'उत्साह' की संज्ञा प्राप्त नहीं होती। यदि किसी प्रिय मित्र के आने का समाचार पाकर हम चुपचाप ज्यों के ज्यों आनंदित होकर बैठे रह जाएँ या थोड़ा हँस भी दें तो यह हमारा उत्साह नहीं कहा जाएगा। हमारा उत्साह तभी कहा जाएगा जब हम अपने मित्र का आगमन सुनते ही उठ खड़े होंगे। उससे मिलने के लिए दौड़ पड़ेंगे और उसके ठहरने आदि के प्रबंध में प्रसन्न मुख इधर उधर आते जाते दिखाई देंगे। प्रयत्न और कर्म संकल्प उत्साह नामक आनंद के नित्य लक्षण हैं।

प्रत्येक कर्म में थोड़ा या बहुत बुद्धि का योग भी रहता है। कुछ कर्मों में तो बुद्धि की तत्परता और शरीर की तत्परता दोनों बराबर साथ साथ चलती है। उत्साह की उमंग जिस प्रकार हाथ पैर चलवाती है, उसी प्रकार बुद्धि से भी काम कराती है। ऐसे उत्साहवाले वीर को कर्मवीर कहना चाहिए या बुद्धिवीर—यह प्रश्न मुद्राराक्षस

नाटक बहुत अच्छी तरह हमारे सामने लाता है। चाणक्य और राक्षस के बीच जो चोटें चली हैं वे नीति की हैं—शस्त्र की नहीं। अतः विचार करने की बात यह है कि उत्साह की अभिव्यक्ति बुद्धि व्यापार के अवसर पर होती है अथवा बुद्धि द्वारा निश्चित उद्योग में तत्पर होने की दशा में। हमारे देखने में तो उद्योग की तत्परता में ही उत्साह की अभिव्यक्ति होती है; अतः कर्मवीर ही कहना ठीक है।

बुद्धि वीर के दृष्टांत कभी कभी हमारे पुराने ढंग के शास्त्रार्थों में देखने को मिल जाते हैं। जिस समय किसी भारी शास्त्रार्थी पंडित से भिड़ने के लिए कोई विद्यार्थी आनंद के साथ सभा में आगे आता है, उस समय उसके बुद्धि साहस की प्रशंसा अवश्य होती है। वह जीते या हारे, बुद्धि वीर समझा ही जाता है। इस जमाने में वीरता का प्रसंग उठाकर वाग्वीर का उल्लेख यदि न हो तो बात अधूरी ही समझी जाएगी। ये वाग्वीर आजकल बड़ी बड़ी सभाओं के मंचों पर से लेकर स्त्रियों के उठाए हुए पारिवारिक प्रपंचों तक में पाए जाते हैं और काफी तादाद में।

थोड़ा यह भी देखना चाहिए कि उत्साह में ध्यान किस पर रहता है। कर्म पर, उसके फल पर अथवा व्यक्ति या वस्तु पर? हमारे विचार में उत्साही वीर का ध्यान आदि से अंत तक पूरी कर्म शृंखला पर से होता हुआ उसकी सफलतारूपी समाप्ति तक फैला रहता है। इसी ध्यान से जो आनंद की तरंगें उठती हैं वे ही सारे प्रयत्न को आनंदमय कर देती हैं। युद्ध वीर में विजेतव्य को आलंबन कहा गया है। उसका अभिप्राय यही है कि विजेतव्य कर्मप्रेरक के रूप में वीर के ध्यान में स्थिर रहता है, वह कर्मस्वरूप का भी निर्धारण करता है। पर आनंद और साहस के मिश्रित भाव का सीधा लगाव उसके साथ नहीं रहता। सच पूछिए तो वीर के उत्साह का विषय विजय विधायक कर्म या युद्ध ही रहता है। दानवीर और धर्मवीर पर विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। दान दयावश, श्रद्धावश या कीर्ति लोभवश दिया जाता है। यदि श्रद्धावश दान दिया जा रहा है तो दानपात्र वास्तव में श्रद्धा का और यदि दयावश दिया जा रहा है तो पीड़ित यथार्थ में दया का विषय या आलंबन ठहरता है। अतः उस श्रद्धा या दया की प्रेरणा से जिस कठिन या दुस्साध्य कर्म की प्रवृत्ति होती है उसी की ओर उत्साही का साहसपूर्ण आनंद उन्मुख कहा जा सकता है। अतः और रसों में आलंबन का स्वरूप जैसा निर्दिष्ट रहता है वैसा वीररस में नहीं। बात यह है कि उत्साह एक यौगिक भाव है जिसमें साहस और आनंद का मेल रहता है।

जिस व्यक्ति या वस्तु पर प्रभाव डालने के लिए वीरता दिखाई जाती है उसकी ओर उन्मुख कर्म होता है और कर्म की ओर उन्मुख उत्साह नामक भाव होता है। सारांश यह है कि किसी व्यक्ति या वस्तु के साथ उत्साह का सीधा लगाव नहीं होता। समुद्र लाँघने के लिए जिस उत्साह के साथ हनुमान उठे हैं उसका कारण समुद्र नहीं लाँघने का विकट कर्म है। कर्म भावना ही उत्साह उत्पन्न करती है, वस्तु या व्यक्ति की भावना नहीं।

किसी कर्म के संबंध में जहाँ आनंदपूर्ण तत्परता दिखाई पड़ी कि हम उसे उत्साह कह देते हैं। कर्म के अनुष्ठान में जो आनंद होता है उसका विधान तीन रूपों में दिखाई पड़ता है–

1. कर्म भावना से उत्पन्न,

2. फल भावना से उत्पन्न; और

3. आगंतुक, अर्थात् विषयांतर से प्राप्त।

इसमें कर्म भावना प्रसूत आनंद को ही सच्चे वीरों का आनंद समझना चाहिए, जिसमें साहस का योग प्रायः बहुत अधिक रहा करता है। सच्चा वीर जिस समय मैदान में उतरता है उसी समय उसमें उतना आनंद भरा रहता है जितना औरों को विजय या सफलता प्राप्त करने पर होता है। उसके सामने कर्म और फल के बीच या तो कोई अंतर होता ही नहीं या बहुत सिमटा हुआ होता है। इसी से कर्म की ओर वह उसी झोंक से लपकता है जिस झोंक से साधारण लोग फल की ओर लपका करते हैं। इसी कर्मप्रवर्तक आनंद की मात्रा के हिसाब से शौर्य और साहस का स्फुरण होता है।

फल की भावना से उत्पन्न आनंद भी साधक कर्मों की ओर हर्ष और तत्परता के साथ प्रवृत्त करता है। पर फल का लोभ जहाँ प्रधान रहता है वहाँ कर्म विषयक आनंद उसी फल की भावना की तीव्रता और मंदता पर अवलंबित रहता है। उद्योग के प्रभाव के बीच जब जब फल की भावना मंद पड़ती है–उसकी आशा कुछ धुँधली पड़ जाती है, तब तब आनंद की उमंग गिर जाती है और उसी के साथ उद्योग में भी शिथिलता आ जाती है। पर कर्म भावना प्रधान उत्साह बराबर एकरस रहता है। फलासक्त उत्साही असफल होने पर खिन्न और दुःखी होता है, पर कर्मासक्त उत्साही केवल कर्मानुष्ठान के पूर्व की अवस्था में हो जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि कर्म भावना प्रधान उत्साह ही सच्चा उत्साह है। फल भावना प्रधान उत्साह तो लोभ ही का एक प्रच्छन्न रूप है।

उत्साह वास्तव में कर्म और फल की मिली जुली अनुभूति है जिसकी प्रेरणा से तत्परता आती है। यदि फल दूर ही पर दिखाई पड़े, उसकी भावना के साथ ही उसका लेशमात्र भी कर्म या प्रयत्न के साथ लगाव न मालूम हो तो हमारे हाथ पाँव कभी न उठें और उस फल के साथ हमारा संयोग ही न हो। इससे कर्म शृंखला की पहली कड़ी पकड़ते ही फल के आनंद की भी कुछ अनुभूति होने लगती है। यदि हमें यह निश्चय हो जाए की अमुक स्थान पर जाने से हमें किसी प्रिय व्यक्ति का दर्शन होगा तो उस निश्चय के प्रभाव से हमारी यात्रा भी अत्यंत प्रिय हो जाएगी। हम चल पड़ेंगे और हमारे अंगों की प्रत्येक गति में प्रफुल्लता दिखाई देगी। यही प्रफुल्लता कठिन से कठिन कर्मों के साधन में भी देखी जाती है। वे कर्म भी प्रिय हो जाते हैं और अच्छे लगने लगते हैं। जब तक फल तक पहुँचनेवाला कर्म पथ अच्छा न

लगेगा तब तक केवल फल का अच्छा लगना कुछ नहीं। फल की इच्छा मात्र हृदय में रखकर जो प्रयत्न किया जाएगा वह अभावमय और आनंदशून्य होने के कारण निर्जीव सा होगा।

कर्मरुचिशून्य प्रयत्न में कभी कभी इतनी उतावली और आकुलता होती है कि मनुष्य साधना के उत्तरोत्तर क्रम का निर्वाह न कर सकने के कारण बीच ही में चूक जाता है। मान लीजिए कि एक ऊँचे पर्वत के शिखर पर विचरते हुए किसी व्यक्ति को नीचे बहुत दूर तक गई हुई सीढ़ियाँ दिखाई दीं और यह मालूम हुआ कि नीचे उतरने पर सोने का ढेर मिलेगा। यदि उसमें इतनी सजीवता है कि उक्त सूचना के साथ ही वह उस स्वर्णराशि के साथ एक प्रकार के मानसिक संयोग का अनुभव करने लगा तथा उसका चित्त प्रफुल्ल और अंग सचेष्ट हो गए, उसे एक एक सीढ़ी स्वर्णमयी दिखाई देगी, एक एक सीढ़ी उतरने में उसे आनंद मिलता जाएगा, एक एक क्षण उसे सुख से बीतता हुआ जान पड़ेगा और वह प्रसन्नता के साथ स्वर्णराशि तक पहुँचेगा। इस प्रकार उसके प्रयत्नकाल को भी फलप्राप्ति काल के अंतर्गत ही समझना चाहिए। इसके विरुद्ध यदि उसका हृदय दुर्बल होगा और उसमें इच्छामात्र ही उत्पन्न होकर रह जाएगी; तो अभाव के बोध के कारण उसके चित्त में यही होगा कि कैसे झट से नीचे पहुँच जाएँ। उसे एक एक सीढ़ी उतरना बुरा मालूम होगा और आश्चर्य नहीं कि वह या तो हारकर बैठ जाए या लड़खड़ाकर मुँह के बल गिर पड़े।

फल की विशेष आसक्ति से कर्म के लाघव की वासना उत्पन्न होती है; चित्त में यही आता है कि कर्म बहुत कम या बहुत सरल करना पड़े और फल बहुत सा मिल जाए। श्रीकृष्ण ने कर्म मार्ग से फलासक्ति की प्रबलता हटाने का बहुत ही स्पष्ट उपदेश दिया; पर उनके समझाने पर भी भारतवासी इस वासना से ग्रस्त होकर कर्म से तो उदास हो बैठे और फल के इतने पीछे पड़े कि गरमी में ब्राह्मण को एक पेठा देकर पुत्र की आशा करने लगे; चार आने रोज का अनुष्ठान कराके व्यापार में लाभ, शत्रु पर विजय, रोग से मुक्ति, धन धान्य की वृद्धि तथा और भी न जाने क्या क्या चाहने लगे। आसक्ति प्रस्तुत या उपस्थित वस्तु में ही ठीक कही जा सकती है। कर्म सामने उपस्थित रहता है। इससे आसक्ति उसी में चाहिए। फल दूर रहता है, इससे उसकी ओर कर्म का लक्ष्य काफी है। जिस आनंद से कर्म की उत्तेजना होती है और जो आनंद कर्म करते समय तक बराबर चला चलता है उसी का नाम उत्साह है।

कर्म के मार्ग पर आनंदपूर्वक चलता हुआ उत्साही मनुष्य यदि अंतिम फल तक न भी पहुँचे तो भी उसकी दशा कर्म न करनेवाले की अपेक्षा अधिकतर अवस्थाओं में अच्छी रहेगी; क्योंकि एक तो कर्म काल में उसका जो जीवन बीता वह संतोष या आनंद में बीता, उसके उपरांत फल की अप्राप्ति पर भी उसे यह पछतावा न

रहा कि मैंने प्रयत्न नहीं किया। फल पहले से कोई बना बनाया पदार्थ नहीं होता। अनुकूल प्रयत्न कर्म के अनुसार, उसके एक एक अंग की योजना होती है। बुद्धि द्वारा पूर्ण रूप से निश्चित की हुई व्यापार परंपरा का नाम ही प्रयत्न है। किसी मनुष्य के घर का कोई प्राणी बीमार है। वह वैद्यों के यहाँ से जब तक औषधि ला लाकर रोगी को देता जाता है और इधर उधर दौड़धूप करता जाता है तब तक उसके चित्त में जो संतोष रहता है—प्रत्येक नए उपचार के साथ जो आनंद का उन्मेष होता रहता है—यह उसे कदापि न प्राप्त होता, यदि वह रोता हुआ बैठा रहता। प्रयत्न की अवस्था में उसके जीवन का जितना अंश संतोष, आशा और उत्साह में बीता, अप्रयत्न की दशा में उतना ही अंश केवल शोक और दुःख में बँटता। इसके अतिरिक्त रोगी के न अच्छे होने की दशा में भी वह आत्मग्लानि के उस कठोर दुःख से बचा रहेगा जो उसे जीवन भर यह सोच सोचकर होता कि मैंने पूरा प्रयत्न नहीं किया।

कर्म में आनंद अनुभव करनेवालों ही का नाम कर्मण्य है। धर्म और उदारता के उच्च कर्मों के विधान में ही एक ऐसा दिव्य आनंद भरा रहता है कि कर्त्ता को वे कर्म ही फलस्वरूप लगते हैं। अत्याचार का दमन और क्लेश का शमन करते हुए चित्त में जो उल्लास और तुष्टि होती है, वही लोकोपकारी कर्मवीर का सच्चा सुख है। उसके लिए सुख तब तक के लिए रुका नहीं रहता जब तक कि फल प्राप्त न हो जाए; बल्कि उसी समय से थोड़ा थोड़ा करके मिलने लगता है, जब से वह कर्म की ओर हाथ बढ़ाता है।

कभी कभी आनंद का मूल विषय तो कुछ और रहता है, पर उस आनंद के कारण एक ऐसी स्फूर्ति होती है जो बहुत से कार्यों की ओर हर्ष के साथ अग्रसर करती है। इसी प्रसन्नता और तत्परता को देख लोग कहते हैं कि वे काम बड़े उत्साह से किए जा रहे हैं। यदि किसी मनुष्य को बहुत सा लाभ हो जाता है या उसकी कोई बड़ी भारी कामना पूर्ण हो जाती है तो जो काम उसके सामने आते हैं उन सबको वह बड़े हर्ष और तत्परता के साथ करता है। उसके इस हर्ष और तत्परता को भी लोग उत्साह ही कहते हैं। इसी प्रकार किसी उत्तम फल या सुख प्राप्ति की आशा या निश्चय से उत्पन्न आनंद, फलोन्मुख प्रयत्नों के अतिरिक्त और दूसरे व्यापारों के साथ संलग्न होकर, उत्साह के रूप में दिखाई पड़ता है। यदि हम किसी ऐसे उद्योग में लगे हैं जिससे आगे चलकर हमें बहुत लाभ या सुख की आशा है तो हम उस उद्योग को तो उत्साह के साथ करते ही हैं, अन्य कार्यों में भी प्रायः अपना उत्साह दिखा देते हैं।

यह बात उत्साह में नहीं, अन्य मनोविकारों में बराबर पाई जाती है। यदि हम किसी बात पर क्रुद्ध बैठे हैं और इसी बीच में कोई दूसरा आकर हमसे कोई बात सीधी तरह भी पूछता है तो भी हम उसपर झुँझला उठते हैं। इस झुँझलाहट का न तो कोई निर्दिष्ट कारण होता है, न उद्देश्य। यह केवल क्रोध की स्थिति

व्याघात को रोकने की क्रिया है, क्रोध की रक्षा का प्रयत्न है। इस झुंझलाहट द्वारा हम यह प्रकट करते हैं कि हम क्रोध में हैं और क्रोध ही में रहना चाहते हैं। क्रोध को बनाए रखने के लिए हम उन बातों से भी क्रोध ही संचित करते हैं जिनसे दूसरी अवस्था में हम विपरीत भाव प्राप्त करते। इसी प्रकार यदि हमारा चित्त किसी विषय में उत्साहित रहता है तो हम अन्य विषयों में भी अपना उत्साह दिखा देते हैं। यदि हमारा मन बढ़ा हुआ रहता है तो हम बहुत से काम प्रसन्नतापूर्वक करने के लिए तैयार हो जाते हैं। इसी बात का विचार करके सलाम साधक लोग हाकिमों से मुलाकात करने के पहले अर्दलियों से उनका मिजाज पूछ लिया करते हैं।

[चिन्तामणि, भाग-1]

श्रद्धाभक्ति

किसी मनुष्य में जनसाधारण से विशेष गुण व शक्ति का विकास देख उसके संबंध में जो एक स्थायी आनंदपद्धति हृदय में स्थापित हो जाती है उसे श्रद्धा कहते हैं। श्रद्धा महत्त्व की आनंदपूर्ण स्वीकृति के साथ साथ पूज्य बुद्धि का संचार है। यदि हमें निश्चय हो जाएगा कि कोई मनुष्य बड़ा वीर, बड़ा सज्जन, बड़ा गुणी, बड़ा दानी, बड़ा विद्वान्, बड़ा परोपकारी वा बड़ा धर्मात्मा है तो वह हमारे आनंद का एक विषय हो जाएगा। हम उसका नाम आने पर प्रशंसा करने लगेंगे, उसे सामने देख आदर से सिर नवाएँगे; किसी प्रकार का स्वार्थ न रहने पर भी हम सदा उसका भला चाहेंगे, उसकी बढ़ती से प्रसन्न होंगे और अपनी पोषित आनंदपद्धति में व्याघात पहुँचने के कारण उसकी निंदा न सह सकेंगे। इससे सिद्ध होता है कि जिन कर्मों के प्रति श्रद्धा होती है उनका होना संसार को वांछित है। यही विश्वकामना श्रद्धा की प्रेरणा का मूल है।

प्रेम और श्रद्धा में अंतर यह है कि प्रेम स्वाधीन कार्यों पर उतना निर्भर नहीं—कभी कभी किसी का रूप मात्र, जिसमें उसका कुछ भी हाथ नहीं उसके प्रति प्रेम उत्पन्न होने का कारण होता है, पर श्रद्धा ऐसी नहीं है। किसी की सुंदर आँख या नाक देखकर उसके प्रति श्रद्धा नहीं उत्पन्न होगी, प्रीति उत्पन्न हो सकती है। प्रेम के लिए इतना ही बस है कि कोई मनुष्य हमें अच्छा लगे, पर श्रद्धा के लिए आवश्यक यह है कि मनुष्य किसी बात में बढ़ा हुआ होने के कारण हमारे सम्मान का पात्र हो। श्रद्धा का व्यापार स्थल विस्तृत है, प्रेम का एकांत। प्रेम में घनत्व अधिक है और श्रद्धा में विस्तार। किसी मनुष्य से प्रेम रखनेवाले दो ही एक मिलेंगे, पर उसपर श्रद्धा रखनेवाले सैकड़ों, हजारों, लाखों क्या करोड़ों मिल सकते हैं। सच पूछिए तो इसी श्रद्धा के आश्रय से उन कर्मों के महत्त्व का भाव दृढ़ होता है जिन्हें धर्म कहते हैं और जिनमें मनुष्य समाज की स्थिति है। कर्त्ता से बढ़कर कर्म का स्मारक दूसरा नहीं। कर्म की क्षमता प्राप्त करने के लिए बार बार कर्त्ता ही की ओर आँख उठती है। कर्मों से कर्त्ता की स्थिति को जो मनोहरता प्राप्त हो जाती है उसपर मुग्ध होकर बहुत से प्राणी उन कर्मों की ओर प्रेरित होते हैं। कर्त्ता अपने सत्कर्म द्वारा

एक विस्तृत क्षेत्र में मनुष्य की सद्वृत्तियों के आकर्षण का एक शक्ति केंद्र हो जाता है। जिस समाज में किसी ज्योतिष्मान शक्ति केंद्र का उदय होता है उस समाज में भिन्न भिन्न हृदयों से शुभ भावनाएँ मेघखंडों के समान उठकर तथा एक ओर और एक साथ अग्रसर होने के कारण परस्पर मिलकर, इतनी घनी हो जाती हैं कि उनकी घटा सी उमड़ पड़ती है और मंगल की ऐसी वर्षा होती है कि सारे दुःख और क्लेश बह जाते हैं।

हमारे अंतःकरण में प्रिय के आदर्श रूप का संघटन उसके शरीर या व्यक्ति मात्र के आश्रय से हो सकता है, पर श्रद्धेय के आदर्श रूप का संघटन उसके फैलाए हुए कर्म तंतु के उपादान से होता है। प्रिय का चिंतन हम आँख मूँदे हुए, संसार को भुलाकर करते हैं, पर श्रद्धेय का चिंतन हम आँख खोले हुए, संसार का कुछ अंश सामने रखकर करते हैं। यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है। प्रेमी प्रिय को अपने लिए और अपने को प्रिय के लिए संसार से अलग करना चाहता है। प्रेम में केवल दो पक्ष होते हैं, श्रद्धा में तीन। प्रेम में कोई मध्यस्थ नहीं, पर श्रद्धा में मध्यस्थ अपेक्षित है। प्रेमी और प्रिय के बीच कोई और वस्तु अनिवार्य नहीं, पर श्रद्धालु और श्रद्धेय के बीच कोई वस्तु चाहिए। इस बात का स्मरण रखने से यह पहचानना उतना कठिन न रह जाएगा कि किसी के प्रति किसी का कोई आनंदांतर्गत भाव प्रेम है या श्रद्धा। यदि किसी कवि का काव्य बहुत अच्छा लगा, किसी चित्रकार का बनाया चित्र बहुत सुंदर जँचा और हमारे चित्त में उस कवि या चित्रकार के प्रति एक सुहृद्भाव उत्पन्न हुआ तो वह श्रद्धा है; क्योंकि यह काव्य या चित्ररूप मध्यस्थ द्वारा प्राप्त हुआ है।

प्रेम का कारण बहुत कुछ अनिर्दिष्ट और अज्ञात होता है; पर श्रद्धा का कारण निर्दिष्ट और ज्ञात होता है। कभी कभी केवल एक साथ रहते रहते दो प्राणियों में यह भाव उत्पन्न हो जाता है कि वे बराबर साथ रहें; उनका साथ कभी न छूटे। प्रेमी प्रिय के संपूर्ण जीवनक्रम के सतत साक्षात्कार का अभिलाषी होता है। वह उसका उठना, बैठना, चलना फिरना, सोना, खाना पीना सब कुछ देखना चाहता है। संसार में बहुत से लोग उठते बैठते, चलते फिरते हैं, पर सबका उठना बैठना, चलना फिरना उसको वैसा अच्छा नहीं लगता। प्रेमी प्रिय के जीवन को अपने जीवन से मिलाकर एक निराला मिश्रण तैयार करना चाहता है। वह दो से एक करना चाहता है। सारांश यह है कि श्रद्धा में दृष्टि पहले कर्मों पर से होती हुई श्रद्धेय तक पहुँचती है और प्रीति में प्रिय पर से होती हुई उसके कर्मों आदि पर आ जाती है। एक में व्यक्ति को कर्मों द्वारा मनोहरता प्राप्त होती है, दूसरी में कर्मों को व्यक्ति द्वारा। एक में कर्म प्रधान है, दूसरी में व्यक्ति।

किसी के रूप को स्वयं देखकर हम तुरंत मोहित होकर उससे प्रेम कर सकते हैं, पर उसके रूप की प्रशंसा किसी दूसरे से सुनकर चट हमारा प्रेम नहीं उमड़ पड़ेगा।

कुछ काल तक हमारा भाव लोभ के रूप में रहेगा, पीछे वह प्रेम में परिणत हो सकता है। बात यह है कि प्रेम एकमात्र अपने ही अनुभव पर निर्भर रहता है; पर श्रद्धा अपनी सामाजिक विशेषता के कारण दूसरों के अनुभव पर भी जगती है। रूप की भावना का बहुत कुछ संबंध व्यक्तिगत रुचि से होता है। अतः किसी के रूप और हमारे बीच यदि तीसरा व्यक्ति आया तो इस व्यापार में सामाजिकता आ गई; क्योंकि हमें उस समय यह ध्यान हुआ कि उस रूप से एक तीसरे व्यक्ति को आनंद या सुख मिला और हमें भी मिल सकता है। जब तक हम किसी के रूप का बखान सुनकर 'वाह वाह' करते जाएँगे तब तक हम एक प्रकार के लोभी अथवा रीझनेवाले या कद्रदान ही कहलाएँगे, पर जब हम उसके दर्शन के लिए आकुल होंगे, उसे बराबर अपने सामने ही रखना चाहेंगे, तब प्रेम का सूत्रपात समझा जाएगा। श्रद्धाभाजन पर श्रद्धावान अपना किसी प्रकार का अधिकार नहीं चाहता, पर प्रेमी प्रिय के हृदय पर अपना अधिकार चाहता है।

श्रद्धा एक सामाजिक भाव है, इससे अपनी श्रद्धा के बदले में हम श्रद्धेय से अपने लिए कोई बात नहीं चाहते। श्रद्धा धारण करते हुए हम अपने को उस समाज में समझते हैं जिसके किसी अंश पर—चाहे हम व्यष्टि रूप में उनके अंतर्गत न भी हों—जानबूझकर उसने कोई शुभ प्रभाव डाला। श्रद्धा स्वयं ऐसे कर्मों के प्रतिकार में होती है जिसका शुभ प्रभाव अकेले हम पर नहीं बल्कि सारे मनुष्य समाज पर पड़ सकता है। श्रद्धा एक ऐसी आनंदपूर्ण कृतज्ञता है जिसे हम केवल समाज के प्रतिनिधि रूप में प्रकट करते हैं। सदाचार पर श्रद्धा और अत्याचार पर क्रोध या घृणा प्रकट करने के लिए समाज ने प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिनिधित्व प्रदान कर रखा है। यह काम उसने इतना भारी समझा है कि उसका भार सारे मनुष्यों को बाँट दिया है, दो चार माननीय लोगों के ही सिर पर नहीं छोड़ रखा है। जिस समाज में सदाचार श्रद्धा और अत्याचार पर क्रोध प्रकट करने के लिए जितने ही अधिक लोग तत्पर पाए जाएँगे उतना ही वह समाज जागृत समझा जाएगा। श्रद्धा की सामाजिक विशेषता एक इसी बात से समझ लीजिए कि जिस पर हम श्रद्धा रखते हैं उसपर चाहते हैं कि और लोग भी श्रद्धा रखें—जिस पर हमारा प्रेम होता है उससे और दस पाँच आदमी प्रेम रखें--इसकी हमें परवा क्या, इच्छा ही नहीं होती; क्योंकि हम प्रिय पर लोभवश एक प्रकार का अनन्य अधिकार या इजारा चाहते हैं। श्रद्धालु अपने भाव में संसार को भी सम्मिलित करना चाहता है, पर प्रेमी नहीं।

जब तक समष्टि रूप में हमें संसार के लक्ष्य का बोध नहीं होता और हमारे अंतःकरण में सामान्य आदर्शों की स्थापना नहीं होती तब तक हमें श्रद्धा का अनुभव नहीं होता। बच्चों में कृतज्ञता का भाव पाया जाता है पर सदाचार के प्रति उस कृतज्ञता का नहीं, जिसे श्रद्धा कहते हैं। अपने साथ किए जानेवाले जिस व्यवहार के लिए वे कृतज्ञ होते हैं उसी को दूसरों के साथ होते देख कर्त्ता के प्रति कृतज्ञ

होना वे देर में सीखते हैं—उस समय सीखते हैं जब वे अपने को किसी समुदाय का अंग समझने लगते हैं। अपने साथ या किसी विशेष मनुष्य के साथ किए जानेवाले व्यवहार के लिए जो कृतज्ञता होती है वह श्रद्धा नहीं है। श्रद्धालु की दृष्टि सामान्य की ओर होनी चाहिए, विशेष की ओर नहीं। अपने संबंधी के प्रति किसी को कोई उपकार करते देख यदि हम कहें कि उसपर हमारी श्रद्धा हो गई है तो यह हमारा पाषंड है, हम झूठ मूठ अपने को ऐसे उच्च भाव का धारणकर्त्ता प्रकट करते हैं। पर उसी सज्जन को दस पाँच और ऐसे आदमियों के साथ जब हम उपकार करते देखें जिन्हें हम जानते तक नहीं और इस प्रकार हमारी दृष्टि विशेष से सामान्य की ओर हो जाए, तब यदि हमारे चित्त में उसके प्रति पहले से कहीं अधिक कृतज्ञता या पूज्य बुद्धि का उदय हो तो हम श्रद्धालु की उच्च पदवी के अधिकारी हो सकते हैं। सामान्य रूप में हम किसी के गुण या शक्ति का विचार सारे संसार से संबद्ध करके करते हैं, अपने से या किसी विशेष प्राणी से संबद्ध करके नहीं। हम देखते हैं कि किसी मनुष्य में कोई गुण या शक्ति है जिसका प्रयोग वह चाहे जहाँ और जिसके प्रति कर सकता है।

श्रद्धा का मूल तत्त्व है दूसरे का महत्त्व स्वीकारना। अतः जिनकी स्वार्थबद्ध दृष्टि अपने से आगे नहीं जा सकती अथवा अभिमान के कारण जिन्हें अपनी ही बड़ाई के अनुभव की लत लग गई है उनकी इतनी समायी नहीं कि वे श्रद्धा ऐसे पवित्र भाव को धारण करें। स्वार्थियों और अभिमानियों के हृदय में श्रद्धा नहीं टिक सकती। उनका अंतःकरण इतना संकुचित और मलिन होता है कि वे दूसरों की कृति का यथार्थ मूल्य नहीं परख सकते।

स्थूल रूप से श्रद्धा तीन प्रकार की कही जा सकती है—

1. प्रतिभा संबंधिनी
2. शील संबंधिनी, और
3. साधन संपत्ति संबंधिनी।

प्रतिभा से मेरा अभिप्राय अंतःकरण की उस उद्भाविका क्रिया से है जिसके द्वारा कला, विज्ञान आदि नाना क्षेत्रों में नई नई बातें या कृतियाँ उपस्थित की जाती हैं। यह ग्रहण और धारणा शक्ति से भिन्न है, जिसके द्वारा इधर उधर से प्राप्त ज्ञान (विद्वता) संचित किया जाता है। कला संबंधिनी श्रद्धा के लिए श्रद्धालु में भी थोड़ी बहुत मार्मिक निपुणता चाहिए, इससे उसका अभाव कोई भारी त्रुटि नहीं, वह क्षम्य है। यदि किसी उत्तम काव्य या चित्र की विशेषता न समझने के कारण हम कवि या चित्रकार पर श्रद्धा न कर सकें तो यह हमारा अनाड़ीपन है—हमारे रुचि संस्कार की त्रुटि है। इसका उपाय यही है कि समाज कला संबंधिनी मर्मज्ञता के प्रचार की व्यवस्था करे, जिससे विविध कलाओं के सामान्य आदर्श की स्थापना जनसमूह में हो जाए। पर इतना होने पर भी कला संबंधिनी रुचि की विभिन्नता थोड़ी बहुत

अवश्य रहेगी। अश्रद्धालु रुचि का नाम लेकर ईर्ष्या या अहंकार के दोषारोपण से बच जाया करेंगे।

पर शील संबंधिनी श्रद्धा प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। शील या धर्म के सामान्य लक्षण संसार के प्रत्येक सभ्य जन समुदाय में प्रतिष्ठित हैं। धर्म ही से मनुष्य–समाज की स्थिति है, अतः उसके संबंध में किसी प्रकार का रुचिभेद, मतभेद आदि नहीं। सदाचार के प्रति यदि हम श्रद्धा नहीं रखते तो समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करते। यदि किसी को दूसरों के कल्याण के लिए भारी स्वार्थ त्याग करते देख हमारे मुँह से 'धन्य' भी न निकला तो हम समाज के किसी काम के न ठहरे, समाज को हमसे कोई आशा नहीं, हम समाज में रहने योग्य नहीं। किसी कर्म में प्रवृत्त होने से पहले यह स्वीकार करना आवश्यक होता है कि वह कर्म या तो हमारे लिए या समाज के लिए अच्छा है। इस प्रकार की स्वीकृति कर्म की पहली तैयारी है। श्रद्धा द्वारा हम यह आनंदपूर्वक स्वीकार करते हैं कि कर्म के अमुक अमुक दृष्टांत धर्म के हैं, अतः श्रद्धा धर्म की पहली सीढ़ी है। धर्म के इस प्रथम सोपान पर प्रत्येक मनुष्य को रहना चाहिए, जिसमें जब कभी अवसर आए तब वह कर्मरूपी दूसरे सोपान पर हो जाए।

अब रह गई साधन संपत्ति संबंधिनी श्रद्धा की बात। यहाँ पर साधन संपन्नता का ठीक ठीक भाव समझ लेना आवश्यक है। साधन संपत्ति का अनुपयोग भी हो सकता है, सदुपयोग भी हो सकता है और दुरुपयोग भी हो सकता है। किसी को पद्य रचने की अच्छी अभ्यास संपन्नता है। यदि शिक्षा द्वारा उसके भाव उन्नत हैं, वह सहृदय है तो वह अपनी इस संपन्नता का उपयोग मनोहर उच्चभावपूर्ण काव्य प्रस्तुत करने में कर सकता है; यदि उसकी अवस्था ऐसी नहीं है तो वह या तो साधारण, भाव शून्य गद्य को गीतिका, शिखरिणी आदि नाना छंदों में परिणत करेगा या अपनी भद्दी और कुरुचिपूर्ण भावनाओं को छंदोबद्ध करेगा। उसके इस कृत्य पर श्रद्धा रखनेवाले भी बहुत मिल जाएँगे। ऐसे व्यक्ति के प्रति जो श्रद्धा होती है वह साधन संपन्नता पर ही होती है, साध्य की पूर्णता पर नहीं।

देशी कारीगरी, चित्रकारी, संगीत आदि में नियम पालन के अभ्यास द्वारा प्राप्त इस साधन संपन्नता पर ही इधर बहुत दिनों से अधिक ध्यान दिया जाने लगा था और मानव हृदय पर इन मनोहारिणी कलाओं के प्रभाव का बहुत कम विचार होने लगा था। बहुत से पुराने मकानों की कारीगरी देखिए तो उनमें बहुत सा काम गिचपिच किया हुआ दिखाई देगा, ऐसे महीन बेलबूटों की भिन्न भिन्न पटरियाँ दीवारों में जमाई हुई मिलेंगी जो बिना आँख को पास ले जाकर सटाए स्पष्ट न जान पड़ेंगे। सारे मकान को एक बार में देखने से इन सबों का सम्मिलित प्रभाव दृष्टि और मन पर क्या पड़ेगा, इसका कुछ भी विचार बनानेवालों ने नहीं किया, यह स्पष्ट दिखाई पड़ेगा। ऐसे कामों में अभ्यास का तथा समय और श्रम के व्यय (या अपव्यय)

का पूरा परिचय मिलता है, पर विचार और सहृदयतापूर्वक उनके उपयोग का बहुत कम। समझने की बात है कि इमारत हाथ पर लेकर देखने की चीज नहीं है, दस पाँच हाथ दूर पर खड़े होकर देखने की चीज है।

चित्रकारी की दशा भी इसी प्रकार की हो गई थी। राधा कृष्ण कदंब के नीचे खड़े हैं। कदंब की एक एक पत्ती अलग अलग बारीकी के साथ बनी दिखाई पड़ती है। राधा की चुनरी की एक एक बूटी बड़ी सावधानी और मेहनत के साथ बनाई गई है। देखनेवाले को यह नहीं जान पड़ता कि वह कुछ दूर पर खड़ा होकर कदंब और राधा कृष्ण को एक साथ देख रहा है, बल्कि यह जान पड़ता है कि कभी तो पत्तियाँ गिनने के लिए वह पेड़ पर चढ़ता है और कभी नमूना लेने के लिए चुनरी हाथ में लेता है। ऐसी रचनाओं के प्रति यदि श्रद्धा प्रकट की जायगी तो वह अभ्यास, श्रम और बारीकी अर्थात् साधन संपन्नता के विचार से होगी, साध्य की पूर्णता अर्थात् कला के विचार से नहीं, जिसका उद्देश्य मानव हृदय पर मधुर प्रभाव डालता है।

संगीत के पेचपाँच देखकर भी हठयोग याद आता है। जिस समय कोई कलावंत पक्का गाना गाने के लिए आठ अंगुल मुँह फैलाता है और 'आ आ' करके विकल होता है, उस समय बड़े बड़े धीरों का धैर्य छूट जाता है—दिन दिन भर चुपचाप बैठे रहनेवाले बड़े बड़े आलसियों का आसन डिग जाता है। जो संगीत नाद की मधुर गति द्वारा मन में माधुर्य का संचार करने के लिए था वह इन पक्के लोगों के हाथ में पड़कर केवल स्वरग्राम की लंबी चौड़ी कवायद हो गया। श्रद्धालुओं के अंतःकरण की मार्मिकता इतनी स्तब्ध हो गई कि एक खरश्वान के गले से भी इस लंबी कवायद को ठीक उतरते देख उनके मुँह से 'वाह वाह', 'ओहो हो' निकलने लगा। काव्य पर शब्दालंकार आदि का इतना बोझ लादा गया कि उसका सारा रूप ही छिप गया। बात यह हुई कि इन विविध कलाओं के जितने अभ्यासगम्य और श्रमसाध्य अंग थे वे तो हद से बाहर घसीटे गए और जितने सहृदयता से संबंध रखनेवाले थे उनपर ध्यान ही न रहा। यदि ये कलाएँ मूर्तिमान रूप धारण करके सामने आतीं तो दिखाई पड़ता कि किसी को जलोदर हुआ है, किसी को फीलपाँव! इनकी दशा सोने और रत्नों से जड़ी गुठली धारदार तलवार की सी हो गई।

किसी मनुष्य में बहुत अधिक शारीरिक बल देख उसपर जन साधारण की श्रद्धा होती है और होनी चाहिए। प्रो. राममूर्ति को मोटर रोकते, लोहे की मोटे मोटे सीकड़ तोड़ते, छाती पर 40 मन का पत्थर रखते, हाथी खड़ा करते और गाड़ी दौड़ाते देख उनके शारीरिक बल के कारण उनपर श्रद्धा होती है। अब इस संपन्नता का वे सदुपयोग भी कर सकते हैं, दुरुपयोग भी कर सकते हैं और अनुपयोग भी कर सकते हैं। वे इसके द्वारा किसी भारी संकट से अपनी या दूसरे की रक्षा भी कर सकते हैं और किसी निरपराध को पीड़ित भी कर सकते हैं पर हमारी श्रद्धा

बिना सदुपयोग या दुरुपयोग की संभावना की कल्पना किए शुभ साधन संपन्नता ही पर होती है, कोरे विद्वानों के प्रति जो श्रद्धा होती है वह भी साधन संपन्नता ही पर होती है। उसके उपयोग की निपुणता या प्रतिभा पर निर्भर नहीं होती। विद्वता किसी विषय की बहुत सी बातों की जानकारी का नाम है, जिसका संचय बहुत कष्ट, श्रम और धारणा से होता है। यह बात विद्वान् की प्रतिभा पर निर्भर है कि वह ज्ञान का भंडारी और उपयोगकर्त्ता दोनों हो—अर्थात् वह उत्तम चिंतक, वक्ता, लेखक, अन्वेषक या कवि भी होकर उस संचित साधन का उपयोग करे और अपने मूल विचारों का प्रभावपूर्ण प्रकाश करे। यदि विद्वान् में यह प्रतिभा नहीं है, यह शक्ति नहीं है, तो वह अपनी संचित जानकारी को कला कुशल और प्रतिभाशाली लेखकों या तत्त्वान्वेषकों के सामने रख दे कि वे उससे आवश्यकतानुसार काम लें। इस रीति से उसकी विद्वता सामाजिक उपयोग में आ जाएगी।

भिन्न भिन्न मानसिक संस्कार के लोगों में किसी विषय से संबंध रखनेवाली श्रद्धा भिन्न भिन्न मात्रा की हुआ करती है। यदि किसी को शारीरिक बल, साहस्य या चतुराई पर अत्यंत अधिक श्रद्धा है तो वह इनका दुरुपयोग देखकर भी बनी रह सकती है। अत्याचारियों के बल, डाकुओं के साहस और लंपटों की चालाकी की तारीफ संसार में थोड़ी बहुत होती ही है। एक बात और है, यदि किसी पर किसी एक विषय में अत्यंत अधिक श्रद्धा है तो उसकी अन्य विषयों की त्रुटियों पर ध्यान नहीं जाता और कभी ध्यान भी जाता है तो वे भी सुहावनी लगती हैं। कोई प्रतिभाशाली कवि विलासप्रिय, मद्यप या सनकी है तो जो अत्यंत काव्य प्रेमी होंगे उनकी घृणा को उसके ये दुर्गुण पूर्ण रूप से आकर्षित न कर सकेंगे। यहाँ तक कि उसके इन दुर्गुणों की चर्चा भी वे बड़ी रुचि के साथ करेंगे और सुनेंगे। बात यह है कि मनुष्य का अंतःकरण एक है। उसकी एक साथ दो परस्पर विरुद्ध स्थितियाँ नहीं हो सकतीं। इस प्रकार की मानसिक स्तब्धता को श्रद्धांधता कह सकते हैं। यद्यपि श्रद्धांध समाज में उतना अनर्थकारी नहीं हो सकता, उतना अपराधी नहीं ठहराया जा सकता, जितना मदांध, क्रोधांध या ईर्ष्यांध, पर उसकी श्रद्धा के बढ़ते बढ़ते क्रियमाण रूप धारण करने पर और शील संबंधिनी चेतना को बिलकुल जवाब मिल जाने पर समाज के अनिष्ट में ब्याज से सहायता पहुँच सकती है।

यदि किसी अपव्ययी और मद्यप कवि पर अत्यंत श्रद्धालु होकर कोई उसकी आर्थिक सहायता करता जाता है तो वह उस अन्याय और उपद्रव का थोड़ा बहुत उत्तरदाता अवश्य होता है जो कविजी अपने सहवर्तियों के बीच करने में समर्थ होते हैं। यदि किसी पहलवान के बल पर प्रसन्न होकर कोई उसे हलवा पूरी खाने के लिए कुछ महीना बाँधता है तो उसके गुंडेपन के कारण लोगों की पहुँची हुई पीड़ा के दोष का वह कम से कम उतना भाग अवश्य पा सकता है जितना इंद्रकृत हत्या की बँटाई के समय बहुतों को मिला था। उद्देश्य के अभाव के बल से यद्यपि

इन श्रद्धालुओं पर दोष उतना सटीक नहीं लग सकता, पर समाज की दृष्टि में वे दान के पात्रता संबंधी अविवेक के अभियोग से नहीं बच सकते।

अब यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि शील, कला और साधन संपत्ति श्रद्धा के इन तीनों विषयों में से किसका ध्यान मनुष्य को पहले होना चाहिए और किसका पीछे। इसका बेधड़क यही उत्तर दिया जा सकता है कि जन साधारण के लिए शील का ही सबसे पहले ध्यान होना स्वाभाविक है; क्योंकि उसका संबंध मनुष्य मात्र की सामान्य स्थिति रक्षा से है। उसके अभाव में समाज या उस आधार की स्थिति ही नहीं रह सकती जिसमें कलाओं की उपयोगिता या मनोहारिता का प्रसार और साधन संपत्ति की प्रचुरता का वितरण और व्यवहार होता है।

दूसरों की श्रद्धा संसार में एक अत्यंत वांछनीय वस्तु है, क्योंकि वह एक प्रकार का ऐसा परकीय निश्चय या विश्वास है जिसके सहारे स्वकीय कार्य सुगम होता है—जीवन की कठिनता कम होती है। जिस पर लोगों की अश्रद्धा होती है—उसके लिए व्यवहार के सब सीधे और सुगम मार्ग बंद हो जाते हैं—उसे या तो काँटों पर या ढाई कोस नौ दिन में चलना पड़ता है। पर जो किसी प्रकार दूसरों की श्रद्धा संपादित कर लेता है, उसके पैर रखने के लिए फूलों की पंखुड़ियाँ—आजकल लाल कनातें बिछाई जाती हैं। समाज में ये वस्तुएँ सच्चे गुणियों और परोपकारियों के लिए हैं पर इन्हें छीनने और चुराने की ताक में बहुत से चोर, चाईं और लुटेरे रहते हैं जो इनके द्वारा स्वार्थ साधन करना या अपनी तुच्छ मानसिक वृत्तियों को तृप्त करना चाहते हैं। इनसे समाज को हर घड़ी सावधान रहना चाहिए। इन्हें सामाजिक दंड देने के लिए उसे सदा सन्नद्ध रहना चाहिए। ये अनेक रूपों में दिखाई पड़ते हैं—कोई गेरुआ वस्त्र लपेटे धर्म का डंका पीटता दिखाई देता है, कोई देश हितैषिता का लंबा चोगा पहने देशोद्धार की पुकार करता पाया जाता है।

मनुष्य किसी ओर तीन प्रकार से प्रवृत्त होता है—मन से, वचन से और कर्म से। इनमें से मन तो देखने दिखाने की चीज नहीं। वाणी और कार्यप्रणाली की नकल की जाती है और बड़ी सफाई से की जाती है। हितोपदेश के गदहे ने तो बाघ की खाल ही ओढ़ी थी, पर ये लोग बाघ की बोली भी बोल लेते हैं। कहीं कहीं केवल वचन ही से काम निकल जाता है। एक दिन मैं काशी की एक गली से जा रहा था, एक ठठेरे की दूकान पर कुछ परदेशी यात्री किसी बरतन का मोलभाव कर रहे थे और कह रहे थे कि इतना नहीं, इतना लो तो लें। इतने ही में सौभाग्यवश दूकानदारजी को ब्रह्मज्ञानियों के वाक्य याद आ गए और उन्होंने चट कहा—'माया छोड़ो और इसे ले लो।' सोचिए तो, काशी ऐसा पुण्य क्षेत्र! वहाँ न माया छोड़ी जाएगी तो कहाँ छोड़ी जाएगी। थोड़े दिन हुए, किसी लेखक ने कहीं पढ़ा कि प्रतिभाशाली लोग कुछ उग्रता और पागलपन लिए होते हैं। तब से वे बराबर अपने में इन दोनों शुभ लक्षणों की स्थापना के यत्न में लगे रहते हैं। सुनते हैं कि पहले

में वे कुछ कृतकार्य भी हुए हैं, पर पागलपन की नकल करना कुछ हँसी खेल नहीं; भूल चूक से कुछ समझदारी की बातें मुँह से निकल ही जाती हैं।

जैसे और सब विद्याओं की, वैसी ही परश्रद्धाकर्षण की विद्या की भी आजकल खूब उन्नति हुई है। आश्चर्य नहीं कि इसके लिए कुछ दिनों में एक अलग विद्यालय खुले। श्रद्धा के यथार्थ कारण का जितना ही अभाव हो, आकर्षण की अपनी विद्या में उतना ही दक्ष समझना चाहिए। आजकल सार्वजनिक उद्योगों की बड़ी धूम रहा करती है और बहुत से लोग निराहार परोपकार व्रत करते सुने जाते हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि पर श्रद्धा के सहारे कार्य में सुगमता आती है, अतः किसी कार्य साधना के लिए जो लोग प्रयत्न द्वारा दूसरों के हृदय में श्रद्धा उत्पन्न करते हैं वे उस कार्य के अनुसार चतुर, नीति कुशल, धूर्त या पाखंडी कहे जाते हैं, पर संसार में बहुत ऐसे लोग भी होते हैं जिन्हें अपने ऊपर परायी श्रद्धा के चिंतन से जो एक प्रकार का आनंद मिलता है उसकी लत पड़ जाती है। वे पर श्रद्धा को मनोरंजन या मानसिक भोग विलास की एक सामग्री समझते हैं। वे परायी श्रद्धा केवल इसी निमित्त चाहते हैं, और किसी उद्देश्य से नहीं। ऐसे पर श्रद्धाभिलाषियों को मानसिक दुर्व्यसन रहता है और वे उसी प्रकार दुर्व्यसनी कहे जा सकते हैं जिस प्रकार शराबी, गँजेड़ी और चंडूबाज आदि। पर समाज की श्रद्धा ऐसे अपव्यय के लिए नहीं है, प्रयोजन के लिए है। ऐसे लोग अपनी धुन में कभी कभी बड़े बड़े सार्वजनिक कार्य भी छोड़ बैठते हैं जिनका होना उन्हें इतना अभीष्ट नहीं होता जितना अपने द्वारा होना। ये लोग पहचाने इस प्रकार जाते हैं कि उन कार्यों से अपने नाम का वियोग घड़ी भर भी नहीं सह सकते, यहाँ तक कि यदि वे दूसरों को कोई ऐसा कार्य हाथ में लेते देखते हैं जिसमें समाज के साधुवाद की संभावना होती है तो इनका पेट फूलने लगता है और ये या तो गुप्त रूप से उसमें विघ्न की व्यवस्था करते हैं या कम से कम उसके महत्त्व को बहुत कम करके दिखाया करते हैं। दूसरी पहचान यह है कि वे लोग ऐसे ही काम ठानते हैं जिनका नाम और आडंबर बड़ा होता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि श्रद्धावान् अपनी श्रद्धा द्वारा श्रद्धेय में कोई ऐसा परिवर्तन उपस्थित नहीं करना चाहता जिसका अपने लिए कोई अनुकूल फल हो। श्रद्धावान् श्रद्धेय को प्रसन्न करने की इच्छा कर सकता है, पर उस प्रसन्नता से आप कोई लाभ उठाने की नहीं। श्रद्धा न्याय बुद्धि के पलड़े पर तुली हुई एक वस्तु है जो दूसरे पलड़े पर रखे हुए श्रद्धेय के गुण, कर्म आदि के हिसाब से होती है। श्रद्धा सत्कर्म या सद्गुण ही का मूल्य है जिससे और किसी प्रकार का सौदा नहीं हो सकता; पर जब कि इस व्यापार युग में ज्ञान बिकता है, न्याय बिकता है, धर्म बिकता है—तब श्रद्धा ऐसे भाव क्यों न बिके? पर असली भाव तो इस लेन देन के व्यवहार के लिए उपस्थित नहीं किए जा सकते। खैर, नकली सही।

एक भाव पर दूसरे भाव की कलई करके हम बाजार में क्यों न जाएँ? अपनी भीरुता या चापलूसी को हम 'श्रद्धा श्रद्धा' कहकर गलियों और संवादपत्रों में क्यों न पुकारें? ऐसे झूठे श्रद्धावानों से घिरकर झूठे श्रद्धा पात्र सच्चे श्रद्धा पात्रों को क्यों न मात करें, जब कि आजकल झूठे मोती सच्चे मोतियों को मात करते हैं?

कला कुशल या सदाचारी अपने चारों ओर प्रसन्नता देखना चाहता है; अतः अपनी श्रद्धा द्वारा हम अपनी प्रसन्नता का निश्चय मात्र कराते हैं। हमारी प्रसन्नता से उसे अपनी सामर्थ्य का बोध हो जाता है और उसका उत्साह बढ़ता है। इस प्रकार अपनी श्रद्धा द्वारा हम भी समाज का मंगल साधन करते हैं। दूसरे की श्रद्धा का श्रद्धेय पर इतना ही प्रभाव पड़ना चाहिए, इससे अधिक नहीं। यदि हमारी श्रद्धा के कारण वह हमें किसी प्रकार का लाभ पहुँचाना चाहता है तो वह हमारी श्रद्धा को खुशामद समझता है और हमारा अपमान करता है। श्रद्धा में याचकता का भाव लेश मात्र भी नहीं है। श्रद्धा द्वारा हम अपने हृदय का परिचय मात्र देते हैं कि उसमें मार्मिकता या धर्म भाव है, सात्त्विक आचरण या प्रतिभा की कला में प्रसन्न होने की क्षमता है। यदि हमें किसी पर श्रद्धा है तो हमें उसके पास जाकर यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि 'महाराज मेरी यह श्रद्धा स्वीकार हो'। इस प्रकार की स्वीकृति की हमें कोई आवश्यकता नहीं। हम अपनी श्रद्धा लिए अपने घर बैठे रह सकते हैं। या उसे इस रीति से प्रकट कर सकते हैं जिस पर श्रद्धेय का कोई वश नहीं। यदि हमें किसी सुलेखक पर श्रद्धा है और वह हमसे रुष्ट है तो भी हम उसका सच्चा चित्र और चरित्र छाप सकते हैं। इसका स्वत्व हमें समाज द्वारा प्राप्त है–इसका हक हमें कानूनन हासिल है पर वहीं यदि हम उस सुलेखक से प्रेम करने चलें, उसके साथ साथ लगे फिरें और हरदम उसे घेरे रहें तो वह हमें हटा सकता है। श्रद्धा प्रदर्शित करने का जितना विस्तृत सामाजिक अधिकार हमें प्राप्त है उतना उसके विपरीत भाव अश्रद्धा या घृणा प्रकट करने का नहीं, क्योंकि श्रद्धा यदि हमने भूल से या स्वार्थवश प्रकट की तो किसी को उतनी हानि नहीं, पर यदि घृणा भूल से या द्वेषवश प्रकट की तो व्यर्थ का असंतोष और दुःख फैल सकता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि श्रद्धा के विषय तीन हैं–शील, प्रतिभा और साधन संपत्ति। शील या धर्म से समाज की स्थिति, प्रतिभा से रंजन और साधन संपत्ति से शील साधन और प्रतिभा विकास दोनों की संभावना है। श्रद्धेय समाज की स्थिति या सुख का विधान करता है और समाज उसकी स्थिति और सुख का विधान करता है। समाज अपने श्रद्धालु प्रतिनिधियों को कभी तो उसे आपत्ति से बचाने के लिए भेजता है–कभी कुछ भेंट उसके सामने रखने के लिए। श्रद्धावश जो दान दिया जाता है वह उसी प्रकार की भेंट है। सच्चा दान दो प्रकार का होता है–एक वह जो दयावश दिया जाता है, दूसरा वह जो श्रद्धावश दिया जाता है। पंडितों, विद्वानों

और धार्मिकों को जो दान दिया जाता है वह दयावश दिया जाता है। अंधों, लूलों और लँगड़ों को जो दान दिया जाता है वह श्रद्धावश दिया जाता है। श्रद्धा सामर्थ्य के प्रति होती है और दया असामर्थ्य के प्रति। जनसाधारण अपनी दया द्वारा केवल असामर्थ्य के उपस्थित परिणामों का, कुछ स्थान के बीच और कुछ काल तक के लिए निवारण कर सकते हैं, अतः श्रद्धा द्वारा वे ऐसे असाधारण जनों को अपने वित्तानुसार थोड़ी थोड़ी शक्ति दान करते हैं जो असामर्थ्य के कारणों के निराकरण में समर्थ होते हैं।

श्रद्धावश दान में उपयोगिता का तत्त्व छिपा हुआ है। स्मृतियों में श्रद्धावश दान पर बड़ा जोर दिया गया है और ऐसे दान के विषय में पात्रापात्र का विचार भी खूब किया गया है। विद्या दान में रत विद्वानों को, परोपकार में रत कर्मवीरों को, मानवज्ञान की वृद्धि में तत्पर तत्त्वान्वेषकों को जो अभाव हो उसे हमें समाज की भूख समझनी चाहिए। इन्हें जो कुछ हम श्रद्धावश देते हैं, वह ठीक समाज के दुरुस्त पेट में जाता है, जहाँ से रस रूप में उसका संचार अंग अंग में होता है। इसके विरुद्ध स्वार्थियों, अन्यायियों आदि को जो कुछ दिया जाता है वह समाज के अंग में उसी प्रकार नहीं लगता जिस प्रकार अतिसार या संग्रहणीवाले को खिलाया हुआ अन्न। भारतवर्ष में श्रद्धा का संबंध दान के साथ इतना गहरा समझा जाता है कि अश्रद्धापूर्वक दिया हुआ दान निष्फल माना जाता है। इसी से शुष्क प्रथानुसरण के रूप में भी यदि कुछ दिया जाता है तो श्रद्धा का नाम ले लिया जाता है। पंडों पुरोहितों को देते हुए यजमान भी कहता है कि 'महाराज! इतनी ही श्रद्धा है' और पंडे पुरोहित भी कहते हैं कि 'जितनी श्रद्धा हो उतना दो', यद्यपि इन पंडों और पुरोहितों के संबंध में सदा यह निश्चय नहीं रहता कि वे बड़े विद्वान्, बड़े धार्मिक या बड़े परोपकारी हैं। मनोविकार के उपयुक्त विषयों के निश्चय में कभी कभी बुद्धि की भी थोड़ी बहुत आवश्यकता होती है। क्योंकि एक ही व्यक्ति के प्रति किसी को श्रद्धा होती है और किसी को अश्रद्धा। इसका कारण घृणा के अंतर्गत अच्छी तरह दिखाया गया है।

श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है। जब पूज्य भाव की वृद्धि के साथ श्रद्धाभाजन के सामीप्य लाभ की प्रवृत्ति हो, उसकी सत्ता के कई रूपों के साक्षात्कार की वासना हो, तब हृदय में भक्ति का प्रादुर्भाव समझना चाहिए। जब श्रद्धेय के दर्शन, श्रवण, कीर्तन, ध्यान आदि से आनंद का अनुभव होने लगे—जब उससे संबंध रखनेवाले श्रद्धा के विषयों के अतिरिक्त बातों की ओर भी मन आकर्षित होने लगे, तब भक्तिरस का संचार समझना चाहिए। जब श्रद्धेय का उठना, चलना, फिरना, हँसना, बोलना, क्रोध करना आदि भी हमें अच्छा लगने लगे तब हम समझ लें कि हम उसके भक्त हो गए। भक्ति की अवस्था प्राप्त होने पर हम अपने जीवनक्रम पर भी अपना कुछ प्रभाव रखना चाहते हैं। कभी हम अर्पण करते हैं और कभी

याचना करते हैं। सारांश यह कि भक्ति द्वारा हम भक्ति भाजन से विशेष घनिष्ठ संबंध स्थापित करते हैं–उसकी सत्ता में विशेष रूप से योग देना चाहते हैं। किसी के प्रति श्रद्धा धारण करके हम बहुत करेंगे तो समय समय पर उसकी प्रशंसा करेंगे, उसकी निंदा करनेवालों से झगड़ा करेंगे या कभी कुछ उपहार लेकर उपस्थित होंगे, पर जिसके प्रति हमारी अनन्य भक्ति हो जाएगी वह अपने जीवन के बहुत से अवसरों पर हमें अपने साथ देख सकता है। वह अपने बहुत से उद्योगों में हमारा योगदान पा सकता है। भक्त वे ही कहला सकते हैं जो अपने जीवन का बहुत अंश स्वार्थ (परिवार व शारीरिक सुख आदि) से विभक्त करके किसी के आश्रय से किसी ओर लगा सकते हैं, इसी का नाम है आत्मनिवेदन।

महात्माओं के ऊपर श्रद्धामात्र करके हम उन्हें जीवनशक्ति द्वारा उपार्जित कोई फल अर्पित कर सकते हैं, पर उनके भक्त होकर हम अपने जीवन ही के कुछ अंश को अर्पित कर देते हैं। किसी वीरव्रती महात्मा पर बहुत श्रद्धालु होकर हम आर्थिक सहायता द्वारा उसके लिए कुछ सुबीता कर सकते हैं, अपने वचनों से उसे प्रसन्न और उत्साहित कर सकते हैं, पर उसके भक्त बनकर हम अपने शारीरिक बल को उसका शारीरिक बल बनाएँगे, अपनी जानकारी और चतुराई को उसकी जानकारी और चतुराई बनाएँगे, अपनी वाग्मिता को उसकी वाग्मिता बनाएँगे, अपनी तत्परता को उसकी तत्परता बनाएँगे, यहाँ तक कि जो कुछ हमसे होगा उसे हम उसका कर डालेंगे और इसी प्रकार उसके जीवन में अपने जीवन का योग देकर उसके सामाजिक महत्त्व या प्रभाव को बढ़ाएँगे और उसके थोड़े बहुत हम भी भागी होंगे। श्रद्धा द्वारा हम दूसरे के महत्त्व के किसी अंश के अधिकारी नहीं हो सकते, पर भक्ति द्वारा हो सकते हैं। यहाँ तक कि दूसरे की भक्ति करके हम तीसरे की भक्ति के अधिकारी हो सकते हैं। राम पर अनन्य भक्ति करके हनुमान, अन्य राम भक्तों की भक्ति के अधिकारी हुए।

श्रद्धालु महत्त्व को स्वीकार करता है, पर भक्त महत्त्व की ओर अग्रसर होता है। श्रद्धालु अपने जीवनक्रम को ज्यों का त्यों छोड़ता है; पर भक्त उसकी काटछाँट में लग जाता है। अपने आचरण द्वारा दूसरों की भक्ति के अधिकारी होकर ही संसार के बड़े बड़े महात्मा समाज के कल्याण साधन में समर्थ हुए हैं। गुरु गोविंद सिंह को यदि केवल दंडवत करनेवाले और गद्दी पर भेंट चढ़ानेवाले श्रद्धालु ही मिलते, दिन रात साथ रहनेवाले अपने सारे जीवन को अर्पित करनेवाले भक्त न मिलते तो वे अन्याय दमन में कभी समर्थ न होते। इससे भक्ति के सामाजिक महत्त्व को, इसकी लोकहितकारिणी शक्ति को स्वीकार करने में किसी को आगा पीछा नहीं हो सकता। सामाजिक महत्त्व के लिए आवश्यक है कि या तो आकर्षित करो या आकर्षित हो। जैसे इस आकर्षण विधान के बिना अणुओं द्वारा व्यक्त

पिंडों का आविर्भाव नहीं हो सकता, वैसे ही मानव जीवन की विशद अभिव्यक्ति भी नहीं हो सकती।

भक्ति में किसी ऐसे सान्निध्य की प्रवृत्ति होती है जिसके द्वारा हमारी महत्त्व के अनुकूल गति का प्रसार और प्रतिकूल गति का संकोच होता है। इस प्रकार का सामीप्य लाभ करके हम अपने ऊपर पहरा बिठा देते हैं—अपने को ऐसे स्वच्छ आदर्श के सामने कर देते हैं जिससे हमारे कर्मों का प्रतिबिंब ठीक ठीक दिखाई पड़ता है। जिसे अपनी वास्तविक क्षुद्रता का परिज्ञान अरुचिकर होगा वह सापेक्षिकता के भय से ऐसे महत्त्वादर्श का सामीप्य कभी न चाहेगा, दूर दूर भागा फिरेगा। 'हमीं हम' वाले 'तुम भी' नहीं सह सकते, 'तुम्हीं तुम' की क्या बात है? ऐसे लोग तो स्वयं अपने लिए भक्त ढूँढ़ने निकलते हैं। भक्ति के लिए दैन्य अर्थात् दूसरे के महत्त्व के साथ अपने लघुत्व की भावना पहली बात है। इस भावना को जब हम मुक्त हृदय से मुग्ध होकर धारण करेंगे और दूसरे पर श्रद्धा कर लेंगे, तब हम उसके महत्त्व के सतत साक्षात्कार के लिए, अनेक रूपों में परिचय के लिए उसके सामीप्य की इच्छा करते हुए इस श्रद्धा में प्रेम का भी मिश्रण करेंगे और अपने बहुत से क्रियाकलाप को अपने पूज्य प्रेमपात्र के अधीन करके स्वयं महत्त्व के अभ्यास में प्रवृत्त होंगे। जन साधारण के लिए इस प्रकार के आश्रय द्वारा महत्त्व प्राप्ति सुगम होती है। जो उच्च पथ पहले कष्टकर और श्रमसाध्य जान पड़ता है वही भक्ति के बल से मनोहर लगने लगता है।

व्यक्ति संबंधहीन सिद्धांतमार्ग निश्चयात्मिका बुद्धि को चाहे व्यक्त हो, पर प्रवर्तक मन को अव्यक्त रहते हैं। वे मनोरंजनकारी तभी लगते हैं, जब किसी व्यक्ति के जीवनक्रम के रूप में देखे जाते हैं। शील की विभूतियाँ अनंत रूपों में दिखाई पड़ती हैं। मनुष्य जाति ने जब से होश सँभाला, तब से वह इन अनंत रूपों को महात्माओं के आचरणों तथा आख्यानों और चरित्र संबंधी पुस्तकों में देखती चली आ रही है। जब इन रूपों पर मनुष्य मोहित होता है, तब सात्विक शील की ओर आप से आप आकर्षित होता है। 'सदा सत्य बोलो', 'दूसरों की भलाई करो', 'क्षमा करना सीखो'—ऐसे ऐसे सिद्धांत वाक्य किसी को बार बार बकते सुन वैसा ही क्रोध आता है जैसे किसी बेहूदे की बात सुनकर। जो इस प्रकार की बातें करता चला जाय उससे चट कहना चाहिए—'बस चुप रहो, तुम्हें बोलने की तमीज नहीं, तुम बच्चों या कोल भीलों के पास जाओ। ये बातें हम पहले से जानते हैं। मानव जीवन के बीच हम इसके सौंदर्य का विकास देखना चाहते हैं। यदि तुम्हें दिखाने की प्रतिभा या शक्ति हो तो दिखाओ, नहीं तो चुपचाप अपना रास्ता लो।' गुण प्रत्यक्ष नहीं होता, उसके आश्रय और परिणाम प्रत्यक्ष होते हैं। अनुभवात्मक मन को आकर्षित करनेवाले आश्रय और परिणाम हैं, गुण नहीं। ये ही अनुभूति के विषय हैं। अनुभूति पर प्रवृत्ति और निवृत्ति निर्भर है। अनुभूति मन की पहली क्रिया है, संकल्प विकल्प दूसरी। अतः

सिद्धांत पथों के संबंध में जो आनंदानुभव करने की बातें हैं, जो अच्छी लगने की बातें हैं, वे पथिकों में तथा उनके चारों ओर पाई जाएँगी। सत्पथ के दीपक उन्हीं के हाथ में हैं या वे ही सत्पथ के दीपक हैं। सत्त्वोन्मुख प्राणियों के लिए ऐसे पथिकों के सामीप्य लाभ की कामना करना स्वाभाविक ही है।

सामीप्य से अभिप्राय केवल किसी के साथ साथ बना रहना नहीं है। श्रवण, कीर्तन और स्मरण आदि भी सामीप्य ही के विधान हैं। वाह्य और आभ्यंतर दोनों प्रयत्नों से सामीप्य की सिद्धि होती है। स्मरण द्वारा हम अपने आराध्य को, उसके कर्मक्षेत्र को अपने अंतःकरण के सामने उपस्थित करते हैं। यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि जब हम इष्ट के कर्मक्षेत्र को सामने लाते हैं तब उसमें ऐसे लोग भी तो आ जाते हैं जिन पर हमारी कुछ भी भक्ति नहीं। हाँ, आते अवश्य हैं। इनके द्वारा हमारे इष्ट के स्वरूप का पूर्ण विकास दिखाई पड़ता है—इनके बीच उनका (इष्ट का) रंग और खुल पड़ता है। यदि राम हमारे काम के हैं तो रावण भी हमारे काम का है। एक में हम अपने लिए प्रवृत्ति का क्रम पाते हैं, दूसरे में निवृत्ति का। जीवन में इस निवृत्ति और प्रवृत्ति का प्रवाह साथ साथ चलता है। दुराचारी भी यदि अपने दुराचार का फल संसार के सामने पूर्ण रूप से भोग लेता है तो समाज के लिए उपयोगी ठहर जाता है राम के हाथ से मारे जाने से रावण का जीवन भी सार्थक हो गया। यदि पापी अपने पाप का फल एकांत में या आत्मा में ही, भोगकर चला जाता है तो वह अपनी जीवन की सामाजिक उपयोगिता की एकमात्र संभावना को भी नष्ट कर देता है। इसी से बहुत से प्रायश्चितों के विधान में किए हुए पापों का सबके समक्ष कथन आवश्यक होता है।

पाप का फल छिपानेवाला पाप छिपानेवाले से अधिक अपराधी है पर ऐसे बहुत से लोग होते हैं जो किसी का घर जलाते हाथ जलता है तो कहते हैं कि होम करते जला है। दुराचारियों के जीवन का सामाजिक उपयोग करने के लिए ही, संसार में धर्म की मर्यादा स्थापित करने के लिए ही श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त किया। यदि अधर्म में तत्पर कौरवों का नाश न होता और पांडव जीवन भर मारे मारे ही फिरते तो संसार में अन्याय और अधर्म की ऐसी लीक खिंच जाती जो मिटाने से न मिटती। जिस समाज में सुख और वैभव के रंग में रँगी अधर्म की ऐसी लीक दिखाई पड़े उसमें रक्षा करनेवाली आत्मा का अभाव तथा विश्वात्मा की विशेष कला के अवतार की आवश्यकता समझनी चाहिए, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।

यदि कहीं पाप है, अन्याय है, अत्याचार है तो उनका आशुफल उत्पन्न करना और संसार के समक्ष रखना, लोकरक्षा का कार्य है। अपने ऊपर किए जानेवाले अत्याचार और अन्याय का फल ईश्वर के ऊपर छोड़ना व्यक्तिगत आत्मोन्नति के लिए चाहे

श्रेष्ठ हो; पर यदि अन्यायी या अत्याचारी अपना हाथ नहीं खींचता है तो लोकसंग्रह की दृष्टि से वह उसी प्रकार आलस्य या कायरपन है जिस प्रकार अपने ऊपर किए हुए, उपकार का कुछ भी बदला न देना कृतघ्नता है।

अब भगवद्भक्ति को लीजिए। ऊपर जो कुछ कहा गया उससे स्पष्ट हो गया होगा कि मनुष्य की भक्ति के आधार क्या क्या हैं। मनुष्य विश्व विधान का एक क्षुद्र चेतन अंश है। उसमें धर्म, अधर्म, दया, निष्ठुरता आदि से भाव विश्व के उतने ही अंश से संबंध रखते हैं जितने के भीतर उसे कार्य करना है। यह कार्य और कुछ नहीं, अपनी समष्टि स्थिति और सुख संतोष का प्रयत्न मात्र है। अपने कार्यक्षेत्र के बाहर यदि वह अपने इन भावों का सामंजस्य ढूँढ़ता है तो नहीं पाता है—कहीं उसे 'जीवो जीवस्य जीवनम्' का सिद्धांत चलता दिखाई पड़ता है, कहीं लाठी और भैंस का। वह सोचता है कि इन बातों का अनुसरण मनुष्य समाज में भी जानबूझकर क्यों न किया जाए, यह नहीं सोचता कि मनुष्य जाति की स्थिति इन अवस्थाओं से बहुत आगे बढ़ी है और चेतना की श्रेणी में उससे आगे की ओर से कोई भूमि दिखाई नहीं पड़ रही है। वह दया को निरर्थक समझ अपने अंतःकरण का एक अंग ही खंडित करना चाहता है। वह किसी को काना देखकर अपनी एक आँख फोड़ने चलता है। कुछ दिन पहले की सभ्यता मनुष्य जीवन को देवतुल्य बनाने में थी; अब मर्कटतुल्य और मत्स्यतुल्य बनाने में समझी जाने लगी है। पर यह सभ्यता जड़त्व और नाश की ओर ले जानेवाली है जब हृदय की कुछ उदात्त प्रवृत्तियाँ बोझ मालूम होने लगी हैं। तब और प्राणियों की अपेक्षा अपने अंतःकरण की पूर्णता का गर्व मनुष्य जाति कब तक कर सकती है? उसके मार्मिक अंग की व्यापकता के ह्रास और स्तब्धता की वृद्धि के भयंकर परिणाम का आभास योरप दे रहा है। अंतःकरण की जितनी वृत्तियाँ हैं उनमें से कोई निरर्थक नहीं—सबका उपयोग है। इनमें से किसी की शक्ति फालतू नहीं। यदि मनुष्य इनमें से किसी को निष्क्रिय करने का अभ्यास डालेगा तो अपनी पूर्णता को खोएगा और अपनी स्थिति को जोखिम में डालेगा।

मिट्टी के ढेले, गुलाब के पौधे, कुत्ते और बिल्ली की अपेक्षा मनुष्य अपने में अंशी का अधिक अंश समझता है—उस सर्वात्मा का अधिक अंश समझता है—विश्व विधान जिसकी नित्य क्रिया है; अतः स्थिति रक्षा विधान की जो जो बातें अपने में हैं उनका अभाव उसे अंशी या सर्व में मानते नहीं बनता। दया, दाक्षिण्य, प्रेम, क्रोध आदि अपनी अंशात्मा में देखते हुए सर्वात्मा में उनके अभाव की धारणा मनुष्य करे तो कैसे करे? अतः ज्ञान क्षेत्र में ईश्वर की खोज हम उतने ही घेरे में करेंगे जितने में इंद्रियों की सहायता लेकर बुद्धि पहुँचती है और कर्मक्षेत्र में उसकी भावना हम उसे उतने ही भावों से परिमित करके करेंगे जितने की हमारे मन में जगह है। हम हैं, हम समझते हैं कि हम हैं और हम चाहते हैं कि हम रहें, ऐसी अवस्था में हम अपने स्थिति रक्षा संबंधी भावों को परमावस्था पर पहुँचाकर ही उस परम भावमय

की भावना करेंगे। हम उसे धर्ममय, दयामय, प्रेममय मानेंगे और यह प्रेम उसी रूप का होगा जिस रूप में उसका व्यवहार मनुष्य जाति में दिखाई पड़ता है, जिस रूप में मनुष्य जाति को उसकी आवश्यकता पड़ती है। अत्याचारी से पीड़ित होकर मनुष्य उसके कोप का आह्वान करता है, आपद्ग्रस्त होकर उसकी दया का भिखारी होता है, सुख से संपन्न होकर उसके धन्यवाद के लिए हाथ उठाता है, भक्ति से पूर्ण होकर उसके आश्रय की वांछा करता है। ये ही व्यवहार वह मनुष्यों के साथ भी करता है।

अपने व्यवहार पथ में आश्रय प्राप्ति के निमित्त मनुष्य के लिए ईश्वर की स्वानुरूप भावना ही संभव है। स्वानुभूति द्वारा ही वह उस परमानुभूति की धारणा कर सकता है। इसी से भर्तृहरि ने 'स्वानुभूत्यैकमानव' कहकर नमस्कार किया है। यदि चिन्मय में अपनी इतनी अनुभूति का भी निश्चय मनुष्य को न हो वह प्रार्थना आदि क्यों करने जाए? कुत्ते प्रार्थना क्यों नहीं करते? उनमें धर्म की प्रतिष्ठा नहीं है—अर्थात् वे चेतना की उस भूमि तक नहीं पहुँचे हैं जिनमें संमष्टि स्थिति की रक्षा से संबंध रखने वाले भावों का संचार होता है। वे यह नहीं जानते कि एक दूसरे को काटने दौड़ने से कुक्कुर समाज की उन्नति और वृद्धि नहीं हो सकती। समष्टि रक्षा या धर्म की ओर प्रवृत्त करनेवाले दया आदि भाव उन्हें प्राप्त नहीं हैं। उनमें स्वार्थ का भाव है, परमार्थ का भाव नहीं। 'धर्मो रक्षति रक्षितः' की धारणा उन्हें नहीं होती। जहाँ धर्मभाव है वहीं ईश्वर की भावना है। जिन प्राणियों में जिन भावों का विकास नहीं हुआ है उनमें उनकी चरितार्थता की आवश्यकता प्रकृति नहीं समझती।

भक्ति का स्थान मानव हृदय है—वहीं श्रद्धा और प्रेम के संयोग से उसका प्रादुर्भाव होता है। अतः मनुष्य की श्रद्धा के जो विषय ऊपर कहे जा चुके हैं उन्हीं को परमात्मा में अत्यंत विशद रूप में देखकर ही उसका मन खिंचता है और वह उस विशद रूप विशिष्ट का सामीप्य चाहता है, उसके हृदय में जो सौंदर्य का भाव है, जो शील का भाव है, जो उदारता का भाव है, जो शक्ति का भाव है, उसे वह अत्यंत पूर्ण रूप में परमात्मा में देखता है और ऐसे पूर्ण पुरुष की भावना से उसका हृदय गद्गद हो जाता है और उसका धर्मपथ आनंद से जगमगा उठता है। धर्मक्षेत्र या व्यवहार पथ में वह अपने मतलब भर ही ईश्वरता से प्रयोजन रखता है। राम, कृष्ण आदि अवतारों में परमात्मा की विशेष कला देख एक हिंदू के हृदय की सारी शुभ और आनंदमयी वृत्तियाँ उनकी ओर दौड़ पड़ती हैं, उनके प्रेम, श्रद्धा आदि को बड़ा भारी अवलंब मिल जाता है। उसके सारे जीवन में एक अपूर्व माधुर्य और बल का संचार हो जाता है। उसके सामीप्य का आनंद लेने के लिए कभी वह उनके अलौकिक रूप सौंदर्य की भावना करता है, कभी उनकी बाललीला के चिंतन से विनोद प्राप्त करता है, कभी धर्म—बलपूर्ण उनके निर्मल चरित्र का गान करता है, कभी सिर झुकाकर वंदना करता है, यहाँ तक कि जब जी में आता है, प्रेम से भरा उलाहना भी देता है। यह हृदय द्वारा अर्थात् आनंद अनुभव करते हुए धर्म में प्रवृत्त होने का

सुगम मार्ग है। भक्ति हृदय से की जाती है। बुद्धि से भक्ति करना ऐसे ही है जैसे नाक से खाना और कान से सूँघना। हमारे यहाँ भक्ति विधान के अंतर्गत श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवा, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्म निवेदन ये नौ बातें ली गई हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कोरी श्रद्धा में याचकता का भाव नहीं है, जब प्रेम के साथ उसका संयोग होता है तभी इस भाव की प्राप्ति होती है। श्रद्धावान् श्रद्धेय पर अपने निमित्त किसी प्रकार का प्रभाव डालना नहीं चाहता, पर भक्त दाक्षिण्य चाहता है।

रामलीला, कृष्णलीला आदि सामीप्य सिद्धि के विधान हैं। सामीप्य की कामना, भक्तवर रसखान ने बड़ी मार्मिकता से इस प्रकार प्रकट की है–

मानुष हों तो वही 'रसखान'
बसौं सँग गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हों तो कहा बस मेरो,
चरौं नित नंद के धेनु मझारन।
पाहन हों तो वही गिरि को,
जो किए हरि छत्र पुरंदर धारन।
जो खग हों तो बसेरो करौ,
मिलि कालिंदी कूल कदंब के डारन॥

रामलीला द्वारा लोग वर्ष में एक बार अपने पूज्यदेव की आदर्श मानवलीला का माधुर्य देखते हैं। जिस समय दूर दूर के गाँवों के लोग एक मैदान में आकर इकट्ठे होते हैं तथा एक ओर जटा मुकुटधारी विजयी राम लक्ष्मण की मधुर मूर्ति देखते हैं और दूसरी ओर तीरों से बिंधा रावण का विशाल शरीर जलता देखते हैं, उस समय वे धर्म के सौंदर्य पर लुब्ध और अधर्म की घोरता पर क्षुब्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार जब कृष्णलीला में जीवन की प्रफुल्लता के साथ धर्मरक्षा के अलौकिक बल का विकास देखते हैं, तब हमारी जीवन धारणा की अभिलाषा दूनी चौगुनी हो जाती है। हिंदू जाति इन्हीं की भक्ति के बल से इनकी प्रतिकूल अवस्थाओं के बीच अपना स्वतंत्र अस्तित्व बचाती चलती चली आई है–इन्हीं की अद्भुत आकर्षणशक्ति से वह इधर उधर ढलने नहीं पाई है। राम और कृष्ण को बिना आँसू बहाए छोड़ना हिंदू जाति के लिए सहज नहीं था, क्योंकि ये अवतार अलग टीले पर खड़े होकर उपदेश देनेवाले नहीं थे, बल्कि मानव जीवन में पूर्ण रूप से सम्मिलित होकर उसके एक एक अंग की मनोहरता दिखानेवाले थे। मंगल के अवसरों पर उनके गीत गाए जाते हैं–विमाताओं की कुटिलता की, बड़ों के आदर की, दुष्टों के दमन की, जीवन के कष्ट की, घर की, वन की, संपद की, विपद की जहाँ चर्चा होती है, वहाँ इनका स्मरण किया जाता है।

संसार से तटस्थ रहकर शांति सुखपूर्वक लोक व्यवहार संबंधी उपदेश देनेवालों का उतना अधिक महत्त्व हिंदू धर्म में नहीं है जितना संसार के भीतर घुसकर उसके व्यवहारों के बीच सात्विक विभूति की ज्योति जगानेवालों का है। हमारे यहाँ उपदेशक ईश्वर के अवतार नहीं माने गए हैं। अपने जीवन द्वारा कर्म सौंदर्य संघटित करने वाले ही अवतार कहे गए हैं। कर्म सौंदर्य के योग से उनके स्वरूप में इतना माधुर्य आ गया है कि हमारा हृदय आप से आप उनकी ओर खिंचा पड़ता है। जो कुछ हम करते हैं—खेलना, कूदना, हँसना, बोलना, क्रोध करना, शोक करना, प्रेम करना, विनोद करना, उन सबमें सौंदर्य लाते हुए हम जिन्हें देखेंगे उन्हीं की ओर ढल सकते हैं। वे हमें दूर से रास्ता दिखानेवाले नहीं हैं, आप रास्ते में चलकर हमें अपने पीछे लगाने क्या खींचनेवाले हैं। जो उसके स्वरूप पर मोहित न हो वह निस्संदेह जड़ है।

सुनि सीतापति सील सुभाउ।
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल सो नर खेहर खाउ॥

जो उनका नाम सुनकर पुलकित होता है, जो उनके स्वरूप पर मोहित होता है, उसके सुधरने की बहुत कुछ आशा हो सकती है। जो संसार या मनुष्यत्व का सर्वथा त्याग न कर दे, उसके लिए शुद्ध सात्विक जीवन का यही मार्ग है। रागों के संपूर्ण दमन की अपेक्षा रागों का परिष्कार ज्यादा काम में आनेवाली बात है। निर्लिप्त रहकर दूसरों का गला काटनेवालों से लिप्त होकर दूसरों की भलाई करनेवाले लोक कल्याण के विचार से कहीं अच्छे हैं।

जनता के संपूर्ण जीवन को स्पर्श करनेवाला क्षात्रधर्म के इसी व्यापकत्व के कारण हमारे मुख्य अवतार राम और कृष्ण क्षत्रिय हैं। क्षात्रधर्म ऐकांतिक नहीं है। उसका संबंध लोकरक्षा से है। 'कोई राजा होगा तो अपने घर का होगा' इससे बढ़कर झूठ शायद ही कोई मिले। झूठे खिताबों के द्वारा यह कभी सच नहीं की जा सकती। कर्म सौंदर्य की योजना क्षात्र जीवन में जितने रूप में संभव है, उतने रूपों में और किसी जीवन में नहीं। शक्ति के साथ क्षमा, वैभव के साथ विनय, पराक्रम के साथ रूप माधुर्य, तेज के साथ कोमलता, सुख भोग के साथ परदुःखकातरता; प्रताप के साथ कठिन धर्म पथ का अवलंबन इत्यादि कर्म सौंदर्य के इतने अधिक प्रकार के उत्कर्ष योग और कहाँ घट सकते हैं। इसी से क्षात्र धर्म के सौंदर्य में जो मधुर आकर्षण है वह अधिक व्यापक, अधिक मर्मस्पर्शी और अधिक स्पष्ट है। मनुष्य की संपूर्ण रागात्मिका वृत्तियों को उत्कर्ष पर ले जाने और विशुद्ध करने की सामर्थ्य उसमें है।

संसार में मनुष्य मात्र की समान वृत्ति कभी नहीं हो सकती। इस बात को भूलकर जो उपदेश दिए जाया करते हैं वे पाषंड के अंतर्गत आते हैं। वृत्तियों की भिन्नता के बीच से जो मार्ग निकल सकेगा वही लोकरक्षा का मार्ग होगा, वही धर्म का चलता हुआ मार्ग होगा। जिसमें शिष्टों के आदर, दीनों पर दया, दुष्टों के दमन

आदि जीवन के अनेक रूपों का सौंदर्य दिखाई पड़ेगा, वही सर्वाङ्गपूर्ण लोकधर्म का मार्ग होगा। क्षात्रधर्म पालन की आवश्यकता संसार में सब दिन बनी रहेगी। कोई व्यापारयुग उसे नहीं हटा सकता। किसी अनाथ अबला पर अत्याचार करने पर एक क्रूर पिशाच को हम उद्यत देख रहे हैं। समझाना बुझाना या तो व्यर्थ है अथवा उसका समय ही नहीं है। ऐसी दशा में यदि उस अबला की रक्षा इष्ट है, तो हमें चटपट उस कर्म में प्रवृत्त होना होगा जिससे उस दुष्ट को बाधा पहुँचे। उस समय का हमारा क्रोध कितना सुंदर और अक्रोध कितना गर्हित होगा।

[चिन्तामणि, भाग-1]

करुणा

जब बच्चे को संबंधज्ञान कुछ कुछ होने लगता है तभी दुःख के उस भेद की नींव पड़ जाती है जिसे करुणा कहते हैं। बच्चा पहले परखता है कि जैसे हम हैं वैसे ही ये और प्राणी भी हैं और बिना किसी विवेचना क्रम के स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा, वह अपने अनुभवों का आरोप दूसरे प्राणियों पर करता है। फिर कार्यकारण संबंध से अभ्यस्त होने पर दूसरों के दुःख के कारण या कार्य को देखकर उनके दुःख का अनुमान करता है और स्वयं एक प्रकार का दुःख अनुभव करता है। प्रायः देखा जाता है कि जब माँ झूठमूठ 'ऊँ ऊँ' करके रोने लगती है तब कोई कोई बच्चे भी रो पड़ते हैं। इसी प्रकार जब उसके किसी भी भाई या बहिन को कोई मारने उठता है तब वे कुछ चंचल हो उठते हैं।

दुःख की श्रेणी में प्रवृत्ति के विचार से करुणा का उलटा क्रोध है। क्रोध जिसके प्रति उत्पन्न होता है उसकी हानि की चेष्टा की जाती है। करुणा जिसके प्रति उत्पन्न होती है, उसकी भलाई का उद्योग किया जाता है। किसी पर प्रसन्न होकर भी लोग उसकी भलाई करते हैं। इस प्रकार पात्र की भलाई की उत्तेजना दुःख और आनंद दोनों की श्रेणियों में रखी गई है। आनंद की श्रेणी में ऐसा कोई शुद्ध मनोविकार नहीं है, जो पात्र की हानि की उत्तेजना करे, पर दुःख की श्रेणी में ऐसा मनोविकार है जो पात्र की भलाई की उत्तेजना करता है। लोभ से, जिसे मैंने आनंद की श्रेणी में रखा है, चाहे कभी कभी और व्यक्तियों या वस्तुओं की हानि पहुँच जाए पर जिसे जिस व्यक्ति या वस्तु का लोभ होगा, उसकी हानि वह कभी न करेगा। लोभी महमूद ने सोमनाथ को तोड़ा, पर भीतर से जो जवाहरात निकले उनको खूब सँभालकर रखा। नूरजहाँ के रूप में लोभी जहाँगीर ने शेर अफगन को मरवाया, पर नूरजहाँ को बड़े चैन से रखा।

ऊपर कहा जा चुका है कि मनुष्य ज्यों ही समाज में प्रवेश करता है, उसके सुख और दुःख का बहुत सा अंश दूसरे की क्रिया या अवस्था पर अवलंबित हो जाता है और उसके मनोविकारों के प्रवाह तथा जीवन के विस्तार के लिए अधिक क्षेत्र हो जाता है। वह दूसरों के दुःख से दुःखी और दूसरों के सुख से सुखी होने

लगता है। अब देखना यह है कि दूसरों के दुःख से दुःखी होने का नियम जितना व्यापक है क्या उतना ही दूसरों के सुख से सुखी होने का भी। मैं समझता हूँ, नहीं। हम अज्ञात कुलशील मनुष्य के दुःख को देखकर भी दुःखी होते हैं। किसी दुःखी मनुष्य को सामने देख हम अपना दुःखी होना तब तक के लिए बंद नहीं रखते जब तक कि यह न मालूम हो जाए कि वह कौन है, कहाँ रहता है और कैसा है; यह और बात है कि यह जानकर कि जिसे पीड़ा पहुँच रही है उसने कोई भारी अपराध या अत्याचार किया है, हमारी दया दूर या कम हो जाए। ऐसे अवसर पर हमारे ध्यान के सामने वह अपराध या अत्याचार आ जाता है और उस अपराधी या अत्याचारी का वर्तमान क्लेश हमारे क्रोध की तुष्टि का साधक हो जाता है।

सारांश यह है कि करुणा की प्राप्ति के लिए पात्र में दुःख के अतिरिक्त और किसी विशेषता की अपेक्षा नहीं। पर आनंदित हम ऐसे ही आदमी के सुख को देखकर होते हैं जो या तो हमारा सुहृद या संबंधी हो अथवा अत्यंत सज्जन, शीलवान् या चरित्रवान् होने के कारण समाज का मित्र या हितकारी हो। यों ही किसी अज्ञात व्यक्ति का लाभ या कल्याण सुनने से हमारे हृदय में किसी प्रकार के आनंद का उदय नहीं होता। इससे प्रकट है कि दूसरों के दुःख से दुःखी होने का नियम बहुत व्यापक है और दूसरों के सुख से सुखी होने का नियम उसकी अपेक्षा परिमित है। इसके अतिरिक्त दूसरों को सुखी देखकर जो आनंद होता है उसका न तो कोई अलग नाम रखा गया है और न उनमें वेग या प्रेरणा होती है। पर दूसरों के दुःख के परिज्ञान से जो दुःख होता है, वह करुणा, दया आदि नामों से पुकारा जाता है और अपने कारण को दूर करने की उत्तेजना करता है।

जबकि अज्ञात व्यक्ति के दुःख पर दया बराबर उत्पन्न होती है तो जिस व्यक्ति के साथ हमारा अधिक संसर्ग होता है, जिसके गुणों से हम अच्छी तरह परिचित रहते हैं, जिसका रूप हमें भला मालूम होता है उसके उतने ही दुःख पर हमें अवश्य अधिक करुणा होगी। किसी भोलीभाली सुंदरी रमणी को, किसी सच्चरित्र परोपकारी महात्मा को, किसी अपने भाई बंधु को दुःख में देख, हमें अधिक व्याकुलता होगी। करुणा की तीव्रता का सापेक्ष विधान जीवन निर्वाह की सुगमता और कार्य विभाग की पूर्णता के उद्‌देश्य से समझना चाहिए।

मनुष्य की प्रकृति में शील और सात्त्विकता का आदि संस्थापक यही मनोविकार है। मनुष्य की सज्जनता या दुर्जनता अन्य प्राणियों के साथ उसके संबंध या संसर्ग द्वारा ही व्यक्त होती है। यदि कोई मनुष्य जन्म से ही किसी निर्जन स्थान में अपना निर्वाह करे तो उसका कोई कर्म सज्जनता या दुर्जनता की कोटि में न आएगा। उसके सब कर्म निर्लिप्त होंगे। संसार में प्रत्येक प्राणी के जीवन का उद्‌देश्य दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति है। अतः सबके उद्‌देश्य को एक साथ जोड़ने से संसार का उद्‌देश्य सुख का स्थापन और दुःख का निराकरण हुआ। अतः जिन कर्मों से संसार

के इस उद्देश्य के साधन हों वे उत्तम हैं। प्रत्येक प्राणी के लिए उससे भिन्न प्राणी संसार है। जिन कर्मों से दूसरे के वास्तविक सुख का साधन और दुःख की निवृत्ति हो वे शुभ और सात्त्विक हैं तथा जिस अंतःकरणवृत्ति से इन कर्मों में प्रवृत्ति हो वह सात्त्विक है। कृपा या अनुग्रह से भी दूसरों के सुख की योजना की जाती है, पर एक तो कृपा अनुग्रह में आत्मभाव छिपा रहता है और उनकी प्रेरणा से पहुँचाया हुआ सुख एक प्रकार का प्रतिकार है। दूसरी बात यह है कि नवीन सुख की योजना की अपेक्षा प्राप्त दुःख की निवृत्ति की आवश्यकता अत्यंत अधिक है।

दूसरे के उपस्थित दुःख से उत्पन्न दुःख का अनुभव अपनी तीव्रता के कारण मनोविकारों की श्रेणी में माना जाता है पर अपने भावी आचरण द्वारा दूसरे के संभाव्य दुःख का ध्यान या अनुमान, जिसके द्वारा हम ऐसी बातों से बचते हैं जिनसे अकारण दूसरे को दुःख पहुँचे, शील या साधारण सद्वृत्ति के अंतर्गत समझा जाता है। बोलचाल की भाषा में तो 'शील' शब्द से चित्त की कोमलता या मुरौवत ही का भाव समझा जाता है, जैसे–'उनकी आँखों में शील नहीं है', 'शील तोड़ना अच्छा नहीं', दूसरों का दुःख दूर करना और दूसरों को दुःख न पहुँचाना इन दोनों बातों का निर्वाह करनेवाला नियम न पालने का दोषी हो सकता है, पर दुःखशीलता या दुर्भाव का नहीं। ऐसा मनुष्य झूठ बोल सकता है, पर ऐसा नहीं जिससे किसी का कोई काम बिगड़े या जी दुखे। यदि वह किसी अवसर पर बड़ों की कोई बात न मानेगा तो इसलिए कि वह उसे ठीक नहीं जँचती या वह उसके अनुकूल चलने में असमर्थ है, इसलिए नहीं कि बड़ों का अकारण जी दुखे।

मेरे विचार में तो 'सदा सत्य बोलना', 'बड़ों का कहना मानना' ये नियम के अंतर्गत हैं, शील या सद्भाव के अंतर्गत नहीं। झूठ बोलने से बहुधा बड़े बड़े अनर्थ हो जाते हैं इसी से उसका अभ्यास रोकने के लिए यह नियम कर दिया गया कि किसी अवस्था में झूठ बोला ही न जाए। पर मनोरंजन, खुशामद और शिष्टाचार आदि के बहाने संसार में बहुत सा झूठ बोला जाता है जिस पर कोई समाज कुपित नहीं होता। किसी किसी अवस्था में तो धर्मग्रंथों में झूठ बोलने की इजाजत तक दे दी गई है, विशेषतः जब इस नियम भंग द्वारा अंतःकरण की किसी उच्च और उदार वृत्ति का साधन होता हो। यदि किसी के झूठ बोलने से कोई निरपराध और निस्सहाय व्यक्ति अनुचित दंड से बच जाए तो ऐसा झूठ बोलना बुरा नहीं बतलाया गया है क्योंकि नियम शील या सद्वृत्ति का साधक है, समकक्ष नहीं। मनोवेग वर्जित सदाचार दंभ या झूठी कवायद है। मनुष्य के अंतःकरण में सात्त्विकता की ज्योति जगानेवाली यही करुणा है। इसी से जैन और बौद्धधर्म में इसको बड़ी प्रधानता दी गई है और गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी कहा है–

पर उपकार सरिस न भलाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

यह बात स्थिर और निर्विवाद है कि श्रद्धा का विषय किसी न किसी रूप

में सात्त्विक शील ही होता है। अतः करुणा और सात्त्विकता का संबंध इस बात से और भी सिद्ध होता है कि किसी पुरुष को दूसरे पर करुणा करते देख तीसरे को करुणा करनेवाले पर श्रद्धा उत्पन्न होती है। किसी प्राणी में और किसी मनोवेग को देख श्रद्धा नहीं उत्पन्न होती। किसी को क्रोध, भय, ईर्ष्या, घृणा, आनंद आदि करते देख लोग उसपर श्रद्धा नहीं कर बैठते। क्रिया में तत्पर करनेवाली प्राणियों की आदि अंतःकरणवृत्ति मन का मनोवेग है। अतः इन मनोवेगों में जो श्रद्धा का विषय हो वही सात्त्विकता का आदि संस्थापक ठहरा। दूसरी बात यह भी ध्यान देने की है कि मनुष्य के आचरण के प्रवर्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं, बुद्धि नहीं। बुद्धि दो वस्तुओं के रूपों को अलग अलग दिखला देगी, यह मनुष्य के मन के वेग या प्रवृत्ति पर है कि वह उनमें से किसी एक को चुनकर कार्य में प्रवृत्त हो। यदि विचार कर देखा जाए तो स्मृति, अनुमान, बुद्धि आदि अंतःकरण की सारी वृत्तियाँ केवल मनोवेगों की सहायक हैं, वे भावों या मनोवेगों के लिए उपयुक्त विषय मात्र ढूँढ़ती हैं। मनुष्य की प्रवृत्ति पर भाव को और भावना को तीव्र करनेवाले कवियों का प्रभाव प्रकट ही है।

प्रिय के वियोग से जो दुःख होता है उसमें कभी कभी दया या करुणा का भी कुछ अंश मिला रहता है। ऊपर कहा जा चुका है कि करुणा का विषय दूसरे का दुःख है। अतः प्रिय के वियोग में इस विषय की भावना किस प्रकार होती है, यह देखना है। प्रत्यक्ष निश्चय कराता है और परोक्ष अनिश्चय में डालता है। प्रिय व्यक्ति के सामने रहने से उसके सुख का जो निश्चय होता रहता है, वह उसके दूर होने से अनिश्चय में परिवर्तित हो जाता है। अतः प्रिय के वियोग पर उत्पन्न करुणा का विषय प्रिय के सुख का निश्चय है। जो करुणा हमें साधारणजनों के वास्तविक दुःख के परिज्ञान से होती है, वही करुणा हमें प्रियजनों के सुख के अनिश्चय मात्र से होती है। साधारणजनों का तो हमें दुःख असह्य होता है, पर प्रियजनों के सुख का अनिश्चय ही। अनिश्चय बात पर सुखी या दुःखी होना ज्ञानवादियों के निकट अज्ञान है, इसी से इस प्रकार के दुःख या करुणा को किसी किसी प्रांतिक भाषा में 'मोह' भी कहते हैं। सारांश यह कि प्रिय से वियोगजनित दुःख में जो करुणा का अंश रहता है उसका विषय प्रिय के सुख का अनिश्चय है। राम जानकी के वन चले जाने पर कौशल्या उनके सुख के अनिश्चय पर इस प्रकार दुःखी होती हैं–

बन को निकरि गए दोउ भाई।
सावन गरजै, भादौं बरसै, पवन चलै पुरवाई।
कौन बिरिछ तर भीजत है हैं राम लखन दोउ भाई। (–गीता.)

प्रेमी को यह विश्वास कभी नहीं होता कि उसके प्रिय के सुख का ध्यान जितना वह रखता है उतना संसार में और भी कोई रख सकता है। श्रीकृष्ण गोकुल

से मथुरा चले गए जहाँ सब प्रकार का सुख वैभव था; पर यशोदा इसी सोच में मरती रहीं कि–

प्रात समय उठि माखन रोटी को बिन माँगे दैहै ?
को मेरे बालक कुँवर कान्ह को छिन छिन आगे लैहै ?

और उद्धव से कहती हैं–

संदेसो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारो सुत को, कृपा करत ही रहियो॥
उबटन, तेल और तातो जल, देखत ही भजि जाते।
जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देती, क्रम क्रम करि कै न्हाते॥
तुम तो टेब जानतिहि ह्वैहौ, तऊ मोहि कहि आवै।
प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतहि माखन रोटी भावै॥
अब यह सूर मोहि निसि बासर बड़ो रहत जिय सोच।
अब मेरे अलकलड़ैते लालन ह्वैहै करत सँकोच॥

वियोग की दशा में गहरे प्रेमियों को प्रिय के सुख का अनिश्चय ही नहीं, कभी कभी घोर अनिष्ट की आशंका तक होती है, जैसे एक पति वियोगिनी संदेह करती है–

नदी किनारे धुआँ उठत है, मैं जानूँ कुछ होय।
जिसके कारण मैं जली, वही न जलता होय॥

शुद्ध वियोग का दुःख केवल प्रिय के अलग हो जाने की भावना से उत्पन्न क्षोभ या विषाद है जिसमें प्रिय के दुःख आदि की कोई भावना नहीं रहती।

जिस व्यक्ति से किसी की घनिष्ठता और प्रीति होती है वह उसके जीवन के बहुत से व्यापारों तथा मनोवृत्तियों का आधार होता है। उसके जीवन का बहुत सा अंश उसी के संबंध द्वारा व्यक्त होता है। मनुष्य अपने लिए संसार आप बनाता है। संसार तो कहने सुनने के लिए है, वास्तव में किसी मनुष्य का संसार तो वे ही लोग हैं जिनसे उसका संसर्ग या व्यवहार है। अतः ऐसे लोगों में से किसी का दूर होना उसके संसार के एक प्रधान अंश का कट जाना या जीवन के एक अंग का खंडित हो जाना है। किसी प्रिय या सुहृदय के चिरवियोग या मृत्यु के शोक के साथ करुणा या दया का भाव मिलकर चित्त को बहुत व्याकुल करता है। किसी के मरने पर प्राणी उसके साथ किए हुए अन्याय या कुव्यवहार तथा उसकी इच्छापूर्ति करने में अपनी त्रुटियों का स्मरण कर और यह सोचकर कि उसकी आत्मा को संतुष्ट करने की भावना सब दिन के लिए जाती रही, बहुत अधीर और विकल होते हैं।

सामाजिक जीवन की स्थिति और पुष्टि के लिए करुणा का प्रसार आवश्यक है। समाजशास्त्र के पश्चिमी ग्रंथकार कहा करें कि समाज में एक दूसरे की सहायता अपनी अपनी रक्षा के विचार से की जाती है; यदि ध्यान से देखा जाय तो कर्मक्षेत्र

में परस्पर सहायता की सच्ची उत्तेजना देनेवाली किसी न किसी रूप में करुणा ही दिखाई देगी। मेरा यह कहना नहीं कि परस्पर की सहायता का परिणाम प्रत्येक का कल्याण नहीं है। मेरे कहने का अभिप्राय है कि संसार में एक दूसरे की सहायता विवेचना द्वारा निश्चित इस प्रकार के दूरस्थ परिणाम पर दृष्टि रखकर नहीं की जाती बल्कि मन को स्वतः प्रवृत्त करनेवाली प्रेरणा से की जाती है। दूसरे की सहायता करने से अपनी रक्षा की भी संभावना है, इस बात या उद्देश्य का ध्यान प्रत्येक, विशेषकर सच्चे सहायक को तो नहीं रहता। ऐसे विस्तृत उद्देश्यों का ध्यान तो विश्वात्मा स्वयं रखती है; वह उसे प्राणियों की बुद्धि ऐसी चंचल और मुंडे मुंडे भिन्न वस्तु के भरोसे नहीं छोड़ती। किस युग में और किस प्रकार मनुष्यों ने समाज रक्षा के लिए एक दूसरे की सहायता करने की गोष्ठी की होगी, यह समाजशास्त्र के बहुत से वक्ता लोग ही जानते होंगे। यदि परस्पर सहायता की प्रवृत्ति पुरखों की उस पुरानी पंचायत ही के कारण होती और यदि उसका उद्देश्य वहीं तक होता जहाँ तक समाजशास्त्र के वक्ता बतलाते हैं, तो हमारी दया मोटे, मुस्टंडे और समर्थ लोगों पर जितनी होती उतनी दीन, अशक्त और अपाहिज लोगों पर नहीं, जिनसे समाज को उतना लाभ नहीं। पर इसका बिलकुल उलटा देखने में आता है। दुःखी व्यक्ति जितना ही असहाय और असमर्थ होगा उतनी ही अधिक उसके प्रति हमारी करुणा होगी। एक अनाथ अबला को मार खाते देख हमें जितनी करुणा होगी उतनी एक सिपाही या पहलवान को पिटते देख नहीं। इससे स्पष्ट है कि परस्पर साहाय्य के जो व्यापक उद्देश्य हैं उनको धारण करनेवाला मनुष्य का छोटा सा अंतःकरण नहीं, विश्वात्मा है।

दूसरों के, विशेषतया अपने परिचितों के, थोड़े क्लेश या शोक पर जो वेगरहित दुःख होता है, उसे सहानुभूति कहते हैं। शिष्टाचार में इस शब्द का प्रयोग इतना अधिक होने लगा है कि यह निकम्मा सा हो गया है। अब प्रायः इस शब्द से हृदय का कोई सच्चा भाव नहीं। सहानुभूति के तार, सहानुभूति की चिट्ठियाँ लोग यों ही भेजा करते हैं। यह छद्म शिष्टता मनुष्य के व्यवहार क्षेत्र से सच्चाई के अंश को क्रमशः चरती जा रही है।

करुणा अपना बीज अपने आलंबन या पात्र में नहीं फेंकती है अर्थात् जिस पर करुणा की जाती है वह बदले में करुणा करनेवाले पर भी करुणा नहीं करता, जैसा कि क्रोध और प्रेम में होता है—बल्कि कृतज्ञ होता अथवा श्रद्धा या प्रीति करता है। बहुत सी औपन्यासिक कथाओं में यह बात दिखाई गई है कि युवतियाँ दुष्टों के हाथ से अपना उद्धार करनेवाले युवकों के प्रेम में फँस गई हैं। कोमल भावों की योजना में दक्ष बँगला के उपन्यास लेखक करुणा और प्रीति के मेल से बड़े ही प्रभावोत्पादक दृश्य उपस्थित करते हैं।

मनुष्य के प्रत्यक्ष ज्ञान में देश और काल की परिमित अत्यंत संकुचित होती है। मनुष्य जिस वस्तु को जिस समय और जिस स्थान पर देखता है उसकी उसी

समय और उसी स्थान की अवस्था का अनुभव उसे होता है। पर स्मृति, अनुमान या दूसरों से प्राप्त ज्ञान के सहारे मनुष्य का ज्ञान इस परिमिति को लाँघता हुआ अपना देशकाल संबंधी विस्तार बढ़ाता है। प्रस्तुत विषय के संबंध में उपयुक्त भाव प्राप्त करने के लिए यह विस्तार कभी कभी आवश्यक होता है। मनोविकारों की उपयुक्तता कभी कभी इस विस्तार पर निर्भर रहती है। किसी मार खाते हुए अपराधी के विलाप पर हमें दया आती है, पर जब हम सुनते हैं कि कई बार वह बड़े बड़े अपराध कर चुका है, इससे आगे भी ऐसे ही अत्याचार करेगा, तो हमें अपनी दया की अनुपयुक्तता मालूम हो जाती है। ऊपर कहा जा चुका है कि स्मृति और अनुमान आदि भावों या मनोविकारों के केवल सहायक हैं अर्थात् प्रकारांतर से वे उनके लिए विषय उपस्थित करते हैं। वे कभी तो आप से आप विषयों को मन के सामने लाते हैं, कभी किसी विषय के सामने आने पर उससे संबंध (पूर्वापर व कार्यकारण संबंध) रखनेवाले और बहुत से विषय उपस्थित करते हैं जो कभी तो सब के सब एक ही भाव के विषय होते हैं और उस प्रत्यक्ष विषय से उत्पन्न भाव को तीव्र करते हैं; कभी भिन्न भिन्न भावों के विषय से उत्पन्न भावों को परिवर्तित या धीमा करते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि मनोवेग या भावों को मंद या दूर करनेवाली, स्मृति, अनुमान या बुद्धि आदि कोई दूसरी अंतःकरणवृत्ति नहीं है, मन का दूसरा भाव या वेग ही है।

मनुष्य की सजीवता मनोवेग या प्रवृत्ति में, भावों की तत्परता में है। नीतिज्ञों और धार्मिकों का मनोविकारों को दूर करने का उपदेश घोर पाषंड है। इस विषय में कवियों का प्रयत्न ही सच्चा है जो मनोविकारों पर सान ही नहीं चढ़ाते बल्कि उन्हें परिमार्जित करते हुए सृष्टि के पदार्थों के साथ उनके उपयुक्त संबंध निर्वाह पर जोर देते हैं। यदि मनोवेग न हो तो स्मृति, अनुमान, बुद्धि आदि के रहते भी मनुष्य बिलकुल जड़ है। प्रचलित सभ्यता और जीवन की कठिनता से मनुष्य अपने इन मनोवेगों के मारने और अशक्त करने पर विवश होता जाता है और इस प्रकार उसके जीवन का स्वाद निकलता जाता है। वन, नदी, पर्वत आदि को देख आनंदित होने के लिए अब उसके हृदय में उतनी जगह नहीं। दुराचार पर उसे क्रोध या घृणा होती है पर झूठे शिष्टाचार के अनुसार उसे दुराचारी की मुँह पर प्रशंसा करनी पड़ती है। जीवन निर्वाह की कठनिता से उत्पन्न स्वार्थ की शुष्क प्रेरणा के कारण उसे दूसरे के दुःख की ओर ध्यान देने, उसपर दया करने और उसके दुःख की निवृत्ति का सुख प्राप्त करने की फुरसत नहीं। इस प्रकार मनुष्य हृदय को दबाकर केवल क्रूर आवश्यकता और कृत्रिम नियमों के अनुसार ही चलने पर विवश और कठपुतली सा जड़ होता जाता है। उसकी भावुकता का नाश होता जाता है। पाखंडी लोग मनोवेगों का सच्चा निर्वाह न देख, हताश हो मुँह बनाकर कहने लगे हैं—''करुणा छोड़ो, प्रेम छोड़ो, आनंद छोड़ो। बस, हाथ पैर हिलाओ, काम करो।''

यह ठीक है कि मनोवेग उत्पन्न होना और बात है और मनोवेग के अनुसार व्यवहार करना और बात; पर अनुसारी परिणाम के निरंतर अभाव से मनोवेगों का अभ्यास भी घटने लगता है। यदि कोई मनुष्य आवश्यकतावश कोई निष्ठुर कार्य अपने ऊपर ले ले तो पहले दो चार बार उसे दया उत्पन्न होगी; पर जब बार बार दया की प्रेरणा के अनुसार कोई परिणाम वह उपस्थित न कर सकेगा तब धीरे धीरे उसका दया का अभ्यास कम होने लगेगा यहाँ तक कि उसकी दया की वृत्ति ही मारी जाएगी।

बहुत से ऐसे अवसर आ पड़ते हैं जिनमें करुणा आदि मनोवेगों के अनुसार काम नहीं किया जा सकता। पर ऐसे अवसरों की संख्या का बहुत बढ़ना ठीक नहीं है। जीवन में मनोवेगों के अनुसार परिणामों का विरोध प्रायः तीन वस्तुओं से होता है–

1. आवश्यकता, 2. नियम, और 3. न्याय। हमारा कोई नौकर बहुत बुड्ढा और कार्य करने में अशक्त हो गया है जिससे हमारे काम में हर्ज होता है। हमें उसकी अवस्था पर दया तो आती है पर आवश्यकता के अनुरोध से उसे अलग करना पड़ता है। किसी दुष्ट अफसर के कुवाक्य पर क्रोध तो आता है पर मातहत लोग आवश्यकता के वश उस क्रोध के अनुसार कार्य करने की कौन कहे, उसका चिह्न तक नहीं प्रकट होने देते। यदि कहीं पर यह नियम है कि इतना रुपया देकर लोग कोई कार्य करने पाएँ तो जो व्यक्ति रुपया वसूल करने पर नियुक्त होगा वह किसी ऐसे दीन अकिंचन को देख जिसके पास एक पैसा भी न होगा, दया तो करेगा पर नियम के वशीभूत हो उसे वह उस कार्य को करने से रोकेगा। राजा हरिश्चंद्र ने अपनी रानी शैव्या से अपने ही मृत पुत्र के कफन का टुकड़ा फड़वा नियम का अद्‌भुत पालन किया था। पर यह समझ रखना चाहिए कि यदि शैव्या के स्थान पर कोई दूसरी स्त्री होती तो राजा हरिश्चंद्र के उस नियम पालन का उतना महत्त्व न दिखाई पड़ता; करुणा ही लोगों की श्रद्धा को अपनी ओर अधिक खींचती है। करुणा का विषय दूसरे का दुःख है, अपना दुःख नहीं। आत्मीय जनों का दुःख एक प्रकार से अपना ही दुःख है। इससे राजा हरिश्चंद्र के नियम पालन का जितना स्वार्थ से विरोध था उतना करुणा से नहीं।

न्याय और करुणा का विरोध प्रायः सुनने में आता है। न्याय से ठीक प्रतिकार का भाव समझा जाता है। यदि किसी ने हमसे 1000 रु. उधार लिए तो न्याय यह है कि वह हमें 1000 रु. लौटा दे। यदि किसी ने कोई अपराध किया तो न्याय यह है कि उसको दंड मिले। यदि 1000 रु. लेने के उपरांत उस व्यक्ति पर कोई आपत्ति पड़ी और उसकी दशा अत्यंत सोचनीय हो गई तो न्याय पाने के विचार का विरोध करुणा कर सकती है। इसी प्रकार यदि अपराधी मनुष्य बहुत रोता, गिड़गिड़ाता और कान पकड़ता है तथा पूर्ण दंड की अवस्था में अपने परिवार की घोर दुर्दशा का वर्णन करता है, तो न्याय के पूर्ण निर्वाह का विरोध करुणा कर सकती है। ऐसी अवस्थाओं

में करुणा करने का सारा अधिकार विपक्षी अर्थात् जिसका रुपया चाहिए या जिसका अपराध किया गया है उसको है, न्यायकर्त्ता या तीसरे व्यक्ति को नहीं। जिसने अपनी कमाई के 1000 रु. अलग किए या अपराध द्वारा जो क्षतिग्रस्त हुआ विश्वात्मा उसी के हाथ में करुणा ऐसी उच्च सद्वृत्ति के पालन का शुभ अवसर देती है। करुणा सेंत का सौदा नहीं है। यदि न्यांयकर्त्ता को करुणा है तो वह उसकी शांति पृथक् रूप से कर सकता है, जैसे ऊपर लिखे मामले में वह चाहे तो दुखिया ऋणी को हजार पाँच सौ अपने पास से दे दे या दंडित व्यक्ति तथा उसके परिवार की और प्रकार से सहायता कर दे। उसके लिए भी करुणा का द्वार खुला है।

[चिन्तामणि, भाग-1]

लज्जा और ग्लानि

हम जिन लोगों के बीच रहते हैं अपने विषय में उनकी धारणा का जितना ही अधिक ध्यान रखते हैं उतना ही अधिक प्रतिबंध अपने आचरण पर रखते हैं। जो हमारी बुराई, मूर्खता या तुच्छता के प्रमाण पा चुके रहते हैं, उनके सामने हम उसी धड़ाके के साथ नहीं जाते जिस धड़ाके के साथ औरों के सामने जाते हैं। यहीं तक नहीं, जिन्हें इस प्रकार का प्रमाण नहीं भी मिला रहता है, उनके आगे भी कोई काम करते हुए यह सोचकर कुछ आगापीछा होता है कि कहीं इस प्रकार का प्रमाण उन्हें मिल न रहा हो। दूसरों के चित्त में अपने विषय में बुरी या तुच्छ धारणा होने के निश्चय या आशंका मात्र से वृत्तियों का जो संकोच होता है—उनकी स्वच्छंदता के विघात का जो अनुभव होता है—उसे लज्जा कहते हैं। इस मनोवेग के मारे लोग सिर ऊँचा नहीं करते, मुँह नहीं दिखाते, सामने नहीं आते, साफ साफ कहते नहीं, और भी न जाने क्या क्या नहीं करते। 'हम बुरे न समझे जाएँ' यह स्थायी भावना जिसमें जितनी ही अधिक होगी, वह उतना ही लज्जाशील होगा। 'कोई बुरा कहे चाहे भला' इसकी परवा करके जो काम किया करते हैं वे ही निर्लज्ज कहलाते हैं।

जिस समाज में हम कोई बुराई करते हैं, जिस समाज में हम अपनी मूर्खता, धृष्टता आदि का प्रमाण दे चुके रहते हैं, उसके अंग होने का स्वत्व हम जता नहीं सकते, अतः उसके सामने अपनी सजीवता के लक्षणों को उपस्थित करते या रखते नहीं बनता—यह प्रकट करते नहीं बनता कि हम भी इस संसार में हैं। जिसके साथ हमने कोई बुराई की होती है उसे देखते ही हमारी क्या दशा होती है? हमारी चेष्टाएँ मंद पड़ जाती हैं। हमारे ऊपर घड़ों पानी पड़ जाता है, हम गड़ जाते हैं या चाहते हैं कि धरती फट जाती और हम उसमें समा जाते। सारांश यह कि यदि हम कुछ देर के लिए मर नहीं जाते तो कम से कम अपने जीने के प्रमाण अवश्य समेट लेते हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि लज्जा का कारण अपनी बुराई, त्रुटि या दोष हमारा अपना निश्चय नहीं, दूसरे के निश्चय का निश्चय या अनुमान है, जो हम बिना किसी प्रकार का प्रमाण पाए केवल अपने आचरण या परिस्थिति विशेष पर दृष्टि रखकर ही कभी कभी कर लिया करते हैं। हम अपने

को दोषी समझें यह आवश्यक नहीं; दूसरे हमें दोषी या बुरा समझें यह भी आवश्यक नहीं, आवश्यक है हमारा यह समझना कि दूसरा हमें दोषी या बुरा समझता है या समझता होगा। जो आचरण लोगों को बुरा लगा करता है, जिस अवस्था का लोग उपहास किया करते हैं, जिस बात से लोग घृणा किया करते हैं यदि हम समझते हैं कि लज्जित होने के लिए लोगों के देखने में वह आचरण हमसे हो गया, उस अवस्था में हम पड़ गए या वह बात हमसे बन पड़ी, तो हम लज्जित होने के लिए इसका आसरा न देखेंगे कि जिन लोगों के सामने ऐसी बात हुई है वे निंदा करें, उपहास करें या छिः छिः करें। वे निंदा करें या न करें, उपहास करें या न करें, घृणा प्रकट करें या न करें, पर हम समझते हैं कि मधुशाला उनके पास है, वे उसका उपयोग करें या न करें। यह अवश्य है कि उपयोग होने पर हमारी लज्जा का वेग या भार बहुत बढ़ जाता है, पर कभी कभी इसका उलटा भी होता है। जिसके साथ हमने कोई भारी बुराई की होती है वह यदि दस आदमियों के सामने मिलने पर मौन रहे, हमारा गुणानुवाद करने लगे, हमसे प्रेम जताने लगे या हमारा उपकार करने लगे, तो शायद हम अपने डूबने के लिए चुल्लू भर पानी ढूँढ़ने लगेंगे। वन से लौटने पर रामचंद्र कैकेयी से मिले और ''रामहिं मिलत कैकेयी हृदय बहुत सकुचानि।'' पर जब लक्ष्मण ''कैकेयी कहँ पुनि पुनि मिले'' तो वह लज्जा से धँस गई होगी। चित्रकूट में जब राम पहले कैकेयी से मिले होंगे तब उसकी क्या दशा हुई होगी?

निंदा का भय लज्जा नहीं है, भय ही है और कई बातों का, जिसमें लज्जा भी एक है। हमें निंदा का भय है; इसका मतलब है कि हमें उसके परिणामों का भय है—अपने कुढ़ने, दुःखी होने, लज्जित होने, हानि सहने इत्यादि का भय है।

विशुद्ध लज्जा अपने विषय में दूसरे की ही भावना पर दृष्टि रखने से होती है। अपनी बुराई, मूर्खता, तुच्छता इत्यादि का एकांत अनुभव करने से वृत्तियों में जो शैथिल्य आता है, उसे 'ग्लानि' कहते हैं। इसे अधिकतर उन लोगों को भोगना पड़ता है जिनका अंतःकरण सत्त्वप्रधान होता है, जिनके संस्कार सात्त्विक होते हैं, जिनके भाव कोमल और उदार होते हैं, जिनका हृदय कठोर होता है, जिनकी वृत्ति क्रूर होती है, जो सिर से पैर तक स्वार्थ में निमग्न होते हैं, उन्हें सहने के लिए संसार में इतनी बाधाएँ, इतनी कठिनाइयाँ, इतने कष्ट होते हैं कि ऊपर से और इसकी भी न उतनी जरूरत रहती है, न जगह। मन में ग्लानि आने के लिए यह आवश्यक नहीं कि जो हमारी बुराई, मूर्खता, तुच्छता आदि से परिचित हों, या परिचित समझे जाते हों, उनका सामना हो। हम अपना मुँह न दिखाकर लज्जा से बच सकते हैं, पर ग्लानि से नहीं। कोठरी में बंद, चारपाई पर पड़े पड़े लिहाफ के नीचे भी लोग ग्लानि से गल सकते हैं। चित्रकूट में भरत राम के मिलाप के स्थान पर जब जनक के आने का समाचार पहुँचा तब ''सुनत जनक आगमन सब हरखेउ अवध समाज।'' पर ''गरइ गलानि कुटिल कैकेयी।''

ग्लानि में अपनी बुराई, तुच्छता आदि के अनुभव से जो संताप होता है वह अकेले में भी होता है और दस आदमियों के सामने प्रकट भी किया जाता है। ग्लानि अंतःकरण की शुद्धि का एक विधान है। उससे इसके उद्‌गार में अपने दोष, अपराध, तुच्छता बुराई इत्यादि का लोग दुःख से या सुख से कथन भी करते हैं—उनमें दुराव या छिपाव की प्रवृत्ति नहीं रहती है। अपने दोष का अनुभव, अपने अपराध का स्वीकार, आंतरिक अस्वस्थता का उपचार तथा सच्चे सुधार का द्वार है। 'हम बुरे हैं' जब तक यह न समझेंगे तब तक अच्छे नहीं हो सकते। 'हम बुरे हैं' दूसरों के कान में पड़ते ही इसका अर्थ उलट जाता है।

दूसरों को हम अच्छे नहीं लगते, यह समझकर हम लज्जित होते हैं। अतः औरों को अच्छी न लगनेवाली अपनी बातों को केवल उनकी दृष्टि से दूर रखकर ही बहुत से लोग न लज्जित होते हैं, न निर्लज्ज कहलाते हैं। दूसरों के हृदय में अज्ञान की प्रतिष्ठा करके वे उसकी शरण में जाते हैं। पर अज्ञान, चाहे अपना हो चाहे पराया, सब दिन रक्षा नहीं कर सकता। बलि पशु होकर ही हम उसके आश्रय में पलते हैं। जीवन के किसी अंग की यदि वह रक्षा करता है तो सर्वांग भक्षण के लिए। अज्ञान अंधकार स्वरूप है। दीया बुझाकर भागनेवाला यदि समझता है कि दूसरे उसे देख नहीं सकते, तो उसे यह भी समझ रखना चाहिए कि वह ठोकर खाकर गिर भी सकता है।

कोई बात ऐसी है जिसके प्रकट हो जाने के कारण हम दूसरों को अच्छे नहीं लगते हैं। यह जानकर अपने को और प्रकट होने पर अच्छे नहीं लगेंगे, यह समझकर उस बात को, थोड़े बहुत यत्न से उसके दृष्टिपथ से दूर करके भी जब हम समय पर अपना बचाव कर सकते हैं, यही नहीं, अपने व्यवधान कौशल पर विश्वास कर सदा बचते चले जाने की आशा तक—चाहे झूठी ही क्यों न हो—कर सकते हैं, तब हमारा केवल यह जानना या समझना सदा सुधार की इच्छा ही उत्पन्न करेगा, कैसे कहा जा सकता है? दूसरों का भय हमें भगा सकता है, हमारी बुराइयों को नहीं। दूसरों से हम भाग सकते हैं, पर अपने से नहीं। जब अपने को हम अच्छे न लगेंगे तब सिवा इसके कि हम अच्छे हों या अच्छे होने की आशा करें, आत्मग्लानि से बचने का और कोई दूसरा उपाय न रहेगा। पर जिनके अंतःकरण में अच्छे संस्कारों का बीज रहता है, ग्लानि उन्हीं को होती है।

संकल्प या प्रवृत्ति हो जाने पर बुराई से बचानेवाले तीन मनोविकार हैं—सात्त्विक वृत्तिवालों के लिए ग्लानि, राजसी वृत्तिवालों के लिए लज्जा और तामसी वृत्तिवालों के लिए भय। जिन्हें अपने किए पर ग्लानि नहीं हो सकती वे लोक लज्जा से, जिनमें लोक लज्जा का लेश नहीं रहता वे भय से, बहुत से कामों को करते हुए हिचकते हैं। प्रायः कहा जाता है कि बहुत से लोग इच्छा रखते हुए भी बुरे काम लज्जा के मारे नहीं करते। पर लज्जा का अनुभव एक प्रकार के दुःख का ही अनुभव है, अतः

यह नहीं कहा जा सकता है कि कर्म न करने पर भी अपनी इच्छा मात्र पर उन्हें यह दुःख होता है; क्योंकि यदि ऐसा होता तो वे इच्छा रखते ही क्यों? सच पूछिए तो उन्हें उस दुःख की आशंका मात्र रहती है जो लोगों के धिक्कार, बुरी धारणा आदि से उन्हें होगा। वास्तव में उन्हें लज्जा की आशंका रहती है, इस बात का डर रहता है कि कहीं लज्जित न होना पड़े। लज्जा का अनुभव तो तभी होगा जब वे कुकर्म की ओर इतने अग्रसर हो चुके रहेंगे कि यह समझ सकें कि लोगों के मन में बुरी धारणा हो गई होगी। उस समय उनका पैर आगे नहीं बढ़ेगा।

आशंका अनिश्चयात्मक वृत्ति है। इससे लज्जा ही हो सकती है; जिसका संबंध दूसरों की धारणा से होता है। ग्लानि की आशंका नहीं हो सकती। क्योंकि उसका संबंध अपने से कहीं बाहर की बुरी धारणा से तो होता नहीं, अपनी ही बुरी धारणा से होता है जिसमें अनिश्चय का भाव नहीं रह सकता। जिससे बुराई की जितनी ही अधिकतम संभावना होती है उसे रोकने का उतने ही पहले से उपाय किया जाता है। जिन्हें अपने किए पर ग्लानि हो सकती है उनके लिए उतने पहले से प्रतिबंध की आवश्यकता नहीं होती जितने पहले से उनके लिए होती है, जो केवल यही समझकर दुःखी होते हैं कि 'लोग बुरा समझते हैं' यह समझकर नहीं कि 'हम बुरे हैं'। जो निपट निर्लज्ज होते हैं, दूसरों की बुरी धारणा की भी तब तक परवा नहीं करते जब तब उससे किसी उग्र फल की आशंका नहीं होती, उनके कर्म प्रायः इतने बुरे, इतने असह्य हुआ करते हैं कि दूसरे उन्हें बुरा समझकर ही नहीं रह जाते, छिः छिः करके ही संतोष नहीं कर लेते, बल्कि मरम्मत करने के लिए भी तैयार हो जाते हैं, जिससे उन्हें कभी भयभीत होना पड़ता है, कभी सशंक।

मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है, इससे वह अपने को उनके कर्मों के गुण दोष का भी भागी समझता है जिनसे उनका संबंध होता है, जिनके साथ में वह देखा जाता है। पुत्र की अयोग्यता और दुराचार, भाई के दुर्गुण और असभ्य व्यवहार आदि का ध्यान करके भी दस आदमियों के सामने सिर नीचा होता है। यदि हमारा साथी हमारे सामने किसी तीसरे आदमी से बातचीत करने में भारी मूर्खता का प्रमाण देता है, भद्दी और ग्राम्य भाषा का प्रयोग करता है, तो हमें भी लज्जा आती है। मैंने कुत्ते के कई शौकीनों को अपने कुत्ते की बदतमीजी पर शरमाते देखा है। जिसे लोग कुमार्गी जानते हैं, उसके साथ यदि हम कभी देवमंदिर के मार्ग पर भी देखे जाते हैं तो सिर झुका लेते हैं या बगलें झाँकते हैं। बात यह है कि जिसके साथ हम देखे जाते हैं, उसका हमारा कितनी बातों में कहाँ तक साथ है, दूसरों को इसके अनुमान की पूरी स्वच्छंदता रहती है, उनकी कल्पना की कोई सीमा हम तत्काल बाँध नहीं सकते।

किसी बुरे प्रसंग में यदि निमित्त रूप से भी हमारा नाम आ जाता है तो हमें लज्जा होती है—चाहे ऐसा हमारी जानकारी में हुआ हो, चाहे अनजान में। यदि बिना हमें जताए हमारे पक्ष में कोई कुचक्र रचा जाए तो उसका वृत्तांत फैलने पर हमें

लज्जा क्या ग्लानि तक हो सकती है। लज्जा का होना तो ठीक है क्योंकि वह दूसरों की धारणा के कारण होती है, अपनी धारणा के कारण नहीं। पर ग्लानि कैसे होती है, 'हम बुरे या तुच्छ हैं', यह धारणा कहाँ से आती है, यही देखना है। अपमान होने पर यदि क्रोध के लिए स्थान हुआ तो क्रोध का, नहीं तो अपनी तुच्छता का अनुभव होता है। दूसरों के चित्त में हमारे प्रति जो प्रेम या प्रतिष्ठा का भाव रहता है, उसका ह्रास किसी कुचक्र के साथ अपना नाम मात्र का संबंध समझकर भी, हम समझे बिना नहीं रह सकते। जब स्थिति ऐसी होती है कि इस ह्रास का न समाधान द्वारा निराकरण कर सकते हैं, न क्रोध द्वारा प्रतिकार तो, सिवा इसके कि हम अपनी हीनता का अनुभव करें, और कर ही क्या सकते हैं? भरत को इसी दशा में पाकर राम ने उन्हें समझाया था कि—

तात जायँ जनि करहु गलानी। ईस अधीन जीव गति जानी॥
तीनि काल त्रिभुवन मत मोरे। पुन्यसिलोक तात तर तोरे॥
उर आनत तुम पर कुटिलाई। जाइ लोक परलोक नसाई॥

जिसने इतनी बुराई की वह मेरी माता है, इस भावना से जो लज्जा भरत की थी उसे दूर करने के लिए ही आगे का वचन है—

दोसु देहिं जननिहिं जड़ तेई। जिन्ह गुरु साधु सभा नहिं सेई॥

इस प्रकार दोष देनेवाले से दोषोद्भावना द्वारा अनधिकार का आरोप करके माता के दोष का परिहार किया गया है।

उत्तम कोटि के मनुष्यों को अपने दुष्कर्म पर ग्लानि होती है और मध्यम कोटि के मनुष्यों को अपने दुष्कर्म के किसी कड़ए फल पर। दुष्कर्म के अनेक अप्रिय फलों में से एक अपमान है, जिसे सहकर अपनी तुच्छता का अनुभव किए बिना लोग प्रायः नहीं रहते। जिन्हें अपने किसी कर्म की बुराई का ध्यान अपने आप नहीं होता उन्हें ध्यान कराने का श्रम उसकी बुराई का विशेष अनुभव करनेवाले, अपनी बुराई का सब ध्यान, अपने हाथ का सब धंधा छोड़कर उठाते हैं। इस श्रम से दूसरों के लिए उनकी बुराई का फल पैदा किया जाता है। उसकी नीरसता और कटुता कभी कभी अत्यंत ग्लानिकारिणी होती है पर आँख खुलने पर जो आँख खोलनेवालों को देख सकें, उनकी आँख की दुरुस्ती में बहुत कसर समझनी चाहिए। अपमान या हानि की ही ग्लानि जो उस अपमान या हानि ही तक ध्यान को ले जाए—उसके कारण तक न बढ़ाए—वह बुराई के मार्ग पर चल चुकनेवालों का थोड़ी देर के लिए पैर थाम या बल तोड़ सकती है, पर उसका मुँह दूसरी ओर मोड़ नहीं सकती। अपमान का जो दुःख केवल इन शब्दों में व्यक्त किया जाता है कि 'हा! हमारी यह गति हुई?' उससे अपमान करनेवालों का काम तो हो जाता है पर दुःख करनेवालों का कोई मतलब नहीं निकलता। जो ग्लानि हमसे यह कहलाए कि 'यदि हमने ऐसा न किया होता तो हमारी यह गति क्यों होती?' यही पश्चात्ताप की ग्लानि है जिससे

हमारा हृदय पिघलकर किसी नए साँचे में ढलने के योग्य हो सकता है। अतः कोई ऐसी बुराई करके जिससे चार आदमियों को कष्ट पहुँचा हो, हम यह समझने में कि 'हमने बुरा किया' जितनी ही जल्दी करते हैं उतने ही मजे से रहते हैं क्योंकि बहुधा ऐसा है कि जिन्हें कष्ट पहुँचा रहता है वे हमारी इस समझ का पता पाकर संतुष्ट हो जाते हैं। अपनी किसी बुराई को बंध्या मानकर मन का खटका छुड़ानेवाले धोखा खाते हैं।

अपमान से जो ग्लानि होती है वह दो भावों के आधार पर—'हम ऐसे तुच्छ हैं' और 'हम ऐसे बुरे हैं'—इन दोनों भावों को कभी कभी लोग बड़ी फुरती और सफाई से रोकते हैं। अपनी तुच्छता का भाव अधिकांश में अपनी असामर्थ्य और दूसरे के सामर्थ्य का भाव है। हम इतने असमर्थ हैं कि दूसरे हमारा अपमान कर सकते हैं, इस भाव से निवृत्ति तो लोग चट अपनी सामर्थ्य का परिचय देकर—अपमान करनेवाले का अपमान करके—कर लेते हैं। रहा अपने दोष या बुराई का भाव, उससे छुटकारा लोग दोष देनेवालों में दोष ढूँढ़कर कर लेते हैं। इस प्रकार अपनी सामर्थ्य और दूसरे के दोष की भावना मन में भरकर वे अपनी तुच्छता और बुराई के अनुभव के लिए कोई कोना खाली ही नहीं छोड़ते। ऐसे लोग चाहे लाख बुराई करें, एक की दस सुनाने को सदा तैयार रहते हैं। अपने को ऐसा ही कल्पित करके तुलसीदासजी कहते हैं—

जानत हूँ निज पाप जलधि जिय, जल सीकर सम सुनत लरौं॥
रज सम पर अवगुन सुमेरु करि, गुन गिरि सम रज ते निदरौं॥

अकारण अपमान पर जो ग्लानि होती है वह अपनी तुच्छता, अपनी सामर्थ्यहीनता पर ही होती है। लोक मर्यादा की दृष्टि से हमको इतना सामर्थ्य संपादन करना चाहिए कि दूसरे अकारण हमारा अपमान करने का साहस न कर सकें। समाज में रहकर मान मर्यादा का भाव हम छोड़ नहीं सकते। अतः इस सामर्थ्य का अभाव हमें खटक सकता है। उसकी हमें ग्लानि हो सकती है। जो संसारत्यागी या आत्मत्यागी है उनका विगतमान होना तो बहुत ठीक है, पर लोकव्यवहार की दृष्टि से अनिष्ट से बचने बचाने के लिए इष्ट यही है कि हम दुष्टों का हाथ थामें और धृष्टों का मुँह—उनकी वंदना करके हम पार नहीं पा सकते हैं। इधर हम हाथ जोड़ेंगे, उधर वे हाथ छोड़ेंगे। असामर्थ्य हमें क्षमा या सहनशीलता का श्रेय भी पूरा पूरा नहीं प्राप्त करने देगी।

मान लीजिए कि एक ओर से हमारे गुरुजी और दूसरी ओर से एक दंडधारी दुष्ट, दोनों आते दिखाई पड़ें। ऐसी अवस्था में पहले हमें उस दुष्ट का सत्कार करके तब गुरुजी को दंडवत् करना चाहिए। पहले उस दुष्ट द्वारा होनेवाले अनिष्ट का निवारण कर्त्तव्य है, फिर उस आनंद का अनुभव जो गुरुजी के चरण स्पर्श से होगा। यदि हम पहले गुरुजी को साष्टांग दंडवत् करने लगेंगे तो बहुत संभव है कि वह दुष्ट हमारे अंगों को फिर उठाने लायक ही न रखे। यदि हममें सामर्थ्य नहीं है तो हमें

बिना गुरुजी को प्रणाम दंडवत् किए ही भागना पड़ेगा जिसकी शायद हमें बहुत दिनों तक ग्लानि रहे।

लज्जा का हल्का रूप संकोच है जो किसी काम को करने के पहले ही होता है। कर्म पूरा होने के साथ ही उसका अवसर निकल जाता है; फिर तो लज्जा ही लज्जा हाथ रह जाती है। सामान्य से सामान्य व्यवहार में भी संकोच देखा जाता है। लोग अपना रुपया माँगने में संकोच करते हैं, साफ साफ बात कहने में संकोच करते हैं, उठने बैठने में संकोच करते हैं। लेटने में संकोच करते हैं, खाने पीने में संकोच करते हैं यहाँ तक कि एक सभा के सहायकमंत्री हैं जो कार्य विवरण पढ़ने में संकोच करते हैं, सारांश यह कि एक बेवकूफी करने में लोग संकोच नहीं करते और सब बातों में करते हैं। इससे उतना हर्ज भी नहीं क्योंकि बिना बेवकूफ हुए बेवकूफी का बुरा लोग प्रायः नहीं मानते। इतनी क्रियाओं का प्रतिबंधक होने के कारण संकोच शील का एक प्रधान अंग, सदाचार का एक सहज साधन और शिष्टाचार का एकमात्र आधार है। जिनमें शील संकोच नहीं, वह पूरा मनुष्य नहीं। बाहरी प्रतिबंधों से ही हमारा पूरा शासन नहीं हो सकता—उन सब बातों की रुकावट नहीं हो सकती जिन्हें हमें न करना चाहिए। प्रतिबंध हमारे अंतःकरण में होना चाहिए। यह आभ्यंतर प्रतिबंध दो प्रकार का हो सकता है—एक विवेचनात्मक जो प्रयत्नसाध्य होता है, दूसरा मनप्रवृत्यात्मक जो स्वभावज होता है। बुद्धि द्वारा प्रवृत्ति जबरदस्ती रोकी जाती है, पर लज्जा, संकोच आदि की अवस्था में प्राप्त होकर प्रवर्तक मन आप से आप रुकता है, चेष्टाएँ आप से आप शिथिल पड़ती हैं, यही रुकावट सच्ची है। मन की जो वृत्ति बड़ों की बात का उत्तर देने से रोकती है, बार बार किसी से कुछ माँगने से रोकती है, किसी पर किसी प्रकार का भार डालने से रोकती है, उसके न रहने से भलमनसाहत भला कहाँ रहेगी? यदि सबकी धड़क एकबारगी खुल जाय तो एक ओर छोटे मुँह से बड़ी बड़ी बातें निकलने लगें, चार दिन के मेहमान तरह तरह की फरमाइशें करने लगें, उँगली का सहारा पानेवाले बाँह पकड़कर खींचने लगें; दूसरी ओर बड़ों का बहुत कुछ बड़प्पन निकल जाए, गहरे गहरे साथी बहरे हो जाएँ या सूखा जवाब देने लगें; जो हाथ सहारा देने के लिए बढ़ते हैं वे ढकेलने के लिए बढ़ने लगें—फिर तो भलमनसाहत का भार उठानेवाले इतने कम रह जाएँ कि उसे लेकर चल ही न सकें।

संकोच इस बात के ध्यान या आशंका से होता है कि जो कुछ हम करने जा रहे हैं वह किसी को अप्रिय या बेढंगा तो न लगेगा, उससे हमारी दुःशीलता या धृष्टता तो न प्रकट होगी। इस बात का जिन्हें कुछ भी ध्यान नहीं रहता उनका दस आदमियों का साथ नहीं निभ सकता और जिन्हें अत्यंत अधिक ध्यान रहता है उनके भी कामों में बाधा पड़ती है। मनोभावों की परस्पर अनुकूल स्थिति होने से ही संसार के व्यवहार चलते हैं। यदि एक इस बात का ध्यान रखता है कि दूसरे को कोई बात खटके न, बुरी न लगे और दूसरा उसकी हानि, कठिनाई आदि का

कुछ भी ध्यान नहीं रखता है तो वह स्थिति व्यवहारबाधक है। ऐसी स्थिति में भी संकोच करनेवालों के काम देर से निकलते हैं या निकलते ही नहीं। पर इससे यह न समझना चाहिए कि जितने 'अपने संकोची स्वभाव' की शिकायत के बहाने अपनी तारीफ किया करते हैं वे सब अपनी भलमनसाहत से ही दुःख भोग करते हैं। ऐसे लोगों में संकोच का तो नाममात्र न समझना चाहिए। जिन्हें यह कहने में संकोच नहीं कि 'हम बड़े संकोची हैं' उनमें संकोच कहाँ? उन्हें यह कहते देर नहीं कि अमुक बड़ा निर्लज्ज है, बड़ा दुष्ट है'।

लज्जा या संकोच यदि बहुत अधिक होता है तो उसे छुड़ाने की फिक्र की जाती है क्योंकि उससे कभी कभी आवश्यकता से अधिक कष्ट उठाना पड़ता है तथा व्यवहार तो व्यवहार, शिष्टाचार तक का निर्वाह कठिन हो जाता है। सुख से रहने का सीधा रास्ता बतलानेवाले ने तो 'आहार और व्यवहार' में लज्जा का एकदम त्याग ही विधेय ठहराया है। पर मुझे तो यहाँ यह देखना है कि बात बात में लज्जा करनेवालों की मनोवृत्ति कैसी होती है, उनके चित्त में समायी क्या रहती है। कोई क्रिया या व्यापार किसी को बुरा, बेढंगा या अप्रिय न लगे यह ध्यान तो निर्दिष्ट और स्पष्ट होने के कारण कुछ विशिष्ट व्यापारों का ही अवरोध करता है क्योंकि जो जो काम लोगों को बुरे, बेढंगे या अप्रिय लगा करते हैं, उनकी एक छोटी या बड़ी सूची सबके अनुभव में रहती है। पर जो यही अनिश्चित भावना रखकर संकुचित होते हैं कि कोई बात 'लोगों को न जाने कैसी लगे' उन्हें न जाने कितनी बातों में संकोच या लज्जा हुआ करती है। उन्हें बात बात में खटका होता है कि उनका बैठना न जाने कैसा मालूम होता हो, बोलना न जाने कैसा मालूम होता हो, हाथ पैर हिलाना न जाने कैसा मालूम होता हो, ताकना न जाने कैसा मालूम होता हो, यहाँ तक कि उनके ऐसे आदमी का होना—वे कैसे हैं चाहे वे कुछ भी न जानते हों—न जाने कैसा मालूम होता हो। न जाने कैसे लगने का डर उन्हें लोगों के लगाव से दूर दूर रखता है। यह आशंका इतनी अव्यक्त होती है, लज्जा और इसके बीच का अंतर इतना क्षणिक होता है कि साधारणतः इसका लज्जा से अलग अनुभव नहीं होता।

कुछ लोगों के मुँह से लज्जा या संकोच के मारे आदर सत्कार के आवश्यक वचन नहीं निकलते, बहुत से लड़कों को प्रणाम करने में लज्जा मालूम होती है, ऐसी लज्जा किसी काम की नहीं समझी जाती। बच्चों को अपनी तुच्छता, बुराई या बेढंगेपन की भावना बहुत कम होती है। वे अपनी क्रियाओं में स्वभावतः स्वच्छंद होते हैं। पर विशेष स्थिति में पड़कर वे इतने भीरु और लज्जालु हो जाते हैं कि नए आदमियों के सामने नहीं आते, लाख पूछने पर कोई बात मुँह से नहीं निकालते। ऐसी दशा अधिकतर उन बच्चों की हो जाती है जो बात बात पर, उठते बैठते, हिलते डोलते, डाँटे, धिक्कारे या चिढ़ाए जाते हैं। लोग अकसर प्यार से बच्चों को किसी भद्दे, बेढंगे या बुरे आदमी का ध्यान कराकर उन्हें चिढ़ाते हैं कि 'तुम वही हो'। इस प्रकार

उन्हें सहमने, संकोच करने, लज्जित होने आदि का अभ्यास कराया जाता है जो बढ़ते बढ़ते बहुत बढ़ जाता है।

अपनी त्रुटि, बेढंगेपन, धृष्टता इत्यादि का परिचय दूसरों को—विशेषतः पुरुषों को न मिले इसका ध्यान स्त्रियों में बहुत अधिक और स्वाभाविक होता है, इसी से उनमें लज्जा अधिक देखी जाती है। वे सदा से पुरुषों के आश्रय में रहती हैं, इससे हम धृष्ट या अप्रिय न लगें, इसकी आशंका उनमें चिरस्थायिनी होकर लज्जा के रूप में हो गई है। बहुत सी स्त्रियाँ ऐसी होती हैं—विशेषतः बड़े घरों की—जिनके काम धंधे के रूप में भी लोगों के सामने हाथ पैर हिलाने की धड़क नहीं खुली रहती, अतः उनका अधिक लज्जाशील होना ठीक ही है। लोग लज्जा को स्त्रियों का भूषण कह कहकर उनमें धृष्टता के दूषण से बचने का ध्यान और भी पक्का करते रहे। धीरे धीरे उनके रूप रंग के समान उनकी लज्जा भी पुरुषों के आनंद और विलास की एक सामग्री हुई। रस कोविद लोग मुग्धा और मध्या की लज्जा का वर्णन कान में डालकर रसिकों को आनंद से उन्मत्त करने लगे।

(नागरीप्रचारिणी पत्रिका, दिसंबर 1918 ई.)
[चिन्तामणि, भाग-1]

लोभ और प्रीति

जिस प्रकार सुख या आनंद देनेवाली वस्तु के संबंध में मन की ऐसी स्थिति को जिसमें उस वस्तु के अभाव की भावना होते ही प्राप्ति, सान्निध्य या रक्षा की प्रबल इच्छा जग पड़े, लोभ कहते हैं। दूसरे की वस्तु का लोभ करके उसे लोग लेना चाहते हैं, अपनी वस्तु का लोभ करके उसे लोग देना या नष्ट होने देना नहीं चाहते। प्राप्य या प्राप्त सुख के अभाव या अभाव कल्पना के बिना लोभ की अभिव्यक्ति नहीं होती। अतः इसके सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों पक्ष हैं। जब लोभ अप्राप्य के लिए होता है तब तो दुःख स्पष्ट ही रहता है। प्राप्य के संबंध में दुःख का अंग निहित रहता है और अभाव के निश्चय या आशंका मात्र पर व्यक्त हो जाता है। कोई सुखद वस्तु पास में रहने पर भी मन में इस इच्छा का बीज रहता है कि उसका अभाव न हो। पर अभाव का जब तक ध्यान नहीं होता तब तक इस वासना का कहीं पता नहीं रहता। हम बैठे बैठे किसी वस्तु का आनंद ले रहे हैं। उस आनंद के अभाव से जो दुःख होगा उसका कुछ भी ध्यान हमारे मन में नहीं है। इसी बीच में कोई आकर उस वस्तु को ले जाना चाहता है; तब हम उससे कुछ व्यग्र होकर कहते हैं 'अभी रहने दो।' इसके पहले कोरे आनंद के अभाव में इच्छा का कहीं पता न था कि वह वस्तु हटाई न जाए।

विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति के प्रति होने पर लोभ वह सात्त्विक रूप प्राप्त करता है, जिसे प्रीति या प्रेम कहते हैं। जहाँ लोभ सामान्य या जाति के प्रति होता है वहाँ वह लोभ ही रहता है, जहाँ पर किसी जाति के एक ही विशेष व्यक्ति के प्रति होता है वहाँ 'रुचि' या 'प्रीति' का पद प्राप्त करता है। लोभ सामान्योन्मुख होता है और प्रेम विशेषोन्मुख। कहीं कोई अच्छी चीज सुनकर दौड़ पड़ना लोभ है। किसी विशेष वस्तु पर इस प्रकार मुग्ध रहना कि उससे कितनी अच्छी अच्छी वस्तुओं के सामने आने पर भी उस विशेष वस्तु से प्रवृत्ति न हटे, रुचि या प्रेम है। किसी स्त्री या पुरुष के रूप की प्रशंसा सुनते ही पहला भाव लोभ का होगा। किसी को हमने बहुत सुंदर देखा और लुभा गए, उसके पीछे दूसरे को उससे भी सुंदर देखा तो उसपर लुभा गए। जब तक प्रवृत्ति का यह व्यभिचार रहेगा, तब तक हम रूप लोभी ही

माने जाएँगे। जब हमारा लोभ किसी एक ही व्यक्ति पर स्थिर हो जाएगा, हमारी वृत्ति, एकनिष्ठ हो जाएगी, तब हम प्रेमी कहे जाने के अधिकारी होंगे, पर साधारणतः मन की ललक यदि वस्तु के प्रति है तो जो लोभ और किसी प्राणी या मनुष्य के प्रति होती है वह प्रीति कहलाती है।

लोभ का प्रथम संवेदनात्मक अवयव है किसी वस्तु का बहुत अच्छा लगना, उससे बहुत सुख या आनंद का अनुभव होना। अतः वह आनंदस्वरूप है। इसी से किसी अच्छी वस्तु को देखकर लुभा जाना कहा जाता है। पर केवल इस अवस्था में लोभ की पूरी अभिव्यक्ति नहीं होती। कोई वस्तु हमें बहुत अच्छी लगी, किसी वस्तु से हमें बहुत सुख या आनंद मिला, इतने ही पर दुनिया में यह नहीं कहा जाता कि हमने लोभ किया। जब संवेदनात्मक अवयव के साथ इच्छात्मक अवयव का संयोग होगा अर्थात् जब उस वस्तु को प्राप्त करने की, दूर न करने की, नष्ट न होने देने की इच्छा प्रकट होगी तभी हमारा लोभ लोगों पर खुलेगा। इच्छा लोभ या प्रीति का ऐसा आवश्यक अंग है कि यदि किसी को कोई बहुत अच्छा और प्रिय लगता है तो लोग कहते हैं कि 'वह उसे चाहता है'।

भूखे रहने पर सबको पेड़ा अच्छा लगता है पर चौबेजी पेट भर भोजन के ऊपर भी पेड़े पर हाथ फेरते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि चौबेजी को मिष्ठान से अधिक रुचि है। यह अभिरुचि भी लोभ की चेष्टाएँ उत्पन्न करती हैं। इंद्रियों के विषय भेद से अभिरुचि के विषय भी भिन्न भिन्न हो सकते हैं। कमल का फूल और रमणी का सुंदर मुख अच्छा लगता है। वीणा की तान और अपनी तारीफ अच्छी लगती है, जूही और केसर की गंध अच्छी लगती है, रबड़ी और मालपुआ अच्छा लगता है, मुलायम गद्दा अच्छा लगता है। ये सब वस्तुएँ तो आपको आनंद देती हैं, इससे इनकी प्राप्ति की इच्छा बहुत सीधीसादी और स्वाभाविक कही जा सकती है। पर जिससे इन सब वस्तुओं की प्राप्ति सुलभ होती है उसमें चाहे आनंद देनेवाली स्वतः कोई बात न हो पर उसकी प्राप्ति की इच्छा होती है, उसका लोभ होता है। रुपये के रूप, रस, गंध आदि में कोई आकर्षण नहीं होता, पर जिस वेग से मनुष्य उसपर टूटते हैं उस वेग से भौंरे कमल पर और कौए मांस पर भी न टूटते होंगे। यहाँ तक कि 'लोभी' शब्द से साधारणतः रुपये पैसे का लोभी, धन का लोभी समझा जाता है। एक धातुखंड के गर्भ में कितने प्रकार के सुख और आनंद मनुष्य समझता है। पर यह समझ इतनी पुरानी पड़ गई है कि इसकी ओर हमारा ध्यान अब प्रायः नहीं रहता। धन संचय करने में बहुतों का लक्ष्य धन ही रहता है, उससे प्राप्य सुख नहीं। वे बड़े से बड़े सुख के बदले में या कठिन से कठिन कष्ट निवारण के लिए थोड़ा सा धन अलग करना नहीं चाहते। उनके लिए साधन ही साध्य हो जाता है।

स्थिति भेद से प्रिय या अच्छी लगनेवाली वस्तु के संबंध में इच्छा दो प्रकार की होती है—

1. प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा।
2. दूर न करने या नष्ट न होने देने की इच्छा।

प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा भी दो प्रकार की हो सकती है—

1. इतने संपर्क की इच्छा जितना और किसी का न हो।
2. इतने संपर्क की इच्छा जितना सब कोई या बहुत से लोग एक साथ रख सकते हों।

इसमें से प्रथम प्रतिषेधात्मक होने के कारण प्रायः विरोधग्रस्त होती है, इससे उसपर समाज का ध्यान अधिक रहता है। कोई वस्तु हमें बहुत अच्छी लगती है, लगा करे, दूसरों को इससे क्या? पर जब हम उस वस्तु की ओर हाथ बढ़ाएँगे या औरों को उसकी ओर हाथ बढ़ाने न देंगे तब बहुत से लोगों का ध्यान हमारे इस कृत्य पर जाएगा जिनमें से कुछ हाथ थामनेवाले और मुँह लटकानेवाले भी निकल सकते हैं। हमारे लोभ की शिकायत ऐसे ही लोग अधिक करते पाए जाएँगे। दूसरों के लोभ की जैसी अच्छी निंदा लोभी कर सकते हैं वैसी और लोग नहीं। माँगने पर पानेवाले और न देनेवाले दोनों इसमें प्रवृत्त होते हैं। एक कहता है 'वह बड़ा लोभी है, देता नहीं' दूसरा कहता है 'वह बड़ा लोभी है, बराबर माँगा करता है'। रहीम दोनों को लोभी, दोनों को बुरा कहते हैं—

रहिमन वे नर मर चुके जे कहुँ माँगन जाहिं।
उनते पहले वे मुए जिन मुख निकसत 'नाहिं'॥

ऐसा उस समय होता है जब एक ही वस्तु के संबंध में एक ओर तो प्राप्त करने और दूसरी ओर दूर न करने की इच्छा बिंब प्रतिबिंब रूप से दो व्यक्तियों में होती है। इसके अतिरिक्त एक ही वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा यदि संयोग से कई प्राणियों के चित्त में हुई तो भी विरोध का पूरा विधान होता है। सारांश यह कि दोनों अवस्थाओं में लोभ का लक्ष्य एक होने पर लोभी एक दूसरे को बहुत व्याकुल करते हैं।

प्राप्ति की प्रतिषेधात्मक इच्छा की सदोषता और निर्दोषता लोभ के विषय पर निर्भर रहती है। लोभ के विषय दो प्रकार के होते हैं—सामान्य और विशेष। अच्छा खाना, अच्छा कपड़ा, अच्छा घर तथा धन, जिससे ये सब वस्तुएँ सुलभ होती हैं, सबको भाता है, सबको उसकी प्राप्ति की आकांक्षा है। ये लोभ के सामान्य विषय हुए जिन पर प्रायः मनुष्य मात्र का लक्ष्य रहता है, अतः इनके प्रति जो लोभ होता है उसपर बहुत लोगों का ध्यान जाता है। पर यदि किसी को गुलाबजामुन या विशेष बूटी की छींट बहुत अच्छी लगे और वह उसे प्राप्त करना या न देना चाहे तो उसके इस लोभ पर बहुत कम लोगों का ध्यान जाएगा और जिसका ध्यान जाएगा भी उन्हें वह खटकेगा नहीं। ऐसे लोभ को वे रुचि कहेंगे। सबको जिसकी हाय हाय होती है, सब जिसको पाना या रखना चाहते हैं, वह बहुत से लोगों को एक मैदान में

लाकर खड़ा किया करता है जहाँ एक दूसरे की गतिविधि का निरीक्षण और अवरोध बड़ी कड़ी नजर और पूरी मुस्तैदी से होता है।

यदि मनुष्य समाज में सबके लोभ के लक्ष्य भिन्न भिन्न होते तो लोभ को बुरा कहनेवाले कहीं न मिलते। यदि एक साथ रहनेवाले दस आदमियों में से कोई गाय बहुत चाहता, कोई घोड़ा, कोई कपड़ा, कोई ईंट, कोई पत्थर, कोई सोना, कोई चाँदी, कोई ताँबा; और इन वस्तुओं में से किसी को शेष सब वस्तुओं को प्राप्त कराने की कृत्रिम शक्ति न दी जाती, तो एक के लोभ से दूसरे को कोई कष्ट न पहुँचता और दूसरी बात यह होती कि लोभ का एक बुरा लक्षण जो असंतोष है, उसकी भी एक सीमा हो जाती—कोई कितनी गायें रखता, कितने घोड़े बाँधता, कहाँ तक सोना चाँदी इकट्ठा करता। पर विनिमय की कठिनता दूर करने के लिए मनुष्यों ने कुछ धातुओं में सब आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कराने का कृत्रिम गुण आरोपित किया जिससे मनुष्य मात्र की सांसारिक इच्छा और प्रयत्न का लक्ष्य एक हो गया, सबकी टकटकी टके की ओर लग गई।

लक्ष्य की इस एकता से समाज में एक दूसरे की आँखों में खटकनेवाले की वृद्धि हुई। जब एक ही को चाहनेवाले बहुत से हो गए तब एक ही चाह को दूसरे कहाँ तक पसंद करते हैं? लक्ष्मी की मूर्ति, धातुमयी हो गई, उपासक सब पत्थर के हो गए, धीरे धीरें यह दशा आई कि जो बातें पारस्परिक प्रेम की दृष्टि से, धर्म की दृष्टि से की जाती थीं वे भी रुपये पैसे की दृष्टि से होने लगीं। आजकल तो बहुत सी बातें धातु के ठीकरों पर ठहरा दी गई हैं। पैसे से राज सम्मान की प्राप्ति, विद्या की प्राप्ति और न्याय की प्राप्ति होती है। जिनके पास कुछ रुपया है बड़े बड़े विद्यालयों में अपने लड़कों को भेज सकते हैं, न्यायालयों में फीस देकर अपने मुकदमे दाखिल कर सकते हैं, अत्यंत भीरु और कायर होकर बहादुर कहला सकते हैं, राजधर्म, आचार्यधर्म, वीरधर्म सब पर सोने का पानी फिर गया, सब टकाधर्म हो गए। धन की पैठ मनुष्य के सब कार्यक्षेत्रों में करा देने से, उसके प्रभाव को इतना विस्तृत कर देने से, ब्राह्मणधर्म और क्षात्रधर्म का लोप हो गया; केवल वणिग्धर्म रह गया।

व्यापारनीति राजनीति का प्रधान अंग हो गई। बड़े बड़े राज्य माल की बिक्री के लिए लड़नेवाले सौदागर हो गए। जिस समय क्षात्रधर्म की प्रतिष्ठा थी, एक राज्य दूसरे राज्य पर कभी कभी विजय कीर्ति की कामना से डंके की चोट पर चढ़ाई करता था। अब सदा एक देश दूसरे देशों का चुपचाप दबे पाँव धन हरण करने की ताक में लगा रहता है। इसी से भिन्न भिन्न राज्यों की परस्पर संबंध समस्या इतनी जटिल हो गई है। कोई कोई देश लोभवश इतना अधिक माल तैयार करते हैं कि उसे किसी देश के गले मढ़ने की फिक्र में दिन रात मरते रहते हैं। जब तक यह व्यापारोन्माद दूर न होगा तब तक इस पृथ्वी पर सुख शांति न होगी। दूर वह अवश्य होगा। क्षात्रधर्म की संसार में एक बार फिर प्रतिष्ठा होगी, चोरी का बदला डकैती से लिया जाएगा।

सामान्य विषयगत प्रतिषेधात्मक लोभ में भी लोभदृष्टि जितनी ही संकुचित होती है, उसके भीतर जितनी ही कम वस्तुएँ आती हैं, उतना ही उसका दोष कम होता है। अच्छे भोजन की सबको चाह होती है। अतः उसे बहुत चाहनेवाला लोभी कहला सकता है, पर अच्छे भोजनों में से यदि किसी को मिठाई की चाह अधिक रहे, तो उसका दोष कम और मिठाइयों में से यदि केवल गुलाबजामुन की अधिक चाह रहे तो और कम क्या कुछ भी न समझा जाएगा। इसी प्रकार जहाँ एक ही वस्तु बहुत प्रकार की रखी हुई है वहाँ भी यदि कोई एक किसी को बहुत पसंद आ जाए और वह उसे लेना चाहे तो उसकी गिनती लोभियों में न होगी। विश्वामित्र को वशिष्ठ की गाय बहुत पसंद आई और वे उसके बदले में बहुत सी गायें देने के लिए तैयार हो गए पर वशिष्ठ ने अपनी गाय नहीं दी। इसके लिए लड़ भिड़कर भी न वशिष्ठ लोभी कहलाए, न विश्वामित्र। इसी प्रकार एक नवाब साहब को बाबू हरिश्चंद्र का एक अलबम बहुत पसंद आया था। ये लोभ के विशेष विषय के उदाहरण हैं। इनके प्रति जो लोभ होता है उसके अवसर इतने कम होते हैं कि उनके स्वभाव या अधिक अभ्यास का अनुमान नहीं किया जा सकता। पर किसी की अच्छी चीज देखते ही जिनके मुँह में पानी आ जाता है, बराबर खरी खोटी सुना करते हैं। एक लोभ से दूसरे लोभ का निवारण भी होता है जिससे लोभी में अन्य वस्तुओं के त्याग का साहस आता है। विशेष विषयगत लोभ यदि बहुत प्रबल और सच्चा हुआ तो लोभी के त्याग का विस्तार बहुत बड़ा होता है। लोभ तो उसे एक विशेष और निर्दिष्ट वस्तु से है अतः उसके अतिरिक्त अन्य अनेक वस्तुओं का त्याग वह उसके लिए कर सकता है। विश्वामित्र एक गाय के लिए अपना सारा राजपाट देने को तैयार हो गए थे। अन्य का त्याग अनन्य और सच्चे लोभ की पहचान है।

यहाँ तक तो प्राप्ति की प्रतिषेधात्मक इच्छावाले लोभ की बात हुई जिसका प्रायः विरोध होता है। अब प्राप्ति की उस इच्छा का विचार करता हूँ जिसे एक ही वस्तु के संबंध में बहुत से लोग बिना किसी विरोध के रख सकते हैं। जिस लोभ से दूसरे को कोई बाधा या कष्ट पहुँचता है उसी को पहले एक प्रायः जिसे बाधा या कष्ट होता है—बुरा कहता है, फिर दूसरा, फिर तीसरा, इसी प्रकार बहुत से बुरा कहनेवाले हो जाते हैं। सारांश यह कि जो लोग दूसरे की सुख शांति या स्वच्छंदता के बाधक होते हैं, अधिकतर वही निंद्य समझे जाते हैं। उपवन की शोभा सबको लुभाती है। यदि कोई नित्य किसी के बगीचे में जाकर टहला करे तो उसका क्या जाता है? यदि हम किसी वस्तु पर लुभाकर उससे उतना ही संपर्क रखना चाहते हैं जितना सब लोग एक साथ रख सकते हैं, तो हमारा लोभ किसी की आँखों में नहीं खटक सकता। बगीचे को आँख से एक साथ बहुत लोग देख सकते हैं, पर उसमें के फल नहीं खा सकते। जहाँ देखने का भी दाम लगता है या कुछ आदमियों का देखना बिना बंद किए देखा नहीं जा सकता, वहाँ दृष्टि संपर्क की इच्छा भी मुश्किल

में डाल देती है। पर जहाँ एक इच्छा दूसरे की इच्छा का बाधक न होकर साधक होती है, वहाँ एक ही वस्तु का लोभ रखनेवाले बहुत से लोग बड़े सद्भाव के साथ रहते हैं। लुटेरे या डाकू इसी प्रकार दलबद्ध होकर काम करते हैं।

किसी को कोई स्थान बहुत प्रिय हो जाता है और वह हानि और कष्ट उठाकर भी वहाँ से नहीं जाना चाहता। हम कह सकते हैं कि उसे उस स्थान का पूरा लोभ है। जन्मभूमि का प्रेम, स्वदेशप्रेम यदि वास्तव में अंतःकरण का कोई भाव है तो स्थान के लोभ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस लोभ के लक्षणों से शून्य देशप्रेम कोरी बकवाद या फैशन के लिए गढ़ा हुआ शब्द है। यदि किसी को अपने देश से प्रेम है तो उसे अपने देश के मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, गुल्म, पेड़, पत्ते, वन, पर्वत, नदी, निर्झर सबसे प्रेम होगा, सबको वह चाहभरी दृष्टि से देखेगा, सबकी सुध करके वह विदेश में आँसू बहाएगा। जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है, जो यह भी नहीं सुनते कि चातक कहाँ चिल्लाता है, जो आँख भर यह भी नहीं देखते कि आम प्रणय सौरभपूर्ण मंजरियों से कैसे लदे हुए हैं, जो यह भी नहीं झाँकते कि किसानों के झोंपड़ों के भीतर क्या हो रहा है, वे यदि दस बने ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का परता बताकर देशप्रेम का दावा करें तो उनसे पूछना चाहिए कि, 'भाइयो! बिना परिचय का यह प्रेम कैसा? जिनके सुख दुःख के तुम कभी साथी न हुए उन्हें तुम सुखी देखना चाहते हो, यह समझते नहीं बनता। उनसे कोसों दूर बैठे बैठे, पड़े पड़े या खड़े खड़े, तुम विलायती बोली में अर्थशास्त्र की दुहाई दिया करो, पर प्रेम का नाम उसके साथ न घसीटो। प्रेम हिसाब किताब की बात नहीं है। हिसाब किताब करनेवाले भाड़े पर भी मिल सकते हैं पर प्रेम करनेवाले नहीं। हिसाब किताब से देश की दशा का ज्ञान मात्र हो सकता है। हित चिंतन और हित साधन की प्रवृत्ति इस ज्ञान से भिन्न है। वह मन के वेग पर निर्भर है, उसका संबंध लोभ या प्रेम से है जिसके बिना आवश्यक त्याग का उत्साह हो ही नहीं सकता। जिसे ब्रज की भूमि से प्रेम होगा वह इस प्रकार कहेगा—

नैनन सों रसखान जबै ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
केतिक ही कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर बारौं।।

रसखान तो किसी की 'लकुटी अरु कामरिया' पर तीनों पुरों का राजसिंहासन तक त्यागने को तैयार थे, पर देशप्रेम की दुहाई देनेवालों में से कितने अपने किसी थके माँदे भाई के फटे पुराने कपड़ों और धूल भरे पैरों पर रीझकर या कम से कम खीझकर, बिना मन मैला किए कमरे की फर्श भी मैली होने देंगे? मोटे आदमियो! तुम जरा सा दुबले हो जाते—अपने अंदेशे से सही—तो न जाने कितनी ठठरियों पर मांस चढ़ जाता।

अब पूछिए कि जिनमें यह देशप्रेम नहीं है उनमें वह किसी प्रकार हो भी सकता है? हाँ, हो सकता है—परिचय से, सान्निध्य से। जिस प्रकार लोभ से सान्निध्य की

इच्छा उत्पन्न होती है उसी प्रकार सान्निध्य से भी लोभ या प्रेम की प्रतिष्ठा होती है। जिनके बीच हम रहते हैं, जिन्हें हम बराबर आँखों से देखते हैं, जिनकी बातें हम बराबर सुनते रहते हैं, जिनका हमारा हर घड़ी का साथ हो जाता है; सारांश यह है कि जिनके सान्निध्य का हमें अभ्यास पड़ जाता है, उनके प्रति लोभ या राग हो जाता है। जिस स्थान पर कोई बहुत दिनों तक रह जाता है उसे छोड़ते हुए दुःख होता है। पशु और बालक भी जिनके साथ अधिक रहते हैं उन्हें परच जाते हैं। यह 'परचना' परिचय से निकला है। परिचय प्रेम का प्रवर्तक है। बिना परिचय के प्रेम नहीं हो सकता। यदि देशप्रेम के लिए हृदय में जगह करनी है तो देश के स्वरूप से परिचित और अभ्यस्त हो जाओ। बाहर निकलो तो आँखें खोलकर देखो कि खेत कैसे लहलहा रहे हैं, नाले झाड़ियों के बीच से कैसे बह रहे हैं, टेसू के फूलों से वनस्थली कैसी लाल हो रही है, चौपायों के झुंड चरते हैं, चरवाहे तान लड़ा रहे हैं अमराइयों के बीच में गाँव झाँक रहे हैं। उनमें घुसो, देखो क्या हो रहा है। जो मिलें उनसे दो दो बातें करो; उनके साथ किसी पेड़ की छाया के नीचे घड़ी आध घड़ी बैठ जाओ और समझो कि ये सब हमारे हैं। इस प्रकार जब देश का रूप तुम्हारी आँखों में समा जाएगा; तुम उसके अंगप्रत्यंग से परिचित हो जाओगे, तब तुम्हारे अंतःकरण में इस इच्छा का उदय होगा कि वह हमसे कभी न छूटे; वह सदा हरा भरा और फूला फला रहे; उसके धन धान्य की वृद्धि हो, उसके सब प्राणी सुखी रहें। यह तो वर्तमान प्रेमसूत्र हुआ। अतीत की ओर दृष्टि फैलाओ। राम, कृष्ण, भीम, अर्जुन, विक्रम, कालिदास, भवभूति इत्यादि का स्मरण करो जिससे यह सब नाम तुम्हारे हो जाएँ। इनके नाते भी यह भूमि और इस भूमि के निवासी तुम्हें प्रिय होंगे।

पर आजकल इस प्रकार का परिचय बाबुओं की लज्जा का एक विषय हो रहा है। वे देश के स्वरूप से अनजान रहने या बनने में अपनी बड़ी शान समझते हैं। मैं अपने एक लखनवी दोस्त के साथ साँची का स्तूप देखने गया। यह स्तूप एक बहुत सुंदर छोटी सी पहाड़ी के ऊपर है, नीचे एक छोटा सा जंगल है जिसमें महुए के पेड़ भी बहुत से हैं। संयोग से उन दिनों पुरातत्त्व विभाग का कैंप पड़ा हुआ था। रात हो जाने से हम लोग उस दिन स्तूप नहीं देख सके। सबेरे देखने का विचार करके नीचे उतर रहे थे। वसंत का समय था। महुए चारों ओर टपक रहे थे। मेरे मुँह से निकला—"महुओं की कैसी मीठी महक आ रही है।" इस पर लखनवी महाशय ने मुझे रोककर कहा, "यहाँ महुए सहुए का नाम न लीजिए, लोग देहाती समझेंगे।" मैं चुप हो गया, समझ गया कि महुए का नाम जानने से बाबूपन में बड़ा भारी बट्टा लगता है।

आरंभ में ही कहा जा चुका है कि प्रवृत्ति भेद से प्रिय वस्तु के संबंध में इच्छा दो प्रकार की होती है—प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा तथा दूर न करने या नष्ट न

होने देने की इच्छा। प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा का विचार तो हो चुका, अब रक्षा की इच्छा का अन्वेषण करना है। रक्षा की इच्छा भी दो प्रकार की होती हैं–

1. स्वायत्त रक्षा की इच्छा अर्थात् अपने अधिकार में रखने की इच्छा।
2. स्व निरपेक्ष रक्षा की इच्छा अर्थात् केवल बने रहने देने की इच्छा।

स्वायत्त रखने की इच्छा प्रायः अनन्य उपयोग या उपभोग की वासना से संबद्ध रहती है। इससे वह कभी कभी लोगों को खटकती है और लोग उसका विरोध करते हैं। कोई बहुत मीठे आम का पेड़ है जिसका फल सब लोग खाते हैं और जिसकी रखवाली सब लोग करते हैं। यदि उनमें से कोई एक अकेले उसकी रखवाली करने चले और किसी को पास न आने दे, तो सब लोग मिलकर विरोध करेंगे। पर कभी कभी स्वायत्त रखने की इच्छा अन्य द्वारा यथेष्ट रक्षा के उस अविश्वास के कारण होती है जो लोभ या प्रीति की अधिकता से उत्पन्न होता है। ऐसी दशा में यदि संरक्ष्य वस्तु के उपयोग या उपभोग आदि से औरों को कोई बाधा नहीं पहुँचती है तो किसी एक का उसे अपनी रक्षा में रखना दूसरे को बुरा नहीं लगता।

यदि लोभ की वस्तु ऐसी है जिससे सबको सुख और आनंद है तो उसपर जितना ही अधिक ध्यान रहेगा, रक्षा के भाव की एकता के कारण परस्पर मेल की उतनी ही प्रवृत्ति होगी। यदि दस आदमियों में से सबकी यह इच्छा है कि कोई मंदिर बना रहे; गिरने पड़ने न पाए अथवा और अधिक उन्नत और सुसज्जित हो, तो यह सम्मिलित इच्छा ऐक्य सूत्र होगी। मिलकर कोई कार्य करने से उसका साधन अधिक या सुगम होता है, यह बतलाना 'पर उपदेश कुशल' नीतिज्ञों का काम है, मेरे विचार का विषय नहीं। मेरा उद्देश्य तो मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों की छानबीन है जो निश्चयात्मिका वृत्ति से भिन्न हैं। मुझे तो यह कहना है कि इन इन अवस्थाओं में मेल की प्रवृत्ति होती है। अब मेल से क्या क्या लाभ होते हैं, यह तो न जाने कितने झगड़ालू बताते हैं और न जाने कितने लोग सुनकर झगड़ा करते हैं।

लोभ का सबसे प्रशस्त रूप वह है जो रक्षा मात्र की इच्छा का प्रवर्तक होता है, जो मन में यही वासना उत्पन्न करता है कि कोई चीज बनी रहे, चाहे वह हमारे किसी उपयोग में आए या न आए। इस लोभ में दोष का लेश उसी अवस्था में आ सकता है जबकि वह वस्तु ऐसी हो जिससे किसी को कोई बाधा या हानि पहुँचती हो। कोई सुंदर कृष्णसार मृग नित्य आकर खेती की हानि किया करता है। उसके सौंदर्य पर मुग्ध होकर उसकी रक्षा चाहनेवाला यदि बराबर उसकी रक्षा में प्रवृत्त रहेगा तो बहुतों से उसकी अनबन हो सकती है। वह लोभ धन्य है जिससे किसी के लोभ का विरोध नहीं और लोभ की जो वस्तु अपने सब लोभियों को एक दूसरे का लोभी बनाए रहती है, वह भी परम पूज्य है। घर का प्रेम, पुर या ग्राम का प्रेम, देश का प्रेम इसी पवित्र लोभ के क्रमशः विस्तृत रूप हैं। मनुष्य के प्रयत्नों की पहुँच बहुत परिमित होती है। अतः जो प्रेम क्षेत्र जितना ही निकटस्थ होगा उसमें उतने ही अधिक

प्रयत्न की आवश्यकता होगी और जो जितना ही दूर होगा, प्रयत्नों का उतना ही कम अंश उसके लिए आवश्यक होगा। सबसे अधिक घर की रक्षा का, फिर पुर या ग्राम की रक्षा का और फिर देश की रक्षा का ध्यान जनसाधारण के लिए स्वाभाविक है। पर जिनकी दृष्टि बहुत व्यापक होती है, जिनके अंतःकरण में परार्थ को छोड़ स्वार्थ के लिए अलग जगह नहीं होती वे इस क्रम का विपर्यय कर दिखाते हैं। वे देश की रक्षा के लिए अवसर पड़ने पर घर का लोभ क्या, प्राण तक का लोभ छोड़ देते हैं। पर ऐसे लोग विरले होते हैं। सबसे ऐसी आशा नहीं की जा सकती।

अब घर का प्रेम, पुर का प्रेम, देश का प्रेम, कहाँ तब विरोध शून्य होता है, यह भी देखिए। इनका अवरोध परिमित होता है—"घर के भीतर, पुर या ग्राम के भीतर" ही उसके होने का निश्चय रहता है। घर के बाहर, पुर या ग्राम के बाहर, देश के बाहर विरोध करनेवाले मिल सकते हैं। एक घर की रक्षा दूसरे घरवालों से, एक पुर की रक्षा दूसरे पुरवालों से और एक देश की रक्षा दूसरे देशवालों से करनी पड़ती है।

जिनकी आत्मा समस्त भेदभाव को भेदकर अत्यंत उत्कर्ष पर पहुँची हुई होती है, वे सारे संसार की रक्षा चाहते हैं—जिस स्थिति में भूमंडल के समस्त प्राणी, कीट पतंग से लेकर मनुष्य तक सुखपूर्वक रह सकते हैं, उसके अभिलाषी होते हैं, ऐसे लोग विरोध के परे होते हैं। उनसे जो विरोध रखें वे सारे संसार के विरोधी हैं, वे लोक के कंटक हैं।

कोई वस्तु हमें बराबर सुख या आनंद देती रहे और कोई वस्तु बनी रहे, इन्हीं दो भावों को लेकर स्वायत्त की रक्षा की इच्छा और स्वनिरपेक्ष रक्षा की इच्छा ये दो विभाग पहले किए गए हैं। अतः पहली को यदि हम अपने सुख की रक्षा की इच्छा कहें तो बहुत अनुचित न होगा। वस्तु के दूसरे के पास जाने से या नष्ट हो जाने से हमें सुख का आनंद न मिल सकेगा, इसी से हम उसकी रक्षा के लिए व्यग्र होते हैं। यदि ऐसी वस्तु को कोई उठाए लिये जाता हो और वह वीच में नष्ट हो जाए, तो हमें दुःख न होगा; क्योंकि जब चीज हमारे हाथ से निकल गई, हमें वह सुख या आनंद दे नहीं सकती, तब वह चाहे रहे, चाहे नष्ट हो। यहाँ तक कि यदि ले जानेवाले के प्रति हमें क्रोध होगा या ईर्ष्या होगी तब हम प्रसन्न होंगे। जहाँ वस्तुरक्षा की इच्छा होगी वहाँ यह बात न होगी। हम किसी दशा में उस वस्तु का नाश न चाहेंगे। किसी पुराने काजी के पास दो स्त्रियाँ एक बच्चे को लेकर लड़ती हुई आईं। एक कहती थी कि बच्चा मेरा है, दूसरी कहती थी मेरा। काजी साहब ने परीक्षा के विचार से कहा—"अच्छा, तुम दोनों को बच्चा काटकर आधा आधा बाँट दिया जाएगा।" इतना सुनते ही दोनों में से एक स्त्री घबराकर बोल उठी—"जाने दीजिए, बच्चा मुझे न चाहिए, उसी को दे दीजिए।"

काजी साहब समझ गए कि बच्चा इसी का है। वह स्त्री बच्चे की माँ थी, अतः उसे उसका सच्चा लोभ था।

अब तक लोभ के संबंध में जो कुछ कहा गया है वह उसका व्यापक अर्थ लेकर। पर जैसा पहले कहा जा चुका है, 'लोभ' शब्द कहने से आजकल प्रायः धन के लोभ की भावना होती है, प्राप्ति या रक्षा की उस इच्छा की ओर ध्यान जाता है जो जीवन निर्वाह की सामग्रियों के प्रति होती है। धन से अनेक सुखों की प्राप्ति और अनेक कष्टों का निवारण होता है अथवा यों कहिए कि धन के बिना संसार में रहना संभव नहीं। संसार में जो इतने लोग धन इकट्ठा करते दिखाई देते हैं उनमें से कुछ तो घोर कष्ट के निवारण के लिए, कुछ अधिक सुख की प्राप्ति के लिए, कुछ भविष्य में सुख के अभाव या कष्ट की शंका से और कुछ बिना किसी उद्देश्य भावना के। इनमें प्रथम श्रेणी के लोग तो धन की जितनी प्रबल इच्छा करें, उसके लिए चाहे जितना आतुर हों, लोभी नहीं कहला सकते। धन के बिना जिन्हें पेट भर अन्न नहीं मिलता, जो शीत और ताप से अपने शरीर की रक्षा नहीं कर सकते, उन्हें जो लोभी कहें वे बड़े भारी लोभी और बड़े भारी क्रूर हैं। दूसरी श्रेणी के लोगों पर से लोभ के आरोप की संभावना क्रमशः बढ़ते बढ़ते चौथी श्रेणी के लोगों पर जाकर निश्चय कोटि को पहुँच जाती है। कष्ट निवारण की इच्छा, अधिक सुख प्राप्ति की इच्छा, सुखाभाव या कष्ट की आशंका—ये तीनों धन और उसकी प्राप्ति की इच्छा के बीच ओट या व्यवधान के रूप में रहती हैं। जहाँ इन तीनों में से कोई परदा नहीं रहता वहाँ शुद्ध धन लोभी की जघन्य मूर्ति साक्षात् दिखाई पड़ती है।

धन की कितनी इच्छा लोभ के लक्षणों तक पहुँचती है, इसका निर्णय कठिन है। पर किसी मनोविकार की उचित सीमा का अतिक्रमण प्रायः वहाँ समझा जाता है जहाँ और मनोवृत्तियाँ दब जाती हैं या उनके लिए बहुत कम स्थान रह जाता है और मनोवेगों के आधिक्य से लोभ के आधिक्य में विशेषता यह होती है कि लोभ स्वविषयान्वेषी होने के कारण अपनी स्थिति और वृद्धि का आधार आप खड़ा करता रहता है, जिससे असंतोष की प्रतिष्ठा के साथ ही साथ और वृत्तियों के लिए स्थायी अनवकाश हो जाता है, और मनोविकारों में यह बात नहीं होती। क्रोध को ही लीजिए। क्रोध कुछ बातों पर आता है, पर उन बातों को ढूँढ़ने में प्रवृत्त नहीं होता। क्रोधी स्वभाव का मनुष्य ऐसी बातों पर चिढ़ जाता है जिनसे और लोग नहीं चिढ़ते पर वह सदा इस फेर में नहीं घूमा करता कि कोई बात चिढ़ने को मिले। क्रोध में आगबबूला होनेवाले तुरंत करुणा से आर्द्र और लज्जा से पानी पानी हुए भी देखे जाते हैं। क्रोध आदि में अन्य वृत्तियों का जो बोध हो जाता है वह प्रायः क्षणिक होता है, पर लोभ द्वारा स्थायी हो जाता है। बात यह है कि लोभ का प्रथम अवयव सुखात्मक होने के कारण लोभी को विषय की ओर बराबर प्रवृत्त रखता है। धन का लोभी धन पाकर लोभ से निवृत्त नहीं हो जाता, या तो भले बुरे का सब विचार छोड़ रक्षा में

तत्पर दिखाई देता है या और अधिक प्राप्ति में। इस प्रकार लोभ से अन्यमुख वृत्तियों का जो स्तंभन होता है, वह स्वभावांतर्गत हो जाता है। अस्तु, स्थूल रूप से उद्धत लोभ के दो उग्र लक्षण कहे जा सकते हैं—

(1) असंतोष

(2) अन्य वृत्तियों का दमन।

लोभ चाहे जिस वस्तु का हो, जब बहुत बढ़ जाता है तब उस वस्तु की प्राप्ति, सान्निध्य या उपभोग से जी नहीं भरता। मनुष्य चाहता है कि वह बार बार मिले या बराबर मिलता रहे। धन का लोभ जब रोग होकर चित्त में घर कर लेता है तब प्राप्ति होने पर भी और प्राप्ति की इच्छा बराबर जगी रहती है। जिससे मनुष्य सदा आतुर और प्राप्त के आनंद से विमुख रहता है। जितना नहीं है उतने के पीछे जितना है उतने से प्रसन्न होने का उसे कभी अवसर ही नहीं मिलता। उसका सारा अंतःकरण सदा अभावमय रहता है। उसके लिए जो है वह भी नहीं है। असंतोष अभाव कल्पना से उत्पन्न दुःख है, अतः जिस किसी में यह अभाव कल्पना स्वाभाविक हो जाती है, सुख से उसका नाता सब दिनों के लिए टूट जाता है। न किसी को देखकर वह प्रसन्न होता है और न उसे देखकर कोई प्रसन्न होता है। इसी से संतोष सात्त्विक जीवन का एक अंग बतलाया गया है। भक्तवर तुलसीदासजी संतोष वृत्ति की वांछा इस प्रकार करते हैं—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
यथालाभ संतोष सदा काहू सों कछू न चहौंगो॥

पर जिस स्थिति से कोई कष्ट या कठिनता हो उससे असंतुष्ट रहना गृहस्थ का धर्म है क्योंकि ऐसे असंतोष से जिस प्रयत्न की प्रेरणा होती है वह एक अच्छे फल के निमित्त होता है। ऐसे असंतोष का अभाव आलस्यसूचक होता है। पर प्राप्ति की जो इच्छा व्यसन के रूप में होती है उसका निरसन ही ठीक है।

धन का जो लोभ मानसिक व्याधि या व्यसन के रूप में होता है उसका प्रभाव अंतःकरण की शेष वृत्तियों पर यह होता है कि वे अनभ्यास से कुंठित हो जाती हैं। जो लोभ मान अपमान के भाव को, करुणा और दया के भाव को, न्याय अन्याय के भाव को, यहाँ तक कि अपने कष्ट निवारण या सुखभोग की इच्छा तक को दबा दे, वह मनुष्यता कहाँ तक रहने देगा? जो अनाथ विधवा का सर्वस्वहरण करने के लिए कुर्क अमीन लेकर चढ़ाई करते हैं, जो अभिमानी धनिकों की दुतकार सुनकर त्योरी पर बल नहीं आने देते, जो मिट्टी में रुपया गाड़कर न आप खाते और न दूसरों को खाने देते हैं, परिजनों का कष्टक्रंदन सुनकर भी रुपये गिनने में लगे रहते हैं, वे अधमरे होकर जीते हैं। उनका आधा अंतःकरण मारा गया समझिए। जो किसी के लिए नहीं जीते उनका जीना न जीना बराबर है।

लोभियों का दमन योगियों के दमन से किसी प्रकार कम नहीं होता। लोभ

के बल से वे, काम और क्रोध को जीतते हैं, सुख की वासना का त्याग करते हैं, मान अपमान में समान भाव रखते हैं। अब और चाहिए क्या? जिससे वे कुछ पाने की आशा रखते हैं वह यदि उन्हें दस गालियाँ भी देता है तो उनकी आकृति पर न रोष का कोई चिह्न प्रकट होता है और न मन में ग्लानि होती है। न उन्हें मक्खी चूसने में घृणा होती है और न रक्त चूसने में दया। सुंदर से सुंदर रूप देखकर वे अपनी एक कौड़ी भी नहीं भूलते। करुण से करुण स्वर सुनकर वे अपना एक पैसा भी किसी के यहाँ नहीं छोड़ते। तुच्छ से तुच्छ व्यक्ति के सामने हाथ फैलाने में वे लज्जित नहीं होते। क्रोध, दया, घृणा, लज्जा आदि करने से क्या मिलता है कि वे करने जाएँ? जिस बात से उन्हें कुछ मिलता नहीं जबकि उसके लिए उनके मन के किसी कोने में जगह नहीं होती, तब जिस बात से पास का कुछ जाता है, वह बात उन्हें कैसी लगती होगी; यह यों ही समझा जा सकता है। जिस बात में कुछ लगे वह उनके किसी काम की नहीं, चाहे वह कष्ट निवारण हो या सुख प्राप्ति, धर्म हो या न्याय। वे शरीर सुखाते हैं; अच्छे भोजन, अच्छे वस्त्र आदि की आकांक्षा नहीं करते। लोभ के अंकुश से अपनी संपूर्ण इंद्रियों को वश में रखते हैं। लोभियो! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इंद्रिय निग्रह, तुम्हारा मानापमान समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है, तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है। तुम धन्य हो! तुम्हें धिक्कार है।

पक्के लोभी लक्ष्य भ्रष्ट नहीं होते, कच्चे हो जाते हैं। किसी वस्तु को लेने के लिए कई आदमी खींचतान कर रहे हैं। उनमें से एक क्रोध में आकर उस वस्तु को नष्ट कर देता है। उसे पक्का लोभी नहीं कह सकते, क्योंकि क्रोध ने उसके लोभ को दबा दिया, वह लक्ष्य भ्रष्ट हो गया।

अब एक प्राणी के प्रति दूसरे प्राणी के लोभ का प्रसंग सामने आता है जिसे प्रीति या प्रेम कहते हैं। यद्यपि किसी व्यक्ति की ओर प्रवृत्ति भी जब तक एकनिष्ठ न हो, लोभी ही कही जा सकती है, पर साधारण बोलचाल में वस्तु के प्रति मन की जो ललक होती है उसे 'लोभ' और किसी व्यक्ति के प्रति जो ललक होती है उसे 'प्रेम' कहते हैं। वस्तु और व्यक्ति के विषय भेद से लोभ के स्वरूप और प्रवृत्ति में बहुत कुछ भेद पड़ जाता है, इससे व्यक्ति के लोभ को अलग नाम दिया गया है। पर मूल में लोभ और प्रेम दोनों एक ही हैं, इसका पता हमारी भाषा ही देती है। किसी रूपवान् या रूपवती को देखकर उसपर 'लुभा जाना' बराबर कहा जाता है। अँगरेजी के प्रेम वाचक शब्द 'लव' (Love) सैक्सन के 'लुफु' (Lufu) और लैटिन के 'लुबेट' (Lubet) का संबंध संस्कृत के 'लोभ' शब्द या लुभ् धातु से स्पष्ट लक्षित होता है।

किसी व्यक्ति का लोभ वस्तु के लोभ से कितना विलक्षण होता है, अब यह देखना चाहिए। विलक्षणता का सबसे बड़ा कारण है दोनों पक्षों में मनस्तत्त्व का विधान। जो लुब्ध होता है उसके भी हृदय होता है, जिस पर वह लुब्ध होता है उसके भी।

अतः किसी व्यक्ति का लोभी उस व्यक्ति से केवल वाह्य संपर्क रखकर ही तुष्ट नहीं हो सकता; उसके हृदय का संपर्क भी चाहता है। अतः मनुष्य का मनुष्य के साथ जितना गूढ़, जटिल और व्यापक संबंध हो सकता है उतना वस्तु के साथ नहीं। वस्तु लोभ के आश्रय और आलंबन इन दो पक्षों में भिन्न भिन्न कोटि की सत्ताएँ रहती हैं। पर प्रेम एक ही कोटि की दो सत्ताओं का योग है, इससे कहीं अधिक गूढ़ और पूर्ण होता है।

वस्तु के भीतर लोभी चेतना का कोई विधान नहीं देखता जिस पर प्रभाव डालने का वह प्रयत्न करे। पर प्रेमी प्रिय की अंतर्वृत्ति पर प्रभाव डालने में तत्पर रहा करता है। प्रभाव डालने की यह वासना प्रेम उत्पन्न होने के साथ ही जगती है और बढ़ती चली जाती है। वस्तु पर लुब्ध होकर कोई उस चिंता में नहीं पड़ता कि उस वस्तु को मालूम हो जाए कि वह उस पर लुब्ध है। पर किसी पर लुब्ध या प्रेमासक्त होते ही प्रेमी इस बात के लिए आतुर होने लगता है कि प्रिय को उसके प्रेम की सूचना मिल जाए। उसे इस बात की चिंता रहती है कि प्रिय को भी उससे प्रेम हो गया है, कम से कम उसके प्रेम का पता लग गया है, या नहीं—

वा निरमोहिनि रूप की रासि जऊ उर हेतु न ठानति ह्वैहै।
बारहिं बार बिलोकि घरी घरी सूरति तौ पहिचानति ह्वैहै।
ठाकुर या मन को परतीति है, जो पै सनेह न मानति ह्वैहै।
आवत हैं नित मेरे लिए इतनो तो विशेष कै जानति ह्वैहै॥

इस प्रवृत्ति के मूल में कई बातें दिखाई पड़ती हैं। पहली बात तो तुष्टि का विधान है। लोभी या प्रेमी सान्निध्य या संपर्क द्वारा तुष्ट होना चाहता है। वस्तु के सान्निध्य या संपर्क के लिए तो वस्तु की ओर से किसी प्रकार की स्वीकृति या प्रयत्न की अपेक्षा नहीं। पर किसी चेतन प्राणी से प्रेम करके कोई उसके सान्निध्य या संपर्क की आशा तब तक नहीं कर सकता जब तक वह उसमें भी सान्निध्य या संपर्क की इच्छा न उत्पन्न कर ले। दूसरी बात यह है कि प्रेम का पूर्ण विकास तभी होता है जब दो हृदय एक दूसरे की ओर क्रमशः खिंचते हुए मिल जाते हैं। इस अंतर्योग के बिना प्रेम की सफलता नहीं मानी जा सकती। अतः प्रिय को अपने प्रेम की सूचना देना उसके मन को अपने मन से मिलाने के लिए न्योता देना है।

अपने प्रेम की सूचना देने के उपरांत प्रेमी प्रिय के हृदय में अपनी ओर कुछ भावों की प्रतिष्ठा चाहता है। पहले कहा जा चुका है कि सहसा उत्पन्न लोभ या प्रीति का प्रथम संवेदनात्मक अवयव है 'अच्छा लगना'। वस्तु के संबंध में तो उसी वस्तु का अच्छा लगना काफी होता है। लोभियों को इस फेर में नहीं पड़ना पड़ता कि कोई वस्तु उन्हें अच्छी लग रही है उसे वे भी अच्छे लगें पर प्रेमी यह चाहने लगता है कि जिस प्रकार प्रिय मुझे अच्छा लगता है उसी प्रकार मैं भी प्रिय को अच्छा लगूँ। वह अपना सारा अच्छापन किसी न किसी बहाने उसके सामने रखना चाहता है। यह बराबर देखने में आता है कि जब कभी किसी नवयुवक का चित्त किसी युवती की ओर आकर्षित होता

है तब ऐसे स्थानों पर जाते समय जहाँ उसके दिखाई पड़ने की संभावना होती है, उसका ध्यान कपड़े लत्ते की सफाई और सजावट की ओर कुछ अधिक हो जाता है। सामने होने पर बातचीत और चेष्टा में भी एक खास ढब देखा जाता है। अवसर पड़ने पर चित्त की कोमलता, सुशीलता, वीरता, निपुणता इत्यादि का भी प्रदर्शन होता है। प्रेमी को जिस घड़ी यह पता चलता है कि प्रिय का चित्त भी उसकी ओर थोड़ा बहुत खिंचा है उसी घड़ी से वह लोभ की ऊपरी सतह से और गहरे में जाकर प्रेम के आनंद लोक में मग्न हो जाता है।

एक दूसरे की ओर आकर्षित दो हृदयों के योग से जीदन में एक नया रस उत्पन्न हो जाता है या दूनी सजीवता आ जाती है। आनंद की संभावना भी बहुत अधिक बढ़ जाती है और दुःख की भी। प्रिय के हृदय का आनंद प्रेमी के हृदय का आनंद हो जाता है। अतः एक ओर तो प्रिय के आनंद का मेल हो जाने से प्रेमी संसार की नाना वस्तुओं में कई गुने अधिक आनंद का अनुभव करने लगता है; दूसरी ओर प्रिय के अभाव में उन्हीं वस्तुओं में उसके लिए आनंद बहुत कम या कुछ भी नहीं रह जाता है। वियोग की दशा में तो वे वस्तुएँ उलटा दुःख देने लगती हैं। होते होते यहाँ तक होता है कि प्रेमी के लिए प्रिय के आनंद से अलग आनंद रह ही नहीं जाता। प्रिय के आनंद में ही वह अपना आनंद ढूँढ़ा करता है। दो हृदयों की यह अभिन्नता अखिल जीवन की एकता के अनुभव पथ का द्वार है, प्रेम का यह एक रहस्यपूर्ण महत्त्व है।

प्रेम का अभाव एकांत भी होता है और लोक जीवन के नाना क्षेत्रों में भी दिखाई पड़ता है। एकांत प्रभाव उस अंतर्मुख प्रेम में देखा जाता है जो प्रेमी को लोक के कर्म क्षेत्र से खींचकर केवल दो प्रणियों के एक छोटे से संसार में बंद कर देता है। उसका उठना बैठना, चलना फिरना, मरना जीना, सब उसी घेरे के भीतर होता है। वह उस घेरे के बाहर कोई प्रभाव उत्पन्न करने के उद्देश्य से कुछ भी नहीं करता। उसमें जो साहस, धीरता, दृढ़ता, कष्ट सहिष्णुता आदि दिखाई देती है वह प्रेम मार्ग के बीच प्रेमोन्माद के रूप में, लोक के बीच कर्त्तव्य के रूप में नहीं। सारांश यह कि इस प्रकार के प्रेम का क्षेत्र सामाजिक और पारिवारिक जीवन से विच्छिन्न होता है। उसमें प्रियपक्ष का प्रबल राग जीवन के अन्य सब पक्षों से पूर्ण विराग की प्रतिष्ठा कर देता है। फारसी के साहित्य में ऐसे ही ऐकांतिक और लोक वाह्य प्रेम की प्रधानता है। भारतीय साहित्य में गोपियों के प्रेम को प्रायः यही स्वरूप दिया गया है। भक्तिमार्ग में प्रायः यही ऐकांतिक और अनन्य प्रेम लिया गया है। क्योंकि यह एक ऐसा राग है जिसके प्रभाव से विराग की साधना आप से आप, बिना किसी मानसिक प्रयत्न के हो जाती है।

प्रेम का दूसरा स्वरूप वह है जो अपना मधुर और अनुरंजनकारी प्रकाश जीवन यात्रा के नाना पथों पर फेंकता है। प्रेमी जगत् के बीच अपने अस्तित्व की रमणीयता

का अनुभव आप भी करता है। और अपने प्रिय को भी कराना चाहता है। प्रेम के दिव्य प्रभाव से उसे अपने आसपास चारों ओर सौंदर्य की आभा फैली दिखाई पड़ती है, जिसके बीच वह बड़े उत्साह और प्रफुल्लता के साथ अपना कर्म सौंदर्य प्रदर्शित करता है। वह प्रिय को अपने समग्र जीवन का सौंदर्य जगत् के बीच दिखाना चाहता है। यह प्रवृत्ति इस बात का पूरा संकेत करती है कि मनुष्य की अंतःप्रवृत्ति में जाकर प्रेम का जो विकास हुआ है वह सृष्टि के बीच सौंदर्य विधान की प्रेरणा करनेवाले एक दिव्य शक्ति के रूप में हुआ है। मनुष्य का प्रेम सौंदर्य, वस्तु सौंदर्य, कर्म सौंदर्य, वाक् सौंदर्य, भाव सौंदर्य सब देखना और दिखाना चाहता है। वीरता के पुराने जमाने में युवक योद्धा यह समझकर कि गढ़ी की ऊँची अट्टालिका के गवाक्षों से हमारी प्रेयसी झाँकती होगी, किस सौंदर्य भावनापूर्ण उमंग के साथ रणक्षेत्र में उतरता था। कर्म का सबसे अधिक विकट क्षेत्र युद्ध है। इससे आर्य जाति के वीरकाल के काव्यों में शृंगार और वीर का अत्यंत मनोहर समन्वय पाया जाता है। जिस प्रकार योरपीय साहित्य में वीर धर्म का एक युग रहा है उसी प्रकार हमारे हिन्दी साहित्य में भी। उस काल की कविता का प्रसंग अधिकतर 'युद्ध और प्रेम' (love and war) ही पाया जाता है।

भारतीय प्रबंध काव्यों की मूल प्रवृत्ति लोक जीवन के संश्लिष्ट प्रेम के वर्णन की ओर ही रही। आदि कवि वाल्मीकि ने राम और सीता के प्रेम का विकास मिथिला या अयोध्या के महलों और बगीचों में न दिखाकर दंडकारण्य के विस्तृत कर्मक्षेत्र के बीच दिखाया है। उनका प्रेम जीवनयात्रा के मार्ग में माधुर्य फैलानेवाला है; उससे अलग किसी कोने में चौकड़ी या आहें भरानेवाला नहीं; उसके प्रभाव से वनचर्या में एक अद्भुत रमणीयता आ गई है। सारे कँटीले पथ प्रसूनमय हो गए हैं, संपूर्ण कर्मक्षेत्र एक मधुर ज्योति से जगमगा उठा है। कोमलांगी सीता अपने प्रिय पति की विशाल भुजाओं और कंधे के ऊपर निकली हुई धनुष की वक्रकोटि पर मुग्ध निविड़ और निर्जन काननों में निश्शंक विचर रही हैं। खर दूषण की राक्षसी सेना कोलाहल करती आ रही है। राम कुछ मुस्कराकर एक बार प्रेमभरी दृष्टि से सीता की ओर देखते हैं, फिर वीरदर्प से राक्षसों की ओर दृष्टि फेरकर अपना धनुष चढ़ाते हैं। उस वीरदर्प में कितनी उमंग, कितना उत्साह, कितना माधुर्य रहा होगा। सीताहरण होने पर राम का वियोग जो सामने आता है वह भी चारपाई पर करवटें बदलनेवाला नहीं है, समुद्र पार कराकर पृथ्वी का भार उतारनेवाला है।

उस ऐकांतिक प्रेम की अपेक्षा जो प्रेमी को एक घेरे में उसी प्रकार बंद कर देता है जिस प्रकार कोई मर्ज मरीज को एक कोठरी में डाल देता है, हम उस प्रेम का अधिक मान करते हैं जो संजीवन रस के रूप में प्रेमी के सारे जीवन पथ को रमणीय और सुंदर कर देता है, उसके सारे कर्मक्षेत्र को अपनी ज्योति से जगमगा देता है। जो प्रेम जीवन की नीरसता हटाकर उसमें सरलता ला दे, वह प्रेम धन्य है। जिस प्रेम का रंजनकारी प्रभाव विद्वान् की बुद्धि, कवि की प्रतिभा, चित्रकार की कला, उद्योगी की तत्परता, वीर के उत्साह तक बराबर फैली दिखाई दे उसे हम भगवान

का अनुग्रह समझते हैं। भगवद्भक्ति के लिए हम तो प्रेम की यही पद्धति समीचीन मानते हैं। जबकि प्रिय के संबंध से न जाने कितनी वस्तुएँ प्रिय हो जाती हैं। तब उस परम प्रिय के संबंध से सारा जगत् प्रिय हो सकता है। शुद्ध भक्तिमार्ग में जगत् से विरक्ति का स्थान हम ढूँढ़ते हैं और नहीं पाते हैं। भक्ति राग की वह दिव्य भूमि है जिसके भीतर सारा चराचर जगत् आ जाता है। जो भक्त इस जगत् को ब्रह्म की ही व्यक्त सत्ता या विभूति समझेगा, भगवान् के लोकपालक और लोकरंजक स्वरूप पर मुग्ध रहेगा, वह अपने स्नेह, अपनी दया, अपनी सहानुभूति को लोक में और फैलाएगा कि चारों ओर से खींच लेगा? हम तो जगत् के बीच हृदय के सम्यक् प्रसार में ही भक्ति का प्रकृत लक्षण देखते हैं क्योंकि राम की ओर ले जानेवाला रास्ता इसी संसार से होता हुआ गया है।

जब कोई रामभक्त पुत्र कलत्र, भाई बंधु का राग छोड़ने, कर्मपथ से मुँह मोड़ने और जगत् से नाता तोड़ने का उपदेश देता है तब मेरी समझ जवाब देने लगती है। मेरे देखने में तो वही रामभक्त सा लगता है जो अपने पुत्र कलत्र, भाई बहिन, माता पिता से स्नेह का व्यवहार करता है, रास्ते में चीटियाँ बचाता है, किसी प्राणी का दुःख देख आँसू बहाता हुआ रुक जाता है, किसी दीन पर निष्ठुर अत्याचार होते देख क्रोध से तिलमिलाता हुआ अत्याचारी का हाथ थामने के लिए कूद पड़ता है, बालकों की क्रीड़ा देख विनोद से पूर्ण हो जाता है, लहलहाती हुई हरियाली देख लहलहा उठता है और खिले हुए फूलों को देख खिल जाता है। जो यह सब देख 'मुझसे क्या प्रयोजन'? कहकर विरक्त या उदासीन रहेगा—क्रोध, करुणा, स्नेह, आनंद आदि को पास तक न फटकने देगा—उसे मैं ज्ञानी, ध्यानी, संयमी चाहे जो कहूँ भक्त कदापि न कह सकूँगा। 'राम का नाता' सारे संसार से नाता जोड़ता है, तोड़ता नहीं। लोकमंगल की प्रेरणा द्वारा भक्त अपने 'नेह का नाता' संसार से निभाता हुआ राम से जोड़ने का प्रयत्न करता है। इस संबंध निर्वाह में जो बाधक हो भक्त के लिए वे अवश्य त्याज्य हैं, चाहे वे अपने सुहृद और स्नेही परिजन ही क्यों न हों, क्योंकि—

नाते सबै राम के मनियत सुहृद्द सुसेव्य जहाँ लौं।

ऐकांतिक और लोकबद्ध प्रेम के इन दो स्वरूपों का परिचय हो चुका। अब हम प्रेमी और प्रिय, इन दो पक्षों की पारस्परिक स्थिति पर कुछ विचार करना चाहते हैं। प्रेम कहीं तो दोनों पक्षों में युगपद् होता है अर्थात् आरंभ ही से सम है, कहीं पहले एक में उत्पन्न होकर फिर दूसरे में होता है और कहीं एक ही में उत्पन्न होकर रह जाता है, दूसरे में होता ही नहीं अर्थात् विषम ही रह जाता है। पहले कहा जा चुका है कि किसी के प्रति प्रेम का प्रादुर्भाव होते ही प्रेमी उसे अपने प्रेम का परिचय देने के लिए आतुर होता है। यह आतुरता तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा के लिए होती है। जिसके बिना प्रेम सफल नहीं जान पड़ता। तुल्यानुराग के प्रयत्न की भी एक बँधी हुई पद्धति दिखाई पड़ती है।

दूसरों की ओर द्रवित करनेवाली हृदय की दो कोमल वृत्तियाँ हैं--करुणा और प्रेम। इसमें से प्रेम का पात्र होने के लिए भिन्न भिन्न प्रकार की विशिष्टता अपेक्षित होती है। इससे दूसरे के हृदय में प्रेम उत्पन्न कर सकने का निश्चय किसी को जल्दी नहीं हो सकता पर दया का पात्र होने के लिए केवल दुःख या पीड़ा का प्रदर्शन ही पर्याप्त होता है। दया का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है। दया मनुष्य मात्र का धर्म है और प्राणी मात्र उसके अधिकारी हैं। दया यह नहीं देखने जाती कि दुःखी या पीड़ित कौन और कैसा है? इसी से प्रेमी कभी तो यह चेष्टा करता दिखाई पड़ता है कि वह भी प्रिय को अच्छा लगे और कभी ऐसे उपायों का अवलंबन करता है जिससे प्रिय के हृदय में उसके ऊपर दया उत्पन्न हो। दया उत्पन्न करके वह प्रिय के अंतस में प्रेम की भूमिका बाँधना चाहता है। वह समझता है कि दया उत्पन्न होगी तो धीरे धीरे प्रेम भी उत्पन्न हो जाएगा। वह वियोग की अपनी दारुण वेदना प्रिय के कानों तब बराबर पहुँचाता रहता है।

यह न समझना चाहिए कि प्रिय के हृदय में दया उत्पन्न करने की यह चाह तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा के पूर्व तक ही रहती है। वह प्रेममार्ग की एक सामान्य प्रवृत्ति है जो प्रेमी के हृदय में सदा बनी रहती है। बात यह है कि जिस प्रकार दूसरे के हृदय में प्रेम उत्पन्न करने की जरूरत होती है उसी प्रकार बराबर बनाए रखने की भी। प्रेम की रखवाली करने के लिए प्रेमी प्रिय के हृदय में दया को बराबर जगाता रहता है। दया या करुणा का भाव जागृत रखने की इस प्रवृत्ति का प्रकर्ष फारसी या उर्दू की शायरी में विशेष रूप से पाया जाता है। वहाँ प्रेमी जीते जी यार के कूचे में अपनी कब्र बनवाते हैं, उस कूचे के कुत्तों के नाम अपनी हड्डियाँ वक्फ करते हैं और बार बार मरकर अपना हाल सुनाया करते हैं। मरण से बढ़कर करुणा का विषय और क्या हो सकता है? शत्रु तक का मरना सुनकर सहानुभूति के एक आध शब्द मुँह से निकल आते हैं। प्रिय के मुख से निकले हुए सहानुभूतिक शब्द सा प्रिय संसार में कोई शब्द नहीं हो सकता। 'बेचारा बहुत अच्छा था' प्रिय के मुँह से इस प्रकार के कुछ शब्दों की संभावना पर ही आशिक लोग अपने मर जाने की कल्पना बड़े आनंद से किया करते हैं। जब कि सहानुभूति के एक शब्द का इतना मोल है तब अश्रु का तो कोई मोल ही नहीं हो सकता, प्राण के बदले में भी वह सस्ता ही जँचेगा। यदि प्रेमी को यह निश्चय हो जाय कि मर जाने पर प्रिय की आँखों में आई हुई आँसू की बूँद वह देख सकेगा तो वह अपना शरीर छोड़ने के लिए तैयार हो सकता है।

यह कहा जा चुका है कि तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा हो जाने पर ही प्रेम को पूर्ण तुष्टि और सफलता प्राप्त होती है। हमारे साहित्य के पुराने आचार्यों ने एक पक्ष की प्रीति को रसाभास के अंतर्गत लिया है। जब तक तुल्यानुराग की संभावना रहती है या प्रिय पक्ष की विरक्ति और उदासीनता का प्रमाण सामने नहीं रहता तब

तक रस में त्रुटि नहीं मानी जाती। प्रेमी का तिरस्कार करता हुआ प्रिय जब अन्य में अनुरक्त पाया जाता है तब उसकी विरक्ति का पक्का प्रमाण सामने आ जाता है। ऐसी दशा में भी बने रहनेवाले प्रेम की चर्चा काव्यों में मिलती है। फारसी और उर्दू की शायरी में आशिकों की अक्सर यह शिकायत रहती है कि "माशूक गैरों से मिला करता है और हमारी ओर ताकता तक नहीं।" कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियों की शिकायत भी कुछ इस ढंग की हो गई थी।

रस और रसाभास की बात छोड़ हमें प्रेम के उस स्वरूप पर विचार करना है जिसमें प्रेमी तो प्रेम में विह्वल रहता है और प्रिय उसकी ओर ध्यान ही नहीं देता या बराबर उसका तिरस्कार करता जाता है। क्या ऐसा प्रेम कोई प्रेम ही नहीं है? यह नहीं कहा जा सकता। प्रेमी तो प्रेम कर चुका, उसका कोई प्रभाव प्रिय पर पड़े या न पड़े। उसके प्रेम में कोई कसर नहीं। प्रिय यदि उससे प्रेम करके उसकी आत्मा को तुष्ट नहीं करता तो इसमें उसका क्या दोष? तुष्टि का विधान न होने से प्रेम के स्वरूप की पूर्णता में कोई त्रुटि नहीं आ सकती। जहाँ तक ऐसे प्रेम के साथ तुष्टि की कामना या अतृप्ति का लोभ लगा दिखाई पड़ता है वहाँ तक तो उसका उत्कर्ष प्रकट नहीं होता; पर जहाँ आत्मतुष्टि की वासना विरत हो जाती है या पहले ही से नहीं रहती, वहाँ प्रेम का अत्यंत निखरा हुआ निर्मल और विशुद्ध रूप दिखाई पड़ता है। ऐसे प्रेम की अविचल प्रतिष्ठा उच्च भूमि पर होती है जहाँ सामान्य हृदयों की पहुँच नहीं हो सकती। इस उच्च भूमि पर पहुँचा हुआ प्रेमी प्रिय से कुछ भी नहीं चाहता है, केवल यही चाहता है—प्रिय से नहीं, ईश्वर से—कि हमारा प्रिय बना रहे और हमें ऐसा ही प्रिय रहे इसी उच्च दशा का अनुभव करती हुई सूर की गोपियाँ कहती हैं—

जहँ जहँ रहौ राज करौ तहँ तहँ लेहु कोटि सिर भार।
यह असीस हम देति सूर सुनु 'न्हात खसै जनि बार'॥

ऐसे प्रेमी के लिए प्रिय की तुष्टि या सुख से अलग अपनी कोई तुष्टि या सुख रह ही नहीं जाता। प्रिय का सुख संतोष ही उसका सुख संतोष हो जाता है। बंकिम बाबू की 'दुर्गेशनंदिनी' में आयशा का जगत् सिंह पर अनुराग इसी उच्च भूमि पर लाकर छोड़ा गया है। जिस दिन से उसे जगत् सिंह और तिलोत्तमा के प्रेम का पता चलता है उसी दिन से वह अपने प्रेम को भौतिक कामनाओं से मुक्त करने लगती है और अंत में तिलोत्तमा के साथ जगत सिंह का विवाह कराकर पूर्ण शांति के साथ प्रेम के विरुद्ध मानस लोक में प्रवेश करती है।

प्रेमी यदि अपने प्रेम का कोई प्रभाव प्रिय पर न देखे तो उसके सामने प्रेम की यही उच्च भूमि दिखाई पड़ती है। सान्निध्य या संपर्क की कामना के त्याग द्वारा वह प्रेम रक्षा और शांति लाभ कर सकता है। यदि उसमें यह क्षमता न होगी तो प्रतिवर्तन (Reaction) द्वारा घोर मानसिक विप्लव और पतन की आशंका रहेगी,

ईर्ष्या आदि बुरे भावों के संचार के लिए रास्ता खुल जाएगा। यहाँ तक कि समय समय पर क्रोध का दौरा और प्रेम का स्थान वैर ले लेगा।

प्रेम काव्यों में प्रायः रूप लोभ ही प्रेम का प्रवर्तक दिखाया जाता है। किसी के उत्कृष्ट रूप गुण पर कोई मुग्ध होता है और उसका प्रेमी बन जाता है। पर प्रेम का एक और कारण, जो रूप गुण से सर्वथा स्वतंत्र और उनकी अपेक्षा अधिक निश्चित प्रभाववाला होता है, साहचर्य है। देशप्रेम के अंतर्गत इसका उल्लेख हो चुका है। किसी अरब को उसकी रेगिस्तानी जन्मभूमि से ले जाकर कश्मीर के हरे भरे मैदान में रख दें तो भी वह अपने देश के वियोग में रोया करेगा। इसी प्रकार जिन मनुष्यों के बीच कोई बचपन से या बहुत दिनों से रहता चला जाता है, उनके प्रति हृदय में एक स्थायी प्रेम होता है। इस साहचर्यगत प्रेम में विशेषता यह होती है कि इसका वेग साहचर्य काल के कुछ अवसरों पर ही रह रहकर व्यक्त होता है, पर विच्छेद काल में बराबर उमड़ा रहता है। भाई बहिन, पिता पुत्र, इष्ट मित्र से लेकर चिर परिचित पशु पक्षी और वृक्ष तक का प्रेम इसी ढंग का होता है। रूप गुण की भावना से उत्पन्न प्रेम भी आगे चलकर कुछ दिनों में यह साहचर्यजन्य स्वरूप प्राप्त करता है। अतः प्रेम के स्वरूप का महत्त्व बराबर ध्यान में रहना चाहिए।

लोभ या प्रेम की सबसे बड़े विलक्षणता का उल्लेख करके अब हम यह निबंध समाप्त करते हैं। यही एक ऐसा भाव है जिसकी व्यंजना हँसकर भी की जाती है और रोकर भी; जिसके व्यंजक दीर्घ निःश्वास और अश्रु भी होते हैं तथा हर्षपुलक और उछलकूद भी। इसके विस्तृत शासन के भीतर आनंदात्मक और दुःखात्मक दोनों प्रकार के मनोविकार आ जाते हैं। साहित्य के आचार्यों ने इससे शृंगार के दो पक्ष कर दिए हैं—संयोग पक्ष और वियोग पक्ष। कोई और भाव ऐसा नहीं है जो आलंबन के रहने पर तो एक प्रकार की मनोवृत्तियाँ और चेष्टाएँ उत्पन्न करे और न रहने पर बिलकुल दूसरे प्रकार की। कुछ और भाव भी लोभ या प्रेम का सा स्थायित्व प्राप्त करते हैं, जैसे—क्रोध बहुत दिनों तक टिका रह जाने पर द्वेष या वैर का रूप धारण करता है और जुगुप्सा, घृणा या विरक्ति का—पर यह विशेषता और किसी में नहीं पाई जाती। मनुष्य की अंतर्वृत्तियों पर लोभ या प्रेम के शासन का यही दीर्घ विस्तार देखकर लोगों ने शृंगार को 'रसराज' कहा है।

(नागरीप्रचारिणी पत्रिका, फरवरी मार्च, 1919 ई., 'लोभ और प्रेम' शीर्षक से)
[चिन्तामणि, भाग-1 में लोभ और प्रीति शीर्षक से]

घृणा

सृष्टि विस्तार से अभ्यस्त होने पर प्राणियों को कुछ विषय रुचिकर और कुछ अरुचिकर प्रतीत होने लगते हैं। अरुचिकर विषयों के उपस्थित होने पर अपने ज्ञानपथ से उन्हें दूर रखने की प्रेरणा करनेवाला जो दुःख होता है उसे घृणा कहते हैं। सुबीते के लिए हम यहाँ घृणा के विषयों के दो विभाग करते हैं—स्थूल और मानसिक। स्थूल विषय आँख, कान और नाक इन्हीं तीन इंद्रियों से संबंध रखते हैं। हम चिपटी नाक और मोटे ओंठ से सुसज्जित चेहरे को देख दृष्टि फेरते हैं, खरस्वान खर्राट तान सुनकर कान में उँगली डालते हैं और म्युनिसिपैलिटी की मैला गाड़ी सामने आने पर नाक पर रूमाल रखते हैं। रस और स्पर्श अकेले घृणा नहीं उत्पन्न करते। रस का रुचिकर या अरुचिकर लगना तो कई अंशों में घ्राण से संबद्ध है। मानसिक विषयों की घृणा मन में कुछ अपनी ही क्रिया से आरोपित और कुछ शिक्षा द्वारा प्राप्त आदर्शों के प्रतिकूल विषयों की उपस्थिति से उत्पन्न होती है। भावों के मानसिक विषय स्थूल विषयों से सर्वथा स्वतंत्र होते हैं। निर्लज्जता की कथा कितनी ही सुरीली तान में सुनाई जाए, घृणा उत्पन्न ही करेगी। कैसा ही गंदा आदमी परोपकार करे उसे देख श्रद्धा उत्पन्न हुए बिना न रहेगी।

अरुचिकर और प्रतिकूल विषयों के उपस्थित काल में इंद्रियों या मन का व्यापार अच्छा नहीं लगता, इससे या तो प्राणी ऐसे विषयों को दूर करना चाहता है अथवा अपने इंद्रियों या मन के व्यापार को बंद करना। इसके अतिरिक्त वह और कुछ नहीं करना चाहता। क्रोध और घृणा में जो अंतर है वह यहाँ देखा जा सकता है। क्रोध का विषय पीड़ा या हानि पहुँचानेवाला होता है, इससे क्रोधी उसे नष्ट करने में प्रवृत्त होता है। घृणा का विषय इंद्रिय या मन के व्यापार में संकोच मात्र उत्पन्न करनेवाला होता है, इससे मनुष्य को उतना उग्र उद्वेग नहीं होता और वह घृणा के विषय की हानि करने में तुरंत बिना कुछ और विचार किए प्रवृत्त नहीं होता। हम अत्याचारी पर क्रोध और व्यभिचारी से घृणा करते हैं। क्रोध और घृणा के बीच एक अंतर और ध्यान देने योग्य है। घृणा का विषय हमें घृणा का दुःख पहुँचाने के विचार से हमारे सामने उपस्थित नहीं होता, पर क्रोध का चेतन विषय हमें आघात या पीड़ा पहुँचाने

के उद्देश्य से हमारे सामने उपस्थित होता है या समझा जाता है। न दुर्गंध ही इसलिए हमारी नाक में घुसती है कि हमें घिन लगे और न व्यभिचारी ही इसलिए व्यभिचार करता है कि हमें उसकी करतूत सुन उससे घृणा करने का दुःख उठाना पड़े। यदि घृणा का विषय जानबूझकर हमें घृणा का दुःख पहुँचाने के अभिप्राय से हमारे सामने उपस्थित हो तो हमारा ध्यान उस घृणा के विषय से हटकर उसकी उपस्थिति के कारण की ओर हो जाता है और हम क्रोध साधन में तत्पर हो जाते हैं। यदि आपको किसी के पीले दाँत देख घिन लगेगी तो आप अपना मुँह दूसरी ओर फेर लेंगे, उसके दाँत नहीं तोड़ने जाएँगे। पर यदि जिधर जिधर आप मुँह फेरते हैं उधर उधर वह भी आकर खड़ा हो तो आश्चर्य नहीं कि वह थप्पड़ खा जाए। यदि होली में कोई गंदी गालियाँ बकता चला जाता है तो घृणा मात्र लगने पर आप उसे मारने न जाएँगे; उससे दूर हटेंगे, पर यदि जहाँ जहाँ आप जाते हैं वहाँ वहाँ वह भी आपके साथ साथ अश्लील बकता जाता है तो आप उस पर पिल पड़ेंगे।

घृणा और पीड़ा के स्वरूप में जो अंतर है वह स्पष्ट है। वज्रपात के शब्द का अनुभव भद्दे गले के आलाप के अनुभव से भिन्न है। आँख में किरकिरी पड़ना और बात है, सड़ी बिल्ली सामने आना और बात। यदि कोई स्त्री आपसे मीठे शब्दों में कलुषित प्रस्ताव करे तो उसके प्रति आपको घृणा होगी, पर वही स्त्री यदि आपको छड़ी लेकर मारने आए तो आप उस पर क्रोध करेंगे। घृणा का भाव शांत है उसमें क्रियोत्पादिनी शक्ति नहीं है। घृणा निवृत्ति का मार्ग दिखलाती है और क्रोध प्रवृत्ति का। हम किसी से घृणा करेंगे तो बहुत करेंगे उसकी राह बचाएँगे, उससे बोलेंगे नहीं, पर यदि किसी पर क्रोध करेंगे तो ढूँढ़कर उससे मिलेंगे और उसे और नहीं तो दस पाँच ऊँची नीची सुनाएँगे। घृणा विषय से दूर ले जानेवाली है और क्रोध हानि पहुँचाने की प्रवृत्ति उत्पन्न कर विषय के पास ले जानेवाला। कहीं कहीं घृणा क्रोध का शांत रूपांतर मात्र प्रतीत होता है। साधारण लोग जिन बातों पर क्रोध करते देखे जाते हैं, साधु लोग उनसे घृणामात्र करके; और यदि साधुता ने बहुत जोर किया तो उदासीन होकर, रह जाते हैं। दुर्जनों की गाली सुनकर साधारण लोग क्रोध करते हैं पर साधु लोग उपेक्षा ही करके संतोष कर लेते हैं, जो क्रोध एक बार उत्पन्न होकर सामान्य लोगों में वैर के रूप में टिक जाता है वही क्रोध साधु में घृणा के रूप में टिकता है। दोनों के जो भिन्न भिन्न परिणाम हैं वे प्रत्यक्ष है। यदि जिस पर एक बार क्रोध उत्पन्न हुआ उसका व्यवहार आकस्मिक है तो वैर कर बैठना और बराबर अग्रसर होनेवाला है तो घृणा मात्र करना निष्फल होता है।

आजकल की बनावटी सभ्यता या शिष्टता में 'घृणा' शब्द वैर या क्रोध को छिपाने का भी काम दे जाता है। यदि हमें किसी से वैर है तो हम दस पाँच सभ्यों के बीच बैठकर कहते हैं कि हमें उससे घृणा है। इस बात में हमारी चालाकी प्रत्यक्ष है। वैर का आधार व्यक्तिगत होता है, घृणा का सार्वजनिक। वैर के नाम पर यह

समझा जाता है कि कहीं दो या अधिक मनुष्यों के लक्ष्य का परस्पर विरोध हुआ है, पर घृणा का नाम सुनकर अधिकतर यही अनुमान होता है कि समाज के लक्ष्य या आदर्श का विरोध हुआ है। वैर करना एक छोटी बात समझी जाती है। अतः वैर के स्थान पर घृणा का नाम लेने से बदला बचाव दोनों हो जाते हैं।

घृणा के स्थूल विषय प्रायः सब मनुष्यों के लिए समान होते हैं। सुगंध और दुर्गंध, सौंदर्य और भद्दापन इत्यादि के विषय में अधिकांश एकमत रहता है। यह दूसरी बात है कि एक प्रकार की सुगंध की अपेक्षा दूसरे प्रकार की सुगंध किसी को अधिक अच्छी लगे, पर गुलाब की गंध को कोई दुर्गंध नहीं कहेगा। घृणा और श्रद्धा के मानसिक विषय भी सभ्य जातियों के बीच प्रायः सब हृदयों में समान और निर्दिष्ट होते हैं। वेश्यागमन, जुआ, मद्यपान, स्वार्थपरता, कायरता, आलस्य, लंपटता, पाषंड, अनधिकार चर्चा, मिथ्याभिमान आदि विषय उपस्थित होने पर प्रायः सब मनुष्य घृणा करने के लिए विवश हैं। इसी प्रकार स्वार्थत्याग, परोपकार, इंद्रिय संयम आदि पर श्रद्धा होना एक प्रकार से स्वाभाविक सा हो गया है। मतभेद वहाँ देखा जाता है जहाँ और विषयों को पाकर लोग अनुबंध द्वारा घृणा के इन प्रतिष्ठित मूल विषयों तक पहुँचते हैं। यदि एक ही व्यापार से एक आदमी को घृणा मालूम हो रही है और दूसरे को नहीं तो यह समझना चाहिए कि पहला उस व्यापार के आगे पीछे चारों ओर जिन रूपों की उद्भावना करता है, दूसरा नहीं।

दल बल सहित भरत को वन में आते देख निषाद को उनके प्रति घृणा उत्पन्न हो रही है और राम को नहीं, क्योंकि निषादराज भरत के आगमन में असहाय राम को मार निष्कंटक राज करने की उद्भावना करता है और राम नहीं। इस प्रकार के भेद का कारण मनुष्य के अनुबंध ज्ञान की उलटी गति है। अनुबंध ज्ञान का क्रम या तो प्रस्तुत विषय पर से उसे संघटित करनेवाले कारणों की ओर ले चलता है या परिणामों की ओर। किसी प्रस्तुत विषय को पाकर हर एक आदमी अनुबंध द्वारा उससे वास्तविक संबंध रखनेवाले समान विषयों तक नहीं पहुँच सकता। एक बात को देखकर हर एक आदमी उसका एक ही या समान कारण या परिणाम नहीं बतलाएगा। किसी रियासत के नौकर ने अपने एक मित्र से कहा कि 'तुम कभी भूलकर भी इस रियासत में नौकरी न करना'। इस कथन में एक आदमी को तो हितकामना की झलक दिखाई पड़ रही है और दूसरे को ईर्ष्या की। इससे एक उसपर श्रद्धा करता है और दूसरा घृणा। जहाँ घृणा के मूल विषय प्रत्यक्ष रूप में सीधे हमारे सामने आते हैं वहाँ कोई मतभेद नहीं दिखाई देता है। पर कभी कभी स्वयं ये विषय हमारे सामने नहीं आते। इनके अनुमित लक्षण हमारे सामने रहते हैं जो और और विषयों के लक्षण हो सकते हैं। घृणा संबंधी इस प्रकार का मतभेद सभ्य जातियों में, जिनमें उद्देश्यों के छिपाने की चाल बहुत है, अधिक देखा जाता है। एक ही

आदमी को कोई परम धार्मिक नेता समझता है, कोई पूरा मक्कार। एक ही राजकीय कार्रवाई को कोई व्यापार स्वातंत्र्य का प्रयत्न समझता है, कोई राज्य का लोभ।

मूसाई और ईसाई लोग देवपूजकों से इसलिए घृणा नहीं करते कि वे छोटी वस्तुओं पर श्रद्धा भक्ति करते हैं, बल्कि यह समझकर कि वे उनके जमीन और आसमान बनानेवाले खुदा से दुश्मनी किए बैठे हैं। अपने बनाने और पालनेवाले से वैर ठानना कृतघ्नता है। अतः उनकी घृणा आरोपित कृतघ्नता के प्रति है, देवपूजा की प्रति नहीं। संसार द्वारा ऐसे आरोपों पर यहाँ तक विश्वास बढ़ा कि अरब और यहूद की धर्म पुस्तकों में मूर्तिपूजन या देवाराधन महापातक ठहराया गया। अँगरेज कवि मिल्टन ने प्राचीन जातियों के देवताओं को शैतान की फौज का सरदार बनाकर बड़ी ही संकीर्णता और कट्टरता का परिचय दिया है। सीधेसादे गोस्वामी तुलसीदास जी से भी बिना यह कहे न रहा गया—

जो परिहर हरि हर चरन भजहिं भूतगन घोर।
तिनकी गति मोहिं देहु विधि जो जननी मत मोर॥

भिन्न भिन्न मतवालों में जो परस्पर घृणा देखी जाती है वह अधिकतर ऐसे ही आरोपों के कारण। एक के आचार विचार से जब दूसरा घृणा करता है तब उसकी दृष्टि यथार्थ में उस आचार विचार पर नहीं रहती है, बल्कि ऊपर लिखे घृणा के सामान्य मूलाधारों में से किसी पर रहती है।

घृणा के विषय में मतभेद का एक और कारण ग्राह्य और अग्राह्य होने के लिए विषय मात्र की अनियति है। सृष्टि में बहुत सी वस्तुओं के बीच की सीमाएँ अस्थिर हैं। एक ही वस्तु, व्यापार या गुण किसी मात्रा में श्रद्धा का विषय होता है, किसी मात्रा में अश्रद्धा का। इसके अतिरिक्त शिक्षा और संस्कार के कारण एक ही मात्रा का प्रभाव प्रत्येक हृदय पर एक ही प्रकार का नहीं पड़ता। यह नहीं है कि एक बात एक आदमी को जहाँ तक अच्छी लगती है वहाँ तक दूसरे को भी अच्छी लगे। मन में प्रतिकूल बातें रखकर मुँह पर अनुकूल बातें कहनेवाले को एक आदमी शिष्ट और दूसरा कुटिल कहता है। उपचार या मुँह पर प्रसन्न करनेवाली बात कहने को जहाँ तक एक आदमी शिष्टता समझता चला जाता है, दूसरा वहाँ से कुटिलता का आरंभ मान लेता है। दो चार बार किसी आदमी को थोड़ी थोड़ी बात पर रोते या कोप करते देखकर एक तो उसको दुर्बल चित्त और उद्वेगशील समझता है और दूसरा उसी को थोड़ी थोड़ी बात पर विलाप करते और आपे के बाहर होते दस बार देखकर भी उसे सहृदय कहता है। रसिक लोग शुष्क हृदय लोगों से घृणा करते हैं और शुष्क हृदय लोग रसिकों से। यदि ये दोनों मिलकर एक दिन शुष्कता और रसिकता की सीमा तय कर डालें तो झगड़ा मिट जाए। शुष्क हृदय लोग नाप तोलकर यह बतला दें कि यहाँ तक की रसिकता शोहदापन या विषयासक्त नहीं है और रसिक लोग यह बतला दें कि यहाँ तक की शुष्कता कठोर हृदयता नहीं है,

बस झगड़ा साफ। पर यह हो नहीं सकता। दृढ़ता और हठ, धीरता और आलस्य, सहनशीलता और भीरुता, उदारता और फिजूलखर्ची, किफायत और कंजूसी आदि के बीच की सीमाएँ सब मनुष्यों के हृदय में न एक हैं और न एक होंगी।

मनोविकार दो प्रकार के होते हैं—प्रेष्य और अप्रेष्य। प्रेष्य वे हैं जो एक के हृदय में पहले के प्रति उत्पन्न होकर दूसरे के हृदय में भी पहले के प्रति उत्पन्न हो सकते हैं, जैसे—क्रोध, घृणा, प्रेम इत्यादि। हम जिस पर क्रोध करेंगे वह (हमारे क्रोध के कारण) हम पर भी क्रोध कर सकता है। जिससे हम प्रेम करेंगे वह हमारे प्रेम को देख हमसे भी प्रेम कर सकता है। अप्रेष्य मनोविकार जिसके प्रति उत्पन्न होते हैं उसके हृदय में यदि करेंगे तो सदा दूसरे भावों की सृष्टि करेंगे। उसके अंतर्गत भय, दया, ईर्ष्या आदि हैं। जिससे हम भय करेंगे वह हमसे हमारे भय के प्रभाव से भय नहीं करेगा बल्कि हम पर दया करेगा। जिस पर हम दया करेंगे, वह हमारी दया के कारण हम पर दया नहीं करेगा बल्कि श्रद्धा करेगा। जिससे हम ईर्ष्या करेंगे वह हमारी ईर्ष्या को देख हमसे ईर्ष्या नहीं करेगा बल्कि घृणा करेगा।

प्रेष्य मनोवेग सजातीय संयोग पाकर बहुत जल्दी बढ़ते हैं। एक के क्रोध को देख दूसरा क्रोध करेगा, दूसरे का क्रोध बढ़ते देख पहले को क्रोध बढ़ेगा, पहले का क्रोध बढ़ते देख दूसरे का क्रोध और बढ़ेगा, इस प्रकार एक अत्यंत भीषण क्रोध का दृश्य उपस्थित हो सकता है। इसी प्रकार एक के प्रेम को देख दूसरे को प्रेम हो सकता है, दूसरे के प्रेम को देख पहले का प्रेम बढ़ सकता है, पहले के प्रेम को बढ़ते देख दूसरे का प्रेम और बढ़ सकता है और अंत में रात रात भर करवटें बदलते रहने की नौबत आ सकती है। अतः प्रेष्य मनोवेगों से बहुत सावधान रहना चाहिए। अप्रेष्य मनोवेगों का ऐसे विजातीय मनोवेगों से संयोग होता है जिनसे उनकी वृद्धि नहीं हो सकती। जिससे हम भय करेंगे वह हम पर दया करेगा। उसकी दया को देख हमारा भय बढ़ेगा नहीं। हमें जिससे भय प्राप्त हुआ है उसमें फिर क्रोध को देख हमारा भय बढ़ सकता है; पर हमारे भय के कारण उसमें नया क्रोध उत्पन्न ही नहीं होगा। अपने ऊपर किसी को दया करते देख हम उसपर श्रद्धा प्रकट करेंगे। हमारी श्रद्धा से उसकी दया तत्क्षण बढ़ेगी नहीं। श्रद्धा पर दया नहीं होती है, दया होती है क्लेश पर। श्रद्धा पर जो वस्तु हो सकती है वह कृपा है। जिस पर हमें दया उत्पन्न हुई है उसको क्लेशित या भयभीत देखकर हमारी दया बढ़ सकती है। पर हमें दया करते देख (उस दया के कारण) उसका क्लेश या भय बढ़ेगा नहीं। किसी को अपने प्रति ईर्ष्या करते देखकर हम उससे घृणा प्रकट करेंगे। हमारी घृणा उसमें नई ईर्ष्या उत्पन्न कर उसकी ईर्ष्या बढ़ाएगी नहीं। घृणा पर ईर्ष्या नहीं होती है, ईर्ष्या होती है किसी की उन्नति या बढ़ती देखकर। प्रतिकार के रूप में जो अहित कामना उत्पन्न होती है वह ईर्ष्या नहीं है। घृणा के बदले में तो घृणा, क्रोध या वैर होता है।

यह जानकर कि घृणा प्रेष्य मनोविकारों में से है, लोगों को बहुत समझ बूझकर उसे स्थान देना और प्रकट करना चाहिए। ऊपर कहा जा चुका है कि घृणा निवृत्ति के मार्ग को दिखलाती है अर्थात् अपने विषयों से दूर रखने की प्रेरणा करती है। अतः यदि हमारी घृणा अज्ञानवश ऐसी वस्तुओं से है जिनसे हमें लाभ पहुँच सकता है तो उनके अभाव का कष्ट हमें भोगना पड़ेगा। शारीरिक बल और शिक्षा आदि से जिन्हें घृणा है वे उनके लाभों से वंचित रहेंगे। किसी बुद्धिमान मनुष्य से जो मन में घृणा रखेगा वह उसके सत्संग के लाभ से हाथ धोएगा।

उपयुक्त घृणा को भी यदि वह शुद्ध है, तो प्रकट करने की आवश्यकता नहीं होती। घृणा का उद्देश्य जिसके हृदय में वह उत्पन्न होती है उसी की क्रियाओं को निर्धारित करना है, जिसके प्रति उत्पन्न होती है उसपर किसी तरह का प्रभाव डालना नहीं। अतः उपयुक्त घृणा को भी उसके पात्र पर यत्नपूर्वक प्रकट करने की आवश्यकता नहीं है। यदि हमें किसी आदमी से खालिस घृणा मात्र है तो हम उससे दूर रहेंगे; हमें इसकी जरूरत न होगी कि हम उसके पास जाकर कहें कि 'हमें तुमसे घृणा है'। जब क्रोध, करुणा या हित कामना आदि का कुछ मेल रहेगा तभी हम अपनी घृणा प्रकट करने को आकुल होंगे। हमें जिस पर क्रोध मिश्रित घृणा होगी उसी के सामने हम अपनी घृणा प्रकट करके उसे दुःख पहुँचाना चाहेंगे क्योंकि दुःख पहुँचाने की प्रवृत्ति क्रोध की है, घृणा की नहीं। इसी प्रकार जिसके कार्यों से हमें घृणा उत्पन्न होगी यदि उसपर कुछ दया या उसके हित की कुछ चिंता होगी तभी हम उसे उन कार्यों से विरत करने के अभिप्राय से उसपर अप्नी घृणा प्रकट करने जाएँगे। पर इन दोनों अवस्थाओं में यह भी हो सकता है कि जिस पर हम घृणा प्रकट करें वह हमसे बुरा न मान जाए।

मनोविकारों को उत्पन्न होने देने और न उत्पन्न होने देने की इच्छा को मनोविकारों से स्वतंत्र समझना चाहिए। किसी वस्तु से घृणा उत्पन्न होना एक बात है और घृणा के दुःख को न उत्पन्न होने देने के लिए उस वस्तु को दूर करने या उससे दूर होने की इच्छा दूसरी बात। हम घृणा के दुःख का अनुभव या अनुभव की आशंका कर चुके तब उससे बचने को आकुल हुए। ऐसी आकुलता को हम 'घृणा लगने का भय' कह सकते हैं। एक पूछता है, ''क्यों भाई! तुम उसके सामने क्यों नहीं जाते?'' दूसरा कहता है, ''उसका चेहरा देखकर और उसकी बात सुनकर हमें क्रोध लगता है।'' इस प्रकार की अनिच्छा को हम ''क्रोध की अनिच्छा'' कह सकते हैं। किसी वस्तु का अच्छा लगना एक बात है और उस अच्छा लगने के सुख को उत्पन्न करने के लिए उस वस्तु की प्राप्ति की इच्छा दूसरी बात।

घृणा और भय की प्रवृत्ति एक सी है। दोनों अपने अपने विषयों से दूर होने की प्रेरणा करते हैं। परंतु भय का विषय भावी हानि का अत्यंत निश्चय करानेवाला होता है और घृणा का विषय उसी क्षण इंद्रिय या मन के व्यापारों में संकोच उत्पन्न

करनेवाला। घृणा के विषय से यह समझा जाता है कि जिस प्रकार का दुःख यह दे रहा है उसी प्रकार का देता जाएगा पर भय के विषय से यह समझा जाता है कि अभी और उसी प्रकार का अधिक तीव्र दुःख देगा। भय क्लेश नहीं है, क्लेश की छाया है, पर ऐसी छाया है जो हमारे चारों ओर अंधकार फैला सकती है। सारांश यह है कि भय एक अतिरिक्त क्लेश है। यदि जिस बात का हमें भय था वह हम पर आ पड़ी तो हमें दोहरा क्लेश पहुँचा। इसी से आनेवाली अनिवार्य आपदाओं के पूर्वज्ञान की हमें उतनी आवश्यकता नहीं, क्योंकि उनसे भय करके हम अपने को बचा तो सकते नहीं, उनसे पहले के दिनों के सुख को भी खो अलबत सकते हैं।

सभ्यता या शिष्टता के व्यवहार में 'घृणा' उदासीनता के नाम से छिपाई जाती है। दोनों में जो अंतर है वह प्रत्यक्ष है। जिस बात से हमें घृणा है, हम चाहते क्या आकुल रहते हैं कि वह बात न हो, पर जिस बात से हम उदासीन हैं उसके विषय में हमें परवा नहीं रहती; वह चाहे हो, चाहे न हो। यदि कोई काम किसी की रुचि के विरुद्ध होता है तो वह कहता है, ''ऊँह! हमसे क्या मतलब, जो चाहे सो हो।'' वह सरासर झूठ बोलता है, पर इतना झूठ समाज स्थिति के लिए आवश्यक है।

[चिन्तामणि, भाग-1]

ईर्ष्या

जैसे दूसरे के दुःख को देख दुःख होता है वैसे ही दूसरे के सुख या भलाई को देखकर भी एक प्रकार का दुःख होता है, जिसे ईर्ष्या कहते हैं। ईर्ष्या की उत्पत्ति कई भावों के संयोग से होती है, इससे इसका प्रादुर्भाव बच्चों में कुछ देर में देखा जाता है और पशुओं में तो शायद होता ही न हो। ईर्ष्या एक संकर भाव है जिसकी संप्राप्ति आलस्य, अभिमान और नैराश्य के योग से होती है। जब दो बच्चे किसी खिलौने के लिए झगड़ते हैं तब कभी कभी ऐसा देखा जाता है कि एक उस खिलौने को लेकर फोड़ देता है जिससे वह किसी के काम में नहीं आता। इससे अनुमान हो सकता है कि उस लड़के के मन में यही रहता है कि चाहे वह खिलौना मुझे मिले या न मिले, दूसरे के काम में न आए अर्थात् उसकी स्थिति मुझसे अच्छी न रहे। ईर्ष्या पहले पहल इसी रूप में व्यक्त होती है।

ईर्ष्या प्राप्ति की उत्तेजित इच्छा नहीं है। एक के पास कोई वस्तु है और दूसरे के पास नहीं है तो वह दूसरा व्यक्ति इस बात के लिए तीन प्रकार से दुःख प्रकट कर सकता है–

1. क्या कहें, हमारे पास भी वह वस्तु होती।
2. हाय! वह वस्तु उसके पास न होकर हमारे पास होती तो अच्छा था।
3. वह वस्तु किसी प्रकार उसके हाथ से निकल जाती, चाहे जहाँ जाती।

इन तीनों वाक्यों को ध्यानपूर्वक देखने से जान पड़ेगा कि इनमें दूसरे व्यक्ति की ओर जो लक्ष्य है उसे क्रमशः विशेषत्व प्राप्त होता गया है और वस्तु की ओर जो लक्ष्य है वह कम होता गया है। पहले वाक्य से जो भाव झलकता है वह ईर्ष्या नहीं है, साधारण स्पर्द्धा अर्थात् लाभ की उत्तेजित इच्छा का एक अच्छा रूप है। उसमें वस्तु की ओर लक्ष्य है, व्यक्ति की ओर नहीं। ईर्ष्या व्यक्तिगत होती है और स्पर्द्धा वस्तुगत। दूसरे वाक्य में ईर्ष्या का कुछ और तीसरे में पूरा आभास है। इन दोनों में से एक (दूसरे) में दूसरे को वंचित न कर सकने का दुःख गौण और दूसरे (तीसरे) में प्रधान या एकांत है।

स्पर्द्धा में किसी सुख, ऐश्वर्य, गुण या मान से किसी व्यक्ति विशेष को सम्पन्न देख अपनी त्रुटि पर दुःख होता है, फिर प्राप्ति की एक प्रकार की उद्वेगपूर्ण इच्छा उत्पन्न होती है, या यदि इच्छा पहले से होती है तो उस इच्छा को उत्तेजना मिलती है। इस प्रकार की वेगपूर्ण इच्छा या इच्छा की उत्तेजना अंतःकरण की उन प्रेरणाओं में से है जो मनुष्य को अपने उन्नति साधन में तत्पर करती है। इसे कोई संसार को सच्चा समझनेवाला बुरा नहीं कह सकता। यह उत्तेजना ऐश्वर्य गुण या मान के किसी चित्ताकर्षक रूप या प्रभाव के साक्षात्कार से उत्पन्न होती है और कभी कभी उस ऐश्वर्य, गुण या मान को धारण करनेवाले की पूर्व स्थिति के परिज्ञान से बहुत बढ़ जाती है। किसी अपने पड़ोसी या मित्र की विद्या का चमत्कार या आदर देख विद्या प्राप्ति की इच्छा उत्तेजित होती है और यह जानकर कि पहले वह एक बहुत साधारण बुद्धि या वित्त का मनुष्य था, यह उत्तेजना आशाप्रेरित होकर और भी बढ़ जाती है। प्राप्ति की इस उत्तेजित इच्छा के लिए सम्पन्न व्यक्ति ऐसा मूर्तिमान और प्रत्यक्ष आधार हो जाता है जिससे अपनी उन्नति या सम्पन्नता की भी आशा बँधती है और कार्यक्रम की शिक्षा मिलती है। किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छावाले को किसी ऐसे व्यक्ति को देख, जिसने अपने पुरुषार्थ से वह वस्तु प्राप्त की हो, कभी कभी बड़ा सहारा हो जाता है और वह सोचता है कि 'जब उस मनुष्य ने उस वस्तु को प्राप्त कर लिया तब क्या मैं भी नहीं कर सकता?' ऐसे सम्पन्न व्यक्ति की ओर जो इच्छुक या स्पर्द्धावान का बार बार ध्यान जाता है वह उसकी स्थिति में किसी प्रकार का परिवर्तन करने के लिए नहीं, बल्कि अपनी स्थिति में परिवर्तन करने के लिए। स्पर्द्धा में अपनी कमी या त्रुटि पर दुःख होता है, दूसरे की सम्पन्नता पर नहीं। स्पर्द्धा में दुःख का विषय होता है, "मैंने उन्नति क्यों नहीं की?" और ईर्ष्या में दुःख का विषय होता है, "उसने उन्नति क्यों की?" स्पर्द्धा संसार में गुणी, प्रतिष्ठित और सुखी लोगों की संख्या में कुछ बढ़ती करना चाहती है और ईर्ष्या कम।

ऊपर के विवरण से यह बात झलक गई होगी कि ईर्ष्या एक अनावश्यक विकार है, इससे उसकी गणना मूल मनोविकारों में नहीं हो सकती। यह यथार्थ में कई भावों के विचित्र मिश्रण से संघटित एक विष है। जब किसी विषय में अपनी स्थिति को रक्षित रख सकने या समुन्नत कर सकने के निश्चय में अयोग्यता या आलस्य आदि के कारण कुछ कसर रहती है तभी इस इच्छा का उदय होता है कि किसी व्यक्ति विशेष की स्थिति उस विषय में हमारे तुल्य या हमसे बढ़कर न होने पाए। यही इच्छा बढ़कर द्वेष में परिवर्तित हो जाती है और तब उस दूसरे व्यक्ति का अनिष्ट, न केवल उस विषय में बल्कि प्रत्येक विषय में वांछित हो जाता है। वैर और द्वेष में अंतर यह है कि वैर अपनी किसी वास्तविक हानि के प्रतिकार में होता है, पर द्वेष अपनी किसी हानि के कारण या लाभ की आशा से नहीं किया जाता।

यह बात ध्यान देने की है कि ईर्ष्या व्यक्ति विशेष से होती है। यह नहीं होता

कि जिस किसी को ऐश्वर्य, गुण या मान से सम्पन्न देखा उसी से ईर्ष्या हो गई। ईर्ष्या उन्हीं से होती है जिनके विषय में यह धारणा होती है कि लोगों की दृष्टि हमारे साथ साथ उन पर भी अवश्य पड़ती होगी। अपने से दूरस्थ होने के कारण अपने साथ साथ जिन पर लोगों का ध्यान जाने का निश्चय नहीं होता उनके प्रति ईर्ष्या नहीं उत्पन्न होती। काशी में रहनेवाली किसी धनी को अमेरिका के किसी धनी की बात सुनकर ईर्ष्या नहीं होगी। हिन्दी के किसी कवि को इटली के किसी कवि का महत्त्व सुनकर ईर्ष्या नहीं होगी। संबंधियों, बालसखाओं, सहपाठियों और पड़ोसियों के बीच ईर्ष्या का विकास अधिक देखा जाता है। लड़कपन से जो आदमी एक साथ उठते बैठते देखे गए हैं उन्हीं में से कोई एक दूसरे की बढ़ती से जलता हुआ भी पाया गया है। यदि दो साथियों में से कोई किसी अच्छे पद पर पहुँच गया तो वह इस उद्योग में देखा जाता है कि दूसरे किसी अच्छे पद पर न पहुँचने पाए। प्रायः अपनी उन्नति के गुप्त बाधकों का पता लगाते लगाते लोग अपने किसी बड़े पुराने मित्र तक पहुँच जाते हैं। जिस समय संसर्ग सूत्र में बाँधकर हम औरों को अपने साथ एक पंक्ति में खड़ा करते हैं उस समय सहानुभूति, सहायता आदि की संभावना प्रतिष्ठित होने के साथ ही साथ ईर्ष्या और द्वेष की संभावना की नींव भी पड़ जाती है। अपने किसी विधान से हम भलाई ही भलाई की संभावना का सूत्रपात करें और इस प्रकार भविष्य के अनिश्चय में बाधा डालें, यह कभी हो ही नहीं सकता। भविष्य की अनिश्चयात्मकता अटल और अजेय है। अपनी लाख विद्या बुद्धि से भी हम उसे बिलकुल हटा नहीं सकते।

अब ध्यान देने की बात यह निकली कि ईर्ष्या के संचार के लिए ईर्ष्या करनेवाले और ईर्ष्या के पात्र के अतिरिक्त स्थिति पर ध्यान देनेवाले समाज की भी आवश्यकता है। इसी समाज की धारणा पर प्रभाव डालने के लिए ही ईर्ष्या की जाती है; ऐश्वर्य गुण या मान का गुप्त रूप से बिना किसी समुदाय को विदित कराए, सुख या संतोष भोगने के लिए नहीं। ऐश्वर्य या गुण में हम चाहे किसी व्यक्ति से वस्तुतः बढ़कर या उसके तुल्य न हों, पर यदि समाज की यह धारणा है कि हम उससे बढ़कर या उसके तुल्य हैं तो हम संतुष्ट रहेंगे, ईर्ष्या का घोर कष्ट न उठाने जाएँगे। कैसी अनोखी बात है कि वस्तु प्राप्ति से वंचित रहकर भी हम समाज की धारणा मात्र से संतुष्ट रहते हैं। ईर्ष्या सामाजिक जीवन की कृत्रिमता से उत्पन्न एक विष है। इसके प्रभाव से हम दूसरे की बढ़ती से अपनी कोई वास्तविक हानि न देखकर भी व्यर्थ दुःखी होते हैं। समाज के संघर्ष से जो अवास्तविकता उत्पन्न होती है वह हम पर प्रभाव डालने में वास्तविकता से कम नहीं। वह हमें सुखी भी कर सकती है, दुःखी भी। फारसी मसल है, "मार्गे अंबोह जशने दारद"। हम किसी कष्ट में हैं, इसी बीच में कोई दूसरा व्यक्ति हमसे अपना भी कष्ट वर्णन करने लगता है तो हमारे मुँह पर कुछ हँसी आ जाती है और हम कुछ आनंदित होकर कहते हैं, "भाई! हम भी तो

इसी बला में गिरफ्तार हैं।" यदि दस पाँच आदमी वही कष्ट बतानेवाले मिलें तो हमारी हँसी कुछ बढ़ भी जाती है। एक बार किसी ने अपने संबंधी के मरने पर एक विद्वान् से पूछा, "हम धैर्य कैसे धारण करें?" उसने कहा, "थोड़ी देर के लिए सोचो कि इसी संसार में लाखों अनाथ इधर उधर ठोकर खा रहे हैं, लाखों बच्चे बिना माँ बाप के रो रहे हैं, लाखों विधवाएँ आँसू बहा रही हैं। यदि हमें कोई कष्ट है तो क्या दूसरों को भी उसी कष्ट में देखकर थोड़ी देर के लिए हमारा वह कष्ट सचमुच घट जाता है? यदि नहीं घटता है तो यह हँसी कैसी, यह धैर्य कैसा? यह हँसी केवल स्थिति के मिलान पर निर्भर है, जिससे अपनी स्थिति के विशेषत्व का परिहार होता है। यह लोक संश्रय का एक गुण है कि कभी कभी स्थिति के बने रहने पर भी उसके विशेषत्व के परिहार से तत्संबंधी भावना में अंतर पड़ जाता है। पर यह अंतर ऐसा ही है जैसे रोते रोते सो जाना या फोड़ा चिराते समय क्लोरोफार्म सूँघ लेना।

समाज में पड़ते ही मनुष्य देखने लगता है कि उसकी स्थिति दोहरी हो गई है। वह देखता है कि "मैं यह हूँ", और "मैं बड़ा समझा जाता हूँ"। इस निश्चय के साथ एक यह निश्चय और जुड़ जाने से कि "मैं बड़ा समझा जाता हूँ" मनुष्य के आनंद या सुख के अनुभव में वृद्धि होती है। इसी प्रकार "मैं क्षुद्र हूँ" इस धारणा के साथ "मैं क्षुद्र समझा जाता हूँ" इस धारणा के योग से दुःख के अनुभव की वृद्धि होती है। इस प्रकार स्थिति के एकांत और सामाजिक दो विभाग हो जाने से कोई तो दोनों विभागों पर दृष्टि रख सकते हैं और कोई एक ही पर। शक्तिशाली और प्रतिभासम्पन्न मनुष्य पहले यह प्रयत्न करते हैं कि 'हम ऐसे हों'। फिर वैसे हो जाने पर यदि आवश्यक हुआ तो वे यह प्रयत्न भी करते हैं कि 'हम ऐसे समझे जाएँ'। इन दोनों के प्रयत्न जुदे जुदे हैं। संसार में शक्ति सम्पन्न सब नहीं होते, इससे बहुत से लोग स्थिति के पहले विभाग के लिए जिन प्रयत्नों की आवश्यकता है उनमें अपने को असमर्थ देख दूसरे ही विभाग से किसी प्रकार अपना संतोष करना चाहते हैं और उसी पर दृष्टि रखकर प्रयत्न करते हैं। ईर्ष्या ऐसे लोगों के हृदय में बहुत जगह पाती है और उनके प्रयत्नों में सहायक भी होती है। भाव प्रवर्तन आदि के बल से जिस समुदाय के प्राणी परस्पर ऐसे बन गए हैं कि अपने इंद्रियानुभव और भावनाओं तक को जवाब देकर दूसरों के इंद्रियानुभव और भावनाओं द्वारा निर्वाह कर सकते हैं, उसी से ईर्ष्या का विकास हो सकता है। अतः ईर्ष्या का अनन्य अधिकार मनुष्य जाति ही पर है। एक कुत्ता किसी दूसरे कुत्ते को कुछ खाते देख उसे आप खाने की इच्छा कर सकता है, पर वह यह नहीं चाह सकता कि चाहे हम खाएँ या न खाएँ वह दूसरा कुत्ता न खाने पाए। दूसरे कुत्तों की दृष्टि में हमारी स्थिति कैसी है, इसकी चिंता उस कुत्ते को न होगी।

अपने विषय में दूसरों के चित्त में अच्छी धारणा उत्पन्न करने का प्रयत्न अच्छी बात है। इस प्रयत्न को जो बुरा रूप प्राप्त होता है वह असत्य के समावेश के कारण, दूसरों की धारणा की अवास्तविकता और अपनी स्थिति की सापेक्षता के कारण, जब हम अपने विषय में दूसरों की झूठी धारणा और अपनी स्थिति के सापेक्ष रूप मात्र से संतोष करना चाहते हैं तभी बुराइयों के लिए जगह होती है और ईर्ष्या की राह खुलती है। जैसी स्थिति हमारी नहीं है, जैसी स्थिति प्राप्त करने की योग्यता हममें नहीं है, हम चाहते हैं कि लोग हमारी वैसी स्थिति समझें। जैसी स्थिति से वास्तव में हमें कोई सुख नहीं है वैसी स्थिति किसी दूसरे के समान या दूसरे से अच्छी स्वयं समझने से नहीं बल्कि दूसरों के द्वारा समझी जाने से ही हम संतोष करते हैं। ऐसे असत्य आरोपों के बीच यदि ईर्ष्या ऐसी असार वृत्ति का उदय हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।

ऊपर जो कुछ कहा गया उससे शायद यह धारणा हो सकती है कि ईर्ष्या अप्राप्त वस्तु ही के लिए होती है। पर यह बात नहीं है। हमारे पास जो वस्तु है उसे भी दूसरे के पास देखकर कभी कभी हमें बुरा लगता है, हम दुःखी होते हैं। किसी गरीब पड़ोसी को क्रमशः धनी होते देख आसपास में धनी माना जानेवाला मनुष्य कभी कभी बुरा मानने लगता है। एक ऊँची जाति का आदमी किसी नीच जाति के आदमी को अपने ही समान वस्त्र आदि पहने देख बुरा मानता और कुढ़ता है। इसका कारण यह अस्थायी बुद्धि या अहंकार है कि 'हम ऊँचे हैं वह नीचा है, हम बड़े हैं, वह छोटा है।' लोक व्यवस्था के भीतर कुछ विशेष वर्ग के लोग, जैसे—शिष्ट, विद्वान्, धर्म चिंतक, शासन कार्य पर नियुक्त अधिकारी, देश रक्षा में प्राण देने को तैयार वीर इत्यादि औरों से अधिक आदर और सम्मान के पात्र होते हैं। इनके प्रति उचित सम्मान न प्रदर्शित करना अपराध है। अन्य वर्ग के लोग धर्मानुसार इन्हें बड़ा मानने को विवश हैं। पर इन्हें दूसरों को छोटा प्रकट करने या मानने तक का अधिकार नहीं है। जहाँ इन्होंने ऐसा किया कि सम्मान का अस्तित्व खोया।

न्यायाधीश न्याय करता है, कारीगर ईंट जोड़ता है। समाज कल्याण के विचार से न्यायाधीश का साधारण व्यवहार में कारीगर के प्रति यह प्रकट करना उचित नहीं कि तुम हमसे छोटे हो। जिस जाति में इस छोटाई बड़ाई का अभिमान जगह जगह जमकर दृढ़ हो जाता है, उसके भिन्न भिन्न वर्गों के बीच स्थायी ईर्ष्या स्थापित हो जाती है, और संघ शक्ति का विकास बहुत कम अवसरों पर देखा जाता है। यदि समाज में उन कार्यों की, जिनके द्वारा भिन्न भिन्न प्राणी जीवन निर्वाह करते हैं परस्पर छोटाई बड़ाई का ढिंढोरा न पीटा जाए, बल्कि उनकी विभिन्नता ही स्वीकार की जाए, तो बहुत सा असंतोष दूर हो जाए, राजनीतिक स्वत्व की आकांक्षा से स्त्रियों को पुरुषों की हद में न जाना पड़े, सब पढ़े लिखे आदमियों को सरकारी नौकरियों ही के पीछे न दौड़ना पड़े। जहाँ इस छोटाई बड़ाई का भाव बहुत प्रचार पा जाता है

और जीवन व्यवहारों में निर्दिष्ट और स्पष्ट रूपों में दिखाई पड़ता है, वहाँ लोगों की शक्तियाँ केवल कुछ विशेष विशेष स्थानों की ओर प्रवृत्त होकर उन उन स्थानों पर इकट्ठी होने लगती हैं और समाज के कार्य विभागों में विषमता आ जाती है। अर्थात् कुछ विभाग सूने पड़ जाते हैं, और कुछ आवश्यकता से अधिक भर जाते हैं, जैसा कि आजकल इस देश में देखा जा रहा है। यहाँ कृषि, विज्ञान, शिल्प, वाणिज्य आदि की ओर तब तक पढ़े लिखे लोग ध्यान न देंगे जब तक कुछ पेशों और नौकरियों की शान लोगों की नजरों में समाई रहेगी। इस प्रकार की शान प्रायः किसी शक्ति के अनुचित प्रयोग में अधिक समझी जाती है। कोई पुलिस का कर्मचारी जब अपने पद का अभिमान प्रकट करता है तब यह नहीं कहता कि 'मैं जिस बदमाश को चाहूँ उसको पकड़कर तंग कर सकता हूँ' बल्कि यह कहता है कि 'मैं जिसको चाहूँ उसको पकड़कर तंग कर सकता हूँ।

अधिकार संबंधी अभिमान अनौचित्य की सामर्थ्य का अधिक होता है। यदि अधिकार के अनुचित उपयोग की संभावना दूर कर दी जाए तो स्थान स्थान पर अभिमान की जमी हुई मैल साफ हो जाए और समाज के कार्य विभाग चमक जाएँ। यदि समाज इस बात की पूरी चौकसी रखे कि पुलिस के अफसर उन्हीं लोगों को कष्ट दे सकें जो दोषी हैं, माल के अफसर उन्हीं लोगों को क्षतिग्रस्त कर सकें जो कुछ गड़बड़ करते हैं, तो उन्हें शेष लोगों पर जो निर्दोष हैं, जिनका मामला साफ है और जिससे हर घड़ी काम पड़ता है, अभिमान प्रकट करने का अवसर कहाँ मिल सकता है? जब तक किसी कार्यालय में छोटे से बड़े तक सब अपना अपना नियमित कार्य ठीक ठीक करते हैं तब तक एक के लिए दूसरे पर अपनी बड़ाई प्रकट करने का अवसर नहीं आता है। पर जब कोई अपने कार्य में त्रुटि करता है तब उसका अफसर उसे दंड देकर अपनी बड़ाई या अधिक सामर्थ्य दिखलाता है। सापेक्ष बड़ाई दूसरे को क्षतिग्रस्त करने और दूसरे को नम्र करने की सामर्थ्य का नाम है। अधिकार की सापेक्ष बड़ाई दूसरे को क्षतिग्रस्त करने की सामर्थ्य है और धन या गुण की सापेक्ष बड़ाई में दूसरे को नम्र करने की सामर्थ्य है। इससे विदित हुआ कि यह छोटाई बड़ाई हर समय तमाशा दिखाने के लिए नहीं है, बल्कि अवसर पड़ने पर संशोधन या शिक्षा के लिए है। किसी अवध के ताल्लुकेदार के लिए बड़ाई का वह स्वाँग दिखाना आवश्यक नहीं है कि वह जब मन में आए तब कामदार टोपी सिर पर रख, हाथी पर चढ़ गरीबों को पिटवाता चले। किसी देहाती थानेदार के लिए यह जरूरी नहीं है कि वह सिर पर लाल पगड़ी रख गँवारों को गाली देकर हर समय अपनी बड़ाई का अनुभव करता और कराता रहे। अभिमान एक व्यक्तिगत गुण है, उसे समाज के भिन्न व्यवसायों के साथ जोड़ना ठीक नहीं। समाज में स्थान स्थान पर अभिमान के अजायबघर स्थापित होना अच्छा नहीं। इस बात का ध्यान रखना समाज का कर्त्तव्य है कि धर्म और राजबल से प्रतिष्ठित संस्थाओं के अंतर्गत अभिमानालय और खुशामदखाने न खुलने पाएँ।

इस प्रकार किसी बड़े धनी या गुणी का यह हर घड़ी का काम न हो जाना चाहिए कि वह औरों के धन या गुण से अपने धन या गुण का मिलान किया करे और अपने से कम धनी या गुणी लोगों से अपनी श्रेष्ठता देख दिखाकर संतोष किया करे। इस प्रकार संतोष करना, वस्तु को छोड़ छाया पर संतोष करना है। इस प्रकार के संतोष का सुख मनुष्य के लिए स्वाभाविक है; पर वह ऐसे ही अवसरों तक के लिए निर्दिष्ट है जब किसी त्रुटि का संशोधन हो, कठिनता का निराकरण हो या आवश्यकता की पूर्ति हो। उसे ऐसे अवसरों के अतिरिक्त और अवसरों में घसीटना बुराई है। कई आदमी किसी रास्ते के पत्थर को हटाने में लगे हैं और वह नहीं हिलता है। एक दूसरा आदमी आकर अकेले उस पत्थर को हटाकर फेंक देता है। उस समय उसे अपने को बल में औरों से बढ़कर देख संतोष और आनंद होगा और शेष लोग भी उसके कृत्य से प्रभावित रहने के कारण उस समय उसके इस सापेक्ष आनंद या आनंद प्रदर्शन से कुढ़ेंगे नहीं, बल्कि कुतूहलयुक्त होंगे और शायद कुछ शिक्षा भी ग्रहण करें। पर यदि उसे इस बड़ाई के आनंद का चसका लग जाएगा और वह हर घड़ी इसका अनुभव करना चाहेगा, उसे प्रकट किया करेगा, तो यह एक प्रकार का दुर्व्यसन हो जाएगा और अहंकार के नाम से पुकारा जाएगा।

जिस किसी के चित्त में इस प्रकार अहंकार घर करेगा, उसमें अपने चारों ओर अपने से घटकर धन, मान, गुण या बल देखने की स्थायी इच्छा स्थापित हो जाएगी और जो वस्तु उसे प्राप्त है, उसे भी दूसरों को प्राप्त करते देख उसे कुढ़न या ईर्ष्या होगी। उसके अहंकार से आहत होकर दूसरे लोग भी उसकी उन्नति न देखना चाहेंगे और उससे एक प्रकार की उचित ईर्ष्या रखेंगे। इस प्रकार ईर्ष्या की अच्छी खेती होगी। सारांश यह कि अभिमान हर घड़ी बड़ाई की भावना भोगने का दुर्व्यसन है और ईर्ष्या उसकी सहगामिनी है। इस बड़ाई के अनुभव को भोगने का जिसे दुर्व्यसन हो जाता है, उसके लिए उन्नति का द्वार बंद सा हो जाता है। उसे हर घड़ी अपनी बड़ाई अनुभव करते रहने का नशा हो जाता है, इससे उसकी चाह के लिए वह सदा अपने से घटकर लोगों की ओर दृष्टि डाला करता है और अपने से बड़े लोगों की ओर नशा मिट्टी होने के भय से देखने का साहस नहीं करता। ऐसी अवस्था में वह उन्नति की उत्तेजना और शिक्षा से वंचित रहता है। इसी से अभिमान को 'मद' भी कहते हैं। दुर्व्यसन किसी प्रकार का हो, मद है।

यह तो कहा ही जा चुका है कि ईर्ष्या दूसरे की असम्पन्नता की इच्छा की आपूर्ति से उत्पन्न होती है। ऐसी इच्छा यदि किसी हानि के बदले में अथवा हानि की आशंका से हो तो वह शुद्ध ईर्ष्या नहीं है। किसी दूसरे से हानि उठाकर उसकी हानि की आकांक्षा करना केवल बुराई का बुराई से जवाब देना है और क्रोध या वैर के अंतर्गत है। इसी प्रकार यदि किसी की संपन्नता से हमें क्लेश या हानि की आशंका है और हम उसकी ऐसी संपन्नता की अनिच्छा या उसका दुःख करते हैं

तो केवल अपना बचाव करते हैं–आजकल के शब्दों में अपनी रक्षा के स्वत्व का उपयोग करते हैं। यदि हम किसी अन्यायी को कोई अधिकार पाते देख कुढ़ते हैं, तो केवल अपने या समाज के बचाव की फिक्र करते हैं, ईर्ष्या नहीं करते। यदि हमें निश्चय है कि हमारा कोई मित्र इतना घमंडी है कि यदि उसे किसी वस्तु की प्राप्ति होगी तो वह हमसे ऐंठ दिखाकर हमारा अपमान करेगा, तो हमारा यह चाहना कि वह मित्र वह वस्तु न पाए अथवा इस बात पर दुःखी होना कि वह मित्र वह वस्तु पा गया, ईर्ष्या नहीं; बचाव की चिंता है। इसी से अभिमानियों से ईर्ष्या करने का अधिकार मनुष्य मात्र को है। लोग इस अधिकार का उपयोग भी खूब करते हैं। क्या राजनीति में, क्या साहित्य में, क्या व्यवहार में, मानव जीवन के सब विभागों में इस अधिकार का उपयोग होते देखा जाता है। ऐसा देखा गया है कि अच्छे से अच्छे लेखकों के गुणों पर उनके अभिमान से आहत लोगों के प्रयत्न या उदासीनता से बहुत दिनों तक परदा पड़ा रहा है और वे जिंदगी भर भवभूति के इस वाक्य पर संतोष किए बैठे रहे हैं–

''उत्पत्स्यते हि मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निश्वधिर्विपुला च पृथ्वी।''

अभिमानग्रस्त गुण को लोग देखकर भी नहीं देखते हैं। अभिमानी स्वयं अंधा होकर दूसरों की आँखें भी फोड़ता है। न उसे दूसरों के उत्कृष्ट गुण की ओर ताकने का साहस होता है और न दूसरों को उसके गुण को स्वीकार करने की उत्कंठा होती है। अभिमान दोनों ओर ज्ञान का निषेध करता है। अतः जिस प्रकार अभिमान न करना श्रेष्ठ गुण है उसी प्रकार दूसरे के अभिमान को देख क्षुब्ध न होना भी श्रेष्ठ गुण है।

अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि ईर्ष्या दूसरे की प्राप्ति या प्राप्ति की संभावना से उत्पन्न दुःख है, चाहे वह वस्तु हमें प्राप्त हो या न हो। अतः ईर्ष्या धारण करनेवालों के दो रूप होते हैं। एक असंपन्न और दूसरा संपन्न। असंपन्न रूप वह है, जिसमें ईर्ष्या करनेवाला दूसरों को ऐसी वस्तु प्राप्त करते देख दुःखी होता है जो उसके पास नहीं है। ऐसे दुःख में आलस्य या असामर्थ्य से उत्पन्न नैराश्य, दूसरे की प्राप्ति से अपनी सापेक्षिक छोटाई का बोध, दूसरे की असंपन्नता की इच्छा और अंत में इस इच्छा की पूर्ति में बाधक उस दूसरे व्यक्ति पर एक प्रकार का मीठा क्रोध, इतने भावों का मेल रहता है। किसी वस्तु को हम नहीं प्राप्त कर सकते दूसरा उसी को प्राप्त करता है। हम समझते हैं कि लोगों की दृष्टि जब हमारी स्थिति पर पड़ती होगी तब उसकी स्थिति पर भी पड़ती होगी। इससे लोगों की दृष्टि में हमारी स्थिति अवश्य कुछ न्यून जँचती होगी। अतः स्थिति की समानता के लिए हम चाहते हैं कि वह दूसरा व्यक्ति उस वस्तु को न प्राप्त करता या खो देता। पर वह दूसरा व्यक्ति जीता जागता यत्नवान् प्राणी होने के कारण उसे प्राप्त करता

या रक्षित रखता है। इससे हमारी इच्छापूर्ति में बाधा होती है और हम बाधक के ऊपर मन ही मन चिड़चिड़ाते हैं।

ईर्ष्या में क्रोध का भाव किस प्रकार मिला रहता है इसका प्रमाण बराबर मिलता रहता है। दूसरे व्यक्ति को किसी वस्तु से संपन्न देख यदि कोई उससे ईर्ष्या करता है तो केवल यही नहीं होता कि वह उसी वस्तु को उससे अलग करके या अलग करने का प्रयत्न करके संतोष कर ले, बल्कि वह उस संपन्न व्यक्ति को अवसर पाने पर, बिना किसी अन्य कारण के, कुवाक्य भी कह बैठता है। जी दुखाने का यह प्रयत्न बिना किसी प्रकार के क्रोध के नहीं हो सकता। इसी कारण जैसे 'क्रोध से जलना' कहा जाता है वैसे ही 'ईर्ष्या से जलना' भी कहा जाता है। साहित्य के शब्दों में, क्रोध ईर्ष्या के संचारी के रूप में समय समय पर व्यक्त होता हुआ देखा जाता है। अब यहाँ पर लगे हाथों यह भी देख लेना चाहिए कि यह क्रोध है किस प्रकार का। यह क्रोध बिलकुल जड़ क्रोध है। जिसके प्रति ऐसा क्रोध किया जाता है उसके मानसिक उद्देश्य की ओर नहीं ध्यान दिया जाता। यदि हम असावधानी से दौड़ते समय किसी सोए आदमी से टकराकर उस पर बिगड़ने लगें, या रास्ते में पत्थर की ठोकर खाकर उसे चूर चूर करने पर उतारू हों तो हमारा यह क्रोध जड़ क्रोध होगा; क्योंकि हमने यह विचार नहीं किया कि क्या वह आदमी हमें ठोकर खिलाने के लिए ही सोया था; या वह पत्थर हमारे पैर में लगने के नामानुकूल इरादे से वहाँ आ पड़ा था। यदि हमारे पास कोई वस्तु नहीं है और दूसरा उसे प्राप्त करता है, तो वह उस उद्देश्य से नहीं प्राप्त करता कि उससे हम अपनी हेठी समझकर दुःखी हों और हमारी इच्छापूर्ति में बाधा पड़े। यह दूसरी बात है कि पीछे से यह मालूम करके भी कि उसकी प्राप्ति से हम अपनी हेठी समझ समझकर बेचैन हो रहे हैं, वह हमारे दुःख में सहानुभूति न करे और उस वस्तु को लिए आनंद से कान में तेल डाले बैठा रहे। प्रायः तो ऐसा होता है कि किसी वस्तु को प्राप्त करनेवाले मनुष्य को पहले यह ख्याल भी नहीं होता कि उसकी प्राप्ति से किन किन महाशयों की मानहानि हो रही है।

ऊपर कहा जा चुका है कि ईर्ष्या धारण करनेवालों की दो दशाएँ होती हैं। असंपन्न और संपन्न। असंपन्न दशा का दिग्दर्शन तो ऊपर हो चुका। संपन्न दशा वह है जिसमें जो वस्तु हमें प्राप्त है, उसे दूसरे को भी प्राप्त करते देख हमें दुःख होता है। असंपन्नता में दूसरे को अपने से बढ़कर होते देख दुःख होता है। असंपन्न दशा में यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि हम दूसरे से बढ़कर रहें। उसके बराबर न रहें। संपन्न की ईर्ष्या में आकांक्षा बढ़ी चढ़ी होती है, इससे उसका अनौचित्य भी बढ़कर होता है। असंपन्न ईर्ष्यावाला केवल अपने को नीचा समझे जाने से बचाने के लिए आकुल रहता है, पर संपन्न ईर्ष्यावाला दूसरे को नीचा समझते रहने के लिए व्याकुल रहता है। असंपन्न की ईर्ष्या में नैराश्य का भाव और अपनी कमी का दुःख मिला रहता है, इससे उसकी कलुषता उतनी गहरी नहीं जान पड़ती। निराश और अभाव

पीड़ित मनुष्य जैसे इधर उधर भूलता भटकता फिरता है, वैसे ही ईर्ष्या की राह में भी जा पड़ता है। पर संपन्न की स्थिति ऐसी क्षोभकारिणी नहीं होती।

हमारा कोई साथी है जो किसी वस्तु में हमसे कम है। उसकी कमी और अपनी बड़ाई देख दिखाकर हर घड़ी प्रसन्न होने का हमें दुर्व्यसन हो गया है। इसी बीच उसको भी वह वस्तु प्राप्त हो जाती है और हमें जान पड़ता है कि हमारी स्थिति, जो सापेक्ष थी, मारी गई। अपने आनंद में इस प्रकार बाधा पड़ते देख हम अपने साथी की उस प्राप्ति से दुःखी होते हैं, और मन ही मन उस पर कुढ़ते भी हैं। साथी को बहुत दिनों तक तो इसका पता ही नहीं चलता, पीछे पता चलने पर भी वह हमारे इस दुःख में कुछ भी सहानुभूति नहीं करता। हमारी कुप्रवृत्ति का कारण बिना अवसर के हर घड़ी बड़ाई का अनुभव व स्थिति की सापेक्षिकता का सुख भोगने की लत है। किसी स्थिति की वास्तविकता पर मुख्य और सापेक्षिकता पर गौण दृष्टि रखनी चाहिए। सापेक्षिकता नजर का खेल है, और कुछ नहीं। यदि हमें पेट भर अन्न नहीं मिलता है, पर लोग समझते हैं कि हम अपने किसी साथी से अच्छे या धनी हैं, तो लोगों की इस धारणा से हमारा पेट नहीं भर सकता। लोगों की इस धारणा से आनंद होता है पर वह उस आनंद का शतांश भी नहीं है जो वास्तविक स्थिति में प्राप्त वस्तुओं से मिलता है। अतः स्थिति के वास्तविक आनंदों को छोड़ इस छायारूपी आनंद पर मुख्य रूप से ध्यान रखना प्रमाद और स्थिति की रक्षा का बाधक है। यदि हम वास्तविक दशा की ओर ध्यान रख आवश्यक प्रयत्न न करते रहेंगे तो अपनी सँभाल नहीं कर सकते।

कभी कभी ऐसा होता है कि लोगों की धारणा का कुछ मूल्य होता है अर्थात् उससे कोई अनुकूल स्थिति प्राप्त होती है। जैसे, यदि किसी गाँव में मूर्ख और विद्वान् दो वैद्य हैं तो लोग दूसरे को अधिक निपुण समझ उसके पास अधिक जाएँगे और उसकी आमदनी अधिक होगी। अब यदि पहला वैद्य भी परिश्रम करके वैद्यक पढ़ लेगा और लोगों की यह धारणा हो जाएगी कि यह भी विद्वान् है तो दूसरे वैद्य की आमदनी कम हो जाएगी। ऐसी अवस्था में उस दूसरे वैद्य का पहले वैद्य की उन्नति से कुढ़ना शुद्ध ईर्ष्या नहीं, हानि का दुःख या झुँझलाहट है। ईर्ष्या निःस्वार्थ होनी चाहिए।

ईर्ष्या का दुःख प्रायः निष्फल हो जाता है। अधिकतर तो जिस बात की ईर्ष्या होती है, वह ऐसी बात होती है, जिस पर हमारा वश नहीं होता। जब हममें अपनी ही स्थिति में अनुकूल परिवर्तन करने की सामर्थ्य नहीं है तब हम दूसरे की स्थिति में कहाँ तक परिवर्तन कर सकते हैं ? जितनी जानकारी हमें अपनी स्थिति से हो सकती है उतनी दूसरे की स्थिति से नहीं। किसी स्थिति में परिवर्तन करने के लिए उसके अंग प्रत्यंग का परिचय आवश्यक होता है पर कभी कभी ऐसे अवसर आ जाते हैं जिनमें ईर्ष्या की तुष्टि का साधन सुगम होता है, जैसे यदि किसी आदमी

को किसी दूसरे से कुछ लाभ पहुँचनेवाला होता है या पहुँचता होता है तो हम उस दूसरे से उसकी कुछ बुराई कर आते हैं और उसे उस लाभ से वंचित कर देते हैं। पर हमारी यह सफलता निरापद नहीं। यदि वंचित व्यक्ति को हमारी कार्रवाई का पता लग गया तो वह क्रुद्ध होकर हमारी हानि करने के लिए हमसे अधिक वेग के साथ यत्न करेगा। हमने तो केवल जरा सा जाकर जबान हिलाने का कष्ट उठाया था, पर वह हमारी हानि करने के लिए पूरा परिश्रम करेगा।

ईर्ष्या में प्रयत्नोत्पादिनी शक्ति बहुत कम होती है। उसमें वह वेग नहीं होता जो क्रोध आदि में होता है क्योंकि आलस्य और नैराश्य के आश्रय से तो उसकी उत्पत्ति ही होती है। जब आलस्य और नैराश्य के कारण अपनी उन्नति के हेतु प्रयत्न करना तो दूर रहा, हम अपनी उन्नति का ध्यान तक अपने मन में नहीं ला सकते, तभी हम हारकर दूसरे की स्थिति की ओर बार बार देखते हैं और सोचते हैं कि यदि उसकी स्थिति ऐसी न होती तो हमारी स्थिति जैसी है वैसी ही रहने पर भी बुरी न दिखाई देती। अपनी स्थिति को ज्यों की त्यों रख सापेक्षिकता द्वारा संतोष लाभ करने का ढीला यत्न आलस्य और नैराश्य नहीं तो और क्या है? जो वस्तु उज्ज्वल नहीं है उसे मैली वस्तु के पास रखकर हम उसकी उज्ज्वलता से कब तक और कहाँ तक संतोष कर सकते हैं? जो अपनी उन्नति के प्रयत्न में बराबर लगा रहता है उसे न तो नैराश्य होता है और न हर घड़ी दूसरे की स्थिति से अपनी स्थिति के मिलान करते रहने की फुरसत। ईर्ष्या की सबसे अच्छी दवा है उद्योग और आशा। जिस वस्तु के लिए उद्योग और आशा निष्फल हो, उस पर से अपना ध्यान हटाकर दृष्टि की अनंतता से लाभ उठाना चाहिए।

जिससे ईर्ष्या की जाती है उस पर ईर्ष्या का प्रभाव क्या पड़ता है, यह भी देख लेना चाहिए। ईर्ष्या अप्रेष्य मनोविकार है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि किसी मनुष्य को अपने से ईर्ष्या करते देख हम भी बदले में उससे ईर्ष्या नहीं करने लगते। दूसरे को ईर्ष्या करते देख हम उससे घृणा करते हैं। दूसरे की ईर्ष्या का फल भोग हम उस पर क्रोध करते हैं, जिसमें अधिक अनिष्टकारिणी शक्ति होती है। अतः ईर्ष्या एक ऐसी बुराई है, जिसका बदला यदि मिलता है तो कुछ अधिक ही मिलता है। इससे इस बात का आभास मिलता है कि प्रकृति के कानून में ईर्ष्या एक पाप या जुर्म है। अपराधी ने अपने अपराध से जितना कष्ट दूसरे को पहुँचाया, अपराधी को भी केवल उतना ही कष्ट पहुँचाना सामाजिक न्याय नहीं है; अधिक कष्ट पहुँचाना न्याय है; क्योंकि निरपराध व्यक्ति की स्थिति को अपराधी की स्थिति से अच्छी दिखलाना न्याय का काम है।

ईर्ष्या अत्यंत लज्जावती वृत्ति है। वह अपने धारणकर्त्ता स्वामी के सामने भी मुँह खोलकर नहीं आती। उसके रूप आदि का पूरा परिचय न पाकर भी धारणकर्त्ता उसका हरम की बेगमों से अधिक परदा करता है। वह कभी प्रत्यक्ष रूप से समाज

के सामने नहीं आती। उसका कोई बाहरी लक्षण धारणकर्त्ता पर नहीं दिखाई देता। क्रोध में आँखें लाल हों, भय में आकुलता हो, घृणा में नाक भौं सिकुड़े, करुणा में आँसू आए, पर ईर्ष्या में शायद ही कभी असावधानी से ठंडी साँस निकल जाए। ईर्ष्या इतनी कुत्सित वृत्ति है कि सभा समाज में, मित्रमंडली में, परिवार में, एकांत कोठरी में, कहीं भी स्वीकार नहीं की जाती। लोग अपना क्रोध स्वीकार करते हैं, भय स्वीकार करते हैं, घृणा स्वीकार करते हैं, लोभ स्वीकार करते हैं पर ईर्ष्या का नाम कभी मुँह पर नहीं लाते; ईर्ष्या से उत्पन्न अपने कार्यों को दूसरी मनोवृत्तियों के सिर मढ़ते हैं। यदि हमें ईर्ष्या के कारण किसी की प्रशंसा अच्छी नहीं लग रही है तो हम बड़ी गंभीरता और सज्जनता प्रकट करते हुए उसके दोषों और त्रुटियों का निदर्शन करते हैं। वैर ऐसी बुरी वृत्ति तक कभी कभी ईर्ष्या को छिपाने का काम दे जाती है।

[चिन्तामणि, भाग-1]

भय

किसी आती हुई आपदा की भावना या दुःख के कारण के साक्षात्कार से जो एक प्रकार का आवेगपूर्ण अथवा स्तम्भ कारक मनोविकार होता है उसी को भय कहते हैं। क्रोध दुःख के कारण पर प्रभाव डालने के लिए आकुल करता है और भय उसकी पहुँच से बाहर होने के लिए। क्रोध दुःख के कारण के स्वरूपबोध के बिना नहीं होता। यदि दुःख का कारण चेतन होगा और यह समझा जाएगा कि उसने जानबूझकर दुःख पहुँचाया है, तभी क्रोध होगा। पर भय के लिए कारण का निर्दिष्ट होना जरूरी नहीं; इतना भर मालूम होना चाहिए कि दुःख या हानि पहुँचेगी। यदि कोई ज्योतिषी किसी गँवार से कहे कि "कल तुम्हारे हाथ पाँव टूट जाएँगे" तो उसे क्रोध न आएगा; भय होगा। पर उसी से यदि कोई दूसरा आकर कहे कि "कल अमुक अमुक तुम्हारे हाथ पैर तोड़ देंगे" तो वह तुरंत त्योरी बदलकर कहेगा कि "कौन है हाथ पैर तोड़नेवाला? देख लूँगा।"

भय का विषय दो रूपों में सामने आता है—असाध्य रूप में और साध्य रूप में। असाध्य विषय वह है जिसका किसी प्रयत्न द्वारा निवारण असंभव हो या असंभव समझ पड़े। साध्य विषय वह है जो प्रयत्न द्वारा दूर किया या रखा जा सकता हो। दो मनुष्य एक पहाड़ी नदी के किनारे बैठे या आनंद से बातचीत करते चले जा रहे थे। इतने में सामने शेर की दहाड़ सुनाई पड़ी। यदि वे दोनों उठकर भागने, छिपने या पेड़ पर चढ़ने आदि का प्रयत्न करें तो बच सकते हैं। विषय के साध्य या असाध्य होने की धारणा परिस्थिति की विशेषता के अनुसार तो होती है पर बहुत कुछ मनुष्य की प्रकृति पर भी अवलंबित रहती है। क्लेश के कारण का ज्ञान होने पर उसकी अनिवार्यता का निश्चय अपनी विवशता या अक्षमता की अनुभूति के कारण होती है। यदि यह अनुभूति कठिनाइयों और आपत्तियों को दूर करने के अनभ्यास या साहस के अभाव के कारण होती है, तो मनुष्य स्तंभित हो जाता है और उसके हाथ पाँव नहीं हिल सकते। पर कड़े दिल का साहसी आदमी पहले तो जल्दी डरता नहीं और डरता भी है तो सँभलकर अपने बचाव के उद्योग में लग जाता है।

भय जब स्वभावगत हो जाता है तब कायरता या भीरुता कहलाता है और भारी दोष माना जाता है, विशेषतः पुरुषों में। स्त्रियों की भीरुता तो उनकी लज्जा के समान ही रसिकों के मनोरंजन की वस्तु रही है। पुरुषों की भीरुता की पूरी निंदा होती है। ऐसा जान पड़ता है कि बहुत पुराने जमाने से पुरुषों ने न डरने का ठेका ले रखा है। भीरुता के संयोजक अवयवों में क्लेश सहने की आवश्यकता और अपनी शक्ति का अविश्वास प्रधान है। शत्रु का सामना करने से भागने का अभिप्राय यही होता है कि भागनेवाला शारीरिक पीड़ा नहीं सह सकता तभी अपनी शक्ति के द्वारा उसी पीड़ा से अपनी रक्षा का विश्वास नहीं रखता। यह तो बहुत पुरानी चाल की भीरुता हुई। जीवन के और अनेक व्यपारों में भी भीरुता दिखाई देती है। अर्थहानि के भय से बहुत से व्यापारी कभी कभी किसी विशेष व्यवसाय में हाथ नहीं डालते, परास्त होने के भय से बहुत से पंडित कभी कभी शास्त्रार्थ से मुँह चुराते हैं। इस प्रकार की भीरुता की तह में सहन करने की अक्षमता और अपनी शक्ति का अविश्वास छिपा रहता है। भीरु व्यापारी में अर्थहानि सहने की अक्षमता और अपने व्यवसाय कौशल पर अविश्वास तथा भीरु पंडित में मानहानि सहने की अक्षमता और अपने विद्या बुद्धि बल पर अविश्वास निहित है।

एक ही प्रकार की भीरुता ऐसी दिखाई पड़ती है जिसकी प्रशंसा होती है। वह धर्म भीरुता है। पर हम तो उसे भी कोई बड़ी प्रशंसा की बात नहीं समझते। धर्म से डरनेवालों की अपेक्षा धर्म की ओर आकर्षित होनेवाले हमें अधिक धन्य जान पड़ते हैं। जो किसी बुराई से यही समझकर पीछे हटते हैं कि उसके करने से अधर्म होगा, उसकी अपेक्षा वे कहीं श्रेष्ठ हैं जिन्हें बुराई अच्छी ही नहीं लगती।

दुःख या आपत्ति का पूर्ण निश्चय न रहने पर उसकी संभावना मात्र के अनुमान से जो आवेग शून्य भय होता है उसे आशंका कहते हैं। उसमें वैसी आकुलता नहीं होती। उसका संचार कुछ धीमा पर अधिक काल तक रहता है। घने जंगल से होकर जाता हुआ यात्री चाहे रास्ते भर इस आशंका में रहे कि कहीं चीता न मिल जाए, पर वह बराबर चला चल सकता है। यदि उसे असली भय हो जाएगा तो वह या तो लौट जाएगा अथवा एक पैर आगे न रखेगा। दुःखात्मक भावों में आशंका की वही स्थिति समझनी चाहिए जो सुखात्मक भावों में आशा की। अपने द्वारा कोई भयंकर काम किए जाने की कल्पना या भावना मात्र से भी क्षणिक स्तंभ के रूप में एक प्रकार के भय का अनुभव होता है। जैसे, कोई किसी से कहे कि "इस छत पर से कूद जाओ" तो कूदना और न कूदना उसके हाथ में होते हुए भी वह कहेगा कि "डर मालूम होता है।" पर डर भी पूर्ण भय नहीं है।

क्रोध का प्रभाव दुःख के कारण पर डाला जाता है, इससे उसके द्वारा दुःख का निवारण यदि होता है तो सब दिन के लिए या बहुत दिनों के लिए। भय के द्वारा बहुत सी अवस्थाओं में यह बात नहीं हो सकती। ऐसे सज्ञान प्राणियों के बीच

जिनमें भाव बहुत काल तक संचित रहते हैं और ऐसे उन्नत समाज में जहाँ एक एक व्यक्ति की पहुँच और परिचय का विस्तार बहुत अधिक होता है, प्रायः भय का फल भय के संचार काल तक ही रहता है। जहाँ वह भय भूला कि आफत आई। यदि कोई क्रूर मनुष्य किसी बात पर आपसे बुरा मान गया और आपको मारने दौड़ा तो उस समय भय की प्रेरणा से आप भागकर अपने को बचा लेंगे। पर संभव है कि उस मनुष्य का क्रोध जो आप पर था उसी समय दूर न हो, बल्कि कुछ दिन के लिए वैर के रूप में टिक जाए, तो उसके लिए आपके सामने फिर आना कोई बड़ी बात न होगी। प्राणियों की असभ्य दशा में ही भय से अधिक काम निकलता है जबकि समाज का ऐसा गहरा संगठन नहीं होता है कि बहुत से लोगों को एक दूसरे का पता और उसके विषय में जानकारी रहती हो।

जंगली मनुष्य के परिचय का विस्तार बहुत थोड़ा होता है। बहुत सी ऐसी जंगली जातियाँ अब भी हैं जिनमें कोई एक व्यक्ति बीस पचीस से अधिक आदमियों को नहीं जानता। अतः उसे दस बारह कोस पर ही रहनेवाला यदि कोई दूसरा जंगली मिले और मारने दौड़े तो वह भागकर उससे अपनी रक्षा उसी समय के लिए ही नहीं बल्कि सब दिनों के लिए कर सकता है। पर सभ्य, उन्नत और विस्तृत समाज में भय के द्वारा स्थायी रक्षा की उतनी संभावना नहीं होती। इसी से जंगली और असभ्य जातियों में भय अधिक होता है। जिससे वे भयभीत हो सकते हैं उसी को वे श्रेष्ठ मानते हैं और उसी की स्तुति करते हैं। उनके देवी देवता भय के प्रभाव से ही कल्पित होते हैं। किसी आपत्ति या दुःख से बचे रहने के लिए ही अधिकतर वे उनकी पूजा करते हैं। अति भय और भयकारक का सम्मान असभ्यता के लक्षण हैं। अशिक्षित होने के कारण अधिकांश भारतवासी भी भय के उपासक हो गए हैं। वे जितना सम्मान एक थानेदार का करते हैं, उतना किसी विद्वान का नहीं।

चलने फिरनेवाले बच्चों में, जिनमें भाव देर तक नहीं टिकते और दुःख परिहार का ज्ञान या बल नहीं होता, भय अधिक होता है। बहुत से बच्चे तो किसी अपरिचित आदमी को देखते ही घर के भीतर भागते हैं। पशुओं में भी भय अधिक पाया जाता है। अपरिचित के भय में जीवन का कोई गूढ़ रहस्य छिपा जान पड़ता है। प्रत्येक प्राणी भीतरी आँख कुछ खुलते ही अपने सामने मानो एक दुःख कारण पूर्ण संसार फैला हुआ पाता है जिसे क्रमशः कुछ अपने ज्ञानबल से और कुछ बाहुबल से थोड़ा बहुत सुखमय बनाता चलता है। क्लेश और बाधा का ही सामान्य आरोप करके जीव संसार में पैर रखता है। सुख और आनंद को वह सामान्य का व्यतिक्रम समझता है; विरल विशेष मानता है। इस विशेष से सामान्य की ओर जाने का साहस उसे बहुत दिनों तक नहीं होता। परिचय के उत्तरोत्तर अभ्यास के बल से अपने माता पिता या नित्य दिखाई पड़नेवाले कुछ थोड़े से और लोगों के ही संबंध में वह यह धारणा रखता है कि मुझे सुख पहुँचाते हैं और कष्ट न पहुँचाएँगे। जिन्हें वह नहीं

जानता, जो पहले पहल उसके सामने आते हैं, उनके पास वह बेधड़क नहीं चला जाता। बिलकुल अज्ञात वस्तुओं के प्रति भी वह ऐसा ही करता है।

भय की इस वासना का परिहार क्रमशः होता चलता है। ज्यों ज्यों वह नाना रूपों से अभ्यस्त होता है त्यों त्यों उसकी धड़क खुलती जाती है। इस प्रकार अपने ज्ञान बल, हृदय बल और शरीर बल के वृद्धि के साथ वह दुःख की छाया मानो हटाता चलता है। समस्त मनुष्य जाति की सभ्यता के विकास का ही यही क्रम रहा है। भूतों का भय तो अब बहुत कुछ छूट गया है, पशुओं की बाधा भी मनुष्य के लिए प्रायः नहीं रह गई है; पर मनुष्य के लिए मनुष्य का भय बना हुआ है। इस भय के छूटने के लक्षण भी नहीं दिखाई देते। अब मनुष्यों के दुःख के कारण मनुष्य ही हैं। सभ्यता से अंतर केवल इतना ही पड़ा है कि दुःख दान की विधियाँ बहुत गूढ़ और जटिल हो गई हैं। उनका क्षोभकारक रूप बहुत से आवरणों के भीतर ढक गया है। अब इस बात की आशंका तो नहीं रहती है कि कोई जबरदस्ती आकर हमारे घर, खेत, बाग बगीचे, रुपये पैसे छीन न ले, पर इस बात का खटका रहता है कि कोई नकली दस्तावेजों, झूठे गवाहों और कानूनी बहसों के बल से हमें इन वस्तुओं से वंचित न कर दे। दोनों बातों का परिणाम एक ही है।

एक एक व्यक्ति से दूसरे दूसरे व्यक्तियों के लिए सुखद और दुःखद दोनों रूप बराबर रहे हैं और बराबर रहेंगे। किसी प्रकार की राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था एकाशाही से लेकर साम्यवाद तक—इस दो रंगी झलक को दूर नहीं कर सकती। मानवी प्रकृति की अनेकरूपता शेष प्रकृति की अनेकरूपता के साथ साथ चलती रहेगी। ऐसे समाज की कल्पना, ऐसी परिस्थिति का स्वप्न, जिसमें सुख ही सुख, प्रेम ही प्रेम हो, या तो लंबी चौड़ी बात बनाने के लिए अथवा अपने को या दूसरों को फुसलाने के लिए ही समझा जा सकता है।

ऊपर जिस व्यक्तिगत विषमता की बात कही गई है, उससे समष्टि रूप में मनुष्य जाति का वैसा अमंगल नहीं है। कुछ लोग अलग अलग यदि क्रूर लोभ के व्यापार में रत रहें, तो थोड़े से लोग ही उनके द्वारा दुःखी या त्रस्त होंगे। यदि उक्त व्यापार का साधन एक बड़ा दल बाँधकर किया जाएगा, तो उसमें अधिक सफलता होगी और उसका अनिष्ट प्रभाव बहुत दूर तक फैलेगा। संघ एक शक्ति है जिसके द्वारा शुभ और अशुभ दोनों के प्रसार की संभावना बहुत बढ़ जाती है। प्राचीन काल में जिस प्रकार के स्वदेश प्रेम की प्रतिष्ठा यूनान में हुई थी, उसने आगे चलकर योरप में बड़ा भयंकर रूप धारण किया। अर्थशास्त्र के प्रभाव में अर्थोन्माद का उसके साथ संयोग हुआ और व्यापार, राजनीति या राष्ट्रनीति का प्रधान अंग हो गया। योरप के देश इस धुन में लगे कि व्यापार के बहाने दूसरे देशों से जहाँ तक धन खींचा जा सके, बराबर खींचा जाता रहे। पुरानी चढ़ाइयों की लूटपाट का सिलसिला आक्रमण काल तक ही—जो बहुत दीर्घ नहीं हुआ करता था, रहता था। पर योरप के अर्थोन्मादियों

ने ऐसी गूढ़, जटिल और स्थायी प्रणालियाँ प्रतिष्ठित की जिनके द्वारा भूमंडल की न जाने कितनी जनता का क्रम क्रम से रक्त चुसता चला जा रहा है—न जाने कितने देश चलते फिरते कंकालों के कारागार हो रहे हैं।

जब तक योरप की जातियों ने आपस् में लड़कर अपना रक्त नहीं बहाया तब तक उनका ध्यान अपनी उस अंधनीति से अनर्थ की ओर नहीं गया। गत महायुद्ध के पीछे जगह जगह स्वदेश प्रेम के साथ साथ विश्वप्रेम उमड़ता दिखाई देने लगा। आध्यात्मिकता की भी बहुत कुछ पूछ होने लगी। पर इस विश्वप्रेम और आध्यात्मिकता का शाब्दिक प्रचार ही तो अभी देखने में आया है। इस फैशन की लहर भारतवर्ष में आई। पर कोरे फैशन के रूप में गृहीत इस 'विश्वप्रेम' और 'अध्यात्म' की चर्चा का कोई स्थायी मूल्य नहीं। इसे हवा का एक झोंका समझना चाहिए।

सभ्यता की वर्तमान स्थिति में एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से वैसा भय तो नहीं रहा जैसा पहले रहा करता था। पर एक जाति को दूसरी जाति से, एक देश को दूसरे देश से, भय के स्थायी कारण प्रतिष्ठित हो गए हैं। सबल और सबल देशों के बीच अर्थ संघर्ष की, सबल और निर्बल देशों के बीच अर्थ शोषण की प्रक्रिया अनवरत चल रही है; एक क्षण का विराम नहीं है। इस सार्वभौम वणिग्वृत्ति से उतना अनर्थ कभी न होता यदि क्षात्रवृत्ति उसके लक्ष्य से अपना लक्ष्य अलग रखती। पर इस युग में दोनों का विलक्षण सहयोग हो गया है। वर्तमान अर्थोन्माद को शासन के भीतर रखने के लिए क्षात्रधर्म के उच्च और पवित्र आदर्श को लेकर क्षात्रसंघ की प्रतिष्ठा आवश्यक है।

जिस प्रकार सुखी होने का प्रत्येक प्राणी को अधिकार है, उसी प्रकार मुक्तांतक होने का भी। पर कर्मक्षेत्र के चक्रव्यूह में पड़कर जिस प्रकार सुखी होना प्रयत्न साध्य होता है उसी प्रकार निर्भय रहना भी। निर्भयता के संपादन के लिए दो बातें अपेक्षित होती हैं—पहली तो यह है कि दूसरों को हमसे किसी प्रकार का भय या कष्ट न हो; दूसरी यह कि दूसरे हमको कष्ट का भय पहुँचाने का साहस न कर सकें। इनमें से एक का संबंध उत्कृष्ट शील से है और दूसरी का शक्ति और पुरुषार्थ से। इस संसार में किसी को न डराने से ही डरने की संभावना दूर नहीं हो सकती। साधु से साधु प्रकृतिवाले को क्रूर लोभियों और दुर्जनों से क्लेश पहुँचता है। अतः उनके प्रयत्नों को विफल करने या भय संचार द्वारा रोकने की आवश्यकता से हम बच नहीं सकते।

[चिन्तामणि, भाग-1]

क्रोध

क्रोध दुःख के चेतन कारण से साक्षात्कार या अनुमान से उत्पन्न होता है। साक्षात्कार के समय दुःख और उसके कारण के संबंध का परिज्ञान आवश्यक है। तीन चार महीने के बच्चे को कोई हाथ उठाकर मार दे, तो उसने हाथ उठाते तो देखा है पर अपनी पीड़ा और उस हाथ उठाने से क्या संबंध है, यह वह नहीं जानता है। अतः वह केवल रोकर अपना दुःख मात्र प्रकट कर देता है। दुःख के कारण की स्पष्ट धारणा के बिना क्रोध का उदय नहीं होता। दुःख के संज्ञान कारण पर प्रबल प्रभाव डालने में प्रवृत्त करनेवाला मनोविकार होने के कारण क्रोध का आविर्भाव बहुत पहले देखा जाता है। शिशु अपनी माता की आकृति से परिचित हो जाने पर ज्योंही यह जान जाता है कि दूध इसी से मिलता है, भूखा होने पर वह उसे देखते ही अपने रोने में कुछ क्रोध का आभास देने लगता है।

सामाजिक जीवन में क्रोध की जरूरत बराबर पड़ती है। यदि क्रोध न हो तो मनुष्य दूसरों के द्वारा पहुँचाए जानेवाले बहुत से कष्टों की चिर निवृत्ति का उपाय ही न कर सके। कोई मनुष्य किसी दुष्ट के नित्य दो चार प्रहार सहता है। यदि उसमें क्रोध का विकास नहीं हुआ है तो केवल आह ऊह करेगा जिसका उस दुष्ट पर कोई प्रभाव नहीं। उस दुष्ट के हृदय में विवेक, दया आदि उत्पन्न करने में बहुत समय लगेगा। संसार किसी को इतना समय ऐसे छोटे छोटे कामों के लिए नहीं दे सकता। भयभीत होकर प्राणी अपनी रक्षा कभी कभी कर लेता है; पर समाज में इस प्रकार प्राप्त दुःख निवृत्ति चिरस्थायिनी नहीं होती। हमारे कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि क्रोध के समय क्रोध करनेवाले के मन में सदा भावी कष्ट से बचने का उद्देश्य रहा करता है। कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि चेतन सृष्टि के भीतर क्रोध का विधान इसीलिए है।

जिससे एक बार दुःख पहुँचा पर उसके दुहराए जाने की संभावना कुछ भी नहीं है, जो कष्ट पहुँचाया जाता है वह प्रतिकार मात्र है; उसमें रक्षा की भावना कुछ भी नहीं रहती। अधिकतर क्रोध इसी रूप में देखा जाता है। एक दूसरे से अपरिचित दो आदमी रेल पर चले जा रहे हैं। इनमें से एक को आगे ही के स्टेशन पर उतरना

है। स्टेशन तक पहुँचते पहुँचते बात ही बात में एक ने दूसरे को एक तमाचा जड़ दिया और उतरने की तैयारी करने लगा। अब दूसरा मनुष्य भी यदि उतरते उतरते उसे एक तमाचा लगा दे तो यह उसका बदला या प्रतिकार ही कहा जाएगा, क्योंकि उसे फिर उसी व्यक्ति से तमाचे खाने का कुछ भी निश्चय नहीं था। जहाँ और दुःख पहुँचने की कुछ भी संभावना होगी वहाँ शुद्ध प्रतिकार न होगा, उसमें स्वरक्षा की भावना भी मिली होगी।

हमारा पड़ोसी कई दिनों से नित्य आकर हमें दो चार टेढ़ी सीधी सुना जाता है। यदि हम एक दिन उसे पकड़कर पीट दें तो हमारा यह कर्म शुद्ध प्रतिकार न कहलाएगा, क्योंकि हमारी दृष्टि नित्य गालियाँ सहने के दुःख से बचने के परिणाम की ओर भी समझी जाएगी। इन दोनों दृष्टांतों को ध्यानपूर्वक देखने से पता लगेगा कि दुःख से उद्विग्न होकर दुःखदाता को कष्ट पहुँचाने की प्रवृत्ति दोनों में है; पर एक में वह परिणाम आदि का विचार बिलकुल छोड़े हुए है और दूसरे में कुछ लिए हुए। इनमें से पहले दृष्टांत का क्रोध उपयोगी नहीं दिखाई पड़ता। पर क्रोध करनेवाले के पक्ष में उसका उपयोग चाहे न हो पर लोक के भीतर, वह बिलकुल खाली नहीं जाता। दुःख पहुँचानेवाले से हमें फिर दुःख पहुँचाने का डर न सही, पर समाज को तो है, इससे उसे उचित दंड देने से पहले तो उसी की शिक्षा या भलाई हो जाती है फिर समाज के और लोगों के बचाव का बीज भी बो दिया जाता है। यहाँ पर भी वही बात है कि क्रोध के समय लोगों के मन में लोक कल्याण की यह व्यापक भावना सदा नहीं रहा करती। अधिकतर तो ऐसा क्रोध प्रतिकार के रूप में ही होता है।

यह कहा जा चुका है कि क्रोध दुःख के चेतन कारण के साक्षात्कार या परिज्ञान से होता है, अतः एक तो जहाँ कार्यकारण के संबंध ज्ञान में त्रुटि या भूल होती है, वहाँ क्रोध धोखा देता है। दूसरी बात यह है कि क्रोध करनेवाला जिस ओर से दुःख आता है उसी ओर देखता है; अपनी ओर नहीं। जिसने दुःख पहुँचाया उसका नाश हो या उसे दुःख पहुँचे, क्रोध का यही लक्ष्य होता है। न तो वह यह देखता है कि मैंने भी कुछ किया है या नहीं, और न इस बात का ध्यान रहता है कि क्रोध के वेग में मैं जो कुछ करूँगा उसका परिणाम क्या होगा। यही क्रोध का अंधापन है। इसी से एक तो मनोविकार ही एक दूसरे को परिमित किया करते हैं, ऊपर से बुद्धि या विवेक भी उन पर अंकुश रखता है। यदि क्रोध इतना उग्र हुआ कि मन में दुःखदाता की शक्ति के रूप और परिणाम के निश्चय, दया, भय आदि और भावों के संचार तथा अनुचित विचार के लिए जगह ही न रही तो बड़ा अनर्थ खड़ा हो जाता है, जैसे यदि कोई सुने कि उसका शत्रु बीस पचीस आदमी लेकर उसे मारने आ रहा है और वह चट क्रोध से व्याकुल होकर बिना शत्रु की शक्ति का विचार और अपनी रक्षा का पूरा प्रबंध किए उसे मारने के लिए अकेले दौड़ पड़े, तो उसके मारे जाने में बहुत कम संदेह समझा जाएगा। अतः कारण के यथार्थ निश्चय के

उपरांत, उसका उद्देश्य अच्छी तरह समझ लेने पर ही आवश्यक मात्रा और उपयुक्त स्थिति में ही क्रोध वह काम दे सकता है, जिसके लिए उसका विकास होता है।

क्रोध की उग्र चेष्टाओं का लक्ष्य हानि या पीड़ा पहुँचाने के पहले आलंबन में भय का संचार करना रहता है। जिस पर क्रोध प्रकट किया जाता है वह यदि डर जाता है और नम्र होकर पश्चाताप करता है तो क्षमा का अवसर सामने आता है। क्रोध का गर्जन तर्जन क्रोधपात्र के लिए भावी दुष्परिणाम की सूचना है, जिससे कभी कभी उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है और दुष्परिणाम की नौबत नहीं आती। एक की उग्र आकृति देख दूसरा किसी अनिष्ट व्यापार से विरत हो जाता है या नम्र होकर पूर्वकृत दुर्व्यवहार के लिए क्षमा चाहता है। बहुत से स्थलों पर क्रोध का लक्ष्य किसी का गर्व चूर्ण करना मात्र रहता है। अर्थात् दुःख का विषय केवल दूसरे का गर्व या अहंकार होता है। अभिमान दूसरों के मन में या उसकी भावना में बाधा डालता है, उससे वह बहुत से लोगों को यों ही खटका करता है। लोग जिस तरह हो सके—अपराध द्वारा, हानि द्वारा—अभिमानी को नम्र करना चाहते हैं। अभिमान पर जो रोष होता है उसकी प्रवृत्ति अभिमानी को केवल नम्र करने की रहती है; उसको हानि या पीड़ा पहुँचाने का उद्देश्य नहीं होता। संसार में बहुत से अभिमान का उपचार अपमान द्वारा ही हो जाता है।

कभी कभी लोग अपने कुटुंबियों या स्नेहियों से झगड़कर क्रोध से अपना ही सिर पटक देते हैं। यह सिर पटकना अपने को दुःख पहुँचाने के अभिप्राय से नहीं होता; क्योंकि बिलकुल बेगानों के साथ कोई ऐसा नहीं करता। जब किसी को क्रोध में अपना ही सिर पटकते या अंग भंग करते देखें तब समझ लेना चाहिए कि उसका क्रोध ऐसे व्यक्ति के ऊपर है जिसे उसके सिर पटकने की परवा है अर्थात् जिसे उसका सिर फटने से उस समय नहीं तो आगे चलकर दुःख पहुँचेगा।

क्रोध का वेग इतना प्रबल होता है कि कभी कभी मनुष्य यह भी विचार नहीं करता कि जिसने दुःख पहुँचाया है, उसमें दुःख पहुँचाने की इच्छा थी या नहीं। इसी से कभी तो वह अचानक पैर कुचल जाने पर किसी को मार बैठता है और कभी ठोकर खाकर कंकड़ पत्थर तोड़ने लगता है। चाणक्य ब्राह्मण अपना विवाह करने जा रहा था। मार्ग में कुश उसके पैर में चुभे। वह चट मट्ठा और कुदाली लेकर पहुँचा और कुशों को उखाड़कर उनकी जड़ों में मट्ठा देने लगा। एक बार मैंने देखा कि एक ब्राह्मण देवता चूल्हा फूँकते फूँकते थक गए। जब आग न जली तब उस पर क्रोध करके चूल्हे में पानी डाल किनारे हो गए। इस प्रकार का क्रोध अपरिष्कृत है। यात्रियों ने बहुत से ऐसे जंगलियों का हाल लिखा है जो रास्ते में पत्थर की ठोकर लगने पर बिना उसको चूर चूर किए आगे नहीं बढ़ते। अधिक अभ्यास के कारण यदि कोई मनोविकार बहुत प्रबल पड़ जाता है, तो वह अंतःप्रकृति में अव्यवस्था उत्पन्न कर मनुष्य को बचपन से मिलती जुलती अवस्था में ले जाकर पटक देता है।

क्रोध सब मनोविकारों से फुर्तीला है, इसी से अवसर पड़ने पर वह और मनोविकारों का भी साथ देकर उनकी तुष्टि का साधक होता है। कभी वह दया के साथ कूदता है, कभी घृणा के। एक क्रूर कुमार्गी किसी अनाथ अबला पर अत्याचार कर रहा है। हमारे हृदय में उस अनाथ अबला के प्रति दया उमड़ रही है। पर दया की अपनी शक्ति तो त्याग और कोमल व्यवहार तक होती है। यदि वह स्त्री अर्थकष्ट में होती तो उसे कुछ देकर हम अपनी दया के वेग को शांत कर लेते। पर यहाँ तो उस अबला के दुःख का कारण मूर्तिमान तथा अपने विरुद्ध प्रयत्नों को ज्ञानपूर्वक रोकने की शक्ति रखनेवाला है। ऐसी अवस्था में क्रोध ही उस अत्याचारी के दमन के लिए उत्तेजित करता है जिसके बिना हमारी दया ही व्यर्थ जाती। क्रोध अपनी इस सहायता के बदले में दया की वाहवाही को नहीं बँटाता। काम क्रोध करता है, पर नाम दया ही का होता है। लोग यही कहते हैं कि "उसने दया करके बचा लिया" यह कोई नहीं कहता कि "क्रोध करके बचा लिया"। ऐसे अवसरों पर यदि क्रोध दया का साथ न दे तो दया अपनी प्रवृत्ति के अनुसार परिणाम उपस्थित ही नहीं करती।

क्रोध शांतिभंग करनेवाला मनोविकार है। एक का क्रोध दूसरे में भी क्रोध का संचार करता है। जिसके प्रति क्रोध प्रदर्शन होता है वह तत्काल अपमान का अनुभव करता है और इस दुःख पर उसकी भी त्योरी चढ़ जाती है। यह विचार करनेवाले बहुत थोड़े निकलते हैं कि हम पर जो क्रोध प्रकट किया जा रहा है, वह उचित है या अनुचित। इसी से धर्म, नीति और शिष्टाचार तीनों में क्रोध के निरोध का उपदेश पाया जाता है। संत लोग तो खलों के वचन सहते हैं। दुनियादार लोग भी न जाने कितनी ऊँची नीची पचाते रहते हैं। सभ्यता के व्यवहार में भी क्रोध नहीं तो क्रोध के चिह्न दबाए जाते हैं। इस प्रकार का प्रतिबंध समाज़ की सुख शांति के लिए बहुत आवश्यक है। पर इस प्रतिबंध की भी सीमा है। यह परपीड़कोन्मुख क्रोध तक नहीं पहुँचता।

क्रोध के निरोध का उपदेश अर्थपरायण और धर्मपरायण दोनों देते हैं। पर दोनों को जिस अति से अधिक सावधान रहना चाहिए वही कुछ भी नहीं रहता। बाकी रुपया वसूल करने का ढंग बतानेवाला चाहे कड़े पड़ने की शिक्षा दे भी दें, पर धज के साथ धर्म की ध्वजा लेकर चलनेवाला धोखे में भी क्रोध को पाप का बाप ही कहेगा। क्रोध रोकने का अभ्यास ठगों और स्वार्थियों को सिद्धों और साधकों से कम नहीं होता। जिससे कुछ स्वार्थ निकालना रहता है, जिसे बातों में फँसाकर ठगना रहता है, उसकी कठोर और अनुचित बातों पर न जाने कितने लोग जरा भी क्रोध नहीं करते, पर उसका यह अक्रोध न धर्म का लक्षण है, न साधन।

क्रोध के प्रेरक दो प्रकार के दुःख हो सकते हैं—अपना दुःख और पराया दुःख। जिस क्रोध के त्याग का उपदेश दिया जाता है वह पहले प्रकार के दुःख से उत्पन्न

क्रोध है। दूसरे के दुःख पर उत्पन्न क्रोध बुराई की हद के बाहर समझा जाता है। क्रोधोत्तेजक दुःख जितना ही अपने संपर्क से दूर होगा, उतना ही लोक में क्रोध का स्वरूप सुंदर और मनोहर दिखाई देगा। दुःख से आगे बढ़ने पर भी कुछ दूर तक क्रोध का कारण थोड़ा बहुत अपना ही दुःख कहा जा सकता है, जैसे—अपने या आत्मीय परिजन का दुःख, इष्ट मित्र का दुःख। इसके आगे भी जहाँ तक दुःख की भावना के साथ कुछ ऐसी विशेषता लगी रहेगी कि जिसे कष्ट पहुँचाया जा रहा है वह हमारे ग्राम, पुर या देश का रहनेवाला है, वहाँ तक हमारे क्रोध से सौंदर्य की पूर्णता में कुछ कसर रहेगी। जहाँ उक्त भावना निर्विशेष रहेगी वही सच्ची परदुःखकातरता मानी जाएगी, वही क्रोध के स्वरूप को पूर्ण सौंदर्य प्राप्त होगा—ऐसा सौंदर्य जो काव्यक्षेत्र के बीच भी जगमगाता है।

यह क्रोध करुणा के आज्ञाकारी सेवक के रूप में हमारे सामने आता है। स्वामी से सेवक कुछ कठिन होते ही हैं, उनमें कुछ अधिक कठोरता रहती है। पर यह कठोरता ऐसी कठोरता को भंग करने के लिए होती है जो पिघलनेवाली नहीं होती। क्रौंच के वध पर वाल्मीकि मुनि के करुण क्रोध का सौंदर्य एक महाकाव्य का सौंदर्य हुआ। उक्त सौंदर्य का कारण है निर्विशेषता। वाल्मीकि के क्रोध के भीतर प्राणिमात्र के दुःख की सहानुभूति छिपी है—राम के क्रोध के भीतर संपूर्ण लोक के दुःख का क्षोभ समाया हुआ है। क्षमा जहाँ से श्रीहत हो जाती है, वहीं से क्रोध के सौंदर्य का आरंभ होता है। शिशुपाल की बहुत सी बुराइयों तक जब श्रीकृष्ण की क्षमा पहुँच चुकी तब जाकर उसका लौकिक लावण्य फीका पड़ने लगा और क्रोध की समीचीनता का सूत्रपात हुआ। अपने ही दुःख पर उत्पन्न क्रोध तो प्रायः समीचीनता ही तक रह जाता है, सौंदर्यदशा तक नहीं पहुँचता। दूसरे के दुःख पर उत्पन्न क्रोध में या तो हमें तत्काल क्षमा का अवसर या अधिकार ही नहीं रहता अथवा वह अपना प्रभाव खो चुकी रहती है।

बहुत दूर तक और बहुत काल से पीड़ा पहुँचाते चले आते हुए किसी घोर अत्याचारी का बना रहना ही लोक की क्षमा की सीमा है। इसके आगे क्षमा न दिखाई देगी—नैराश्य, कायरता और शिथिलता ही छाई दिखाई पड़ेगी। ऐसी गहरी उदासी की छाया के बीच आशा, उत्साह और तत्परता की प्रभा जिस क्रोधाग्नि के साथ फूटती दिखाई पड़ेगी, उसके सौंदर्य का अनुभव सारा लोक करेगा। राम का कालाग्नि सदृश क्रोध ऐसा ही है। वह सात्त्विक तेज है; तामस ताप नहीं।

दंड कोप का ही एक विधान है। राजदंड राजकोप है, जहाँ कोप लोककोप और लोककोप धर्मकोप है। जहाँ राजकोप धर्मकोप से एकदम भिन्न दिखाई पड़े, वहाँ उसे राजकोप न समझकर कुछ विशेष मनुष्यों का कोप समझना चाहिए। ऐसा कोप राजकोप के महत्त्व और पवित्रता का अधिकारी नहीं हो सकता। उसका सम्मान जनता अपने लिए आवश्यक नहीं समझ सकती।

वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है। जिससे हमें दुःख पहुँचा है उसपर यदि हमने क्रोध किया और यह क्रोध हमारे हृदय में बहुत दिनों तक टिका रहा तो वह वैर कहलाता है। इस स्थायी रूप में टिक जाने के कारण क्रोध का वेग और उग्रता तो धीमी पड़ जाती है; पर लक्ष्य को पीड़ित करने की प्रेरणा बराबर बहुत काल तक हुआ करती है। क्रोध अपना बचाव करते हुए शत्रु को पीड़ित करने की युक्ति आदि सोचने का समय प्रायः नहीं देता पर वैर उसके लिए बहुत समय देता है। सच पूछिए तो क्रोध और वैर का भेद केवल कालकृत है। दुःख पहुँचने के साथ ही दुःखदाता को पीड़ित करने की प्रेरणा करनेवाला मनोविकार क्रोध और कुछ काल बीत जाने पर प्रेरणा करनेवाला भाव वैर है। किसी ने आपको गाली दी। यदि आपने उसी समय उसे मार दिया तो आपने क्रोध किया। मान लीजिए कि वह गाली देकर भाग गया और दो महीने बाद आपको कहीं मिला। अब यदि आपने उससे बिना फिर गाली सुने, मिलने के साथ ही उसे मार दिया तो यह आपका वैर निकालना हुआ। विवरण से स्पष्ट है कि वैर उन्हीं प्राणियों में होता है जिनमें धारणा अर्थात् भावों के संचय की शक्ति होती है। पशु और बच्चे किसी से वैर नहीं मानते। चूहे और बिल्ली के संबंध का 'वैर' नाम आलंकारिक है। आदमी का न आम अंगूर से कुछ वैर है न भेड़ बकरे से। पशु और बच्चे दोनों क्रोध करते हैं और थोड़ी देर के बाद भूल जाते हैं।

क्रोध का एक हलका रूप है चिड़चिड़ाहट, जिसकी व्यंजना प्रायः शब्दों ही तक रहती है। इसका कारण भी वैसा उग्र नहीं होता। कभी कभी चित्त व्यग्र रहने, किसी प्रवृत्ति में बाधा पड़ने या किसी बात का ठीक सुबीता न बैठने के कारण ही लोग चिड़चिड़ा उठते हैं। ऐसे सामान्य कारणों के अवसर बहुत अधिक आते रहते हैं इससे चिड़चिड़ाहट स्वभावगत होने की संभावना बहुत अधिक रहती है। किसी मत, संप्रदाय या संस्था के भीतर निरूपित आदर्शों पर ही अनन्य दृष्टि रखनेवाले बाहर की दुनिया देख देखकर अपने जीवन भर चिड़चिड़ाते चले जाते हैं। जिधर निकलते हैं, रास्ते भर मुँह बिगड़ा रहता है। चिड़चिड़ाहट एक प्रकार की मानसिक दुर्बलता है, इसी से यह रोगियों और बुड्ढों में अधिक पाई जाती है। इसका स्वरूप उग्र और भयंकर न होने से यह बहुतों के, विशेषतः बालकों के, विनोद की एक सामग्री भी हो जाती है। बालकों को चिड़चिड़े बुड्ढों को चिढ़ाने में बहुत आनंद आता है और कुछ विनोदी बुड्ढे भी चिढ़ने की नकल किया करते हैं। कोई 'राधाकृष्ण' कहने से, कोई 'सीताराम' पुकारने से और कोई 'करेले' का नाम लेने से चिढ़ता है और अपनी पीछे लड़कों की एक खासी भीड़ लगाए फिरता है। जिस प्रकार लोगों को हँसाने के लिए कुछ लोग मूर्ख या बेवकूफ बनते हैं उसी प्रकार चिड़चिड़े भी। मूर्खता मूर्ख को चाहे रुलाए पर दुनिया को तो हँसाती ही है। मूर्ख हास्यरस के बड़े प्राचीन आलंबन हैं। न जाने कब से इस संसार की रुखाई के बीच हास का विकास कराते चले आ

रहे हैं। आज भी दुनिया को हँसाने का हौसला बहुत कुछ उन्हीं की बरकत से हुआ करता है।

किसी बात का बुरा लगना, उसकी असह्यता का क्षोभयुक्त और आवेगपूर्ण अनुभव होना, अमर्ष कहलाता है। पूर्ण क्रोध की अवस्था में मनुष्य दुःख पहुँचानेवाले पात्र की ओर ही उन्मुख रहता है, उसी को भयभीत या पीड़ित करने की चेष्टा में प्रवृत्त रहता है। अमर्ष में दुःख पहुँचानेवाली बात के ब्योरों पर और उसकी असह्यता पर विशेष ध्यान रहता है। इसकी ठीक व्यंजना ऐसे वाक्यों से समझनी चाहिए—"तुमने मेरे साथ यह किया, वह किया। अब तक तो मैं सहता आया, अब नहीं सह सकता।" इसके आगे बढ़कर जब कोई दाँत पीसता और गरजता हुआ यह कहने लगे कि "मैं तुम्हें धूल में मिला दूँगा, तुम्हारा घर खोदकर फेंक दूँगा" तब क्रोध का पूर्ण स्वरूप समझना चाहिए।

[चिन्तामणि, भाग-1]

व्यवहार पक्ष

भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिन्दी

हिन्दी की वर्तमान गति का आरम्भ भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र की लेखनी ही से है। इनके पूर्व हिन्दी का प्रवाह किस ओर को था और इन्होंने उसे किस ओर फेरा यही दिखलाने का यत्न इस लेख में किया जायगा। भारतेंदु ने जिस अवस्था में हिन्दी को पाया वह विलक्षण थी। पद्य में जायसी, सूर, तुलसी आदि के आख्यान काव्यों का समय एक प्रकार से बीत चुका था। केशव के चलाए हुए नायिका भेद, रस, अलंकार आदि को लक्ष्य करती हुई स्फुट कविताओं के छींटे उड़ रहे थे। गद्य प्रेमसागर, सिंहासन बत्तीसी और बैताल पच्चीसी से संतोष किए बैठा था।

यद्यपि देश में नए नए भावों का संचार हो गया था पर हमारी भाषा उनसे दूर थी। यद्यपि लोगों की अभिरुचि बदल चली थी पर हमारे साहित्य पर उसका आभास नहीं पड़ा था। शिक्षित लोगों के विचारों और व्यापारों ने दूसरा मार्ग तो पकड़ लिया था पर उनका साहित्य उसी पुराने मार्ग ही पर था। ये लोग समय के साथ स्वयं तो कुछ आगे बढ़ आए पर जल्दी से अपने साहित्य को साथ न ले सके। उसका साथ छूट गया और वह उनके कार्यक्षेत्र में अलग पड़ गया। प्रायः सब सभ्य जातियों का साहित्य विचारों और व्यापारों से लगा हुआ चलता है। यह नहीं कि उनकी चिंताओं और कार्यों का प्रवाह तो एक ओर हो और उनके साहित्य का प्रवाह दूसरी ओर। फिर यह विचित्र घटना यहाँ कैसे हुई? बात यह है कि जिन लोगों के हृदय में नई शिक्षा के प्रभाव से नए विचार उत्पन्न हो चले थे, जो अपनी आँखों से देश काल का परिवर्तन देख रहे थे उनमें अधिकांश तो ऐसे थे जिनका कई कारणों से हिन्दी साहित्य से लगाव टूट सा गया था और शेष ऐसे थे जिन्हें हिन्दी साहित्य का मंडल बहुत ही बद्ध और परिमित दिखाई देता था, जिन्हें इन नए विचारों को सन्निवेशित करने के लिए स्थान हीं नहीं सूझता था। उस समय एक ऐसे साहसी और प्रतिभासंपन्न पुरुष की आवश्यकता थी जो कौशल से इन बढ़ते हुए विचारों का मेल देश के परम्परागत साहित्य से करा देता। बाबू हरिश्चंद्र का प्रादुर्भाव ठीक ऐसे ही समय में हुआ।

इन्होंने कविता पर जो दृष्टि डाली तो देखा कि बहुत से ऐसे शब्द जिन्हें

बोलचाल से उठे कई सौ वर्ष हो गए, कवित्त और सवैयों में बराबर खपाए जाते हैं जिससे जनसाधारण का ध्यान उनकी ओर से फिरता जाता है। चक्कवै, अमेजे, मजेजे, ठायो, करसायल, ईठ, दीह, ऊनो, लोह आदि के कारण बहुत से लोग हिन्दी कविता से किनारा खींचने लगे हैं। दूसरा दोष जो बढ़ते बढ़ते बहुत बुरी सीमा को पहुँच गया था वह शब्दों का तोड़ मरोड़ और गढ़े हुए मनमाने शब्दों का प्रयोग था। जैसे "कपियों का स्वभाव रूख तोड़ना" गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है वैसे ही इन कवियों का स्वभाव शब्द तोड़ना हो चला था। बाबू हरिश्चंद्र ने इन बातों का संशोधन करना आरम्भ किया और व्रजभाषा की फुटकल कविताओं के लिए भी अच्छा मार्ग दिखलाया। उन्होंने अपने रसीले कवित्तों और सवैयों में ऐसे शब्दों का प्रयोग बहुत कम किया है और उनकी भाषा बोलचाल की भाषा से मिलती हुई रखी है, जैसे–

आजु लौं जो न मिले तो कहा, हम तो तुम्हरे सब भाँति कहावैं।
मेरो उराहनो है कछु नाहिं सबै फल आपने भाग को पावैं॥
जो हरिश्चंद भई सो भई अब प्रान चले चहैं तासो सुनावैं।
प्यारे जू है जग की यह रीति विदा के समय सब कंठ लगावैं॥

इसी कारण इनकी कविताओं का प्रचार भी देखते देखते हो गया। लोगों के मुँह से इनके सवैये चारों ओर सुनाई देने लगे; इनके गीतों को स्त्रियाँ तक घर घर में गाने लगीं। इनकी कविता बहुत ही जनप्रिय हुई। इनके समय ही में जो जो संग्रह बने उन सबमें प्रायः इनकी कविताएँ विशेषकर सवैये दिए गए। इन्होंने मनुष्य के मनोवेगों को बड़ी सीधी सादी पर परिपूर्ण भाषा में निकालने का प्रयत्न किया है। लीक पीटने वालों की उस शब्दावली को जो पुरानी पड़ गई थी, इन्होंने बहुत कुछ छाँटा। ये बड़े भारी साहित्य संशोधक हुए। इनके सीधे सादे शब्दों से भाव टपके पड़ते हैं। जिसे इनकी कविता 'साधारण' जँचे उसे समझना चाहिए कि "खड्ड बड्ड" वाले कविन्दों ने भावकता का नाश करके उसके हृदय को कुरुचिपूर्ण कर दिया है।

पर सबसे बड़ा काम तो इस महात्मा को यह करना था कि वह स्वदेशाभिमान, स्वजाति प्रेम, समाज सुधार आदि के आधुनिक उद्गारों के प्रवाह के लिए हिन्दी को चुने तथा इतिहास, विज्ञान, पुरावृत्त आदि समस्त समयापेक्षित विषयों की ओर हिन्दी को दौड़ा दे। इन्होंने अपनी लेखनी को इन नवीन विषयों पर चलाया। स्वदेशाभिमान और स्वदेश प्रेम को लेकर तो मानो यह कवि उतरा ही था। देश के प्राचीन गौरव को स्मरण कराके उसके एक एक यशस्वी महापुरुष का नाम लेकर उसकी वर्तमान दुरवस्था पर आँसू बहवाने के लिए तो ये आए ही थे। इनके जीवन में 'भारत, भारत' की जो धुन बँधी वह बराबर बँधी रही। विजयिनी विजय वैजयंती लेकर आप मिस्र से लौटी हुई हिंदुस्तानी सेना की बड़ाई करने और सरकार को बधाई देने चले पर बीच में इस विचार में पड़ गए कि–

सहसन बरसन सों सुन्यो जो सपनेहुँ नहिं कान।
सो 'जय भारत' शब्द क्यों पूरयो आज जहान॥

फिर क्या था भारत का भूत सिर पर सवार हो गया।

हाय वही भारत भुव भारी।
सवही विधि सों भई दुखारी॥
भारत भुज बल लहि जग रच्छित।
भारत विद्या सों जग सिच्छित॥
भारत किरिन जगत उँजियारा।
भारत जीव जियत संसारा॥

उन ऐतिहासिक स्थलों और घटनाओं को स्मरण कराने से यह कवि कब चूकता जिनके नाममात्र हिंदू संतान के लिए कविता है। कविता वही जिससे चित्त किसी आवेग में लीन हो जाय*। कौन ऐसा इतिहासविज्ञ भारत संतान होगा जिसका रक्त पानीपत, थानेश्वर, चित्तौर, रणथंभौर आदि का नाम सुनते ही चंचल न हो उठे। कौन ऐसा स्तब्ध और जड़ हिन्दू होगा जिसके हृदय में इन नामों को सुनते ही अनेक प्रकार के भाव न उठने लगें। यदि कोई कवि इन दो चार नामों को केवल एक साथ ले ले तो वह अपना काम कर चुका। इन नामों ही में भाव भरे हैं। वे अकेले ही कल्पना को उभाड़ सकते हैं। मेकाले ने मिल्टन की कविता का इटली के एक कवि की कविता से मिलान करते हुए कहा है कि मिल्टन जब किसी वस्तु का वर्णन करता है तब उसे अपने शब्दों से नाप जोख कर बिलकुल परिमित नहीं कर देता वरन् कुछ काम अपने पाठकों की कल्पना के लिए भी छोड़ देता है। अब देखिए इन नामों को भारतेन्दु ने किस प्रकार लिया है :

हाय पंचनद हा पानीपत।
अजहूँ रहे तुम धरनि विराजत॥
हाय चितौर निलज तू भारी।
अजहूँ खरो भारतहि मझारी॥
जा दिन तव अधिकार नसायो।
ताही दिन किन धरनि समायो॥
तुममें जल नहिं जमुना गंगा।
बढ़हु बेगि करि प्रवल तरंगा॥
बोरहु किन झट मथुरा काशी।
धोवहु यह कलंक की राशी॥

भारत दुर्दशा में आलस्य आदि को लाकर इस कवि ने देश दशा को इस ढंग

* गत वर्ष की 'सरस्वती' में प्रकाशित मेरा 'कविता क्या है?' शीर्षक प्रबंध देखिए।

से झलकाया है कि नए और पुराने दोनों ढाँचे के लोगों का मन उसमें लगे। इस कारीगर में बड़ा भारी गुण यह था कि इसने नए और पुराने विचारों को अपनी रचनाओं में इस तरह मिलाया कि कहीं से जोड़ मालूम न हुआ। पुराने भावों और आदर्शों को लेकर इसने नए आदर्श खड़े किए। देखिए, नीलदेवी में एक देवता के मुँह से भारतवर्ष का कैसा मर्मभेदी भविष्य कहलाया है—

सब भाँति दैव प्रतिकूल होइ यहि नासा।
अब तजहु वीर वर भारत की सब आसा॥
अब सुख सूरज को उदय नहीं इत ह्वै है।
मंगलमय भारत भुव मसान ह्वै जैहै॥

राजा सूर्यदेव के मारे जाने पर रानी नील देवी ने जिस रीति से भगवान् को पुकारा है वह कोई नई नहीं, यह वही रीति है जिससे द्रौपदी ने कृष्णचन्द्र को पुकारा था, भेद इतना ही है कि द्रौपदी ने अपनी लज्जा रखने के लिए पुकार मचाई थी, इसने देश की लज्जा रखने के लिए पुकारा—

कहाँ करुणानिधि केशव सोए।
जागत नाहिं अनेक जतन करि भारतवासी रोए॥

इन्होंने समाज की कुरीतियों को दिखलाकर बराबर उनके सुधार पर जोर दिया है पर अपने विचारों को परंपरागत विचारों से बिलकुल अलग करते हुए नहीं वरन् उनसे लगाव रखते हुए कश्मीर कुसुम, बादशाह दर्पण, कालचक्र, पुरावृत्त संग्रह आदि लिखकर इन्होंने इन विषयों की ओर हिन्दी को लगा दिया। इनके कविवचनसुधा, मैगजीन की देखादेखी हिन्दी में सामयिक पत्र और पत्रिकाएँ निकल पड़ीं। आज जो हम लोग नए नए विचारों को मँजी हुई भाषा में प्रगट करते हैं वह इन्हीं बाबू हरिश्चंद्र की बदौलत। न तो लल्लू लाल की बोली से हमारा काम चलता और न वैद्यक आदि के ग्रंथों की टीकाओं की भाषा से। हिन्दी को उन्नति के आधुनिक मार्ग पर लाकर खड़ा करनेवाले और उसे हमारे साथ फिर लगानेवाले बाबू हरिश्चंद्र ही हुए। अब हमें चाहिए कि राजनीति, विज्ञान, दर्शन, कला आदि के जो भाव हम अपनी संसार यात्रा में प्राप्त करते जायँ उन्हें इस अपनी मातृभाषा हिन्दी को बराबर सौंपते जाएँ क्योंकि यही उन्हें हमारी भावी संतति के लिए संचित रखेगी।

(नागरीप्रचारिणी पत्रिका, 1910 ई.)
[चिन्तामणि भाग-3]

हरिश्चंद्र समीक्षा

बाबू हरिश्चंद्र के हिन्दी को नए रास्ते पर लाने की बात हम पहले कह चुके हैं। अब यह देखना है कि यदि वे कवि थे तो किस ढंग के थे। जिन लोगों ने कविता पर लिखे हुए मेरे सब निबंधों को ध्यानपूर्वक पढ़ा होगा उन्हें विदित होगा कि मनोरंजन के साथ मैंने काव्य के दो उपयोगी कार्य माने हैं :

1. कल्पना की शुद्धि।
2. मनोवेगों का परिष्कार।

इन दोनों कार्यों का साधन कवि लोग प्रकृति के दो विभाग करके देते हैं, वाह्य प्रकृति (External Nature) और मानव प्रकृति (Human Nature) । प्रथम कार्य का साधन तो कवि वन, पर्वत, नदी, निर्झर, लता, वृक्ष आदि प्राकृतिक वस्तुओं को कल्पना में उपस्थित करके करता है। और दूसरे का मनोवेगों को उत्कर्ष तथा सृष्टि के बीच उनके उचित और सुंदर स्थानों को दिखा कर। इनमें से कोई कोई महाकवि तो दोनों कार्यों में कुशल होते हैं, जैसे—वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति और तुलसीदास और कोई प्रथम में कोई द्वितीय में। बाबू हरिश्चंद्र अधिकांश भाषा कवियों के समान इन तीसरे प्रकार के कवियों में थे। यधपि इन्होंने अपनी कविता द्वारा नए नए प्रभाव उत्पन्न किए पर उसके साधनों को परम्परानुसार ही रखा। मानव व्यापारों ही के उत्तेजक अंशों को छाँटकर इन्होंने मनोवेगों को उभाड़ने और ठीक करने का प्रयत्न किया है। और प्राकृतिक पदार्थों और व्यापारों की शक्ति पर बहुत कम ध्यान दिया। इन्होंने मनुष्य को सारी सृष्टि के बीच रख कर नहीं देखा वरन् उसे उसी के उठाए हुए घेरे में रखकर देखा। मनुष्य की सृष्टि को उसके फैलाए हुए प्रपंचावरण से बाहर प्राकृतिक दृश्यों की ओर ले जाने का प्रयत्न इन्होंने नहीं किया जिससे वह अपनी स्थिति के विस्तार को देख मनुष्य मात्र ही होने से संतोष कर सकता है। पर किया क्या जाता? हिन्दी साहित्य का उत्थान ही ऐसे समय में हुआ जब लोगों की रुचि बिगड़ चुकी थी। वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति के आदर्श लोगों के सामने से हट चुके थे।

हमारे आदि कवि वाल्मीकि के हृदय में जिस कविता का प्रादुर्भाव हुआ था

वही सच्ची कविता थी। उन्होंने जो मार्ग दिखलाया था वही सच्चा मार्ग था। देखिए वर्षा का कैसा प्राकृतिक चित्र उन्होंने खींचा है—

क्वचित्प्रकाशं, क्वचिदप्रकाशं
नभः प्रकीर्णाम्बुः घनं विभाति।
क्वचित् क्वचित्पर्वतं संनिरुद्धं,
रूपं यथा शान्तमहार्णवस्य।
व्यामिश्रितं सर्जकदम्बपुष्पैः,
र्नवं जलं पर्वतधातुताम्रम्।
मयूर केकाभिरनुप्रयातं
शैलापगाः शीघ्रतरं बहन्ति।
मेधाभिकामा परिसम्पतन्ती,
संमोदिता भाति बलाकपंक्तिः।
वातावधूतावर पौण्डरीकी,
लम्बेव माला रुचिराम्वरस्य॥
बालेन्द्र गोपान्तरचित्रितेन,
विभाति भूमिर्नवशाद्वलेन।
गात्रानुपृक्तेन शुकप्रभेण
नारीव लाक्षोक्षित कम्बलेन॥
समुद्वहन्तः सलिलातिभारं,
बलाकिनो वारिधरा नदन्तः।
महत्सु शृङ्गेषु महीधराणां,
विश्रम्य विश्रम्य पुनः प्रयाति॥
प्रहर्षिता केतकिपुष्पगन्ध
माघ्राय मत्ता वननिर्झरेषु।
प्रयात शब्दाकुलिता गजेन्द्रा,
सर्द्धिं मयूरैः समदा नदन्ति॥
अङ्गार चूर्णोत्कर सन्निकाशैः
फलैः सुपर्य्याप्तरसैः समृद्धैः।
जम्बूद्रुमाणां प्रविभाति शाखा,
निपीयमाना इव षटपदौधैः।
महान्ति कूटानि महीधराणां
धाराविधौतान्यधिकं विभान्ति।
महाप्रमाणैर्विपुलेः प्रयातै
मुक्ताकलापैरिव लम्बमानै॥

उपर्युक्त वर्णन में किस सूक्ष्मता के साथ कविकुल गुरु ने ऐसे प्राकृतिक व्यापारों का निरीक्षण किया है जिनको बिना किसी उक्ति के गिना देना ही कल्पना पर प्रभाव डाल उसे निरोग करने के लिए बहुत है। कालिदास के कुमारसंभव का हिमालय वर्णन, रघुवंश में उस वन का वर्णन जहाँ नंदिनी को लेकर दिलीप गए हैं, तथा मेघदूत में यक्ष के बताए हुए मार्ग का वर्णन बार बार पढ़ने योग्य है। भवभूति का तो कहना ही क्या है। देखिए–

एतेत एव गिरयो विरुवन्मयूरा।
स्तान्येव मत्तहरिणानि वनस्थलानि ॥
आभञ्जु वञ्जुल लतानि च तान्यमूनि।
नीरन्ध्रनीलनिचुलानि सरित्तटानि ॥

इस तरह की कविता क्या इनके पीछे फिर भारतवर्ष में हुई? यहीं से तो उसने दूसरा मार्ग पकड़ा।

इन महाकवियों ने प्रसंगवश नहीं वरन् केवल वर्णन की रोचकता के लिए जहाँ मानुषी व्यापार दिखाने की इच्छा हुई है वहाँ उन्होंने ऐसे ही स्थलों के व्यापारों को दिखलाया है जहाँ मनुष्य से प्रकृति की सन्निकटता है। ऐसे ग्रामों के आसपास किसानों का खेत जोतना वा काटना, ग्वालों का गाय चराना इत्यादि इत्यादि। जैसे मेघदूत में यक्ष मेघ से कहता है–

क. **त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः**
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः ॥
सद्यस्सीकरोत्कर्षणसुरभिः क्षेत्रमारुह्य मालं
किंचितपश्चाद्व्रज लघुगतिः किंचिदेवोत्तरेण ॥

ख. **कृषी निरावहिं चतुर किसाना।**
जिमि बुध तजहिं मोह मद माना ॥

सच्चे कवि ऋतु आदि के वर्णन में ऐसे ही व्यापारों को सामने लाए हैं। ऐसे कवि ग्रीष्म में छाया के नीचे बैठ कर हाँफते हुए कुत्तों और पानी में बैठी हुई भैंसों का उल्लेख चाहे भले ही कर जायँ पर पसीने से तर रोकड़ मिलाते हुए मुनीमजी की ओर ध्यान न देंगे।

मनुष्य के व्यापार परिमित और संकुचित हैं। अतः वाह्य प्रकृति के अनंत और असीम व्यापारों के सूक्ष्म से सूक्ष्म अंशों को तारतम्यपूर्वक दिखाकर कल्पना को शुद्ध और विस्तृत करना कवि का धर्म है। धीरे धीरे लोग इस बात को भूल चले। इधर उच्च श्रेणी के जो भी कवि हुए उन्होंने अधिकतर मनुष्य की चित्तवृत्तियों के विविध रूपों को बड़े कौशल और तीव्रता के साथ दिखाया परंतु वाह्य प्रकृति की स्वच्छंद क्रीड़ा की ओर कम ध्यान दिया। पीछे से तो राजाश्रय लोलुप मँगते कवियों के कारण कविता केवल वाक्पटुता वा शब्दों का शतरंज बन गई, विषयी लोगों के काम की

चीज हो गई। भर्तृहरि के समय ही से यह दुर्व्यवस्था आरम्भ हो गई थी जिस पर उन्होंने दुख के साथ कहा है–

पुरा विद्वत्तासीदुपशमवतां क्लेशहतये।
गता कालेनासौ विषय सुख सिध्यैर्विषयिणाम्॥

वन, नदी, पर्वत आदि इन याचक कवियों को क्या दे देते जो उसका वर्णन करते। जायसी, सूर, तुलसी आदि स्वच्छन्द कवियों ने हिन्दी कविता को उठाकर खड़ा ही किया था कि केशव ने पैर छान कर उसे गंदे बाजारों में चरने के लिए छोड़ दिया। फिर क्या था, नायिकाओं के पैरो में मखमल के सुर्ख बिछौने गड़ने लगे। यदि कोई षटऋतु की लीक पीटने खड़े हुए तो कहीं शरद की चाँदनी से किसी विरहिणी का शरीर जलाया, कहीं कोयल की कूक से कलेजों के टूक किए, कहीं किसी को प्रमोद से प्रमत्त किया, क्योंकि उन्हें तो इन ऋतुओं के वर्णनों को उद्दीपन मात्र मानकर संयोग या वियोग शृंगार के अंतर्गत ही लाना था। उनकी दृष्टि प्रकृति के इन व्यापारों पर तो जमती ही नहीं थी। नायक या नायिका ही पर दौड़ दौड़ कर जाती थी अतः इसके नायक नायिका की अवस्था विशेष और प्रकृति की दो चार इनी गिनी वस्तुओं से जो सम्बन्ध होता था उसी को दिखाकर ये किनारे हो जाते थे।

बाबू हरिश्चंद्र ने यद्यपि समयानुकूल प्रसंगों को छेड़ नए नए भाव उत्पन्न किए पर उन्होंने भी प्रकृति पर कुछ प्रेम नहीं दिखाया। इनका जीवन वृत्तांत पढ़ने से भी पता लगता है कि वे प्रकृति के उपासक न थे। उन्हें जंगल, पहाड़, नदी आदि को देखने का उतना शौक न था। वे अपने भाव दस तरह के आदमी के साथ उठ बैठ कर प्राप्त करते थे। इसी से मनुष्यों के गुण स्वभाव को यथातथ्य अंकित करने में अद्वितीय हुए हैं। हिन्दी में इनके जोड़ का दूसरा मुश्किल से मिलेगा। भारत दुर्दशा, नील देवी, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, विषस्य विषमौषधम् आदि देखने से यह बात अच्छी तरह मन में बैठ जाती है।

ऐसा भी कहा जाता है कि एक दिन इनके यहाँ बैठ कर एक रंडी गा रही थी। जिसे देखकर इन्होंने कोई कविता बनाई और पास के लोगों से कहा "देखो, यदि हम इसका सत्संग न रखें तो ये भाव कहाँ से सूझें?" ये उर्दू कविता के भी प्रेमी थे। जिसमें वाह्य प्रकृति के निरीक्षण की चाल ही नहीं और जिसमें कल्पना के सामने आने वाले चित्रों के Imagery के बीभत्स और घिनौने होने की कुछ परवा न कर उद्वेगों के उत्कर्ष ही की ओर ध्यान रखा जाता है। यदि ऐसा न होता तो 'मरे हूँ पै आँखें ये खुली ही रहि जायँगी', "विदा के समय सब कंठ लगावैं" वाले पद्य ये न लिखते जहाँ मनोवेगों का उत्कर्ष तो इन्होंने खूब दिखलाया है। इसकी विस्तृत समीक्षा आगे की जाएगी। यहाँ पर तो मुझे यही दिखाना है कि वन, नदी, पर्वत आदि के चित्रों द्वारा इन्होंने मनुष्य की कल्पना की मैल छाँट उसे स्वच्छ और स्वस्थ करने का भार अपने ऊपर नहीं लिया है।

इनकी रचनाओं में विशुद्ध प्राकृतिक वर्णनों का अभाव बराबर पाया जाता है। वस्तु वर्णन में इन्होंने मनुष्य की कृति ही की ओर अधिक रुचि दिखाई जैसे 'सत्यहरिश्चंद्र' के गंङ्गा के इस वर्णन में–

नव उज्ज्वल जलधार हार हीरक सी सोहति।
बिच बिच छहरत बूँद मध्य मुक्ता मनु पोहति॥
लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत।
जिमि नरगन मन विविध मनोरथ करत मिटावत॥
कासी कहँ प्रिय जानि ललकि भेंट्यो उठि धाई।
सपनेहू नहिं तजी रही अङ्कम लपटाई॥
कहूँ बँधे नवघाट उच्च गिरिवर सम सोहत।
कहुँ छतरी, कहुँ मढ़ी बढ़ी मन मोहत जोहत॥
धवल धाम चहु ओर फरहरत धुजा पताका।
घहरति घटा धुनि धमकत धौंसा करि साका॥
मधुरी नौबत बजति, कहूँ नारी नर गावत।
वेद पढ़त कहुँ द्विज कहुँ योगी ध्यान लगावत॥

काशी के लोगों के विलक्षण स्वभाव तथा ऊँची ऊँची हवेलियों और तंग गलियों का वर्णन करने ही के लिए 'काशी के छायाचित्र' लिखा गया।

'चंद्रावली नाटिका' में एक जगह यमुना के तट का वर्णन आया है। वह भी नियमानुगत और परंपराभुक्त (Conventional) ही है। इसमें उपमाओं की भरमार इस बात को सूचित करती है कि कवि का ध्यान उल्लिखित प्राकृतिक वस्तुओं पर रमता नहीं था। हट हट जाता था। देखिए नीचे उसका कुछ अंश देता हूँ।

1. **तरनितनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाए।**
झुके कूल सो जल परसन हित मनहुँ सुहाए॥
किधौं मुकुर में लखत उझकि सब निज निज सोभा।
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा॥
मनु आतप वारन तीर को सिमिट सबै छाये रहत।
कै हरि सेवा हित नै रहे निरखि नैन मन सुख लहत॥

2. **कहूँ तीर पर कमल अमल सोभित बहु भाँतिन।**
कहुँ सैवालन मध्य कुमुदिनी लगि रहि पाँतिन॥
मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखति ब्रज सोभा।
कै उमगे पिय प्रिया प्रेम के अगनित गोभा॥
कै करिके कर बहु, पीय को टेरत निज ढिग सोहई।
कै पूजन को उपचार लै चलति मिलन मन मोहई॥

3. कै पिय पद उपमान जानि यहि निज उर धारत।
कै मुखि कर बहु भृंगन मिस अस्तुति उच्चारत।।
कै ब्रज तियगन बदन कमल की झलकति झाँई।
कै ब्रज हरिपद परस हेतु कमला बहुआई।।
कै सात्विक अरु अनुराग दोउ ब्रज मंडल बगरे फिरत।
कै जानि लच्छमी भौन यहि करि सतधा निज बल धरत।।

('नागरीप्रचारिणी पत्रिका' अप्रैल 1911 ई.)

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

हिन्दी गद्य साहित्य का सूत्रपात करनेवाले चार महानुभाव कहे जाते हैं—मुंशी सदासुखलाल, इंशाअल्ला खाँ, लल्लू लाल और सदल मिश्र। ये चारों संवत् 1860 के आसपास वर्तमान थे। सच पूछिए तो ये गद्य के नमूने दिखानेवाले ही रहे; अपनी परम्परा प्रतिष्ठित करने का गौरव इनमें से किसी को भी प्राप्त न हुआ। हिन्दी गद्य साहित्य की अखंड परम्परा का प्रवर्तन इन चारों लेखकों के 70-72 वर्ष पीछे हुआ। विक्रम की बीसवीं शताब्दी का प्रथम चरण समाप्त हो जाने पर जब भारतेन्दु ने हिन्दी गद्य की भाषा को सुव्यवस्थित और परिमार्जित करके उसका स्वरूप स्थिर कर दिया तब से गद्य साहित्य की परम्परा लगातार चली। इसी दृष्टि से भारतेन्दुजी जिस प्रकार वर्तमान गद्य भाषा के स्वरूप के प्रतिष्ठापक थे, उसी प्रकार वर्तमान साहित्य परम्परा के प्रवर्तक।

राजा शिवप्रसाद के उर्दू की ओर एकबारगी झुक पड़ने से पहले ही राजा लक्ष्मण सिंह अपने 'शकुंतला नाटक' द्वारा संवत् 1919 में थोड़ी संस्कृत मिली ठेठ और विशुद्ध हिन्दी सामने रख चुके थे, जिसमें अरबी फारसी के शब्द नहीं थे। उसका कुछ अंश राजा शिवप्रसाद ने अपने 'गुटका' में दाखिल किया था। पीछे जब वे उर्दू की ओर झुके तब राजा लक्ष्मण सिंह ने अपने 'रघुवंश' के अनुवाद के प्राक्कथन में भाषा के सम्बन्ध में अपना मत इस प्रकार प्रकट किया—

"हमारे मत में हिन्दी और उर्दू दो बोली न्यारी न्यारी हैं। हिन्दी इस देश के हिन्दू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और फारसी पढ़े हुए हिन्दुओं की बोलचाल है। हिन्दी में संस्कृत के पद बहुत आते हैं; उर्दू में अरबी फारसी के। परन्तु कुछ आवश्यक नहीं है कि अरबी फारसी के शब्दों के बिना हिन्दी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिन्दी कहते हैं जिसमें अरबी फारसी के शब्द भरे हों।"

ऊपर के अवतरण से स्पष्ट है कि जिस समय राजा लक्ष्मण सिंह और राजा शिवप्रसाद मैदान में आए थे, उस समय खींचतान बनी थी; भाषा के स्वरूप को स्थिरता नहीं प्राप्त हुई थी। वह भाषा का प्रस्तावकाल था। प्रवर्तन काल का आरम्भ भारतेन्दु की कुछ रचनाओं के निकल जाने के उपरान्त संवत् 1930 के लगभग हुआ। यद्यपि इसके पहले 'विद्यासुंदर' (संवत् 1925) तथा और, कई नाटक भारतेन्दुजी लिख चुके

थे, पर वर्तमान हिन्दी गद्य के उदय का समय उन्होंने 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' के निकलने पर, अर्थात् संवत् 1930 से माना है।

भारतेन्दु की भाषा में ऐसी क्या विशेषता पाई गई कि उसका इतना चलन उन्हीं के सामने हो गया, इसका थोड़ा विचार कर लेना चाहिए। संवत् 1860 में खड़ी बोली के गद्य का सूत्रपात करनेवालों में मुंशी सदासुख और सदल मिश्र ने ही व्यवहार योग्य चलती भाषा का नमूना तैयार किया था। पर इन दोनों की रचनाओं में सफाई नहीं थी। बहुत कूड़ा करकट भरा था। मुंशी सदासुख भगवद् भक्त पुरुष थे और पंडितों और साधु संतों के सत्संग में रहा करते थे। इससे उनके 'सुखसागर' की भाषा में बहुत कुछ पंडिताऊपन है। उनकी खड़ी बोली उस ढंग की है जिस ढंग की संस्कृत के विद्वान् पंडित काशी, प्रयाग आदि पूरब के नगरों में बोलते थे और अब भी बोलते हैं। यद्यपि मुंशीजी खास दिल्ली के रहनेवाले थे और उर्दू के अच्छे कवि और लेखक थे; पर हिन्दी गद्य के लिए उन्होंने पंडितों की बोली ही ग्रहण की। "स्वभाव करके वे दैत्य कहलाए", "उसे दुःख हो गया" "बहकानेवाले बहुत हैं"। इस प्रकार के प्रयोग उन्होंने बहुत किए हैं। रहे सदल मिश्र; उनकी भाषा में पूरबीपन बहुत अधिक है। 'जो' के स्थान पर 'जौन', 'माँ' के स्थान पर 'मतारी', 'यहाँ' के स्थान पर 'इहाँ', 'देखूँगी' के स्थान पर 'देखौंगी' ऐसे शब्द बराबर मिलते हैं। इसके अतिरिक्त ब्रजभाषा या काव्य भाषा के ऐसे ऐसे प्रयोग, जैसे—'फूलन्ह के', 'चहुँ दिशि,' 'सुनि' भी लगे रह गए हैं।

इन दोनों के पीछे राजा शिवप्रसाद और लक्ष्मण सिंह का समय आता है। राजा शिवप्रसाद के गद्य में अधिक खटकनेवाली बात थी उर्दूपन, जो दिन दिन बढ़ती गई। इसी प्रकार राजा लक्ष्मण सिंह के गद्य में खटकनेवाली बात थी आगरे के बोलचाल का पुट। दूसरी बात यह थी कि विशुद्धता का जो आदर्श लेकर राजा लक्ष्मण सिंह चले थे, वह एक चलती व्यावहारिक भाषा के उपयुक्त न था। फारसी अरबी के जो शब्द लोगों की जबान पर नाचा करते थे उन्हें एकदम छोड़ देना भाषा की संचित शक्ति को घटाना था। हँसी मजाक के लिए कुछ अरबी फारसी के चलते शब्द कभी कभी कितना अच्छा काम देते हैं, यह हम लोग बराबर देखते हैं।

ऊपर लिखी त्रुटियों को ध्यान में रखते हुए जब हम भारतेन्दु की भाषा पर विचार करने बैठते हैं, तब इस बात का समझना कुछ सुगम हो जाता है कि उन्होंने हिन्दी गद्य का क्या संस्कार किया। उनकी भाषा में न तो लल्लू लाल का ब्रजभाषापन आने पाया, न मुंशी सदासुख का पंडिताऊपन, न सदल मिश्र का पूरबीपन, न राजा शिवप्रसाद का उर्दूपन, और न राजा लक्ष्मणसिंह का खालिसपन और आगरापन। इतने 'पनों' से एक साथ पीछा छुड़ाना भाषा के सम्बन्ध में बहुत ही परिष्कृत रुचि का परिचय देता है। संस्कृत शब्दों के रहने पर भी भाषा का सुबोध बना रहना, फारसी अरबी के शब्द आने पर भी साथ साथ उर्दूपन न आना, हिन्दी की स्वतन्त्र सत्ता

का प्रमाण था। उनका भाषा संस्कार शब्दों की काट छाँट तक ही नहीं रहा। वाक्य विन्यास में भी वे सफाई लाए। उनकी लिखावट में एक साथ न जुड़ सकनेवाले वाक्य एक में गुँथे हुए प्रायः नहीं पाए जाते। तात्पर्य कि उपयुक्त संयोजक अव्ययों का व्यवहार जैसा उन्होंने चलाया, वैसा उनके पहले न था। विराम की परख भी उन्हें राजा लक्ष्मण सिंह और राजा शिवप्रसाद से कहीं अच्छी थी।

चली आती हुई काव्यभाषा के स्वरूप पर भी उनकी दृष्टि गई। उन्होंने देखा कि बहुत से ऐसे शब्द, जिन्हें बोलचाल से उठे कई सौ वर्ष हो गए थे, कविताओं में बराबर लाए जाते हैं जिससे वे सर्वसाधारण के लगाव से कुछ दूर पड़ती जाती है 'चक्कवै', 'ठायो', 'करसायल', 'ईठ', 'दिह', 'ऊनी', 'लोय' आदि के कारण बहुत से लोग हिन्दी कविता को अपने से कुछ दूर की चीज समझने लगे थे। दूसरा दोष जो बढ़ते बढ़ते बुरी हद तक पहुँच गया था, वह शब्दों का तोड़-मरोड़ था। जैसे कपियों का स्वभाव 'रूख तोड़ना' तुलसीदासजी ने बताया है, वैसे ही कवियों का स्वभाव शब्द तोड़ना मरोड़ना हो गया था। भाषा की सफाई पर बहुत कम ध्यान रहता था। बाबू हरिश्चन्द्र द्वारा इन बातों का भी बहुत कुछ सुधार–चाहे जान में या अनजान में हुआ। इस प्रकार काव्य की ब्रजभाषा के लिए भी उन्होंने बहुत अच्छा रास्ता दिखाया। अपने रसीले कवित्तों और सवैयों में उन्होंने चलती भाषा का व्यवहार किया है, जैसे–

आजु लौं जो न मिले तो कहा, हम तो तुम्हरे सब भाँति कहावैं।
मेरे उराहनों है कुछ नाहिं, सबै फल आपने भाग को पावैं॥
जो हरिचंद भई सो भई, अब प्रान चले चहैं तासों सुनावैं।
प्यारे जू! है जग की यह रीति, विदा के समय सब कंठ लगावैं॥

इसी कारण उनकी कविता का प्रचार भी देखते देखते हो गया। लोगों के मुँह से उनके सवैये भी चारों ओर सुनाई देने लगे, उनके बनाए गीत स्त्रियाँ तक घर घर में गाने लगीं। उनकी रचना लोकप्रिय हुई। उनके समय में जो संग्रह ग्रन्थ बने, उन सबमें उनकी कविताएँ विशेषतः सवैये भी रखे गए। लीक पीटनेवालों की पुरानी पड़ी हुई शब्दावली हटा देने से उनकी काव्य भाषा में भी बड़ी सफाई दिखाई पड़ी।

यह तो हुई भाषा की रूप प्रतिष्ठा की बात। इससे भी बढ़कर काम उन्होंने हिन्दी साहित्य को एक नए मार्ग पर खड़ा करके किया। वे साहित्य के नए युग के प्रवर्तक हुए। यद्यपि देश में नए नए विचारों और भावनाओं का संचार हो गया था, पर हिन्दी उनसे दूर थी। लोगों की अभिरुचि बदल चली थी, पर हमारे साहित्य पर उसका कोई प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता था। शिक्षित लोगों के विचारों और व्यापारों ने तो दूसरा मार्ग पकड़ लिया था, पर उनका साहित्य उसी पुराने मार्ग पर था। वे लोग समय के साथ आप तो कुछ आगे बढ़ आए थे, पर जल्दी में अपने साहित्य को साथ न ले सके थे। उसका साथ छूट गया था और वह और उनके विचार क्षेत्र

और कार्यक्षेत्र दोनों से अलग पड़ गया था। प्रायः सभी सभ्य जातियों का साहित्य उनके विचारों और व्यापारों से लगा हुआ चलता है। यह नहीं कि उनकी चिन्ताओंऔर कार्यों का प्रवाह एक ओर जा रहा हो और उनके साहित्य का प्रवाह दूसरी ओर।

फिर यह विचित्र घटना यहाँ कैसे हुई? बात यह भी कि जिन लोगों के मन में नई शिक्षा के प्रभाव से नए विचार उत्पन्न हो रहे थे, जो अपनी आँखों से काल की गति देख रहे थे और देश की आवश्यकताओं को समझ रहे थे, उनमें अधिकांश तो ऐसे थे जिनका कई कारणों से—विशेषतः उर्दू के बीच में पड़ जाने से—हिन्दी साहित्य से लगाव छूट सा गया था और शेष—जिनमें नवीन भावों की कुछ प्रेरणा और विचारों की कुछ स्फूर्ति थी—ऐसे थे जिन्हें हिन्दी साहित्य का क्षेत्र इतना परिमित दिखाई देता था कि नए नए विचारों को सन्निविष्ट करने के लिए स्थान ही नहीं सूझता था। उस समय एक ऐसे सामंजस्य पटु, साहसी और प्रतिभा सम्पन्न पुरुष की आवश्यकता थी जो कौशल से उन बढ़ते हुए विचारों का मेल देश के परम्परागत साहित्य से करा देता। ऐसे ही पुरुष के रूप में बाबू हरिश्चन्द्र साहित्य क्षेत्र में उतरे। उन्होंने हमारे जीवन के साथ हमारे साहित्य को फिर से लगा दिया। बड़े भारी विच्छेद से उन्होंने हमें बचाया।

वे सिद्ध वाणी के अत्यन्त सरस हृदय कवि थे। इससे एक ओर तो उनकी लेखनी से श्रृंगाररस के ऐसे रसपूर्ण और मर्मस्पर्शी कवित्त सवैये निकलते थे, जो उनके जीवनकाल में ही इधर उधर लोगों के मुँह से सुनाई पड़ने लगे थे और दूसरी ओर स्वदेश प्रेम से भरे हुए उनके लेख और कविताएँ चारों ओर देश के मंगल का मंत्र सा फूँकती थीं। अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से एक ओर तो वे पद्माकर और द्विजदेव की परम्परा में दिखाई पड़ते थे, दूसरी ओर बंगदेश के मधुसूदनदत्त और हेमचन्द्र की श्रेणी में, एक ओर तो राधा कृष्ण की भक्ति में झूमते हुए 'नई भक्तमाल' गूँथते दिखाई देते थे, दूसरी ओर टीकाधारी बंगला भगतों की हँसी उड़ाते तथा स्त्री शिक्षा, समाज सुधार आदि पर व्याख्यान देते पाए जाते थे। प्राचीन और नवीन का यही सुन्दर सामंजस्य भारतेन्दु की कला का विशेष माधुर्य है। साहित्य के एक नवीन युग के आदि में प्रवर्तक के रूप में खड़े होकर उन्होंने यह भी प्रदर्शित किया कि नए नए या बाहरी भावों को पचाकर इस ढंग से मिलाना चाहिए कि वे अपने ही साहित्य के विकसित अंग से लगें। प्राचीन और नवीन के उस सन्धिकाल में जैसी शीतल और मृदुल कला का संचार अपेक्षित था, वैसी ही शीतल और मृदुल कला के साथ भारतेन्दु का उदय हुआ; इसमें सन्देह नहीं।

कविता की नवीन धारा के बीच भारतेन्दु की वाणी का सबसे ऊँचा स्वर देशभक्ति का था। नीलदेवी, भारतदुर्दशा आदि नाटकों के भीतर आई हुई कविताओं में देशदशा की जो मार्मिक व्यंजना है, वह तो है ही; बहुत सी स्वतन्त्र कविताएँ भी उन्होंने लिखीं जिनमें कहीं देश के अतीत गौरव गाथा का गर्व, कहीं वर्तमान

अधोगति की क्षोभ भरी वेदना, कहीं भविष्य की भावना से जगी हुई चिन्ता इत्यादि अनेक पुनीत भावों का संचार पाया जाता है। 'विजयिनी विजय वैजयंती' में जो मिस्र में, भारतीय सेना की विजय प्राप्ति पर लिखी गई थी, देश प्रेम व्यंजक कैसे भिन्न भिन्न संचारी भावों के उद्‌गार हैं। कहीं गर्व, कहीं क्षोभ, कहीं विषाद! "सहसन बरसन सों सुन्यों जो सपने नहिं कान, सो जय आरज शब्द" को सुन और "फरकि उठी सबकी भुजा, खरकि उठी तलवार। क्यों आपुहि ऊँचे भए आर्य मोंछ के बार" का कारण जान प्राचीन आर्य गौरव का गर्व कुछ आ ही रहा था कि वर्तमान अधोगति का दृश्य ध्यान में आया और फिर वही 'हाय भारत!' की धुन—

हाय वहै भारत भुव भारी। सब ही विधि सों भई दुखारी॥
हाय पंचनद! हा पानीपत! अजहुँ रहे तुम धरनि विराजत॥
हाय चित्तौर! निलज तू भारी। अजहु खरो भारतहि मँझारी॥
तुममें जल नहिं जमुना गंगा। बढ़हु वेगि किन प्रबल तरंगा॥
बोरहु किन झट मथुरा कासी। धोवहु वह कलंक की रासी॥

'चित्तौर', 'पानीपत' इन नामों में ही इतिहासविज्ञ हिन्दू हृदय के लिए कितने भावों की व्यंजना भरी है। उनके लिए ये नाम ही काव्य हैं। यदि कोई कवि केवल इन दो चार नामों को एक साथ ले ले तो वह अपना बहुत कुछ काम कर चुका। ये आप ही कल्पना के कपाट खोल ऐसे ऐसे दृश्य सामने ला देंगे जिनसे क्षुब्ध होकर हृदय अनेक गम्भीर भावनाओं में मग्न हो जाएगा।

'भारत दुर्दशा' में आलस्य आदि को लाकर इस कवि ने देश दशा को इस ढंग से झलकाया है कि नए और पुराने ढाँचों के लोगों का मन लगे। इस कलाकार में बड़ा भारी गुण यह था कि इसने नए और पुराने विचारों को अपनी रचनाओं में इस सफाई से मिलाया कि कहीं से जोड़ मालूम न हुआ। पुराने भावों और आदर्शों को लेकर इन्होंने नए आदर्श खड़े किए। देखिए, 'नीलदेवी' ने एक देवता के मुँह से भारतवर्ष का कैसा मर्मभेदी भविष्य कहलाया—

सब भाँति दैव प्रतिकूल होय यहि नासा।
अब तजहु बीरवर भारत की सब आसा॥
अब सुख सूरज को उदय नहीं इत ह्वैहै।
मंगलमय भारत भुव मसान ह्वै जै है॥

राजा सूरजदेव के मारे जाने पर रानी नीलदेवी ने जिस रीति से भगवान् को पुकारा है वह कोई नई बात नहीं। वह वही रीति है जिससे द्रौपदी ने भगवान् को पुकारा था। भेद इतना ही है कि द्रौपदी ने अपनी लज्जा रखने के लिए, अपना संकट हटाने के लिए, पुकार मचाई थी; नीलदेवी ने देश की लज्जा रखने के लिए, देश का संकट दूर करने के लिए पुकारा है—

कहाँ करुनानिधि केशव सोए?
जागत नाहिं, अनेक जतन करि भारतवासी रोए।।

बड़ा भारी काम भारतेन्दु ने यह किया कि स्वदेशाभिमान, स्वजाति प्रेम, समाज सुधार आदि की आधुनिक भावनाओं के प्रवाह के लिए हिन्दी को चुना तथा इतिहास, विज्ञान, उपन्यास, पुरावृत्त इत्यादि अनेक समयानुकूल विषयों की ओर हिन्दी को दौड़ा दिया। अब यह देखना है कि यदि वे कवि थे तो किस ढंग के थे? विषय क्षेत्र के विचार से देखते हैं तो प्रायः तीन ढंग के कवि पाए जाते हैं, कुछ तो नर प्रकृति के वर्णन में ही अधिकतर लीन रहते हैं, कुछ बाह्य प्रकृति के वर्णन में और कुछ दोनों में समान रुचि रखते हैं। पिछले वर्ग में वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति इत्यादि संस्कृत के प्राचीन कवि ही आते हैं।

बाबू हरिश्चन्द्र अधिकांश भाषा कवियों के समान प्रथम प्रकार के कवियों में थे। यद्यपि इन्होंने अपनी कविता द्वारा नए नए संस्कार, उत्पन्न किए; पर उसके स्वरूप को परम्परानुसार ही रखा। मानवी वृत्तियों ही के मर्मस्पर्शी अंशों को छाँटकर उन्होंने मनोविकारों को तीव्र और परिष्कृत करने का प्रयत्न किया, दूसरी प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों की मर्मस्पर्शिनी शक्ति पर बहुत कम ध्यान दिया। इन्होंने मनुष्य को सारी सृष्टि के बीच रखकर नहीं देखा, उसे उसी के उठाए हुए घेरे में रखकर देखा। मनुष्य की दृष्टि को उसके फैलाए हुए प्रपंचावरण से बाहर प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र की ओर ले जाने का प्रयास इन्होंने नहीं किया। बात यह है कि हिन्दी साहित्य का उत्थान ही ऐसे समय में हुआ जब लोगों की दृष्टि बहुत कुछ संकुचित हो चुकी थी। वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति के आदर्श लोगों के सामने से हट चुके थे।

हमारे आदिकवि वाल्मीकि के हृदय में जो भावुकता थी, वह कुछ काल पीछे मंद पड़ने लगी। जिस तन्मयता के साथ उन्होंने प्रकृति का निरीक्षण किया है, उसकी परम्परा कालिदास, भवभूति तक पाई जाती है। वाल्मीकि के हेमंत वर्णन में कैसा सूक्ष्म प्रकृति निरीक्षण है। उनके वर्षा वर्णन में भी यही बात है–

क्वचित्प्रकाशं क्वचिदप्रकाशं,
नभः प्रकीर्णाम्बुधरं विभाति।
क्वचित् क्वचित्पर्वत-सन्निरुद्धं
रूपं यथा शांतमहार्णवस्य॥
व्यामिश्रितं सर्जकदंब-पुष्पै
र्नवं जलं पर्वत-धातु-ताम्रम्।
मयूरकेकाभिरनुप्रयातं
शैलापगाः शीघ्रतरं वहंति॥

उपर्युक्त वर्णन में किस सूक्ष्मता के साथ कविकुल गुरु ने ऐसे प्राकृतिक व्यापारों का निरीक्षण किया है जिनको बिना किसी अनूठी उक्ति के गिना देना ही कल्पना

को परिष्कार और भाव को संचार करने के लिए बहुत है। कालिदास के कुमारसंभव का हिमालय वर्णन, रघुवंश में उस वन का वर्णन जहाँ नंदिनी को लेकर दिलीप गए हैं, तथा मेघदूत में यक्ष के बताए हुए मार्ग का वर्णन बार बार पढ़ने योग्य है। भवभूति का तो कहना ही क्या है। देखिए–

एते त एव गिरयो विरुवन्मयूरा–
स्तान्येव मत्तहरिणानि वनस्थलानि।
आमंजुवंजुल लतानि च तान्यमूनि,
नीरंध्र-नील-निचुलानि सरित्तटानि ॥

इन महाकवियों ने कथा प्रसंग के अतिरिक्त जहाँ वर्णन की रोचकता के लिए मनुष्य व्यापार दिखाए हैं, वहाँ इन्होंने ऐसे ही स्थलों के व्यापारों को दिखलाया है जहाँ मनुष्य से प्रकृति की सन्निकटता है, जैसे–ग्रामों के आसपास किसानों का खेत जोतना या काटना, ग्वालों का गाय चराना इत्यादि इत्यादि। जैसे मेघदूत में यक्ष मेघ से कहता है–

(क) **त्वय्यात्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः**
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः।
सद्यस्सीकरोत्कर्षण-सुरभिः क्षेत्रमारुह्य मालं
किञ्चित्पश्चाद व्रज लघुगति किंचितदेवोत्तेरेण ॥

(ख) **कृषी निरावहिं चतुर किसाना।**
जिमि बुध तजहिं मोह मद माना॥

सच्चे कवि ऋतु आदि के वर्णन में ऐसे ही व्यापारों को सामने लाए हैं। ऐसे कवि ग्रीष्म में छाया के नीचे बैठकर हाँफते हुए कुत्तों और पानी में बैठी हुई भैंसों का उल्लेख चाहे भले ही कर जायँ, पर पसीने से तर रोकड़ मिलाते हुए मुनीम जी की ओर ध्यान न देंगे।

मनुष्य के व्यापार परिमित और संकुचित हैं। अतः वाह्य प्रकृति के अनंत और असीम व्यापारों के सूक्ष्म से सूक्ष्म अंशों को सामने करके भावना या कल्पना को शुद्ध और विस्तृत करना भी कवि का धर्म है, धीरे-धीरे लोग इस बात को भूल चले। इधर उच्च श्रेणी के भी जो कवि हुए, उन्होंने अधिकतर मनुष्य की चित्त वृत्तियों के विविध रूपों को कौशल और मार्मिकता के साथ दिखाया, पर वाह्य प्रकृति की स्वच्छंद क्रीड़ा की ओर कम ध्यान दिया। पीछे से तो राजाश्रयलोलुप मँगते कवियों के कारण कविता केवल वाक्पटुता या शब्दों का शतरंज बन गई; विषयी लोगों के काम की चीज हो गई। भर्तृहरि के समय ही से यह दुरवस्था आरम्भ हो गई थी जिस पर उन्होंने दुःख के साथ कहा था–

पुरा विद्वत्तासीदुपशमवतां क्लेशहतये
गता कालेनासौ विषयसुख-सिद्ध्यैर्विषयिणाम्।

वन, नदी, पर्वत आदि इन याचक कवियों को क्या दे देते जो वे उनका वर्णन करने जाते। सूर और तुलसी आदि स्वच्छंद कवियों ने हिन्दी कविता को उठाकर खड़ा ही किया था कि रीतिकाल के श्रृंगारी कवियों ने उसके पैर छानकर उसे गंदी गलियों में भटकने के लिए छोड़ दिया। फिर क्या था, नायिकाओं के पैरों में मखमल से सुर्ख बिछौने गड़ने लगे। यदि कोई षड्ऋतु की लीक पीटने खड़े हुए तो कहीं शरद् की चाँदनी से किसी विरहिणी का शरीर जलाया, कहीं कोयल की कूक से कलेजों के टूक किए, कहीं किसी को प्रमोद से प्रमत्त किया। उन्हें तो इन ऋतुओं को उद्दीपन मात्र मान संयोग या वियोग की दशा का वर्णन करना रहता था। उनकी दृष्टि प्रकृति के इन व्यापारों पर तो जमती नहीं थी, नायक या नायिका ही पर दौड़ दौड़कर जाती थी अतः उनके नायक या नायिका की अवस्था विशेष का प्रकृति की दो चार इनी गिनी वस्तुओं से जो सम्बन्ध होता था, उसी को दिखाकर वे किनारे हो जाते थे।

बाबू हरिश्चन्द्र ने यद्यपि समयानुकूल प्रसंग छेड़ नए नए संस्कार उत्पन्न किए पर उन्होंने भी प्रकृति पर प्रेम न दिखाया। उनका जीवन वृत्तान्त पढ़ने से भी पता लगता है कि वे प्रकृति के उपासक न थे। उन्हें जंगल, पहाड़, नदी आदि को देखने का उतना शौक न था। वे अपने भाव "दस तरह के आदमियों के साथ उठ बैठकर" प्राप्त करते थे। इसी से मनुष्यों की भीतरी बाहरी वृत्तियाँ अंकित करने में ही वे तत्पर रहे हैं और नाटकों की ओर उन्होंने विशेष रुचि दिखाई है। भारत दुर्दशा, नीलदेवी, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, विषस्य विषमौषधम् आदि देखने से यह बात अच्छी तरह मन में बैठ जायगी।

ऐसा भी कहा जाता है कि एक दिन उनके यहाँ बैठकर एक वेश्या गा रही थी। उसे देखकर उन्होंने कविता बनाई और पास के लोगों से कहा—"देखो यदि हम इनका सत्संग न रखें तो ये भाव कहाँ से सूझे?" दे उर्दू कविता के भी प्रेमी थे जिसमें वाह्य प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण की चाल ही नहीं और जिसमें कल्पना के सामने आनेवाले चित्रों (lmagery) के बीभत्स और घिनौने होने की कुछ परवा न कर भावों के उत्कर्ष की ही ओर ध्यान रखा जाता है। यदि ऐसा न होता तो "मरे हूँ पै आँखें ये खुली ही रहि जायँगी" ऐसे पद्य वे न लिखते। भावों का उत्कर्ष उन्होंने अच्छा दिखलाया है। वन, नदी, पर्वत आदि के चित्रों द्वारा मनुष्य की कल्पना को स्वच्छ और स्वस्थ करने का भार उन्होंने अपने ऊपर नहीं लिया था।

उनकी रचनाओं में विशुद्ध प्राकृतिक वर्णनों का अभाव बराबर पाया जाता है। वस्तु वर्णन में उन्होंने मनुष्यों की कृति ही की ओर अधिक रुचि दिखाई। जैसे 'सत्य हरिश्चन्द्र' के गंगा के इस वर्णन में—

नव उज्जवल जलधार हार हीरक सी सोहति।
बिच बिच छहरत बूँद मध्य मुक्ता मनु पोहति॥
लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत।
जिमि नरगन मन विविध मनोरथ करत मिटावत॥

कासी कहँ प्रिय जानि ललकि भेंट्यों उठि धाई।
सपनेहू नहिं तजी, रही अंकम लपटाई॥
कहूँ बँधे नवघाट उच्च गिरिवर सम सोहत।
कहुँ छतरी, कहुँ मढ़ी बढ़ी मन मोहत जोहत॥
धवल धाम चहुँ ओर फरहरत धुजा पताका।
घहरति घंटाधुनि, धमकत धौंसा करि साका॥
मधुरी नौबत बजति, कहूँ नारी नर गावत।
वेद पढ़त कहुँ द्विज, कहुँ जोगी ध्यान लगावत॥

काशी के लोगों के विलक्षण स्वभाव तथा ऊँची ऊँची हवेलियों और तंग गलियों का वर्णन करने ही के लिए 'काशी छायाचित्र' लिखा गया।

'चंद्रावली नाटिका' में एक जगह यमुना के तट का वर्णन आया है। पर वह भी परम्परायुक्त (Conventional) ही है। उसमें उपमानों और उत्प्रेक्षाओं आदि की भरमार इस बात को सूचित करती है कि कवि का मन प्रस्तुत प्राकृतिक वस्तुओं पर रमता नहीं था, हट हट जाता था। कुछ अंश देखिए—

1. तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाए।
झुके कूल सों जल परसन हित मनहुँ सुहाए॥
किधौं मुकुर में लखत उझकि सब निज निज सोभा।
कैं प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा॥
मनु आतप वारन तीर को सिमिटि सबै छाए रहत।
कैं हरि सेवा हित नै रहे, निरखि नैन मन सुख लहत॥

2. कहूँ तीर पर कमल अमल सोभित बहु भाँतिन।
कहुँ सैवालन मध्य कुमुदिनी लगि रहि पाँतिन॥
मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखति ब्रज सोभा।
कै उमगे प्रिय प्रिया प्रेम के अगनित गोभा॥
कै करिकै कर बहु, पीय को टेरत निज ढिग सोहई।
कै पूजन को उपचार लै चलति मिलन मन मोहई॥

3. कै पिय पद उपमान जानि यहि निज उर धारत।
कै मुखि कर बहु भृंगन मिस अस्तुति उच्चारत॥
कै ब्रज तियगन बदन कमल की झलकति झाँईं।
कै ब्रज हरिपद परस हेतु कमला बहु आईं॥
कै सात्त्विक अरु अनुराग दोउ ब्रजमंडल बगरे फिरत।
कै जानि लच्छमी भौन यहि करि सतधा निज जल धरत॥

(नागरीप्रचारिणी पत्रिका, जनवरी, 1928 ई.)

तुलसी का भक्तिमार्ग

भक्ति रस का पूर्ण परिपाक जैसा तुलसीदासजी में देखा जाता है वैसा अन्यत्र नहीं। भक्ति में प्रेम के अतिरिक्त आलंबन के महत्त्व और अपने दैन्य का अनुभव परम आवश्यक अंग हैं। तुलसी के हृदय से इन दोनों अनुभवों के ऐसे निर्मल शब्दस्रोत निकले हैं, जिनमें अवगाहन करने से मन की मैल कटती है और अत्यंत पवित्र प्रफुल्लता आती है। गोस्वामीजी के भक्ति क्षेत्र में शील, शक्ति और सौंदर्य तीनों की प्रतिष्ठा होने के कारण मनुष्य की संपूर्ण भावात्मिका प्रकृति का परिष्कार और प्रसार के लिए मैदान पड़ा हुआ है। वहाँ जिस प्रकार लोक व्यवहार से अपने को अलग करके आत्म कल्याण की ओर अग्रसर होनेवाले काम, क्रोध आदि शत्रुओं से बहुत दूर रहने का मार्ग पा सकते हैं, उसी प्रकार लोक व्यवहार में मग्न रहनेवाले अपने भिन्न भिन्न कर्त्तव्यों के भीतर ही आनंद की वह ज्योति पा सकते हैं जिससे इस जीवन में दिव्य जीवन का आभास मिलने लगता है और मनुष्य के वे सब कर्म, वे सब वचन और वे सब भाव—क्या डूबते हुए को बचाना, क्या अत्याचारी पर शस्त्र चलाना, क्या स्तुति करना, क्या निंदा करना, क्या दया से आर्द्र होना, क्या क्रोध से तमतमाना—जिनसे लोक का कल्याण होता आया है, भगवान् के लोक पालन करनेवाले कर्न, वचन और भाव दिखाई पड़ते हैं।

यह प्राचीन भक्तिमार्ग एकदेशीय आधार पर स्थित नहीं, यह एकांगदर्शी नहीं। यह हमारे हृदय को ऐसा नहीं करना चाहता कि हम केवल व्रत उपवास करनेवालों और उपदेश करनेवालों ही पर श्रद्धा रखें और जो लोग संसार के पदार्थों का उचित उपभोग करके अपनी विशाल भुजाओं से रणक्षेत्र में अत्याचारियों का दमन करते हैं, या अपनी अंतर्दृष्टि की साधना और शारीरिक अध्यवसाय के बल से मनुष्य जाति के ज्ञान की वृद्धि करते हैं, उनके प्रति उदासीन रहें। गोस्वामीजी की रामभक्ति वह दिव्य वृत्ति है जिससे जीवन में शक्ति सरसता, प्रफुल्लता, पवित्रता, सब कुछ प्राप्त हो सकती है। आलंबन की महत्त्व भावना से प्रेरित दैन्य के अतिरिक्त भक्ति के और जितने अंग हैं—भक्ति के कारण अंतःकरण की जो और और शुभ वृत्तियाँ प्राप्त होती हैं—सबकी अभिव्यंजना गोस्वामीजी के ग्रंथों के भीतर हम पा सकते हैं। राम

में सौंदर्य, शक्ति और शील तीनों की चरम अभिव्यक्ति एक साथ समन्वित होकर मनुष्य के संपूर्ण हृदय को—उसके किसी एक ही अंश को नहीं—आकर्षित कर लेती है। कोरी साधुता का उपदेश पाषंड है, कोरी वीरता का उपदेश उद्दंडता है, कोरे ज्ञान का उपदेश आलस्य है और कोरी चतुराई का उपदेश धूर्तता है।

सूर और तुलसी को हमें उपदेशक के रूप में न देखना चाहिए। वे उपदेशक नहीं हैं, अपनी भावुकता और प्रतिभा के बल से लोक व्यापार के भीतर भगवान् की मनोहर मूर्ति प्रतिष्ठित करनेवाले हैं। हमारा प्राचीन भक्ति मार्ग उपदेशकों की सृष्टि करनेवाला नहीं है। सदाचार और ब्रह्मज्ञान के रूखे उपदेशों द्वारा इसके प्रचार की व्यवस्था नहीं है। न भक्तों के राम और कृष्ण उपदेशक, न उनके अनन्य भक्त तुलसी और सूर। लोक व्यवहार में मग्न होकर जो मंगल ज्योति इन अवतारों ने उसके भीतर जगाई, उसके माधुर्य का अनेक रूपों में साक्षात्कार करके मुग्ध होना और मुग्ध करना ही इन भक्तों का प्रधान व्यवसाय है। उनका शस्त्र भी मानव हृदय है और लक्ष्य भी। उपदेशों का ग्रहण ऊपर ही ऊपर से होता है। न वे हृदय के मर्म को ही भेद सकते हैं, न बुद्धि की कसौटी पर ही स्थिर भाव से जमे रह सकते हैं। हृदय तो उनकी ओर मुड़ता ही नहीं और बुद्धि उनको लेकर अनेक दार्शनिक वादों के बीच जा उलझती है। उपदेशवाद या तर्क गोस्वामीजी के अनुसार 'वाक्यज्ञान' मात्र कराते हैं, जिससे जीव कल्याण का लक्ष्य पूरा नहीं होता—

वाक्य ज्ञान अत्यंत निपुन भव पार न पावै कोई।
निसि गृह मध्य दीप की बातन तम निवृत्त नहिं होई॥

'वाक्य ज्ञान' और बात है, 'अनुभूति' और बात। इसी से प्राचीन परंपरा के भक्त लोग उपदेश, वाद या तर्क की अपेक्षा चरित्र श्रवण और चरित्र कीर्तन आदि का ही अधिक नाम लिया करते हैं।

प्राचीन भागवत संप्रदाय के बीच भगवान् के उस लोक रंजनकारी रूप की प्रतिष्ठा हुई जिसके अवलंबन से मानव हृदय अपने पूर्ण भावसंघात के साथ कल्याण मार्ग की ओर आप से आप आकर्षित हो सके। इसी लोक रंजनकारी रूप का प्रत्यक्षीकरण प्राचीन परंपरा के भक्तों का लक्ष्य है; उपदेश देना नहीं। उसी मनोहर रूप की अनुभूति से गद्गद और पुलकित होना उसी रूप की एक एक छटा को औरों के सामने भी रखकर उन्हें मानव जीवन के सौंदर्य साधन में प्रवृत्त करना, भक्तों का काम है।

गोस्वामीजी ने अनंत सौंदर्य का साक्षात्कार करके उसके भीतर ही अनंत शक्ति और अनंत शील की वह झलक दिखाई है जिसके प्रकाश में लोक का प्रमोदपूर्ण परिचालन हो सकता है। सौंदर्य, शक्ति और शील तीनों में मनुष्य मात्र के लिए आकर्षण विद्यमान है। रूप लावण्य के बीच प्रतिष्ठित होने से शक्ति और शील को और भी अधिक सौंदर्य प्राप्त हो जाता है, उनमें एक अपूर्व मनोहरता आ जाती है। जिसे शक्ति सौंदर्य की झलक मिल गई, उसके हृदय में सच्चे वीर होने की अभिलाषा जीवन

भर के लिए जग गई, जिसने शील, सौंदर्य की यही झाँकी पाई उसके आचरण पर इसके मधुर प्रतिबिंब की छाप बैठी। प्राचीन भक्ति के इन तत्त्वों की ओर ध्यान न देकर जो लोग भगवान् की लोक मंगलविभूति के द्रष्टा तुलसी को कबीर, दादू आदि की श्रेणी में रखकर देखते हैं वे बड़ी भारी भूल करते हैं।

अनंत शक्ति सौंदर्य समन्वित अनंत शील की प्रतिष्ठा करके गोस्वामीजी को पूर्ण आशा होती है कि उसका आभास पाकर जो पूरी मनुष्यता को पहुँचा हुआ हृदय होगा वह अवश्य द्रवीभूत होगा—

सुनि सीतापति सील सुभाउ।
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल सो नर खेहर खाउ॥

इसी हृदय द्वारा ही मनुष्य में शील और सदाचार का स्थायी संस्कार जम सकता है। दूसरी कोई पद्धति है ही नहीं। अनंत शक्ति और अनंत सौंदर्य के बीच से अनंत शील की आभा फूटती देख जिसका मन मुग्ध न हुआ, जो भगवान् की लोकरंजन मूर्ति के मधुर ध्यान में कभी लीन न हुआ, उसकी प्रकृति की कटुता बिलकुल नहीं दूर हो सकती।

सूर, सुजान, सपूत, सुलच्छन, गनियत गुन गरुआई।
बिनु हरिभजन इँदारुन के फल, तजत नहीं करुआई॥

चरम महत्त्व के इस भव्य मनुष्य ग्राह्य रूप के सम्मुख भावविह्वल भक्त हृदय के बीच जो जो तरंगें उठती हैं उन्हीं की माला विनयपत्रिका है। महत्त्व के नाना रूप और इन भाव तरंगों की स्थिति परस्पर बिंब प्रतिबिंब समझनी चाहिए। भक्ति में दैन्य, आशा, उत्साह, आत्मग्लानि, अनुताप, आत्मनिवेदन आदि की गंभीरता उस महत्त्व की अनुभूति की मात्रा के अनुसार समझिए। महत्त्व का जितना ही सान्निध्य प्राप्त होता जाएगा, उसका जितना ही स्पष्ट साक्षात्कार होता जाएगा, उतना ही अधिक स्फुट भावों का विकास होता जाएगा और इन पर भी महत्त्व की आभा चढ़ती जाएगी। मानो ये भाव महत्त्व की ओर बढ़ते जाते हैं और महत्त्व इन भावों की ओर बढ़ता जाता है। इस प्रकार लघुत्व का महत्त्व में लय हो जाता है।

सारांश यह कि भक्ति का मूल तत्त्व है महत्त्व की अनुभूति। इस अनुभूति के साथ ही दैन्य अर्थात् अपने लघुत्व की भावना का उदय होता है। इस भावना को दो ही पंक्तियों में गोस्वामीजी ने बड़े ही सीधे सादे ढंग से व्यक्त कर दिया है—

राम सों बड़ो है कौन, मोसों कौन छोटो?
राम सों खरो है कौन, मोसों कौन खोटो?

प्रभु के महत्त्व के सामने होते ही भक्त के हृदय में अपने लघुत्व का अनुभव होने लगता है। उसे जिस प्रकार प्रभु का महत्त्व वर्णन करने में आनंद आता है, उसी प्रकार अपना लघुत्व वर्णन करने में भी। प्रभु की अनंत शक्ति के प्रकाश में उसकी असामर्थ्य का, उसकी दशा का बहुत साफ चित्र दिखाई पड़ता है और वह अपने

ऐसा दीन हीन संसार में किसी को नहीं देखता। प्रभु के अनंत शील और पवित्रता के सामने उसे अपने में दोष ही दोष और पाप दिखाई पड़ने लगते हैं। इस अवस्था को प्राप्त भक्त अपने दोषों, पापों और त्रुटियों को अत्यंत अधिक परिमाण में देखता है और उनका जी खोलकर वर्णन करने में बहुत कुछ संतोष लाभ करता है। दंभ, अभिमान, छल, कपट आदि में से कोई उस समय बाधक नहीं हो सकता। इस प्रकार अपने पापों की पूरी सूचना देने से जी का बोझ ही नहीं, सिर का बोझ भी कुछ हलका हो जाता है। भक्त के सुधार का भार उसी पर न रहकर बँट सा जाता है।

ऐसी उच्च मनोभूमि की प्राप्ति, जिसमें अपने दोषों को झुक झुककर देखने ही की नहीं, उठा उठाकर दिखाने की भी प्रवृत्ति होती है; ऐसी नहीं जिसे कोई कहे कि यह कौन बड़ी बात है। लोक की सामान्य प्रवृत्ति तो प्रायः इसके विपरीत ही होती है, जिसे अपनी ही मानकर गोस्वामीजी कहते हैं–

जानत हू निज पाप जलधि जिय,
जल सीकर सम सुनत लरौं।
रज सम पर अवगुन सुमेरु करि,
गुन गिरि सम रज तें निदरौं॥

ऐसे बचनों के संबंध में यह समझ रखना चाहिए कि ये दैन्य भाव के उत्कर्ष की व्यंजना करनेवाले उद्‌गार हैं। ऐतिहासिक खोज की धुन में इन्हें आत्मवृत्त समझ बैठना ठीक न होगा। इन शब्द प्रवाहों में लोक की सामान्य प्रवृत्ति की व्यंजना हो जाती है, इससे इनके द्वारा प्रत्येक मनुष्य अपने दोषों और बुराइयों की ओर दृष्टि ले जाने का साहस प्राप्त कर सकता है। दैन्य भक्तों का बड़ा भारी बल है।

परम महत्त्व के सान्निध्य से हृदय में उस महत्त्व में लीन होने के जो अनेक प्रकार के आंदोलन उत्पन्न होते हैं, वे ही भक्तों के भाव हैं। कभी भक्त अनंत रूपराशि के अनुभव से प्रेम पुलकित हो जाता है, कभी अनंत शक्ति की झलक पाकर आश्चर्य और उत्साह से पूर्ण होता है, कभी अनंत शील की भावना से अपने कर्मों पर पछताता है और कभी प्रभु के दया दाक्षिण्य को देख मन में इस प्रकार का ढाँढस बाँधता है–

कहा भयो जो मन मिलि कलिकालहि कियों भौंतुवा भौंर को हौं।
तुलसिदास सीतल नित एहि बल, बड़े टेकाने ठौर को हौं॥

दिन रात स्वामी के पास रहते रहते जिस प्रकार सेवक की कुछ धड़क खुल जाती है, उसी प्रकार प्रभु के सतत ध्यान से जो सान्निध्य की अनुभूति भक्त के हृदय में उत्पन्न होती है, उसके कारण वह कभी कभी मीठा उपालंभ भी देता है।

भक्ति में लेन देन का भाव नहीं रह जाता। भक्ति के बदले में उत्तम गति मिलेगी, इस भावना को लेकर भक्ति हो ही नहीं सकती। भक्त के लिए भक्ति का आनंद ही उसका फल है। वह शक्ति, सौंदर्य और शील के अनंत समुद्र के तट पर खड़ा होकर नहीं लेने में ही जीवन का परम फल मानता है।

गोस्वामीजी एक बार वृंदावन गए थे। वहाँ किसी कृष्णोपासक ने उन्हें छेड़कर कहा—"आपके राम तो बारह ही कला के अवतार हैं। आप श्रीकृष्ण की भक्ति क्यों नहीं करते जो सोलह कला के अवतार हैं?" गोस्वामीजी बड़े भोलेपन के साथ बोले—"हमारे राम अवतार भी हैं, यह हमें आज मालूम हुआ।" राम भगवान् के अवतार हैं, इससे उत्तम फल या उत्तम गति दे सकते हैं, बुद्धि के इस निर्णय पर तुलसी राम से भक्ति करने लगे हों, यह बात नहीं है। राम तुलसी को अच्छे लगते हैं, उनके प्रेम का यदि कोई कारण है तो यही।

जो जगदीश तौ अति भलों, जौ महीस तौ भाग।
तुलसी चाहत जनम भरि, रामचरन अनुराग॥

तुलसी को राम का लोकरंजन रूप वैसा ही प्रिय लगता है जैसा चातक को मेघ का लोकसुखदायी रूप। राम प्रिय लगने लगे, राम की भक्ति प्राप्त हो गई, इसका पता कैसे लग सकता है? इसका लक्षण है मन का आप से आप सुशीलता की ओर ढल पड़ना—

तुम अपनायो, तब जनिहौं जब मन फिर परिहै।

इस प्रकार शील को राम प्रेम का लक्षण ठहराकर गोस्वामीजी ने अपने व्यापक भक्तिक्षेत्र के अंतर्भूत कर लिया है।

भक्त यही चाहता है कि प्रभु के सौंदर्य, शक्ति आदि की अनंतता की जो मधुर भावना है वह अबाध रहे—उसमें किसी भी प्रकार की कसर न आने पाए। अपने ऐसे पापी की सुगति को वह प्रभु की शक्ति का एक चमत्कार समझता है। अतः उसे यदि सुगति न प्राप्त हुई तो उसे इसका पछतावा न होगा, पछतावा होगा इस बात का कि प्रभु की अनंत शक्ति की भावना बाधित हो गई—

नाहिन नरक परत मो कहँ डर जद्यपि हौं अति हारो।
यह बड़ि त्रास दास तुलसी प्रभु नामहु पाप न जारो॥

प्रभु के सर्वगत होने का ध्यान करते करते भक्त अंत में जाकर उस अवस्था को प्राप्त करता है जिसमें वह अपने साथ साथ समस्त संसार को उस एक अपरिछिन्न सत्ता में लीन होता हुआ देखने लगता है और दृश्य भेदों का उसके ऊपर उतना जोर नहीं रह जाता। तर्क या युक्ति ऐसी अवस्था की सूचना भर दे सकती है—'वाक्य ज्ञान' भर करा सकती है। संसार में परोपकार और आत्मत्याग के जो उज्ज्वल दृष्टांत कहीं कहीं दिखाई पड़ा करते हैं, वे इसी अनुभूति मार्ग में कुछ न कुछ अग्रसर होने के हैं। यह अनुभूति मार्ग या भक्तिमार्ग बहुत दूर तक तो लोक कल्याण की व्यवस्था करता दिखाई पड़ता है; पर और आगे चलकर यह निस्संग साधक को सब भेदों से परे ले जाता है।

(विचार वीथी, 1930 ई.)

'मानस' की धर्मभूमि

धर्म की रसात्मक अनुभूति का नाम भक्ति है, यह हम कहीं पर कह चुके हैं। धर्म है ब्रह्म के सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति, जिसकी असीमता का आभास अखिल विश्वस्थिति में मिलता है। इस प्रवृत्ति का साक्षात्कार परिवार और समाज ऐसे छोटे क्षेत्रों से लेकर समस्त भूमंडल और अखिल विश्व तक के बीच किया जा सकता है। परिवार और समाज की रक्षा में, लोक के परिचालन में और समष्टि रूप में, अखिल विश्व की शास्वत स्थिति में सत् की इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि सत्स्वरूप की इस प्रवृत्ति का साक्षात्कार जितने ही विस्तृत क्षेत्र के बीच हम करते हैं, भगवत्स्वरूप की ओर उतनी ही बढ़ी हुई भावना हमें प्राप्त होती है। कुल-विशेष के भीतर ही जो इस प्रवृत्ति का अनुभव करेंगे उनकी भावना कुल-नायक या कुल देवता तक ही पहुँचेगी; किसी जाति या देश विशेष के भीतर जो करेंगे, उनकी भावना उस जाति या देश के नेता अथवा उपास्य देवता तक पहुँचकर रह जाएगी। भक्त की भावना इतनी ही दूर जाकर संतुष्ट नहीं होती। वह अखिल विश्व के बीच 'सत्' की इस प्रवृत्ति के साक्षात्कार की साधना करता है। उसके भीतर का 'चित्' जब बाहर 'सत्' का साक्षात्कार करता है तब आनंद का आविर्भाव होता है। इस साधना द्वारा वह भगवान् का सामीप्य लाभ करता चला जाता है। इसी से तुलसी को राम 'अंतरजामिहु ते बड़ बाहिरजामी' लगते हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति अर्थात् धर्म की ऊँची नीची कई भूमियाँ लक्षित होती हैं, जैसे—गृहधर्म, कुलधर्म, समाजधर्म, लोकधर्म और विश्वधर्म या पूर्णधर्म। किसी परिमित वर्ग के कल्याण से संबंध रखनेवाले धर्म की अपेक्षा विस्तृत जनसमूह के कल्याण से संबंध रखनेवाला धर्म, उच्च कोटि का है। धर्म की उच्चता उसके लक्ष्य के व्यापकत्व के अनुसार समझी जाती है। गृहधर्म या कुलधर्म से समाजधर्म श्रेष्ठ है, समाजधर्म से लोकधर्म, लोकधर्म से विश्वधर्म, जिसमें धर्म अपने शुद्ध और पूर्ण स्वरूप में दिखाई पड़ता है। यह पूर्ण धर्म अंगी है और शेष धर्म अंग। पूर्ण धर्म, जिसका संबंध अखिल विश्व की स्थिति रक्षा से है, वस्तुतः पूर्ण पुरुष या पुरुषोत्तम में ही रहता है, जिसकी मार्मिक अनुभूति सच्चे

भक्तों को ही हुआ करती है, इसी अनुभूति के अनुरूप उसके आचरण का भी उत्तरोत्तर विकास होता जाता है। गृहधर्म पर दृष्टि रखनेवाला किसी परिवार की रक्षा देखकर, वर्गधर्म पर दृष्टि रखनेवाला, किसी वर्ग या समाज की रक्षा देखकर और लोकधर्म पर दृष्टि रखनेवाला लोक या समस्त मनुष्य जाति की रक्षा देखकर आनंद का अनुभव करता है। पूर्ण या शुद्ध धर्म का स्वरूप सच्चे भक्त ही अपने और दूसरों के सामने लाया करते हैं, जिनके भगवान् पूर्ण धर्मस्वरूप हैं। अतः वे कीटपतंग से लेकर मनुष्य तक सब प्राणियों की रक्षा देखकर आनंद प्राप्त करते हैं। विषय की व्यापकता के अनुसार उनका आनंद भी उच्च कोटि का होता है।

धर्म की जो ऊँची नीची भूमियाँ ऊपर कही गई हैं, वे उसके स्वरूप के संबंध में; उसके पालन के स्वरूप के संबंध में नहीं। पालन का स्वरूप और बात है। उच्च से उच्च भूमि के धर्म का आचरण अत्यंत साधारण कोटि का हो सकता है। इसी प्रकार निम्न भूमि के धर्म का आचरण उच्च से उच्च कोटि का हो सकता है। गरीबों का गला काटनेवाले चीटियों के बिलों पर आटा फैलाते देखे जाते हैं; अकाल पीड़ितों की सहायता में एक पैसा चंदा न देनेवाले अपने डूबते मित्र को बचाने के लिए प्राण संकट में डालते देखे जाते हैं।

यह हम कई जगह दिखा चुके हैं कि ब्रह्म के सत्य रूप की अभिव्यक्ति और प्रवृत्ति को लेकर गोस्वामीजी की भक्ति पद्धति चली जाती है। उनके राम पूर्ण धर्मस्वरूप हैं। राम के लीलाक्षेत्र के भीतर धर्म के विविध रूपों का प्रकाश उन्होंने देखा है। धर्म का प्रकाश अर्थात् ब्रह्म के सत्स्वरूप का प्रकाश इसी नाम रूपात्मक व्यक्त जगत् के बीच होता है। भगवान् की इस स्थिति विधायिनी व्यक्त कला में हृदय न रमाकर, बाह्य जगत् के नाना कर्मक्षेत्रों के बीच धर्म की दिव्य ज्योति के स्फुरण का दर्शन न करके जो आँख मूँदे अपने अंतःकरण के किसी कोने में ही ईश्वर को ढूँढ़ा करते हैं उनके मार्ग से गोस्वामीजी का भक्तिमार्ग अलग है। उनका मार्ग ब्रह्म का सत्स्वरूप पकड़कर, धर्म की नाना भूमियों पर से होता हुआ जाता है। लोक में जब कभी भक्त धर्म के स्वरूप को तिरोहित या आच्छादित देखता है तब मानो भगवान् उसकी दृष्टि से—खुली हुई आँखों के सामने से—ओझल हो जाते हैं और वह वियोग की आकुलता का अनुभव करता है। फिर जब अधर्म का अंधकार फाड़कर धर्मज्योति फूट पड़ती है तब मानो उसके प्रिय भगवान् का मनोहर रूप सामने आ जाता है और वह पुलकित हो उठता है।

हमारे यहाँ धर्म से अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की सिद्धि कही गई है। अतः मोक्ष का—किसी ढंग के मोक्ष—का मार्ग धर्ममार्ग से बिलकुल अलग अलग नहीं जा सकता। धर्म का विकास इसी लोक के बीच हमारे परस्पर व्यवहार के भीतर होता है। हमारे परस्पर व्यवहारों का प्रेरक हमारा रागात्मक या भावात्मक हृदय होता है। अतः हमारे जीवन की पूर्णता कर्म (धर्म), ज्ञान और भक्ति तीनों के समन्वय में है।

साधना किसी प्रकार की हो, साधक की पूरी सत्ता के साथ होनी चाहिए—उसके किसी अंग को सर्वथा छोड़कर नहीं। यह हो सकता है कि कोई ज्ञान को प्रधान रखकर धर्म और उपासना को अंगरूप में लेकर चले; कोई भक्ति को प्रधान रखकर ज्ञान और कर्म को अंगरूप में रखकर चले। तुलसीदासजी भक्ति को प्रधान रखकर चलनेवाले अर्थात् भक्तिमार्गी थे। उनकी भक्ति भावना में यद्यपि तीनों का योग है, पर धर्म का योग पूर्ण परिमाण में है। धर्म भावना का उनकी भक्ति भावना से नित्य संबंध है।

'रामचरितमानस' में धर्म की ऊँची नीची विविध भूमियों की झाँकी हमें मिलती है। इस वैविध्य के कारण कहीं कहीं कुछ शंकाएँ भी उठती हैं। उदाहरण के लिए भरत और विभीषण के चरित्रों को लीजिए।

जिस भरत के लोकपावन चरित्र की दिव्य दीप्ति से हमारा हृदय जगमगा उठता है, उन्हीं को अपनी माता को चुन चुन कर कठोर वचन सुनाते देख कुछ लोग संदेह में पड़ जाते हैं। जो तुलसीदास लोकधर्म या शिष्ट मर्यादा का इतना ध्यान रखते थे, उन्होंने अपने सर्वोत्कृष्ट पात्र द्वारा उसका उल्लंघन कैसे कराया? धर्म की विविध भूमियों के संबंध में जो विचार हम ऊपर प्रकट कर आए हैं उन पर दृष्टि रखकर यदि समझा जाए तो इसका उत्तर शीघ्र मिल जाता है। यह हम कह आए हैं कि धर्म जितने ही अधिक विस्तृत जन समूह के सुख दुःख से संबंध रखनेवाला होगा, उतनी ही उच्च श्रेणी का माना जाएगा। धर्म के स्वरूप की उच्चता उसके लक्ष्य की व्यापकता के अनुसार समझी जाती है। जहाँ धर्म की पूर्ण, शुद्ध और व्यापक भावना का तिरस्कार दिखाई पड़ेगा वहाँ उत्कृष्ट पात्र के हृदय में भी रोष का आविर्भाव स्वाभाविक है। राम पूर्ण धर्मस्वरूप हैं क्योंकि अखिल विश्व की स्थिति उन्हीं से है। धर्म का विरोध और राम का विरोध एक ही बात है। जिसे राम प्रिय नहीं उसे धर्म प्रिय नहीं, इसी से गोस्वामीजी कहते हैं—

जाके प्रिय न राम बैदेही।
सो नर तजिअ कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही॥

इस राम विरोध या धर्म विरोध का व्यापक दुष्परिणाम भी आगे आता है। राम सीता के घर से निकलते ही सारी प्रजा शोकमग्न हो जाती है; दशरथ प्राण त्याग करते हैं। भरत कोई संसार त्यागी विरक्त नहीं थे कि धर्म का ऐसा तिरस्कार और उस तिरस्कार का ऐसा कटु परिणाम देखकर भी क्रोध न करते या साधुता के प्रदर्शन के लिए उसे पी जाते। यदि वे अपनी माता को, माता होने के कारण, कटु वचन तक न कहते तो उनके राम प्रेम का, उनके धर्म प्रेम का, उनकी मनोवृत्तियों के बीच क्या स्थान दिखाई पड़ता? जो प्रिय का तिरस्कार और पीड़न देख क्षुब्ध न हो, उसके प्रेम का पता कहाँ लगाया जाएगा? भरत धर्म स्वरूप भगवान् रामचंद्र के सच्चे प्रेमी और भक्त के रूप में हमारे सामने रखे गए हैं। अतः काव्य दृष्टि से भी यदि देखिए तो इस अमर्ष के द्वारा उनके राम प्रेम की जो व्यंजना हुई है वह अपना एक विशेष

लक्ष्य रखती है। महाकाव्य या खंडकाव्य के भीतर जहाँ धर्म पर क्रूर और निष्ठुर आघात सामने आता है वहाँ श्रोता या पाठक का हृदय अन्यायी का उचित दंड धिग्दंड के रूप में सही—देखने के लिए छटपटाता है। यदि कथावस्तु के भीतर उसे दंड देनेवाला पात्र मिल जाता है तो पाठक या श्रोता की भावना तुष्ट हो जाती है। इसके लिए भरत से बढ़कर उपयुक्त और कौन पात्र हो सकता था? जिन भरत के लिए ही कैकेयी ने सारा अनर्थ खड़ा किया वे ही जब उसे धिक्कारते हैं, तब कैकेयी को कितनी आत्मग्लानि हुई होगी। ऐसी आत्मग्लानि उत्पन्न करने की ओर भी कवि का लक्ष्य था। इस दरजे की आत्मग्लानि और किसी युक्ति से उत्पन्न नहीं की जा सकती थी।

सारांश यह कि यदि कहीं मूल या व्यापक लक्ष्यवाले धर्म की अवहेलना हो तो उसके मार्मिक और प्रभावशाली विरोध के लिए किसी परिमित क्षेत्र के धर्म या मर्यादा का उल्लंघन असंगत नहीं। काव्य में तो प्रायः ऐसी अवहेलना से उत्पन्न क्षोभ की अबोध व्यंजना के लिए मर्यादा का उल्लंघन आवश्यक हो जाता है।

अब विभीषण को लीजिए, जिसे गृहनीति या कुलधर्म की स्थूल और संकुचित दृष्टि से लोग 'घर का भेदिया' या भ्रातृद्रोही कह सकते हैं। तुलसीदासजी ने उसे भगवद्भक्त के रूप में लिया है। उसे भक्तों की श्रेणी में दाखिल करते समय गोस्वामीजी की दृष्टि गृहनीति या कुलधर्म की संकुचित सीमा के भीतर बँधी न रहकर व्यापक लक्ष्यवाले धर्म की ओर थी। धर्म की उच्च और व्यापक भावना के अनुसार विभीषण को भक्त का स्वरूप प्रदान किया गया है। रावण लोकपीड़क है, उसके अत्याचार से तीनों लोक व्याकुल हैं, उसके अनुयायी अकारण लोगों को सताते हैं और ऋषियों मुनियों का वध करते हैं। विभीषण को इन सब बातों से अलग दिखाया गया है। वह रावण का भाई होकर भी लंका के एक कोने में साधु जीवन व्यतीत करता है। उसके हृदय में अखिल लोकरक्षक भगवान् की भक्ति है।

सीताहरण होने पर रावण का अधर्म पराकाष्ठा को पहुँचा दिखाई पड़ता है। हनुमान से भेंट होने पर उसे धर्मस्वरूप भगवान् के अवतार हो जाने का आभास मिलता है। उसकी उच्च धर्म भावना और भी जग पड़ती है। वह अपने बड़े भाई रावण को समझाता है। जब वह किसी प्रकार नहीं मानता, तब उसके सामने धर्मों के पालन का सवाल आता है—एक ओर गृहधर्म या कुलधर्म के पालन का, दूसरी ओर उससे अधिक उच्च और व्यापक धर्म के पालन का। भक्त की धर्मभावना अपने गृह या कुल के तंग घेरे के भीतर बद्ध नहीं रह सकती। वह समस्त विश्व के कल्याण का व्यापक लक्ष्य रखकर प्रवृत्त होती है। अतः वह चट लोक कल्याण विधायक धर्म का अवलंबन करता है और धर्ममूर्ति भगवान् श्रीराम की शरण में जाता है।

(चिंतामणि, भाग-1, 1930 ई.)

युग प्रवर्तक भारतेंदु हरिश्चंद्र

हिन्दी गद्य साहित्य का सूत्रपात करनेवाले चार महानुभाव कहे जाते हैं—मुंशी सदासुख लाल, इंशा अल्ला खाँ, लल्लू लाल और सदल मिश्र। ये चारों सं. 1860 के आसपास वर्तमान थे। सच पूछिए तो ये गद्य के नमूने दिखानेवाले ही रहे, अपनी परंपरा प्रतिष्ठित करने का गौरव इनमें से किसी को भी प्राप्त न हुआ। हिन्दी गद्य साहित्य की अखंड परंपरा का प्रवर्तन इन चारों लेखकों के 70-72 वर्ष पीछे हुआ। विक्रम की बीसवीं शताब्दी का प्रथम चरण समाप्त हो जाने पर जब भारतेंदु ने हिन्दी गद्य की भाषा को सुव्यवस्थित और परिमार्जित करके उसका स्वरूप स्थिर कर दिया तब से गद्य साहित्य की परम्परा लगातार चली। इस दृष्टि से भारतेंदुजी जिस प्रकार वर्तमान गद्य भाषा के स्वरूप प्रतिष्ठापक थे, उसी प्रकार वर्तमान साहित्य परंपरा के प्रवर्तक। जिस समय राजा लक्ष्मण सिंह और राजा शिवप्रसाद मैदान में आए थे उस समय खींचतान बनी थी, भाषा के स्वरूप को स्थिरता नहीं प्राप्त हुई थी। यह भाषा का प्रस्ताव काल था। प्रवर्तन काल का आरंभ भारतेंदु की कुछ रचनाओं के निकल जाने के उपरांत सं. 1930 के लगभग हुआ। यद्यपि इसके पहले 'विद्यासुन्दर' (सं. 1925) तथा और कई नाटक भारतेंदुजी लिख चुके थे, पर वर्तमान हिंदी गद्य के उदय का समय उन्होंने 'हरिश्चंद्र मैगजीन' के निकलने पर अर्थात् सं. 1930 से माना है।

भारतेंदु की भाषा में ऐसी क्या विशेषता पाई गई कि उसका इतना चलन उन्हीं के सामने हो गया, इसका थोड़ा विचार कर लेना चाहिए। सं. 1860 में खड़ी बोली के गद्य का सूत्रपात करनेवालों में मुंशी सदासुख और सदल मिश्र ने ही व्यवहार योग्य चलती भाषा का नमूना तैयार किया था। पर इन दोनों की रचनाओं में सफाई नहीं थी। बहुत कुछ कूड़ा करकट भरा था। मुंशी सदासुख भगवद्भक्त पुरुष थे और पंडितों तथा साधु संतों के सत्संग में रहा करते थे। इससे उनके 'सुखसागर' की भाषा में बहुत कुछ पंडिताऊपन है। इसके अतिरिक्त ब्रजभाषा या काव्यभाषा के ऐसे ऐसे प्रयोग, जैसे—'फूलन्ह के' 'चहुँदिशि' 'सुनि' भी लगे रह गए हैं।

इन दोनों के पीछे राजा शिवप्रसाद और लक्ष्मण सिंह का समय आता है। राजा शिवप्रसाद के गद्य में अधिक खटकने वाली बात थी उर्दूपन, जो दिन दिन बढ़ता

गया। इसी प्रकार राजा लक्ष्मण सिंह के गद्य में खटकने वाली बात थी आगरे की बोलचाल का पुट। दूसरी बात यह थी कि विशुद्धता का जो आदर्श लेकर राजा लक्ष्मण सिंह चले थे यह एक चलती व्यावहारिक भाषा के उपयुक्त न था। फारसी अरबी के जो शब्द लोगों की जबान पर नाचा करते थे उन्हें एकदम छोड़ देना भाषा की संचित शक्ति को घटाना था। हँसी मजाक के लिए अरबी फारसी के चलते शब्द कभी कभी कितना अच्छा काम देते हैं यह हम लोग बराबर देखते हैं।

ऊपर लिखी त्रुटियों को ध्यान में रखते हुए जब हम भारतेंदु की भाषा पर विचार करने बैठते हैं तब इस बात को समझना कुछ सुगम हो जाता है कि उन्होंने हिन्दी गद्य का क्या संस्कार किया। उनकी भाषा में न तो लल्लूलाल का ब्रजभाषापन आने पाया, न मुंशी सदासुख का पंडिताऊपन, न सदल मिश्र का पूरबीपन, न राजा शिवप्रसाद का उर्दूपन और न राजा लक्ष्मण सिंह का खालिसपन और आगरापन। इतने 'पनों' से एक साथ पीछा छुड़ाना भाषा के संबंध में बहुत ही परिष्कृत रुचि का परिचय देता है। संस्कृत शब्दों के रहने पर भी भाषा का सुबोध बना रहना, फारसी अरबी के शब्द आने पर भी साथ साथ उर्दूपन न आना, हिन्दी की स्वतंत्र सत्ता का प्रमाण था। उनका भाषा संस्कार शब्दों की काटछाँट तक ही नहीं रहा। वाक्य विन्यास में भी वे बड़ी सफाई लाए। उनकी लिखावट में एक साथ न जुड़ सकने वाले वाक्य एक में गुँथे हुए प्रायः नहीं पाए जाते। तात्पर्य यह है कि उपयुक्त संयोजक अव्ययों का व्यवहार जैसा उन्होंने चलाया वैसा उनके पहले न था। विराम की परख भी उन्हें राजा लक्ष्मण सिंह और राजा शिवप्रसाद सिंह से कहीं अच्छी थी।

चली आती हुई काव्यभाषा के स्वरूप पर भी उनकी दृष्टि गई। उन्होंने देखा कि बहुत से ऐसे शब्द जिन्हें बोलचाल से उठे कई सौ वर्ष हो गए थे, कविताओं में बराबर लाए जाते हैं, जिससे वे सर्वसाधारण के लगाव से कुछ दूर पड़ती जाती है। 'ठायो', 'करसायल' 'ईठ', 'दीह', 'ऊनी', 'लोय' आदि के कारण बहुत से लोग हिन्दी कविता को अपने से कुछ दूर की चीज समझने लगे थे। दूसरा दोष जो बढ़ते बढ़ते बहुत बुरी हद तक पहुँच गया था वह शब्दों का तोड़ मरोड़ था।

बाबू हरिश्चंद्र द्वारा इन बातों का भी बहुत कुछ सुधार—चाहे जान में या अनजान में हुआ। इस प्रकार काव्य की ब्रजभाषा के लिए भी उन्होंने बहुत अच्छा रास्ता दिखाया। अपने रसीले कवित्तों और सवैयों में उन्होंने चलती भाषा का ही व्यवहार किया है, जैसे—

आजु लौं जौ न मिले तौ कहा, हम तौ तुम्हरे सब भाँति कहावैं।
मेरो उराहनो है कछु नाहिं सबै फल आपने भाग को पावैं।।
जो 'हरिश्चंद्र' भई सो भई अब प्रान चले चहैं तासों सुनावैं।
प्यारे जू! है जग की यह रीति, विदा के समय सब कंठ लगावैं।।

यह तो हुई भाषा की रूप प्रतिष्ठा की बात। इससे भी बढ़कर काम उन्होंने हिन्दी साहित्य को एक नए मार्ग पर खड़ा करके किया। वे साहित्य के नए युग के प्रवर्त्तक हुए। यद्यपि देश में नए—नए विचारों और भावनाओं का संचार हो गया

था, पर हिन्दी उनसे दूर थी। लोगों की अभिरुचि बदल चली थी, पर हमारे साहित्य पर उनका कोई प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता था। शिक्षित लोगों के विचारों और व्यापारों ने तो दूसरा मार्ग पकड़ लिया था, पर उनका साहित्य उसी पुराने मार्ग पर था।

बात यह थी कि जिन लोगों के मन में नई दिशा के प्रभाव से नए विचार उत्पन्न हो रहे थे, जो अपनी आँखों काल की गति देख रहे थे और देश की आवश्यकताओं को समझ रहे थे, उनमें अधिकांश तो ऐसे थे जिनका कई कारणों से विशेषतः उर्दू के बीच में पड़ जाने से हिन्दी साहित्य से लगाव छूट सा गया था और शेष जिनमें नवीन भावों की कुछ प्रेरणा और विचारों की कुछ स्फूर्ति थी—ऐसे थे जिन्हें हिन्दी साहित्य का क्षेत्र इतना परिमित दिखाई देता था कि नए नए विचारों को सन्निविष्ट करने के लिए स्थान ही नहीं सूझता था। उस समय एक ऐसे सामंजस्य पटु, साहसी और प्रतिभासंपन्न पुरुष की आवश्यकता थी जो कौशल से इन बढ़ते हुए विचारों का मेल देश के परंपरागत साहित्य से करा देता। ऐसे ही पुरुष के रूप में बाबू हरिश्चंद्र साहित्य क्षेत्र में उतरे। उन्होंने हमारे जीवन के साथ हमारे साहित्य को फिर से लगा दिया। बड़े भारी विच्छेद से उन्होंने हमें बचाया।

वे सिद्ध वाणी के अत्यन्त सरस हृदय कवि थे। इससे एक ओर तो उनकी लेखनी से शृंगार रस के रसपूर्ण मर्मस्पर्शी कवित्त सवैये निकलते थे जो उनके जीवन काल में ही इधर उधर लोगों के मुँह से सुनाई पड़ने लगे थे और दूसरी ओर स्वदेश प्रेम से भरे हुए उनके लेख और कविताएँ चारों ओर देश के मंगल का मन्त्र सा फूँकती थीं। साहित्य के एक नवीन युग के आदि में प्रवर्तक के रूप में खड़े होकर उन्होंने यह भी प्रदर्शित किया कि नए नए या बाहरी भावों को पचाकर इस ढंग से मिलाना चाहिए कि वे अपने ही साहित्य के विकसित अंग से लगें। प्राचीन और नवीन के उस सन्धिकाल में जैसी शीतल और मृदुल कला का संचार अपेक्षित था वैसे ही शीतल और मृदुल कला के साथ भारतेंदु का उदय हुआ, इसमें संदेह नहीं।

(वीणा, सितम्बर 1935 ई.)

स्वर्णकलश

जो रस प्रबन्ध काव्यों में धारा के रूप में बहता है वही मुक्तक पद्यों की छोटी छोटी नलिकाओं से पिचकारी की तरह छूटता है। यह पिछला ढंग समाज और जलसों के अधिक अनुकूल पड़ता है। इसी से प्रबन्धों के साथ साथ मुक्तकों की परंपरा भी बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। हिन्दी के पुराने कवियों ने साहित्य ग्रन्थों में निरूपित रस के अवयव के क्रम से अपनी फुटकल रचनाओं के सन्निवेश की जो परिपाटी चलाई वह बहुत दिनों तक हिन्दी साहित्य में चलती रही है। आजकल हिन्दी के लब्ध प्रतिष्ठित पुराने कवियों में इस काव्य के आधुनिक मार्ग पर जिन्हें पाते हैं उनमें से कई एक उस पुरानी परिपाटी पर अत्यंत रसमयी रचना कर चुके हैं। ऐसे कवियों में आधुनिक काव्य क्षेत्र के महारथी 'हरिऔध' जी प्रमुख हैं। आजकल लोग प्रायः खड़ीबोली के कई रूपों की झलक दिखाने वाले उनके उन प्रौढ़, सरस और मधुसिक्त काव्यों से ही परिचित हैं जिन्होंने खड़ी बोली काव्य के गौरवपूर्ण भविष्य को स्थिर किया है। उनकी व्रजभाषा की नई और पुरानी कविताओं के माधुर्य के आस्वादन का सौभाग्य बहुत लोगों को प्राप्त नहीं हुआ था। मेरी बहुत दिनों से इच्छा थी कि हरिऔधजी की व्रजभाषा की माधुरी भी लोगों को सुलभ हो जाय। सौभाग्य से मेरी इच्छा पूरी हुई। व्रजभाषा का रसभरा स्वर्णकलश सामने आया।

रस ही काव्य का प्राण या आत्मा कहा गया है। अलंकार आदि उसी के भीतर अपनी शोभा का रमणीय प्रकाश करते हैं। उससे विच्छिन्न होकर वे चमकीली वस्तुओं के निर्जीव ढेर से जान पड़ते हैं। रस भरे हृदय और रस भरी आँखों के लिए यह सारी सृष्टि रसमयी है। रस की कच्ची सामग्री प्रत्येक घर के भीतर रहती है। पर उसे रस रूप में परिणत करने वाला प्रभाव कवियों की वाणी द्वारा प्राप्त होता है जो उसे शब्दों से खोद कर कल्पना और भावों की रसविधायिनी क्रिया में तत्पर करती है। अतः और बातों के अतिरिक्त कवियों में ये बातें अवश्य होनी चाहिए—भाव प्रवणता, प्रतिभा या कल्पना, शब्द धन तथा उसके उपयोग की प्रत्युत्पत्ति।

हरिऔधजी शब्दों के कितने बड़े धनी हैं यह उनके प्रियप्रवास आदि काव्यों का अनुशीलन करने वाले जानते ही हैं। खड़ी बोली से जब उनकी कोमल कान्त

पदावली इतनी मिठास घोल देती है तब स्वभावतः कोमल और मधुर ब्रजभाषा के बीच उसकी छटा का क्या कहना। रीतिग्रन्थ माला अब इस युग में समाप्त हो गई। अतः उसके लिए जैसे सुमेरु की आवश्यकता थी वैसा ही सुमेरु इसमें पिरो दिया गया। रसकलश में हरिऔधजी ने काव्य की प्रतिष्ठित परंपरा को चरम उत्कर्ष पर पहुँचा कर छोड़ दिया। हिन्दी के पुराने ग्रन्थों में नायिका भेद ही वास्तव में रहता था। और रस प्रायः एक एक उदाहरण देकर किसी प्रकार चलता कर दिए जाते थे। रस के अवयवों पर भी पूरा ध्यान नहीं दिया जाता था। पर इस कलश के भीतर जिस प्रकार और रसों का भी पूरा समावेश है उसी प्रकार रस के अवयवों की भी निराली छटा है। इस रसकलश की स्थापना आधुनिक काल में हुई है। अतः इसमें आधुनिकता का रंग बिना कुछ घुले कैसे रह सकता था। जबकि अवस्था, प्रकृति आदि के विचार से नायिकाओं के इतने भेद किए गए हैं तब और भेदों की संभावना की ओर ध्यान जाना आवश्यक ही है। देश प्रेम, जाति प्रेम आदि का पुनीत स्रोत आज कितने ही हृदयों से फूट कर जनता के जीवन की गतिविधि निर्दिष्ट कर रहा है। अतः हरिऔधजी ने इन नूतन भावों से अलंकृत नायिकाओं के लिए भी स्थान निकाल कर रसज्ञों के निकट विचार के लिए एक विषय उपस्थित कर दिया है। देशप्रेम और जातिप्रेम भी प्रेम का एक प्रकार ही है। यह एक ऐसे गुण के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है कि जिससे नायिका का उत्कर्ष साधन होता है और वह श्रृंगार की भी नायिका बनी रहती है।

रसकलश में हरिऔधजी ने जो विचारपूर्ण भूमिका लगा दी है उससे रस के सम्बन्ध में लोगों को बहुत कुछ जानकारी प्राप्त हो सकती है। अन्त में वही कहना पड़ता है कि ब्रजभाषा की काव्य परंपरा का अत्यंत पूर्णता पर पहुँचा हुआ रूप दिखा कर हरिऔधजी ने एक बार फिर शिक्षित समाज को उसकी ओर आकर्षित कर लिया है।

('प्रेम पत्र', अंक 4 पूर्णांक 5 शुक्ला द्वितीय श्रावण, 1934 ई.)
[चिन्तामणि, भाग-4]

['रसकलश' अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की कृति है। नेता, लेखक एवं संपादक वेंकटेश नारायण तिवारी ने इस पुस्तक के संबंध में दो लेख लिखे थे। एक लेख का शीर्षक था 'हरिऔध जी का बुढ़भस'। इसी से इन लेखों की विचारधारा स्पष्ट हो जाती है। इसी पर गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' ने अरुणोदय पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद से 'प्रेम-पत्र' का एक विशेषांक (अंक 4, पूर्णांक 5, शुक्ला द्वितीय श्रावण) रसकलश पर 1934 ई. में निकाला था। इस अंक में आचार्य शुक्ल का 'स्वर्णकलश' शीर्षक यह लेख प्रकाशित है।]

क्रोचे

मानवीय ज्ञान के दो रूप हैं—

(1) स्वयंप्रकाश ज्ञान (intuitive knowledge), अर्थात् कल्पना द्वारा प्राप्त व्यष्टि (individual) का या व्यष्टिगत वस्तुओं का ज्ञान।

(2) तार्किक ज्ञान (logical knowledge), अर्थात् निश्चयात्मिका बुद्धि द्वारा प्राप्त समष्टि (universal) का और व्यष्टिगत वस्तुओं के आपसी संबंधों का ज्ञान।

पहला बिंबों (image) का सर्जक है और दूसरा अवधारणाओं (concept) का।

क्रोचे सामान्य रूप से स्वीकृत इस दृष्टिकोण का समर्थन नहीं करता कि स्वयंप्रकाश ज्ञान तार्किक या बौद्धिक ज्ञान के अधीन है। वह कहता है—"स्वयंप्रकाश ज्ञान को किसी स्वामी (master) की कोई आवश्यकता नहीं है और न ही किसी के समक्ष झुकने की आवश्यकता है। उसे दूसरों की आँखें उधार लेने की भी आवश्यकता नहीं क्योंकि उसके पास स्वयं की सर्वोत्कृष्ट आँखें हैं।" चाँदनी के दृश्य का अंतःसंस्कार (imprusion)...व्यक्तिगत...उन्मादग्रस्त अभिप्राय के साथ कि सभी स्वयंप्रकाश...बुद्धि संपन्न संबंधों की छाया।

सभ्य मनुष्यों के स्वयंप्रकाश ज्ञान (intuitions) अवधारणाओं के साथ मिश्रित होते हैं। इसे स्वीकार करते हुए भी क्रोचे का मानना है कि स्वयंप्रकाश ज्ञान के साथ मिश्रित और घुलीमिली अवधारणाएँ तब अवधारणाएँ नहीं रह जाती हैं....जितनी दूर तक वे वस्तुतः मिश्रित या घुलीमिली होती हैं, क्योंकि वे (अपनी) स्वतन्त्रता और स्वायत्तता पूर्णतः खो चुकी होती हैं। उदाहरण के लिए, किसी त्रासदी (tragedy) या कामदी (comedy) के पात्र के मुख से उच्चरित दार्शनिक सूत्र वहाँ अवधारणा का प्रदर्शन न करके पात्र के चारित्रिक लक्षणों का कार्य करते हैं....किसी बुद्धिसम्मत तथ्य तथा स्वयंप्रकाश तथ्य की भिन्नता परिणाम-लक्षित नानारूप प्रभाव—में स्थित होती है।

स्वयंप्रकाश ज्ञान का अर्थ
(Meaning of intuition)

स्वयंप्रकाश ज्ञान को प्रायः वास्तविक यथार्थ की प्रतीति या ज्ञान, किसी वस्तु का यथार्थ रूप में बोध समझा जाता है। लेकिन यथार्थ और अयथार्थ के मध्य का यह भेद बाहरी है और स्वयंप्रकाश ज्ञान की प्रकृति के लिए प्रकटतः द्वितीयक है। जहाँ बैठकर मैं लिख रहा हूँ उस कमरे की, कलम और कापी के समक्ष रखी हुई दवात की प्रतीति स्वयंप्रकाश ज्ञान है। पर किसी अन्य कमरे में बैठकर भिन्न सामग्रियों से मेरे द्वारा लिखने के बिम्ब—जो अब मेरे मस्तिष्क से गुजर रहा है—की प्रतीति भी स्वयंप्रकाश ज्ञान ही है।

रूप का द्रव्य या विषयवस्तु
(Matter of form)

द्रव्य (matter) यान्त्रिक कल पुरजे के समान है। मनुष्य की आत्मा निष्क्रिय रूप में इसका अनुभव मात्र करती है, इसकी सृष्टि नहीं करती। रूप के सूक्ष्म साँचे द्वारा आक्रांत और विजित होने पर द्रव्य ठोस या मूर्त्त रूप को स्थान देता है। द्रव्य या अंतर्वस्तु (content) ही एक स्वयंप्रकाश ज्ञान को दूसरे स्वयंप्रकाश ज्ञान से भिन्न बनाती है। रूप स्थिर है, यह आत्मा की क्रियाशीलता है जबकि द्रव्य परिवर्तनशील होता है। द्रव्य की अनुपस्थिति में आत्मिक क्रियाशीलता अपनी अमूर्त्तता को मूर्त्त या यथार्थ नहीं कर सकती। कोई भी **आत्मिक** अन्तर्वस्तु या कोई संवेदन (sensation) स्वयंप्रकाश ज्ञान को सीमित कर देता है। (संवेदन रूपहीन द्रव्य है) मृगमरीचिका का स्वयंप्रकाश ज्ञान....नहीं है....

(कागज बीच से फटा हुआ है)

स्वयंप्रकाश ज्ञान और निरूपण या बिंब
(Intuition and representation or image)

यदि निरूपण का अर्थ संवेदन के मानसिक आधार से पृथक् और प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला कुछ और लिया जाता है तो यह स्वयंप्रकाश ज्ञान के लिए दूसरा नाम है। लेकिन इसे जटिल या संश्लिष्ट संवेदन समझा जाता है तो क्रोचे इसे स्वीकार नहीं करता। प्रत्येक सच्चा स्वयंप्रकाश ज्ञान या निरूपण अभिव्यंजना (expression) भी है। जो स्वयं को अभिव्यंजना में गोचर नहीं करता, वह स्वयंप्रकाश ज्ञान नहीं है, आत्मा की सक्रियता नहीं है, मात्र संवेदन और स्वाभाविकता है। निर्मित, रूपायित और अभिव्यंजित करके प्राप्त करने के अलावा आत्मा किसी अन्य प्रकार से स्वयंप्रकाश ज्ञान प्राप्त नहीं करती।

स्वयंप्रकाश क्रियाशीलता उतनी ही मात्रा तक स्वयंप्रकाश ज्ञान धारण करती है जितने (ज्ञान) की वह अभिव्यंजना करती है। अभिव्यंजना से तात्पर्य मात्र शाब्दिक अभिव्यंजना से नहीं है, बल्कि रेखा, रंग, ध्वनि आदि की अभिव्यंजना से भी है। भावनाएँ या अन्तःसंस्कार शब्दों द्वारा आत्मा के अस्पष्ट क्षेत्र से चिंतनशील आत्म की स्पष्टता में प्रवेश करते हैं। इस संज्ञानात्मक प्रक्रिया में अभिव्यंजना से स्वयंप्रकाश ज्ञान का भेद दिखाना असंभव है। क्रोचे इस सामान्य विश्वास को स्वीकार नहीं करता कि स्वयंप्रकाश ज्ञान द्वारा यथार्थ की हम जितनी अभिव्यंजना कर सकते हैं, संपूर्णता में उससे अधिक धारण करते हैं। वह यह भी नहीं मानता कि लोग कवियों के समान अनुभव एवं कल्पना करते हैं पर उनकी भाँति इन्हें शब्दों में अभिव्यंजित नहीं कर सकते। (क्रोचे यहाँ अपने तरीके से अर्थग्रहण और बिंब निर्माण में भेद दिखलाता है।) इस प्रकार वह निष्कर्ष निकालता है कि–"स्वयंप्रकाश ज्ञान अभिव्यंजनात्मक ज्ञान है। यह बौद्धिक व्यापारों से मुक्त तथा स्वायत्त होता है, विभेदीकरण और यथार्थवादिता एवं कोरी काल्पनिकता के प्रति उदासीन होता है : दृश्यमान क्रियाव्यापारों के ज्वार एवं लहरों में से जो कुछ भी अनुभव किया जाता है या भोगा जाता, उनमें से ही स्वयंप्रकाश ज्ञान तथा निरूपण को रूप या साँचे के रूप में पहचाना जाता है।....स्वयंप्रकाश ज्ञान अभिव्यंजित होता है।

स्वयंप्रकाश ज्ञान और कला
(Intuition and art)

क्रोचे यह नहीं मानता कि कलात्मक स्वयंप्रकाश ज्ञान, दूसरे स्वयंप्रकाश ज्ञानों से भिन्न है। वह इस दृष्टिकोण का खंडन करता है कि कला कोई साधारण स्वयंप्रकाश ज्ञान नहीं है, बल्कि यह स्वयंप्रकाश ज्ञान का स्वयंप्रकाश ज्ञान है। वह कहता है–"कला अंतःसंस्कारों की अभिव्यंजना है, अभिव्यंजना की अभिव्यंजना नहीं है।"

पर कुछ अत्यंत जटिल और कठिन अभिव्यंजनाएँ दृश्यमान् क्रिया व्यापार होती हैं...दुर्लभता से ही उपलब्ध हो पाती हैं और ये कला के कार्य कहलाती हैं।

क्रोचे के अनुसार, प्रातिभ (genius) और अप्रातिभ (not genius) की भिन्नता केवल मात्रात्मक है। प्रतिभा स्वर्ग से टपकी हुई कोई वस्तु नहीं है। कलात्मक विधि से संपादित न की गई भावात्मकता द्रव्य अर्थात् अंतःसंस्कार है। रूप या साँचा सुसंपादन है, बौद्धिक सक्रियता और अभिव्यंजना है। कलात्मक तथ्य केवल अंतर्वस्तु से निर्मित नहीं होता, न ही यह साँचे और अंतर्वस्तु का सन्धि स्थल अर्थात् अंतःसंस्कार और अभिव्यंजना का योग होता है। कलात्मक सक्रियता तथ्य में–अंतःसंस्कारों में–नहीं जोड़ी जाती है। अंतःसंस्कार अभिव्यंजना में पुनः प्रकट हो जाते हैं। "तथ्य इसी कारण कलात्मक तथ्य साँचे (form) के अतिरिक्त कुछ और नहीं होता।" (क्रोचे)

इसका यह अर्थ नहीं है कि अंतर्वस्तु अनावश्यक है, बल्कि यह है कि अंतर्वस्तु

के गुण और साँचे के गुण के बीच कोई रास्ता नहीं है। क्रोचे इस विचार का समर्थन नहीं करता कि कलात्मक होने के क्रम में अंतर्वस्तु में कुछ निर्धारक गुण होने चाहिए; अंतर्वस्तु जब तक प्रभावी तरीके से रूपांतरित अर्थात् अभिव्यंजित नहीं होती तब तक कलात्मक अंतर्वस्तु नहीं बनती।

'कला प्रकृति की अनुकृति है' कथन तभी सही है जब अनुकृति को निरूपण या स्वयंप्रकाश ज्ञान समझा जाए, क्योंकि प्रकृति की अनुकृति मात्र यांत्रिक पुनरुत्पादन या प्राकृतिक वस्तुओं की प्रतिलिपि नहीं है। हृदय को छू लेनेवाली मोम की आकृतियाँ, जो जीवित प्रतीत होती हैं और जिनके सामने हम भौंचक खड़े रहते हैं, कलात्मक स्वयंप्रकाश ज्ञान नहीं उत्पन्न करतीं।

क्रोचे इस दृष्टिकोण का खंडन करता है कि कला ज्ञान नहीं है, स्वयंप्रकाश ज्ञान अवधारणाओं से स्वतंत्र ज्ञान है और यथार्थ के तथाकथित बोध से अधिक सरल है। चूँकि कला ज्ञान और रूप है इसलिए भावानुभूतियों (feelings) और मनोवृत्तियों के संसार से इसका कोई संबंध नहीं है।

'कला भावना है' यह क्रोचे को तभी स्वीकार्य है जब 'भावना' से तात्पर्य अंतर्वस्तु से हो, जिससे अवधारणा और ऐतिहासिक यथार्थ बाहर कर दिए गए हों। तभी यह स्वयंप्रकाश ज्ञान होगा। क्रोचे कहता है—''सभी अंतःसंस्कार कलात्मक रूप से अभिव्यंजित और रूपायित हो सकते हैं, पर कोई बाध्यता नहीं है।

पद्धतियों या श्रेणियों में अभिव्यंजना की अविभाज्यता और अलंकार की आलोचना

(Indivisiblity of Expression in to modes or gradees and critique of rhetoric)

...एकल अभिव्यंजनात्मक तथ्यों में अनेक इकाइयाँ हैं जिनमें से एक की तुलना दूसरे से सामान्यतः नहीं की जा सकती, क्योंकि उनमें से प्रत्येक अभिव्यंजना है। अभिव्यंजना एक प्रजाति (species) है जो वंश (geneus) का कार्य संपन्न नहीं कर सकती। उपसिद्धांत (corollang)...असंभव हैं।

कलावादी आलोचना में वास्तविक और प्रतीकात्मक, बाध्यार्थ निरूपक (objective) और अंतर्वृत्ति निरूपक (subjective), शास्त्रीय (classical) और स्वच्छंदतावादी, सरल और अलंकृत, यथातथ्य और लाक्षणिक तथा अलंकार के भेदों की दृष्टि से वैज्ञानिक मूल्य का जोड़ा जाना निरर्थक या प्रायः नकारात्मक है। इनमें से किसी की संतोषप्रद कलात्मक परिभाषा नहीं दी जा सकती। जैसे, रूपक की परिभाषा किसी शब्द के स्थान पर उपयुक्त अन्य शब्द के प्रयोग के रूप में दी गई है। फिर यह लम्बा रास्ता क्यों अपनाएँ, उसी शब्द का प्रयोग क्यों न करें? इसका कारण प्रायः यह बताया जाता है कि वह शब्द स्वयं उतना अभिव्यंजक नहीं होता है जितना दूसरा

शब्द या रूपक। लेकिन इस स्थिति में रूपक ही सही शब्द हो जाता है और व्यंजनाहीन सही शब्द सर्वाधिक अनुचित।

दूसरे अलंकारों या अलंकरणों को लें। अभिव्यंजना में कोई अलंकरण कैसे जुड़ सकता है? ऐसा होने पर यह निश्चय ही आंतरिक रूप से पृथक् रहता है। इस स्थिति में या तो यह अभिव्यंजना में सहायक नहीं होता या उसे बिगाड़ देता है या इसका अंग बन जाता है और इस तरह अलंकार की बजाय अभिव्यंजना का विधायी तत्त्व हो जाता है।

उपर्युक्त शब्दों का प्रयोग निम्न में से किसी एक अभिप्राय से किया गया—कलात्मक अवधारणा के शाब्दिक रूप भेदों के रूप में, अकलात्मक संकेतों के रूप में या अन्ततः (और यह उनका सबसे महत्त्वपूर्ण उपयोग है) उस अर्थ में जो अब कलात्मक या साहित्यिक नहीं है, पर निश्चय ही तार्किक है।

क्रोचे की दृष्टि से, इनके उपयोग से सौन्दर्य शास्त्र आगे बढ़कर विज्ञान के कार्यक्षेत्र में आ जाता है। इनका महत्त्व कलानिरूपिणी समीक्षा में नहीं, बल्कि वैज्ञानिक और बौद्धिक समीक्षा के प्रबंधन में है।

क्रोचे विद्यालयों में भी इनके शिक्षण की उपयोगिता नहीं देखता है। यह स्वीकार करता है कि यदि उनकी उपयोगिता हो सकती है तो मात्र ऐसी आलोचना के लिए जिससे ये पुनः पल्लवित न हो सकें।

हालाँकि प्रत्येक अभिव्यंजना स्वतंत्र तथा स्वायत्त है और किसी अन्य अभिव्यंजना में रूपांतरणीय नहीं है, क्रोचे साम्य—सजातीय साम्य—को स्वीकार करता है।

कलात्मक भावानुभूति
(Aesthetic feelings)

क्रोचे भावानुभूति को किसी भी नैतिक संकल्प से रहित योगक्षेम संबंधी (economic) नीतिपरक सक्रियता मानता है। नीतिपरक और बौद्धिक सक्रियता की भाँति कलात्मक सक्रियता भावानुभूति नहीं है। कलात्मक सक्रियता सुख और दुख की भावानुभूति है, यह दृष्टिकोण सुखवाद (Hedonism) कहलाता है। इस प्रकार क्रोचे सुखवाद का खंडन करता है। वह इसकी आलोचना करता है कि इस दृष्टिकोण में कला के आनंद और एक सरल पाचन के आनंद में कोई तात्त्विक भेद नहीं है।

वह यह स्वीकार करता है कि ऐसी भावानुभूति आत्मिक सक्रियता के साथ कलात्मक सक्रियता की तरह साथ नहीं चलती। क्रोचे कहता है कि प्रधान तथ्य का सहगामी क्या है, इस संबंध में हमें निश्चय ही घालमेल नहीं करना चाहिए....अपनी अन्विति में विभिन्न आत्मिक रूप आत्मा के साथ परस्पर जुड़े होते हैं, यहाँ कार्य और कारण या प्रथम और परवर्ती का कोई प्रश्न नहीं है।

महत्त्वपूर्ण भावानुभूति और मात्र सुखवादी भावानुभूति, अरुचिकर भावानुभूति

और रुचिकर भावानुभूति वाह्यार्थ निरूपक और अन्तर्वृतिनिरूपक भावानुभूति तथा (सामान्यतः) स्वीकार्य भावानुभूति और व्यक्तिगत आनंद की भावानुभूति के मध्य कोई भेद नहीं दिखता। इनका भेद तीन आध्यात्मिक रूपों—**सत्यं, शिवं और सुन्दरम्** के रूप में भ्रम उत्पन्न करता है। हमारे लिए इस त्रयी का कार्य समाप्त हो चुका।

योगक्षेम संबंधी अनुभूति के दो पक्ष हैं—सकारात्मक और नकारात्मक—सुख और दुख, जिन्हें हम उपयोगी और अनुपयोगी में अंतरित कर सकते हैं। यह द्विभाजन भावानुभूति के सक्रिय चरित्र को उद्घाटित करता है। यदि इनमें से प्रत्येक एक मूल्य है तो वह अपनी मूल्यहीनता और विपरीत मूल्य का विरोधी भी है। मूल्य एक सक्रियता है जो स्वयं को मुक्त रूप से प्रकट करता है पर मूल्यहीनता इसके विपरीत है।

अब 'सुंदर' की अवधारणा को लें। सौंदर्यात्मक, बुद्धिपरक, योगक्षेम संबंधी तथा नीतिपरक मूल्य या मूल्यहीनता का नामकरण सामान्यतः सुंदर, सत्य, मंगल, उपयोगी, उचित इत्यादि किया जाता है। हमें 'सुंदर' शब्द के प्रयोग को अभिव्यंजना तक सीमित कर देना चाहिए। 'असुंदर' या 'कुरूप' असफल अभिव्यंजना है।

वास्तविक कलात्मक आनंद को किसी अन्य प्रकार के आनंद से स्पष्ट रूप से भिन्न किया जाना चाहिए। अपनी रचना पर विचार करते समय कवि को जिस आनंद का अनुभव होता है वह उस आनंद से भिन्न है जो उसे उसकी सफलता या आत्मप्रेम के संतोष के विचार से मिलता है।

आधुनिक सौंदर्यशास्त्र में अनुभूत्याभास (apparent feeling) का सिद्धांत विकसित किया गया है। इन सौंदर्यात्मक अनुभूत्याभासों का साँचे या रूप (form) अर्थात् कलात्मक कार्य से उत्पन्न आनंद के सौंदर्यपरक संवेदनों से कुछ लेना देना नहीं है। इसके विपरीत वे कलात्मक कार्य की अंतर्वस्तु से उत्पन्न होते हैं। पर इस सिद्धांत के प्रवर्त्तक कहते हैं कि कलात्मक या दृश्यमान् सुख और दुख हलके, बहुत कम क्षोभकारी और परिवर्तनीय होते हैं। क्रोचे इन भावानुभूतियों पर विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं समझता। वह कहता है कि यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि सुख दुख की कलात्मक भावानुभूतियाँ वास्तविक जीवन की भावानुभूतियों के समान तीव्रता के साथ आंदोलित या क्षुब्ध नहीं करतीं, क्योंकि जीवन की अनुभूतियाँ वस्तु या तथ्य हैं जबकि कलात्मक अनुभूति रूप और सक्रियता है। वे सच्ची और उचित भावानुभूतियाँ हैं जबकि कलात्मक भावानुभूतियाँ स्वयंप्रकाश ज्ञान और अभिव्यंजनाएँ हैं।

सौंदर्यात्मक सुखवाद
(Aesthetic Hedoism)

यह सोचना भूल है कि चित्र या एक छोटी सी आवाज दृष्टि या श्रवण के अंतःसंस्कार हैं। कलात्मक तथ्य अंतस्संस्कारों की प्रकृति पर निर्भर नहीं करते। सभी प्रकार के संवेदनात्मक अंतःसंस्कारों की कलात्मक अभिव्यंजना हो सकती है। जो कलात्मक

तथ्य को इंद्रियों के लिए ही आनंददायी मानता है वह स्वादिष्ट पकवान और सुंदर अभिव्यंजना में भेद करने में असफल होगा।

खेल या क्रीड़ा (Play) का सिद्धांत सुखवाद का एक अन्य रूप है। यह कहा जाता है कि मनुष्य तभी मनुष्य है जब वह क्रीड़ा करता है अर्थात् प्राकृतिक तथा यांत्रिक कार्य कारण संबंधों से मुक्त हो जाता है और आत्मिक रूप से संचालित होता है। उसकी पहली क्रीड़ा कला होती है। क्रीड़ा या खेल का अर्थ वस्तुतः वह आनंद भी होता है जो जीवों की उल्लसित ऊर्जा के व्यय अर्थात् एक व्यावहारिक तथ्य से उत्पन्न होता है।

कुछ लोग सौंदर्यशास्त्र को रागात्मक संवेदना (sympathetic) का विज्ञान समझते हैं। रागात्मक संवेदना उनके प्रति होती है जिनसे हम—सहानुभूति रखते हैं, जो हमें आकर्षित, आह्लादित करते हैं, आनंद देते हैं और श्रद्धा उत्पन्न करते हैं। रागात्मक संवेदना उन वस्तुओं के बिंब या निरूपण के अतिरिक्त कुछ और नहीं है जो हमें आनंदित करते हैं। इस प्रकार यह एक संश्लिष्ट तथ्य है जो निरूपण के कलात्मक एवं विधायी और एक परिवर्तनीय तत्त्व का परिणाम है तथा आनन्द इसका असीमित रूप है।

सामान्यतया लोग उस अभिव्यंजना को सुंदर कहना पसंद नहीं करते जो रागात्मक संवेदना की अभिव्यंजना न हो। इस तरह एक कलावादी और एक सामान्य व्यक्ति के मध्य निरंतर विषमता बनी रहती है। क्योंकि सामान्य व्यक्ति स्वयं को यह समझाने में सफल नहीं हो सकता कि दुख का बिंब भी सुंदर हो सकता है। यह विरोध दो भिन्न विज्ञानों के विभेदीकरण से दूर हो सकता है—एक अभिव्यंजना का विज्ञान और दूसरा रागात्मक संवेदना का विज्ञान, यदि यह (दूसरा) एक विशिष्ट विज्ञान का विषय हो सके तब। यदि अभिव्यंजनात्मक तथ्य को प्रधानता दी जाए तो यह सौंदर्यशास्त्र का अंग हो जाता है और यदि आनंददायक अंतर्वस्तु को प्रधानता दी जाती है तो हमें लौटकर उन तथ्यों का अध्ययन करना होगा जो अनिवार्यतः सुखवादी या उपयोगितावादी है। जब अंतर्वस्तु और रूप के अंतःसंबंध के उद्भव को दो मूल्यों के योग के रूप में अवधारित किया जाता है तो इसे रागात्मक संवेदना के सौंदर्यशास्त्र में ढूँढ़ना होगा।

रागात्मक संवेदना का सौंदर्यशास्त्र

रागात्मक संवेदना के सिद्धांत ने कई अवधारणाओं को प्रस्तुत किया है, जैसे दुखांत, सुखांत, उदात्त, कारुणिक, विषण्ण, हास्यास्पद, विषादमय, मानववादी, राजसी, गंभीर, कुलीन, ललित, शिष्ट, काव्यात्मक, शोकगीतात्मक, उग्र, आनंददायक, क्रूर, भयानक, घृणोत्पादक, भयावह, बीभत्स इत्यादि। इस सिद्धांत के समर्थक स्वभावतः उन विविध संयोजनों एवं श्रेणियों की उपेक्षा नहीं कर सके जो अंततः संवेदना की रागात्मकता

को विरागात्मकता की ओर ले जाती हैं। रागात्मक संवेदना सुंदर था और विरागात्मक असुंदर या कुरूप–इस सिद्धांत के समर्थकों को कला में 'असुंदर' के लिए स्थान ढूँढ़ना था। अतः उन्होंने यह निर्धारित करने का प्रयास किया कि कलात्मक निरूपण में 'असुंदर' के कौन कौन से उदाहरण स्वीकार किए जा सकते हैं। समाधान यह हुआ कि कला में 'असुंदर' का प्रवेश तभी संभव है जब इस पर नियंत्रण प्राप्त कर लिया जाए। इस प्रकार सभी अनौचित्यपूर्ण असुंदरता, जैसे घृणोत्पादक या बीभत्स पूर्णतः बहिष्कृत कर दी गई। 'असुंदर' के विषयों को वैषम्य की शृंखलाओं की उत्पत्ति द्वारा 'सुंदर' के प्रभाव को उच्चीकृत करनेवाला कहा गया। क्रोचे के अनुसार ऐसे सभी शब्द तथा अवधारणाएँ सौंदर्यशास्त्र से बहिष्कृत कर देनी चाहिए, क्योंकि सौंदर्यशास्त्र रागात्मक और विरागात्मक संवेदना को नहीं, मात्र निरूपण की आत्मिक सक्रियता को ही मान्यता देता है।

क्रोचे के अनुसार सुंदर, असुंदर या कुरूप, राजसी, उदात्त, हास्यास्पद, भयोत्पादक या भयानक इत्यादि शब्दों का कोई दार्शनिक मूल्य नहीं है। इन्हें मनोविज्ञान के हवाले कर देना चाहिए। शब्द की कोई यथार्थ परिभाषा संभव नहीं है, दो परिभाषाएँ पूर्णतः एकमत नहीं होतीं। जो कोई परिभाषा देता है वह किसी अन्य द्वारा दूसरी परिभाषा दे देने के उपरांत अपनी ही परिभाषा को कमाधिक अपर्याप्त पाता है। जिस प्रयोजन से ये परिभाषाएँ दी गई हैं उसका अनुभव सिद्ध अर्थ देने के लिए ही ये बनी रह सकती हैं–"ऊपर उद्धृत मनोवैज्ञानिक अवधारणाओं में संभव और वर्गीकृत तथ्य जहाँ तक जीवनजगत् के उपादान निर्दिष्ट करते हैं वहाँ तक कला द्वारा निरूपित किए जा सकते हैं। इस जातीय संबंध से आगे वे कलात्मक सत्य या तथ्य के साथ कोई संबंध नहीं रखते। दूसरा आकस्मिक संबंध यह है कि कलात्मक तथ्य भी कभी कभार वर्णित प्रक्रियाओं में प्रवेश कर सकते हैं...कलात्मक तथ्य के लिए यह वाह्य प्रक्रिया है, उसके साथ जो एकमात्र अनुभूति जुड़ी है वह है कलात्मक मूल्य और मूल्यहीनता की अनुभूति, सुंदर और असुंदर अथवा कुरूप की अनुभूति।"

प्रकृति और कला में तथाकथित भौतिक रूप से सुंदर
(So called Physically beautiful in nature and art)

कलात्मक सक्रियता व्यावहारिक सक्रियता से विशिष्ट है किंतु जब यह स्वयं को अभिव्यंजित करती है तो व्यावहारिक सक्रियता सदा इसके साथ चलती है। यह इसका उपयोगितावादी या सुखवादी पक्ष है; सुख और दुख पहले की ही तरह सुंदर और असुंदर, मूल्य और मूल्यहीनता की व्यावहारिक प्रतिध्वनियाँ हैं। कलात्मक सक्रियता के इस व्यावहारिक पक्ष में क्रमशः एक भौतिक या मनोभौतिक अनुषंग भी साथ बना रहता है जो ध्वनियों, सुरों, संवेगों, गतिविधियों, रेखाओं और रंगों के संयोजन आदि से निर्मित होता है।

क्या यह (कलात्मक सक्रियता) वास्तव में इस पक्ष को धारण करती है या उस निर्माण के परिणामस्वरूप इस पक्ष को धारण करती प्रतीत होती है जिसे हम उपयोगी तथा यादृच्छिक पद्धतियों के भौतिक विज्ञान में संभव करते हैं और अनुभवपरक या अमूर्त्त विज्ञानों के लिए उचित सिद्ध कर चुके हैं। क्रोचे पहली परिकल्पना को स्वीकार नहीं करता है।

प्रत्येक आत्मिक सक्रियता में सुखवादी पक्ष के अस्तित्व ने कलात्मक सक्रियता और उपयोगी तथा आनंददायक में भ्रम उत्पन्न कर दिया है। इसीलिए इस भौतिक पक्ष के अस्तित्व ने कलात्मक अभिव्यंजना तथा स्वाभाविक अभिव्यंजना—आत्मिक तथ्य और एक यान्त्रिक एवं निष्क्रिय तथ्य के मध्य के मध्य भी भ्रम उत्पन्न कर दिया है।

साधारण भाषा में कभी कभार कवियों के शब्दों, संगीतज्ञों के सुरों तथा चित्रकारों के चित्रों को ही अभिव्यंजना समझा जाता है। यदा कदा लज्जा की लालिमा भय की कंपकपाहट, उग्र क्रोध में दाँतों की कटकटाहट इत्यादि भी अभिव्यंजना कही जाती हैं।

क्रोचे के अनुसार ये अभिव्यंजनाएँ आत्मिक दृष्टि अर्थात् आत्मिकता और कल्पना की सक्रियता के अपने विशिष्ट चरित्र में कलात्मक अभिव्यंजना नहीं हैं। यह अमूर्त्त बुद्धि द्वारा निर्धारित किए गए कार्य और कारण के मध्य के संबंधों से अधिक और कुछ नहीं है। कलात्मक अभिव्यंजना की संपूर्ण प्रक्रिया इस प्रकार है—

(1) अंतःसंस्कार (2) अभिव्यंजना अर्थात् कलात्मक आत्मिक संश्लेषण (3) सौंदर्य की भावना से उत्पन्न आनुषंगिक आनंद (4) कलात्मक आत्मिक वस्तु (कल्पना) का स्थूल भौतिक रूपों में अवतरण—शब्द, स्वर, चेष्टा, रंग, रेखा आदि। क्रोचे के अनुसार इन चारों में मूल कलात्मक बिंदु केवल एक है और वह है दूसरे क्रम पर अर्थात् अभिव्यंजना या कलात्मक आत्मिक संश्लेषण। ये चारों विधान पूरे हो जाने पर अभिव्यंजना का अनुष्ठान पूरा हो जाता है।

अभिव्यंजना या निरूपण अनुगमन करते हैं और एक दूसरे को निष्कासित करते हैं। लेकिन यह निष्कासन विनाश नहीं होता है। जिन निरूपणों को हम भूल चुके हैं वे किसी न किसी रूप में हमारी आत्मा में बने रहते हैं, क्योंकि उनके बिना हम अपनी उपार्जित प्रवृत्तियों और क्षमताओं की व्याख्या नहीं कर सकते। इस प्रकार ऐसे निरूपण हमारी आत्मा की वास्तविक प्रक्रियाओं में प्रभावोत्पादक तत्त्व होते हैं। यह कहा जा सकता है कि अभिव्यंजना या निरूपण भी व्यावहारिक तथ्य हैं जो भौतिक तथ्य भी कहे जाते हैं। यदि हम इन तथ्यों को किसी उपाय से स्थायी बनाने में सफल हो सके तो पूर्व विद्यमान स्वयंप्रकाश ज्ञान या अभिव्यंजना की उपलब्धि करके उसका पुनरुत्पादन सदैव सम्भव होगा। ऐसे (पुनर्सृजित) भौतिक तथ्य भौतिक उत्प्रेरक होते हैं।

पद्य, गद्य, गीत, त्रासदी (tragedy), कामदी (comedy) कहलाने वाले शब्दों

के संयोजन (combination) पुनरुत्पादन के ऐसे ही उद्दीपक तत्त्व हैं। ये कला की भौतिक गतिविधियाँ हैं जो पुनरुत्पादन को प्रोत्साहित करती हैं। यदि इन्हें या शारीरिक रचनातंत्र को स्मरण अंग के साथ नष्ट कर दिया जाए तो कोई भी पुनरुत्पादन या निरूपण नहीं हो सकता। कलात्मक पुनरुत्पादन की उद्दीपक ऐसी गतिविधियाँ लोकप्रिय रूप में सुंदर वस्तुएँ या भौतिक रूप से सुंदर कहलाती हैं। लेकिन शब्द (वस्तुतः) वाचिक विरोधाभास होते हैं, क्योंकि 'सुंदर' केवल एक भौतिक तथ्य नहीं है, यह केवल वस्तुओं से ही संबंधित नहीं है। बल्कि मनुष्य की आन्तरिक गतिविधि और आत्मिक ऊर्जा से भी इसका संबंध है। ये शब्द प्रायः व्यावहारिक आनंद के सरल तथ्यों को ही निर्दिष्ट करते हैं। क्रोचे किसी ऐसी कलात्मकता की ओर संकेत नहीं करता जो प्राकृतिक दृश्य को ही सुंदर कहती है जहाँ की हरियाली पर आँखें ठहर जाती हैं, जहाँ शारीरिक चेष्टाएँ सामान्य हो जाती हैं, जहाँ का रमणीय सौरभ आनंददायी प्रभाव उत्पन्न करता है।

प्राकृतिक वस्तुओं का आनंद कलात्मक रूप से लेने के लिए उनके वाह्य तथा ऐतिहासिक यथार्थ से उन्हें बाहर निकाल लेना चाहिए और उनके अस्तित्व से उनके रंग रूप या उद्गम को पृथक् कर लेना चाहिए। कल्पना के योग के अभाव में प्रकृति का कोई भी अंश इतना सुंदर नहीं होता है।

कलात्मक पुनरुत्पादन के लिए प्राकृतिक सौंदर्य मात्र एक उत्प्रेरक है जो पूर्ववर्ती उत्पादन की पूर्वधारणा करता है। कल्पना के कलात्मक स्वयंप्रकाश ज्ञान के बिना प्रकृति अकेली कुछ भी नहीं कर सकती। प्रत्येक व्यक्ति अभिव्यंजना में उस प्राकृतिक तथ्य की ओर संकेत करता है जो उसके मन में है। एक कलाकार किसी उल्लसित प्राकृतिक छवि के प्रति सुध बुध खो देता है, कोई अन्य रद्दी की दुकान के प्रति, कोई अन्य किसी युवती की मनोहर मुखाकृति के प्रति तो कोई अन्य किसी बदमाश की भद्दी सूरत के प्रति आकर्षित होता है। ये सभी तब तक बहस करेंगे जब तक सौन्दर्यपरक ज्ञान की पर्याप्त खुराक उन्हें नहीं दे दी जाती, जो उन्हें यह पहचानने लायक बना देगा कि सभी सही हैं। मनुष्य द्वारा सृजित कृत्रिम सौंदर्य पुनरुत्पादन के लिए अत्यधिक लचीली और प्रभावोत्पादक सामग्री है। कृत्रिम सौंदर्य में रचनाएँ अर्थात् अक्षर सांगीतिक सुर, शब्द, इत्यादि सम्मिलित नहीं होते, क्योंकि ये केवल संकेत होते हैं।

सौंदर्यशास्त्रियों का मुक्त और बद्ध सौंदर्य
(Free and not true beauty of Aestheticians)

'बद्ध' सौंदर्य वे सौंदर्य हैं जो दोहरे उद्देश्य (कलात्मक और कुछ व्यावहारिक) की सिद्धि करते हैं, जैसे—स्थापत्य कला का सौंदर्य, जिसमें आवास स्थल के रूप में उसकी उपयुक्तता कलात्मक पक्ष को सीमित कर देती है। क्रोचे इस अन्तर्विरोध (contradiction)

को महत्त्वपूर्ण नहीं मानता। वह कहता है कि कलात्मक और व्यावहारिक के मध्य का अन्तर्विरोध उन्हें स्वयंप्रकाश ज्ञान और कलात्मक मूर्त्तीकरण की सामग्री के रूप में ग्रहण करते हुए दिखाया जा सकता है। क्योंकि कलात्मक मूर्त्तीकरण ही व्यावहारिक अन्त रखनेवाली वस्तु का सही गंतव्य है। उस वस्तु को कलात्मक स्वयंप्रकाश ज्ञान का उपकरण बनाने के लिए उसमें (भवन) किसी और वस्तु को जोड़ने की कोई आवश्यकता क्रोचे को नहीं दिखती है। अनगढ़ झोपड़ियाँ और महल, चर्च और बैरकें, तलवारें और हल साफ सुथरे या अलंकृत होने के कारण सुंदर नहीं हैं, बल्कि जिस उद्‌देश्य से वे निर्मित किए गए हैं उसकी जितनी अभिव्यंजना कर पाते हैं उतने सुंदर हैं। कोई पोशाक मात्र इस कारण सुन्दर होती है कि वह निश्चित दशाओं में निश्चित व्यक्ति हेतु पूर्णतः उपयुक्त होती है।

(अनुमानित रचना काल 1935)
अनुवादक आलोक कुमार सिंह
[चिन्तामणि, भाग-4]

नूरजहाँ

जीवन के विविध पक्षों की मार्मिक अनुभूति प्रबंध काव्यों के भीतर ही प्रकृत रूप में होती है। जब कवि की कल्पना के साथ साथ पाठक या श्रोता की कल्पना भी एक सुसंबद्ध प्रवाह के रूप में दूर तक चली चलती है, तभी उसके बीच पूर्ण तन्मयता की भूमि प्राप्त होती है। खेद है कि हिन्दी की नई पुरानी दोनों परंपराओं के बीच अच्छे प्रबंध काव्यों की कमी है। जायसी और तुलसी को छोड़ और किसी के आख्यान काव्य लोकाश्रय न प्राप्त कर सके। खड़ी बोली की कविता के प्रारंभ काल में प्रबन्ध काव्यों की ओर कवियों का ध्यान होने लगा था, पर थोड़े ही दिनों में एकबारगी एक दूसरी हवा चल पड़ी; लोग पश्चिमी ढंग के प्रगीत मुक्तकों (Lyrics) की ओर झुक पड़े। अब इधर आकर फिर काव्य में रमणीक प्रबंधों की कमी खटकी है। 'साकेत' और 'नूरजहाँ' दोनों काव्यों से इस बात का संकेत मिलता है। इन दोनों काव्यों की रचना ऐसे समय में हुई है, जब कि अभिव्यंजन प्रणाली बहुत कुछ समुन्नत और समृद्ध हो चुकी है।

इस समय नूरजहाँ के ही सम्बन्ध में कुछ कहना चाहता हूँ, क्योंकि इसने हमारे वर्तमान काव्य क्षेत्र के बड़े अभाव की पूर्ति में तो योग दिया ही है, इसके अतिरिक्त हमारी सहानुभूति के क्षेत्र के प्रसार का भी आभास दिया है। अब वह समय आ रहा है, जब हम अपने साहित्य के भीतर अपना ही रूप रंग न देखेंगे, बल्कि संसार के अनेक भागों के नाना रूप रंगों के बीच मनुष्य हृदय को समान भाव से उलझा हुआ पाएँगे। यह दृष्टि प्रसार प्राप्त किए बिना अब कोई साहित्य पूर्ण समृद्ध नहीं कहा जा सकता। अँगरेजी साहित्य को ही लीजिए। अब हमें उसके भीतर इंगलैंड या योरप के ही किसी खंड के बीच प्रतिष्ठित जीवन की ही नहीं, मिस्र, अरब, फारस, तातार, चीन, भारत इत्यादि अनेक देशों के जीवन की मार्मिक झाँकी मिलेगी। बड़े हर्ष की बात है कि नूरजहाँ में हमारी काव्य दृष्टि भारत के बाहर भी कुछ बढ़ती दिखाई पड़ी।

आरंभ में हम नूरजहाँ के माता पिता का मधुर प्रेम जीवन फारस में गुलों और बुलबुलों के बीच देखते हैं। कवि ने फारस भूखंड के दृश्य चित्रण का अच्छा प्रयास

किया है। इस चित्रण में देशगत विशेषता का पूरा ध्यान रखा गया है। ऊँटों के साथ काफिलों का चलना, खैबर की घाटी में टूटे फूटे दुर्ग से पठान लुटेरों का निकल पड़ना आदि वर्णन में वास्तविकता का रंग लाते हैं। 'भक्त' जी के प्रकृति वर्णन काव्य प्रेमियों को बहुत कुछ आकर्षित कर चुके हैं। उन सबमें उनका स्वतन्त्र प्रकृति निरीक्षण पर्याप्त मात्रा में मिलता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यही बात नूरजहाँ में आए हुए लम्बे दृश्य वर्णनों में भी जगह जगह पाई जाती है। इसके अतिरिक्त कवि ने पेड़ पौधों में नर प्रकृति के मेल की सजीवता भी बड़े रहस्यपूर्ण ढंग से दिखाई है।

प्रबंध कल्पना भी अत्यंत सुव्यवस्थित है। कथानक की कड़ियाँ बड़े स्वाभाविक रूप में मिलजुल गई हैं, केवल अनारकली वाला प्रसंग असंबद्ध लगता है। कवि ने शेर अफगान को अत्यंत निष्ठुर और अत्याचारी दिखाकर तथा उसके अत्याचार को उसके पतन का कारण ठहरा कर जहाँगीर के चरित्र की बड़े कौशल से रक्षा की है। इसी प्रकार शेर अफगान को नीरस, प्रेम शून्य और मेहरुन्निसा (नूरजहाँ) से सर्वथा उदासीन दिखाकर मेहरुन्निसा के चरित्र को बड़ी सफाई से बचाया है। विवाह हो जाने पर मेहर तो पातिव्रत के भाव की दृढ़ता के लिए, सलीम के साथ अपने बालप्रेम को भुलाने का प्रयास करती है, पर शेर अफगान के हृदय में कहीं प्रेम के अंकुर तक नहीं दिखाई देते। इस घोर विषमता के कारण शेर अफगान की मृत्यु के पीछे नूरजहाँ का जहाँगीर की बेगम बनना 'प्रेम की अस्थिरता' का रूप नहीं खड़ा करने पाता।

प्रेम, वीरता, शोक इत्यादि भावों की व्यंजना भी प्रसंग के अनुरूप और मर्मस्पर्शिनी हुई है। शाही महलों की सुंदरियों में बादशाह या शाहजादे का प्रेम प्राप्त करने के लिए परस्पर कितनी चढ़ा ऊपरी और ईर्ष्या रहती है, इसका चित्र जमीला सामने लाती है। सातवें सर्ग के आरंभ में अपनी रोषभरी ईर्ष्या की व्यंजना के लिए उसने जिन उक्तियों की झड़ी बाँध दी है, वे अत्यन्त स्वाभाविक, क्षोभपूर्ण और ओजस्विनी हैं। अभिव्यंजना की आधुनिक प्रवृत्तियाँ 'नूरजहाँ' में स्थल स्थल पर मिलती हैं, पर संयत रूप में, जैसे नूरजहाँ के जन्म पर उसकी शिशु मूर्ति का प्रभाव साम्य पर अवलंबित यह प्राचुर्य पूर्ण प्रदर्शन–

'नवल हृदय की दुर्बलता का पश्चाताप बना साकार,
ज्योति सरीखी कौन अप्सरा छोड़ गई तुमको लाचार।
किस दुनिया के मूर्च्छित मन सी, पड़ी हुई हो पृथ्वी पर,
आँसू सी किसकी आँखों से, हे बालिके, गई हो झर।'

कहीं कहीं अप्रस्तुत विधान बहुत ही रमणीय और व्यंजक हैं, जैसे–

(क) **कुछ दरार के घावों को विस्मृति मकड़ी तुरंत आकर,**
आशा जाला की मरहम पट्टी से क्षत देती है भर।

(ख) **उस कुसुम अंक में विलसी, सुख से मैं हिमकण बनकर,**
दिनकर ने जहाँ विलोका, मैं ठहर न पाई छन भर।

(ग) मेरे संग कोई मत रोवे, मुझे भाग्य पर रोने दो,
अपने बंजर भाग्य क्षेत्र में, मोती मुझको बोने दो।

(घ) कितनी आँखों के जाल बिछे, कितनों ने ही डेरा डाला,
संसार जाल में पानी सी, छन जाती थी वह सुरबाला।'

सबसे अच्छी बात मुझे यह दिखाई पड़ी है कि वस्तु वर्णन, भाव व्यंजना, संवाद और इतिवृत्त, इन चारों में से कोई अवयव आवश्यकता से बहुत अधिक नहीं बढ़ा है। हाँ, वस्तु वर्णन मात्रा से कुछ अधिक कहा जा सकता है। सब बातों को देखकर अन्त में यही कहना पड़ता है कि श्री गुरुभक्त सिंहजी 'भक्त' प्रकृति के सच्चे भक्त हैं और उन्होंने अपनी भक्ति का, अपनी परख का और अपनी सहानुभूति के विस्तार का परिचय इस 'नूरजहाँ' में पूरा पूरा दिया है। हिन्दी में अपने ढंग का यह निराला प्रबंध काव्य है।

(माधुरी, सितम्बर, 1936 ई.)
[चिन्तामणि, भाग-4]

❑❑❑

आ. रामचन्द्र शुक्ल

जन्म–4 अक्टूबर 1884 ई., अगौना, बस्ती (उ.प्र.) प्रारम्भिक शिक्षा घर पर। मिर्जापुर (उ.प्र.) के एंग्लो-संस्कृत जुबली स्कूल से 1898 ई. में मिडिल और लंदन मिशन स्कूल से 1901 ई. में स्कूल फाइनल परीक्षा पास।

1901 ई. में इलाहाबाद के कायस्थ पाठशाला में इंटरमीडिएट के लिए नामांकन पर असफल।

1902 ई. में प्लीडरशिप परीक्षा की तैयारी पर असफल। 1903 में आनंदकादंबिनी के सम्पादक।

1904 ई. में लंदन मिशन स्कूल मिर्जापुर में ड्राइंग टीचर। 1908 ई. में हिन्दी शब्दसागर के सहायक सम्पादक। 1919 ई. में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में अध्यापक, 1937 ई. में हिन्दी विभागाध्यक्ष।

मृत्यु–2 फरवरी सन् 1941, रात्रि साढ़े नौ बजे के आसपास।

साहित्य सर्जना–मधुस्रोत, ग्यारह वर्ष का समय, श्री राधाकृष्णदास, गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास, मलिक मुहम्मद जायसी, रसमीमांसा, हिन्दी साहित्य का इतिहास, चिंतामणि (चार भागों में)।

अनुवाद कार्य–मेगास्थनीज का भारतवर्षीय वर्णन, राज्यप्रबन्ध शिक्षा, आदर्श जीवन, विश्वप्रपंच, बुद्धचरित, शशांक।

अंगरेजी में भी कुछ लेख और एक पुस्तिका प्रकाशित। कई गम्भीर अंगरेजी लेखों का हिन्दी अनुवाद।

ओमप्रकाश सिंह

जन्म–सन् 1958 ई., टड़वाँ, जौनपुर (उ.प्र.)

आरम्भिक शिक्षा गाँव और आसपास के विद्यालयों में। उच्च शिक्षा काशी विश्वविद्यालय वाराणसी में। अक्टूबर 1988 से नवम्बर 1990 ई. तक एनसीईआरटी, नयी दिल्ली में कार्य।

दिसम्बर 1990 ई. से ज.ने.वि., नयी दिल्ली के भारतीय भाषा केन्द्र में अध्यापन और शोध।

रचनाएँ

* आदिकाल एवं मध्यकाल के प्रमुख हिन्दी कवि,
* प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में हिन्दू-मुसलिम सम्बन्ध,
* प्रेमचन्दोत्तर कथा-साहित्य और साम्प्रदायिक समस्याएँ,
* आधुनिक काव्यधारा : विचार और दृष्टि
* चिंतामणि भाग-4 (सम्पादन)

सम्पर्क–वार्डेन फ्लैट-II, नर्मदा, ज.ने.वि., नयी दिल्ली-67।